प्रथम संस्करण

[illegible]-परिचय

यह पुस्तक विश्वविद्यालय के वि
सिद्धान्तों का परिचय कराने
य पुस्तक और उसे

श्री सत्येन्द्रनाथ सेन, एम० ए०
कलकत्ता विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र तथा वाणिज्य विभाग के लेक्चरर और
आशुतोष कॉलेज कलकत्ता के अर्थशास्त्र विभाग के भूतपूर्व अध्यापक
और
श्री शिशिरकुमार दास, एम० ए०, एल-एल० एम० (लंदन)
मिडिल टेम्पुल के बॉर-एट-लॉ, कलकत्ता विश्वविद्यालय के
अर्थशास्त्र विभाग के लेक्चरर

बुकलैण्ड लिमिटेड
कलकत्ता : इलाहाबाद

प्रथम संस्करण की भूमिका

यह पुस्तक विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों तथा साधारण पाठकों को अर्थशास्त्र के प्रधान सिद्धान्तों का परिचय कराने के उद्देश्य से लिखी गई है। प्रथम महायुद्ध के बाद असंख्य पुस्तकों और लेखों में नये-नये विचारों का प्रतिपादन किया गया, जिससे अर्थशास्त्र अथवा अर्थ विज्ञान का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया। इस नई गवेषणा का समावेश अभी तक अर्थशास्त्र के प्रधान सिद्धान्तों में नहीं किया गया है। साधारणतः पाठ्य पुस्तकों में पुराने सर्वमान्य सिद्धान्तों का ही समावेश रहता है। इस पुस्तक में हमने यथासाध्य पुराने सिद्धान्तों के साथ नई गवेषणा का समावेश करने का प्रयत्न किया है।

हम जानते हैं कि इस काम में तरह-तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। परन्तु हमने अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्नों को दूर रखने का प्रयत्न किया है। हमारे मत में इस प्रकार की परिचयात्मक पुस्तक में विवादग्रस्त समस्याओं की विवेचना करने से उन लोगों के मन में केवल भ्रम बढ़ेगा, जिनके लिये यह पुस्तक लिखी गई है। इसलिये हमने केवल आधुनिक विचारों के आधार पर पुराने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है और विशेष बातों पर जो विवाद-ग्रस्त और विशिष्ट मतभेद हैं, उन्हें छोड़ दिया है। क्योंकि इससे हमारा अध्ययन अधिक क्लिष्ट हो जाता। हमने अपना उद्देश्य हमेशा पक्षपातरहित होकर अर्थशास्त्र के प्रधान सिद्धान्तों को समझाने तथा इस विज्ञान को विस्तृत रूप से बुद्धिग्राह्य बनाने का रखा है। हमारा दावा यह कदापि नहीं, कि हमने अर्थशास्त्र के सब विभागों की गवेषणा की पूरी जानकारी प्राप्त कर ली है और न हम यह कहते हैं कि हमने विषय प्रतिपादन किसी नये तरीके से किया है। यथा-सम्भव हमने विभिन्न लेखकों के प्रति आभार प्रकट किया है। परन्तु हम मार्शल और टॉसिग के प्रति विशेष रूप से अपनी श्रद्धा प्रकट करना चाहते हैं, क्योंकि भारतीय विद्यार्थी कई पीढ़ियों से इनके ज्ञान से लाभान्वित होते आ रहे हैं।

श्री प्रफुल्लनाथ मुखर्जी एम० ए०, बी० एल० तथा श्री शैलेन्द्रनाथ मुखर्जी बी० ए० के हम आभारी हैं। जिन्होंने पुस्तक की प्रूफरीडिंग करके हमारी सहायता की। ईस्ट-लैंण्ड प्रेस के अध्यक्ष श्री एस० सी० गांगुली ने जिस धैर्य के साथ हमारा काम किया है, उसके लिये भी हम उनके आभारी हैं।

संशोधित संस्करण की भूमिका

इस संस्करण में हमने अध्याय १, ५, १३, १८, २०, २८, ३३, ३४, ३७, ४०, और ४१, विशेषरूप से नये सिरे से लिख दिये हैं। एकाधिकार और गुटबन्दी, आय का वितरण, उत्पादन की लागत तथा समाजवाद नाम के चार नये अध्याय जोड दिये हैं। मुद्रा की मात्रा सम्बन्धी सिद्धान्त स्वर्णमान तथा मुद्रा के प्रबन्ध सम्बन्धी विवेचना में नवीनतम विचारों का समावेश किया गया है। हमने दो पृथक् अध्यायों में अर्थात् अध्याय ४३, और ५३ में पूर्ण बाकारी की समस्या पर भी विचार किया है।

इन दोनो अध्यायो में व्यवसाय-चक्र विरोधी कर-नीति पर विचार किया गया है। अध्याय २३ के परिशिष्ट में उदासीनता रेखाओं पर एक टिप्पणी दे दी गई है।

हिन्दी संस्करण की भूमिका

गत कई वर्षों से अंग्रेजी में यह पुस्तक जितनी सर्वप्रिय है, उसे विद्यार्थी और अध्यापक भली-भांति जानते हैं। चूंकि अब उच्च शिक्षा का माध्यम भी राष्ट्रभाषा हिन्दी हो गई है, इसलिये हमें इस ग्रन्थ का हिन्दी संस्करण प्रकाशित करते हुए हर्ष हो रहा है, क्योंकि देश की भाषा में ही देश की शिक्षा होनी चाहिये। अन्य कई विषयों की भांति अर्थशास्त्र के अनुवाद में भी एक बडी कठिनाई यह है कि हिन्दी में अभी अंग्रेजी शब्दों के उपयुक्त पर्यायवाची शब्द नही मिलते। हमने उपलब्ध शब्दावली में से अधिक सरल और प्रचलित शब्दों को ग्रहण किया है और विद्यार्थियों की सुविधा के लिये कोष्ठ में अंग्रेजी शब्द दे दिये हैं। आशा है अंग्रेजी की भांति हिन्दी में भी इस पुस्तक का समुचित आदर होगा।

पुस्तक का अनुवाद हिन्दी में अर्थशास्त्र के विषयों पर सुपरिचित लेखक श्री पन्नालाल जी श्रीवास्तव एम० ए० ने किया है। अतः उनके अथक परिश्रम तथा सहयोग के लिये हम उनके आभारी हैं। साथ ही हम श्री परमानन्दजी पोद्दार जिन्होंने आकर्षक छपाई करके पुस्तक को सर्वांग सुन्दर बनाया तथा युनाइटेड कर्मासियल प्रेस के व्यवस्थापक श्री प० ब्रजलालजी पाण्डेय ने प्रूफ संशोधन में जो अथक परिश्रम व तन्मयता दिखलाई है उनके लिये भी हम उनके विशेष आभारी हैं।

हिन्दी द्वितीय व तृतीय संस्करण की भूमिका

पूरे साल भर भी व्यतीत नहीं हो पाये कि इस पुस्तक का तृतीय संस्करण कर पाठकों के सामने उपस्थित होना पड रहा है। पुस्तक की उपादेयता तो इसके संस्करण के तारीख ही बतला रहे हैं। आशा है आगे भी भविष्य में इसी प्रकार से संस्करण पर संस्करण करने के लिये अपने पाठकों द्वारा बाध्य किया जाऊंगा।

एस० एन० एस०

कलकत्ता, १९५१

एस० क० डी०

विषयानुक्रमणिका

55

पहला अध्याय

परिभाषा और तत्सम्बन्धी कुछ बातें

(Definition and Other Allied Topics)

अर्थशास्त्र की परिभाषा—अर्थशास्त्र समाज में रहनेवाले मनुष्यों की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन है। यह तो किसी सत्य का एक साधारण कथनमात्र-सा लगता है। क्योंकि प्रश्न यह है कि 'आर्थिक' समस्या किसे कहते हैं? यदि किसी व्यक्ति के सामने यह समस्या है कि वह अपने पसंद की लड़की से शादी करे अथवा अपने माता-पिता के ही पसंद की हुई लड़की से, तो क्या हम इसे आर्थिक समस्या कह सकते हैं? यदि हम यह सोच रहे हैं कि आज की शाम विनोदपूर्वक कैसे बिताई जावे, तो क्या यह आर्थिक समस्या है? जीवन में हमारे सामने पग-पग पर तरह-तरह की समस्याएं आती हैं। उनमें से कौन आर्थिक है और कौन नहीं? आर्थिक समस्याओं की दो विशेषताएं होती हैं। पहली तो यह कि उन सबकी तह में यह सत्य रहता है कि हम सब लोगों की कुछ आवश्यकताएं रहती हैं। इन आवश्यकताओं में बिलकुल प्राचीन साधारण जीवन की बिलकुल साधारण आवश्यकताओं से लेकर वर्तमान सभ्यता में ढले हुए आधुनिक जीवन की तरह-तरह की आवश्यकताएं शामिल हैं। ये आवश्यकताएं दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही जाती हैं। आर्थिक समस्याओं का सम्बन्ध इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति से है। आर्थिक समस्याओं की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि जिन वस्तुओं से हम अपनी आवश्यकताएं पूरी करते हैं, वे सीमित हैं। जैसे कि हम अपनी आवश्यकताएं अपने कुछ गुणों, कुछ वस्तुओं तथा कुछ समय द्वारा पूरी करते हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश हमारी कार्यशक्ति, संसार के पदार्थ तथा हमारे पास समय, ये सब सीमित हैं। इन साधनों के सीमित होने से ही आर्थिक समस्याएं उत्पन्न होती हैं। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि 'सीमित' शब्द एक विशेष आर्थिक माने में उपयोग किया जाता है। किसी वस्तु की सीमित मात्रा ही केवल उसे आर्थिक दृष्टि से कम नहीं बना देती। परन्तु किसी वस्तु की कुल मांग जितनी हो और वह उतनी न मिल सके, अर्थात् उसकी पूर्ति मांग से कम हो, तब हम उसे आर्थिक माने में सीमित कहेंगे। वस्तुओं के सीमित होने के कारण मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये तरह-तरह के कर्म करते हैं। उनका अन्तिम ध्येय अपनी आवश्यकताओं को पूरा करना रहता है। इन विभिन्न कार्यों के सम्बन्ध में जो तरह-तरह की समस्याएं उठती हैं, उनको आर्थिक समस्याएं कहते हैं। एक उदाहरण ले लीजिये। मनुष्य-जीवन के लिये पानी एक अत्यन्त आवश्यक

पदार्थ है। साधारणतः पानी प्राप्त करना मनुष्य के लिये कोई बड़ी समस्या नहीं है। किसी नदी के किनारे पानी मनुष्य की माग से कहीं अधिक मिलता है। इसलिये इस आवश्यकता की पूर्ति वहा एक आर्थिक समस्या नहीं है। परन्तु एक शहर में रहने वाले मनुष्य के लिये पानी मनचाही मात्रा में नहीं मिलता। शहर में रहनेवाली बड़ी मनुष्य-संख्या के लिये पानी की मात्रा सीमित हो जाती है। इसलिये शहर में इस आवश्यकता की पूर्ति एक आर्थिक समस्या हो जाती है। इसलिये "अर्थशास्त्र उन कार्यों का अध्ययन है, जिनके द्वारा आवश्यकताओं की पूर्ति करना सभव होता है।"

प्राचीन अंग्रेज अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र की परिभाषा दूसरी तरह से की है। उनके मतानुसार आर्थिक कार्यों के उद्देश्य अन्य कार्यों के उद्देश्यों से भिन्न होते हैं। आर्थिक कार्यों का उद्देश्य केवल स्वार्थ-साधन होता है, परन्तु अन्य कई ऐसे कार्य होते हैं जैसे धर्म-साधन, भक्ति, दान इत्यादि जिनके मूल में कोई स्वार्थ भावना नहीं होती। इन लेखकों में से कुछ ने तो इस विषय की परिभाषा और व्याख्या इस प्रकार की है कि कई लोगों को यह भ्रम होने लगा कि अर्थशास्त्री का सबध साधारण मनुष्य के जीवन से नहीं, वरन एक ऐसे 'आर्थिक मनुष्य' से है, जिसका काम केवल पैसा गिनना और हानि लाभ देखना है। जीवन में उसका और कोई उद्देश्य नहीं है। परन्तु अर्थशास्त्रियों ने इस परिभाषा को बहुत पहिले रद्द कर दिया। हम किसी कल्पित आर्थिक मनुष्य के जीवन का अध्ययन नहीं करते। हम जीवन-पथ पर चलते हुए साधारण स्त्री पुरुषों के कार्यों और उनके विभिन्न उद्देश्यों का अध्ययन करते हैं। वास्तव में कार्यों की तह में जो उद्देश्य होता है, उससे भी अर्थशास्त्री का मतलब नहीं रहता। अर्थशास्त्री तो मनुष्य के उन कार्यों का अध्ययन करता है, जिन्हें वह अपनी अनन्त इच्छाओं को सीमित पदार्थों द्वारा पूरी करने का प्रयत्न करता है।

कुछ लेखकों की परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र सम्पत्ति का विज्ञान है। आडम स्मिथ वर्तमान आर्थिक सिद्धान्तों का जनक माना जाता है। इस विषय की व्याख्या करते हुए उसने लिखा था कि अर्थशास्त्र विभिन्न देशों की सम्पत्ति, उसके कारण तथा उसके विविध प्रकारों का अध्ययन है। इस परिभाषा से तरह-तरह के भ्रमपूर्ण विचारों का प्रचार होने लगा, जिनमें उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्यिक लेखकों कार्लाइल, रस्किन इत्यादि का विशेष हाथ था। सम्पत्ति का प्रचलित अर्थ धन अथवा रुपया-पैसा की प्रचुरता है। इसलिये लोगों के विचार होने लगे कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध केवल धन प्राप्त करने के उपायों से है। इस प्रकार लोग इसे निकृष्ट विज्ञान (a 'dismal science') समझने लगे। परन्तु इन लेखकों ने वास्तव में अर्थशास्त्र के अध्ययन के उद्देश्य और उसकी परिमिति समझी ही नहीं। हम कह चुके हैं कि अर्थशास्त्र में 'सम्पत्ति शब्द एक विशेष अर्थ में उपयोग किया जाता है। सम्पत्ति शब्द का उपयोग रुपये के अर्थ में नहीं, वरन् उन सीमित पदार्थों और कार्यों के लिये किया जाता है जिनसे मनुष्य अपनी

आवश्यकताएं पूरी करता है। आवश्यकताओं की पूर्ति के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र इन सीमित पदार्थों और कार्यों के उत्पादन, विनिमय और वितरण का अध्ययन करता है। सम्पत्ति कारण है, कार्य नहीं। अर्थात् वह केवल एक जरिया है, ध्येय नहीं। हम सम्पत्ति पर ध्यान इसलिये केन्द्रित करते हैं कि हमें मनुष्यों के उन कार्य-कलापों का अध्ययन करना है, जिनका सम्बन्ध सम्पत्ति से है। हमारा सम्बन्ध सम्पत्ति से नहीं, मनुष्य के कार्यों से है। इसलिये अधिक महत्व मनुष्य के कार्यों को दिया जाता है, सम्पत्ति को नहीं। अर्थ-शास्त्र अब भी सम्पत्ति का विज्ञान माना जाता है, परन्तु वास्तव में वह मनुष्य मात्र के अध्ययन का एक भाग है।

सम्पत्ति का प्रारम्भिक अर्थ सुख-साधन था। इसलिये यह विचार किया जाता था कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का ध्येय सम्पत्ति तथा तत्सम्बन्धी अन्य कार्यों के अध्ययन द्वारा मनुष्य-समाज के सुख-साधनों को बढ़ाना था। लोग धन की इच्छा इसलिये करते हैं कि वह अधिक सुखी होने के साधन जुटा सकेगा। चूंकि सम्पत्ति का अर्थ उन भौतिक वस्तुओं से लगाया जाता है, जो मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, इसलिये कुछ लेखकों ने अर्थशास्त्र की यह परिभाषा की कि वह भौतिक सुख के साधनों को जुटाने का अध्ययन है।[1]

क्या अर्थशास्त्र भौतिक सुखों के साधनों का अध्ययन है ?

अन्य परिभाषा—अर्थशास्त्र की जो परिभाषा हम ऊपर दे चुके है, उसकी आलोचना इधर हाल में प्रोफेसर एल॰ रॉबिन्स (Prof. L. Robbins) ने की है। उनका कहना है कि भौतिक और अभौतिक (material and non material) वस्तुओं के बीच में जो अन्तर होता है, वह हमेशा साफ जाहिर करना कठिन है। दोनों के बीच में रेखा खींचनी मुश्किल हो जाती है। ऐसी बहुत-सी वस्तुएं हैं, जो हमारी आवश्यकताएं पूरी करती हैं और जिनकी पूर्ति सीमित है। परन्तु वे किसी अर्थ में भौतिक नहीं हैं। "जो व्यक्ति थियेटर में नाच दिखाता है, उसका कार्य भी सम्पत्ति है और जो रसोइया (बावर्ची) खाना बनाता है, उसका कार्य भी सम्पत्ति है। अर्थशास्त्र इन विभिन्न कार्यों का मूल्य आंकता है।" परन्तु हम इन कार्यों को किसी अर्थ में 'भौतिक' नहीं कह सकते। इसलिये अर्थशास्त्र का सम्बन्ध केवल सुख के भौतिक कार्यों से नहीं है, उसका सम्बन्ध सुख के अभौतिक कारणों अथवा वस्तुओं से भी है। अर्थशास्त्र और मनुष्य के सुखों में जो सम्बन्ध-स्थापन करने का प्रयत्न किया जाता है, उसकी भी आलोचना प्रोफेसर रॉबिन्स ने की है। उनका कहना है कि बहुत से अर्थ सम्बन्धी कार्य सुख के साधन नहीं जुटाते। शराब बनाना और बेचना एक आर्थिक कार्य है। इससे मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और

1 Cannan Wealth, p 17

इसका सम्बन्ध एक सीमित मात्रा में प्राप्त वस्तु के उत्पादन और वितरण से है। परन्तु अधिकतर यह देखने में आता है कि इससे मनुष्य का सुख और कल्याण नही बढता। दूसरी बात यह है कि हम सुख अथवा कल्याण की मात्रा को नाप नही सकते। दो व्यक्ति किसी वस्तु के लिये एक ही दाम देते हैं। परन्तु हम यह नही कह सकते कि दोनो व्यक्ति उस वस्तु से एक ही बराबर उपयोगिता (utility) प्राप्त करते हैं अथवा उन दोनो को उससे जो सुख प्राप्त होता है, उसकी मात्रा बराबर है। पहिला व्यक्ति धनी हो और दूसरा गरीब। तब उनके सुख और उपयोगिता की मात्रा में अन्तर पड जायगा। इसलिये धन सुख का उपयुक्त मापक नही है। इसीलिये हम समाज के विभिन्न वर्गों के सुख को एक बराबर नही मान सकते। अन्त में सुख की जो हम इस प्रकार की व्याख्या करते है इसमें इसका एक प्रकार का मूल्यांकन हो जाता है। इसका अर्थ यह होता है कि सुख की वृद्धि अधिक से अधिक करनी चाहिये। परन्तु अर्थशास्त्र का सम्बन्ध ध्येय से नही है। वह तो इस बात का अध्ययन करता है कि क्या है। क्या होना चाहिये, इसका नही। वह विभिन्न उद्देश्यों के बीच में तटस्थ रहता है।

प्रोफेसर रॉबिन्स के मतानुसार अर्थशास्त्री का प्रधान सम्बन्ध न 'भौतिक' साधनों (material means) से है, न सुख (welfare) से। उनके मत में अर्थ-

अर्थशास्त्र वस्तुओं की न्यूनता अथवा कमी की विशेषताओं का अध्ययन करता है

शास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के कार्य-कलापों का अध्ययन इस दृष्टि से करता है कि वे उसके उद्देश्यों और सीमित साधनों के बीच में क्या सम्बन्ध स्थापित करते हैं। और वे साधन भी ऐसे है, जिनके कई उपयोग हो सकते हैं। ("Economics is the science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternate uses"[1])

इस परिभाषा के मूल में तीन बातें हैं। पहिली यह कि मनुष्य की आवश्यकताएं होती हैं और उनकी कोई सीमा नही है, वे अनन्त हैं। दूसरी यह कि इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मनुष्य के पास साधन और समय दोनो सीमित हैं। और तीसरी यह कि इन सीमित साधनों के कई उपयोग होते हैं। हम चाहें तो अधिक मक्खन बना लें और चाहें तो अपने साधन और समय अधिक बन्दूकें बनाने में लगा दें। परन्तु हम दोनों को अधिक से अधिक मात्रा में प्राप्त नही कर सकते। हमारी आवश्यकताएं अनन्त हैं, परन्तु जीवन सीमित है। साथ ही स्वभाव से भी हम लोग आलसी या आरामपसन्द होते हैं। चूंकि मनुष्य सीमित समय और सीमित साधनों के कारण अपनी सब आवश्यकताओं की पूर्त्ति नहीं कर सकता, इसलिये प्रत्येक व्यक्ति के सामने यह प्रश्न रहता है कि किन आवश्यकताओं की पूर्त्ति

---

१ Nature and Significance of Economic Science, p 15

करें और किनको छोड़ दें। यदि हम एक वस्तु को लेते हैं, तो हमें अन्य कई वस्तुओं को त्यागना पड़ता है। इसलिये हमारे सामने चुनाव करने का प्रश्न उठता है। अथवा हम इस प्रकार कह सकते हैं कि हमारे पास जो सीमित साधन हैं, उनका उपयोग किस प्रकार करें। इस प्रकार का चुनाव करने के लिये हमारे पास मूल्य आँकने का कोई तरीका होना चाहिये। हमारे पास जो साधन हैं, उनका कुछ मूल्य निश्चित कर देना चाहिये, जिससे उनका उपयोग हम केवल अति आवश्यक कामों के लिये कर सकें। यह मूल्य निश्चित करने की क्रिया ही अर्थशास्त्र का विषय है। इस प्रकार अर्थशास्त्री इस बात का अध्ययन करता है कि विभिन्न कार्यों या चीज़ों में चुनने की विशेषता और महत्व क्या है। अर्थशास्त्र की समस्या चुनने अथवा किफायत करने की समस्या है।

पहिले जो परिभाषाएँ दी गई हैं, उनमें दोष हो सकते हैं। परन्तु प्रोफेसर रॉबिन्स ने जो परिभाषा दी है, उसमें एक विशेषता है। वह यह है कि यदि हम अर्थशास्त्र का अध्ययन मूल्यांकन के तरीके पर करते हैं, तो उसके आधार पर कुछ वैज्ञानिक सिद्धान्तों को प्राप्त कर सकते हैं। चूंकि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है, इसलिये उसे विभिन्न उद्देश्यों के बीच में तटस्थ रहना चाहिये। जो है, उसका अध्ययन करना चाहिये, जो होना चाहिये उसका नहीं। कारण कार्य अथवा अनुमान के सहारे उसे वैज्ञानिक सत्य (a Priori results) देने में समर्थ होना चाहिये। यदि हम मिलनेवाली वस्तुओं के उपयोग के आधार पर अर्थशास्त्री कुछ परिणाम या नतीजे स्थिर करें तो उनके द्वारा हम उन वैज्ञानिक सिद्धान्तों अथवा सत्य को नहीं जान सकते, जिनसे ठीक फल निकाले जा सकें अथवा उपयुक्त मूल्यांकन किया जा सके। सच्चा विज्ञान सत्य की खोज सत्य ही के लिये करता है और किसी भी विषय का अध्ययन जो वस्तु-स्थिति है, उसके आधार पर करता है। जो होना चाहिये, उसके आधार पर नहीं। इसलिये प्रो० रॉबिन्स का कहना है कि अर्थशास्त्री को सत्य और विज्ञान का मार्ग नहीं छोड़ना चाहिये और मुख्य विषय के साथ जिन विषयों का सम्बन्ध दूरवर्ती है, उन पर अपना समय नष्ट नहीं करना चाहिये। अब देखना यह है कि पहिले दी गई परिभाषा और प्रो० रॉबिन्स की परिभाषा में क्या अन्तर है। पहिली परिभाषा का सम्बन्ध मनुष्य के कार्यों के एक प्रकार अथवा विभाग (a particular kind or department of human activities) से है, दूसरी परिभाषा का सम्बन्ध मनुष्य के कार्यों के एक विशेष पहलू से है—उन कार्यों से जो वस्तुओं की न्यूनता अथवा कमी के कारण किये जाते हैं। (A particular aspect of human activities—activities undertaken under the influence of scarcity.)

इसलिये अर्थशास्त्री किसी बात पर अपना फैसला अथवा निश्चित मत नहीं दे सकता। वह ऐसे निश्चित सिद्धान्त नहीं दे सकता, जो तुरन्त किसी भी वस्तु-स्थिति पर लागू हो सकें। वह तो एक विशेषज्ञ की तरह केवल यह कह सकता है कि यदि अमुक रीति से

काम किया जाय तो उसका निश्चित फल ऐसा होगा। कम मिलनेवाली वस्तुओ के सम्बन्ध में हमारी जो मनोवृत्ति होगी, वह उसका फलाफल बतला सकता है। वह जीवन की समस्याओ के अन्तिम और निश्चित हल देने में समर्थ नही हो सकता। उदाहरण के लिये वह यह नही कह सकता कि अमुक सम्बन्ध में शासन द्वारा हस्तक्षेप उचित है अथवा नही। वह केवल इतना कह सकता है कि हस्तक्षेप करने के परिणाम यह होगे।

तब यह प्रश्न उठता है कि क्या अर्थशास्त्रियो को अपना कार्यक्षेत्र केवल मूल्याकन तक ही सीमित रखना चाहिये? क्या उन्हें केवल सत्य के लिये सत्य की खोज में लगा रहना चाहिये, नीति-निर्माण में कुछ भी भाग नही लेना चाहिये?

अर्थशास्त्र की परिमिति यह सत्य है कि मूल्याकन की रीति से अध्ययन करने से कुछ महत्वपूर्ण फल प्राप्त हुए हैं। और यदि अर्थशास्त्री को विभिन्न कार्यों की विशेषताए बतलाने में एक विशेषज्ञ का काम करना है, तो इस रीति से अध्ययन करने की अधिक आवश्यकता है। वैज्ञानिक आधार अथवा सत्य की जो *कठोरता होती है, उस पर अधिक अवलम्बित होने से विषय की व्यापकता भी कम हो जाती* है। परन्तु प्राय सब अर्थशास्त्रियो ने (उनमें प्रो० रॉबिन्स भी शामिल हैं) वैज्ञानिक अर्थशास्त्र की सीमा को लाघकर उद्देश्यो पर वाद-विवाद किया है। एक बात यह भी है कि विषय की व्यापकता का घेरा कम कर देने में कई प्रकार के खतरे है। जितने प्राकृतिक विज्ञान (natural sciences) है, उनमें और अर्थशास्त्र में एक मौलिक भेद है। भौतिकशास्त्र अथवा रसायनशास्त्र का विद्यार्थी केवल सत्य की खोज करने के लिये अपने विषय का अनुसधान कर सकता है। अपनी खोज का वास्तविक उपयोग करना वह दूसरो के लिये छोड सकता है। परन्तु अर्थशास्त्री केवल सत्य के लिये सत्य (truth for its own sake) जानने की दृष्टि से अपने विषय का अध्ययन नही करता। उसके सामने जो बडी-बडी सामाजिक समस्याए रहती है उनका हल उपस्थित करना उसका ध्येय होना है। अर्थशास्त्र का अध्ययन ही एक प्रत्यक्ष वास्तविक विषय की दृष्टि से आरम्भ हुआ था, जिसका ध्येय लोगो की आर्थिक दशा में सुधार करके उनको सुखी बनाना था। "जब हम मनुष्य के साधारण उद्देश्यो का अवलोकन करते हैं—कभी-कभी ये उद्देश्य नीच प्रकृति के और निराशाजनक भी होते हैं—तब हमारी मनोदशा एक दार्शनिक की सी नही रह जाती। अर्थात् हम सत्य का अन्वेषण केवल सत्य के ही लिये नही करते। बल्कि हमारी मनोवृत्ति एक डाक्टर की सी हो जाती है। हम सत्य ज्ञान का अन्वेषण इसलिये करते है कि वह दवा का काम करे।[1] अर्थशास्त्र में ज्ञान का मूल्य प्रधानत इसलिये नही है कि वह

---

१ Pigou. Economics of Welfare

'प्रकाश' देता है, बल्कि इसलिये है कि वह 'फल' देता है। प्रोफेसर रॉबिन्स ने इस बात पर खेद प्रकट किया है, कि अर्थशास्त्र की सीमा पर बहुत से नीमहकीम खेलवाड़ करते हैं। यदि ऐसा है तो उनका दूर भगाना अच्छा होगा। परन्तु उनको अर्थशास्त्री ही भगा सकते है, क्योंकि उनके पास उपयुक्त वैज्ञानिक कुशलता रहती है। उपयुक्त तरीकों पर शिक्षित व्यक्ति ही जनता के सामने प्रत्यक्ष फल पाने की विविध रीतियां रख सकते हैं। अर्थशास्त्र में कार्य और कारण के सूक्ष्म भेद भी आसानी से नहीं जाने जा सकते। इसलिये मुख्य की समस्याओं को अर्थशास्त्र की परिमिति से बाहर करना असम्भव है।

क्या अर्थशास्त्र एक विज्ञान है? बहुत समय तक इस बात पर विवाद चलता रहा है कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है, अथवा नहीं। शब्दकोष के अनुसार विज्ञान का अर्थ यह है कि वह प्रकृति के किसी विभाग के सम्बन्ध में क्रमबद्ध ज्ञान का संग्रह है, मनुष्य के लिये चाहे वह बाह्य हो अथवा आन्तरिक। प्रकृति के किसी विभाग में जो एकता रहती है,

विज्ञान शब्द का अर्थ

उसका वह अध्ययन करता है और उसके आधार पर वह कुछ तथ्य प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, जिन्हें हम नियम अथवा सिद्धान्त कहते हैं। भौतिकशास्त्र एक विज्ञान है। बाह्य-जगत में हम कुछ एकताएं देखते हैं। उनका वह अध्ययन करता है। मनोविज्ञान भी एक विज्ञान है, जो हमारे मानसिक जगत की एकताओं का अध्ययन करता है। अर्थशास्त्र मनुष्य की उन एकताओं का अध्ययन करता है, जो उनके दैनिक जीवन के साधारण कार्यकलापों में देखने में आती हैं। मनुष्यों के समूह के कार्यकलापों में जो एकताएं देखने में आती हैं, अर्थशास्त्र उनसे कुछ नियम या सिद्धान्त पाने का प्रयत्न करता है। इसलिये अर्थशास्त्र भी एक विज्ञान है।

प्राकृतिक विज्ञान ऐसे पदार्थों का अध्ययन करते हैं, जिनकी मात्राओं को हम निश्चित रूप से तौल सकते हैं। प्रयोगों द्वारा उनके परिणामों की सत्यता सिद्ध की जा सकती है। अर्थशास्त्र भी मनुष्य के उन कार्यों का अध्ययन करता है, जिनको हम धन के मापदण्ड से माप सकते हैं। जितने समाज-विज्ञान है, उनमें अर्थशास्त्र सबसे अधिक निश्चित है। किसी अन्य समाजशास्त्र में मात्रा के निश्चित माप के बाह्य साधन नहीं है। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि मनुष्य के उद्देश्यों का इस प्रकार का माप केवल निकटवर्ती हो सकता है। मनुष्य के उद्देश्यों का हमेशा ठीक-ठीक माप नहीं हो सकता। इसलिये अर्थशास्त्र यद्यपि सब समाज-विज्ञानों में सबसे अधिक निश्चित है, परन्तु प्राकृतिक विज्ञानों जैसा निश्चित नहीं है, क्योंकि वह मनुष्यों के उद्देश्यों का अध्ययन करता है, जिनका रूप गहन है। रुपये के सहारे हम मनुष्य के उद्देश्यों का केवल एक अंदाज-सा लगा सकते हैं। उन्हें हम निश्चयपूर्वक यथातथ्य नहीं नाप सकते। परन्तु प्राकृतिक विज्ञानों को हम ठीक-ठीक मात्रा में यथातथ्य घटित कर सकते हैं।

यद्यपि आर्थिक उद्देश्यों में विभिन्नता रहती है परन्तु कार्यसमूहों के औसत के आधार पर हम कुछ सिद्धान्त स्थिर कर सकते हैं।

बहुत से लोग अर्थशास्त्र को इस कारण एक विज्ञान नहीं मानते कि जिस सामग्री के आधार पर उसका अध्ययन होता है, उस सामग्री से ऐसे नियम नहीं बनाये जा सकते जो सार्वभौमिक हों, अर्थात् जो सब जगह लागू हो सकें। प्राकृतिक विज्ञानों में एक इस प्रकार के नियमों का समूह बन गया है, जिसे हम सब जगह लागू कर सकते हैं और जिसकी माप-तौल निश्चित मात्रा में हो सकती है। परन्तु अर्थशास्त्री अपने नियमों के सम्बन्ध में इसका दावा नहीं रख सकते। प्रत्येक मनुष्य की इच्छा स्वतन्त्र होती है, इसलिये निश्चयपूर्वक कोई यह नहीं कह सकता कि एक-सी परिस्थितियों में सब मनुष्य एक से कार्य करेंगे। परन्तु इतना होने पर भी तीन ऐसी बातें हैं, जिनके कारण हम कुछ नियम अथवा सिद्धान्त बना सकते हैं। पहिली बात यह है कि मनुष्य के सब अनुभव उसकी इच्छानुसार नहीं होते। यह निश्चय करना हमारे वश की बात नहीं है कि हम कब प्रसन्न होंगे और कब दुखी। यदि हम खाते भी चले जावें और यह भी चाहें कि तृप्ति न हो तो यह भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार के कितने ही ऐसे अनुभव हैं, जिन पर हमारा वश नहीं है और इन्हीं के आधार पर आर्थिक नियम बनते हैं। दूसरी बात यह है कि हमारे कुछ आर्थिक अनुभव बाह्य प्रकृति के उन नियमों पर आधारित हैं, जिन पर हमारा कोई काबू नहीं है। जैसे कि क्रमागत ह्रास का नियम। तीसरी बात यह है कि स्वतन्त्र इच्छा का यह मतलब नहीं है कि मनुष्य सब काम बिना सोचे विचारे करते हैं। यदि वे कोई काम बिना तर्क-बुद्धि के करते भी हैं, तो गणितशास्त्र के सम्भावना सिद्धान्त के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि उनके कार्यों की रूपरेखा किस प्रकार की होगी। परन्तु प्रायः मनुष्य बुद्धिपूर्वक ही अपने काम करते हैं। इस कारण से हम मनुष्य के होने वाले कार्यों की रूपरेखा का अनुमान कर सकते हैं और कुछ नियम बना सकते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि अर्थशास्त्र की भविष्यवाणियां प्रायः सच नहीं होतीं। बाद की घटनाएं उन्हें प्रायः गलत सिद्ध कर देती हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अर्थ-शास्त्र के अध्ययन का तरीका अवैज्ञानिक है। वास्तविकता यह है कि हम कार्यों के सही कारणों से परिचित नहीं रहते। प्राणि विज्ञान तथा जलवायु विज्ञान (Meteorology) के नियम भी बाद की घटनाओं के आधार पर सदा सत्य नहीं निकलते। परन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि ये दोनों शास्त्र विज्ञान नहीं हैं। अर्थशास्त्र आने-वाली व्यापारिक मंदी का समय बहुत पहिले बतला सकता है। उतने पहिले जलवायु-विज्ञान तूफान का आना नहीं बतला सकता। अर्थशास्त्री और प्राकृतिक वैज्ञानिक दोनों का काम एक-सा है, दोनों एक विशेष दृष्टिकोण से कुछ सामग्री का अवलोकन और अध्ययन करते हैं, दोनों उस अध्ययन के आधार पर *कुछ सार्वभौमिक नियम बनाने का प्रयत्न*

करते हैं । ऐसे नियम जो सब जगह लागू हो सकें । इसलिये हम अर्थशास्त्र के विज्ञान होने का अधिकार इस कारण नहीं छीन सकते कि उसमें निश्चयता तथा भविष्यवाणी की शक्ति नहीं है ।

आर्थिक नियमों की प्रकृति अथवा विशेषता (Nature of Economic Laws)—प्रत्येक विज्ञान के अपने कुछ नियम होते हैं । अर्थशास्त्रियों ने भी अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में कुछ नियम बनाये हैं । अब प्रश्न यह है कि इन नियमों की विशेषता क्या है । नियम (law) शब्द के कई अर्थ होते हैं । एक तो समाज द्वारा बनाये हुए नियम होते हैं, जिनके अनुसार समाज किसी काम को करने या न करने को कहता है । इंग्लैण्ड का कामन ला (common law) इसी प्रकार का नियम है । दूसरे नियम इस प्रकार के होते हैं जो किसी काम को चलाने का क्रम बतलाते हैं । जैसे, क्रिकेट के खेल के नियम यह बतलाते हैं कि खेल किस प्रकार खेलना चाहिये । तीसरे नियम का अर्थ धारासभा द्वारा बनाये कानून से होता है, और अन्तिम कार्य-कारण के आधार पर दो परिस्थितियों या घटनाओं में जो सम्बन्ध होता है, उसे नियम कहते हैं । जैसे, भौतिकशास्त्र के नियम ।

नियम शब्द के विभिन्न अर्थ

अर्थशास्त्र के नियम केवल अन्तिम अर्थ में ही नियम कहलाते हैं । वे कुछ प्रवृत्तियों के बयानमात्र होते हैं । जैसे कि अमुक परिस्थितियों में हम मनुष्यों के एक समूह या समाज से अमुक प्रकार के कार्य की आशा कर सकते हैं । अर्थशास्त्र का नियम यह कहता है कि यदि इस प्रकार का कारण है तो कार्य का स्वरूप इस प्रकार का होगा । प्रत्येक विज्ञान के नियम इसी अर्थ में नियम होते हैं । यदि ऑक्सीजन और हाइड्रोजन गैसों का मिश्रण किया जावे और अन्य सब चीजें यथास्थिति रहें तो उस समय मिश्रण के फलस्वरूप पानी बन जावेगा । इसी प्रकार अर्थशास्त्र में भी अन्य वस्तुओं के यथास्थिति होने पर (other things being equal) यदि किसी वस्तु के दाम बढ़ेंगे तो उसकी माँग कम हो जावेगी । इसलिये यदि रसायनशास्त्र का कोई नियम एक प्राकृतिक नियम माना जाता है तो अर्थशास्त्र का नियम भी उसी अर्थ में प्राकृतिक नियम है ।

परन्तु अर्थशास्त्र के नियम उतने निश्चित (exact) नहीं हैं, जितने कि प्राकृतिक विज्ञानों के नियम । प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन का आधार अणु और परमाणु हैं, जिनकी मात्रा निश्चित है । परन्तु अर्थशास्त्री के अध्ययन का आधार मनुष्य के कार्य होते हैं । किसी विशेष परिस्थिति में या विशेष कारणवश मनुष्यों का एक समूह सदा एक सा कार्य नहीं करेगा । यह नहीं कहा जा सकता कि जब-जब यह कारण हो, तब-तब मनुष्य सदा यह काम करेंगे । कुछ ऐसे नियम होते हैं जो स्वयंसिद्ध होते हैं, उन्हें सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती । जैसे कि खर्च के बाद जो आमदनी बचेगी

उसी से पूंजी होगी अथवा किसी वर्ग के रहन-सहन का दर्जा मूलत उसकी उत्पादन शक्ति के ऊपर निर्भर है, ये नियम स्वयंसिद्ध (axiomatic) हैं। इनको हम अनुमान या कल्पना (hypothetical) नहीं मान सकते।

अर्थशास्त्र के अध्ययन की रीतियां (Methods of Economics)–प्रत्येक विज्ञान के अध्ययन करने की कुछ रीतियां होती हैं। अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि अर्थशास्त्र में अध्ययन करने की तथा अन्वेषण और गवेषणा की क्या रीतियां ग्रहण की गई हैं। कोई भी वैज्ञानिक अपना अध्ययन और अनुसन्धान दो रीतियों से करता है। एक को अनुमान या निगमन प्रणाली (deductive or abstract method) और दूसरी को अनुभव या आगमन प्रणाली (inductive or historical method) कहते हैं। अनुमान प्रणाली इस प्रकार की होती है। जिस घटना या सत्य का अध्ययन करना है, उसमें कौन-कौन सी बातें और विशेषताएं हैं, पहिले इस बात को देखते हैं। फिर हम तर्क बुद्धि या बहस द्वारा यह निश्चय करने का प्रयत्न करते हैं कि यदि अमुक परिस्थितियों में ये घटनाएं या विशेष बातें अपना काम करें तो उनका फल क्या होगा। तर्क वितर्क द्वारा हम एक सिद्धान्त पर पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। प्राचीन आंग्ल अर्थशास्त्रियों (classical economists) ने पूरे अर्थशास्त्र के अध्ययन में केवल इसी रीति अर्थात् अनुमान-पद्धति का उपयोग किया। अर्थविज्ञान के सब नियम उन्होंने मनुष्यों के उद्देश्यों और आदतों सम्बन्धी कुछ विशेषताओं के अध्ययन द्वारा निश्चित किये। उन्होंने अपना अध्ययन मनुष्य प्रकृति की कुछ सर्वमान्य बातों को लेकर किया। जैसे कि मनुष्य हमेशा सस्ते से सस्ते दर पर वस्तुएं लेना चाहता है इत्यादि। उन्होंने इस बात को मान लिया कि मनुष्य के ये उद्देश्य और यह प्रकृति सब स्थानों में एक से होते हैं। तब उन्होंने यह निश्चय करने का प्रयत्न किया कि मनुष्यों के उन कार्यों का स्वरूप क्या होगा और वे किन नियमों के अनुसार घटित होंगे। इस प्रकार के सिद्धान्त और उनको निश्चय करने की इस विधि की कई लेखकों ने आलोचना की है। परन्तु इन प्राचीन अर्थशास्त्रियों (classical writers) की गलती इस बात में नहीं थी कि उन्होंने अपने अध्ययन में अनुमान-पद्धति का उपयोग किया। उनकी त्रुटि इस बात में थी कि उन्होंने अपने सिद्धान्तों को अपूर्ण और कम सामग्री के आधार पर निश्चित किया।

गणित की रीति

अनुमान-पद्धति के प्रयोग का एक प्रकार गणित पद्धति भी है। जेवन्स का कहना है—"अर्थशास्त्र की रूपरेखा और प्रकृति मूलत गणित के समान है।" यहां वह गणित का अर्थ उन समस्याओं से लगाता है, जो परिमाणवाचक सिद्धान्तों (quantitative relations) का अध्ययन करती है। अर्थशास्त्र कुछ ऐसे तथ्यों (phenomena)

का अध्ययन करता है, जिनके परिमाणवाचक स्वरूप का मौलिक महत्व है। इन तथ्यों के अध्ययन में इस पद्धति का उपयोग लाभपूर्वक किया जा सकता है। इस पद्धति का सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह अर्थशास्त्र के शुद्ध भाववाचक तर्क-वितर्क में भी ऊँचे दर्जे की निश्चयता (precision) ला देता है। त्रुटियों के मौके कम हो जाते हैं। इस पद्धति में सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि जो इस रीति का उपयोग करते हैं, वे अपने अध्ययन का असली ध्येय भूलकर बौद्धिक खिलौने बनाने में ही लगे रहें। केवल बुद्धि और गणित का व्यायाम करने में ही लगे रह जावें।

अनुभव या ऐतिहासिक पद्धति

अनुमान-पद्धति के प्रधान आलोचक वे लेखक हुए हैं, जिन्होंने अनुभव या ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया है। ये लेखक मुख्यतः जर्मनी में हुए हैं। इन लोगों ने अनुभव-पद्धति का उपयोग करके आर्थिक इतिहास से आर्थिक विज्ञान को तैयार किया है। वे इतिहास तथा सामयिक घटनाओं से अपने अध्ययन की सामग्री इकट्ठी करते हैं और इसके अध्ययन के परिणामस्वरूप विविध सिद्धान्तों का निरूपण करते हैं। इधर गत कुछ वर्षों में अङ्कशास्त्र (statistics) में जो प्रगति की है तथा सरकार और कुछ व्यक्तियों ने विविध आँकड़े इकट्ठे करने की जो प्रथा प्रचलित की है, उससे इस रीति का मूल्य अधिक बढ़ गया है। इस प्रकार जो आँकड़े इकट्ठे किये गये उनमें वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निरूपण करने में बड़ी सहायता मिली है। इससे अर्थशास्त्र का विज्ञान अधिक पूर्ण और निश्चित हो गया है। परन्तु इन लोगों ने अनुमान-पद्धति की जो आलोचना की है, वह प्रायः गलत हुआ करती थी। यह बात सच है कि हमें सबसे पहिले कुछ आँकड़ों या अध्ययन-सामग्री की आवश्यकता होती है। बिना सामग्री के अथवा अपूर्ण सामग्री के आधार पर किसी भी विज्ञान का अध्ययन नहीं हो सकता। तर्क-वितर्क द्वारा हम जो सिद्धान्त बनावें उनका समर्थन आँकड़ों और घटनाओं द्वारा भी होना चाहिये। परन्तु इस बात को स्वीकार करने का अर्थ यह नहीं होता कि अनुमान-पद्धति बिल्कुल व्यर्थ है। "आँकड़े स्वयं कुछ नहीं बतलाते। केवल व्याख्या, पृथक्करण, तुलना, कल्पना और भविष्यवाणी द्वारा हम इनका अर्थ लगा सकते हैं।"[1] बिना तर्क और कल्पना की सहायता के किसी विज्ञान की प्रगति नहीं हो सकती। यदि अनुमान-पद्धति की सहायता न ली जावे तो अनुभव या ऐतिहासिक पद्धति के प्रयोग में यह खतरा है कि वह केवल वर्णनात्मक रह जावेगी। हमारे पास आँकड़ों का एक बड़ा समूह जमा हो जावेगा, जिनमें आपस में कोई सम्बन्ध नहीं होगा और जिनका हमारे लिये कोई उपयोग नहीं होगा। अनुभव-पद्धति के अर्थ-

---

१ Durbin—"Methods of Research" in the 'Economic Journal', June 1933, page 181.

शास्त्रियो ने वास्तव में विषय का नवनिर्माण नही किया है। उन्होंने केवल एक नये दृष्टिकोण से एक नये प्रभाव का परिचय दिया है।

दोनों रीतियों का उपयोग आवश्यक है

आधुनिक लेखको का मत है कि ये दोनो पद्धतिया सहयोगी हैं, प्रतियोगी नही। इस विज्ञान का ध्येय आर्थिक एकताओ को खोजना है। जिस रीति से भी यह ध्येय सध सके उसी का प्रयोग करना सही है। 'जिस प्रकार चलने के लिये दाहिने और बायें दोनो पैरो की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अर्थ विज्ञान के अध्ययन के लिये अनुमान और अनुभव दोनो पद्धतियो की आवश्यकता है।' अर्थशास्त्री दोनो पद्धतियो से लाभ उठा सकते हैं, परन्तु उन्हें दोनो का उपयोग विभिन्न कामो के लिये विभिन्न मात्राओ में करना चाहिये।

सब समाजविज्ञान परस्पर सम्बन्धी हैं

अर्थविज्ञान का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध (The Relation of Economics with other Sciences)—आजकल विभिन्न समाजशास्त्रो में बढती हुई एकता देखी जा रही है। समाजशास्त्रों में परस्पर सम्पर्क साफ जाहिर होता जाता है, अर्थशास्त्र का सम्बन्ध समाजविज्ञान, इतिहास तथा गणितशास्त्र के साथ स्वीकार किया जा चुका है। आधुनिक अध्ययन की प्रवृत्ति विशेषज्ञता (specialisation) और भेदकरण (differentiation) की ओर है। परन्तु इस प्रवृत्ति के होते हुए भी यह सभावना मानी जाती है कि किसी एक दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत इन सब विज्ञानो का सम्मिश्रण हो सके और कुछ लेखको ने इस सम्बन्ध में प्रयत्न भी किया है।

समाजशास्त्र समाज के सब अंगों या पहलुओं का अध्ययन करता है। अर्थशास्त्र केवल एक अंग का

अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र (Economics of Sociology)—समाजशास्त्र समाज सम्बन्धी एक व्यापक विज्ञान है। वह सामाजिक जीवन के सब मौलिक अगों का अध्ययन करता है। जैसे कि आर्थिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक इत्यादि। समाजशास्त्र सामाजिक सगठन के प्रारम्भिक सिद्धान्तो का अध्ययन करनेवाला विज्ञान है। कॉम्टे (Comte) का मत है कि अर्थशास्त्र समाजशास्त्र में सम्मिलित है। उसे पृथक् विज्ञान नही कहा जा सकता। कॉम्टे के कथन के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के क्षेत्र बिल्कुल अलग हैं। समाजशास्त्र समाज सम्बन्धी एक व्यापक विज्ञान है? जितने समाजविज्ञान हैं, उन सबके सिद्धान्तो का वह अध्ययन करता है और उनका उपयोग अन्य सिद्धान्तो के निरूपण करने में करता है। समाजशास्त्र विभिन्न समाजविज्ञानो का केवल एक जोड या समूह नही है। उन विज्ञानो के सिद्धान्तो पर आधारित एक दर्शन है। समाजशास्त्र मौलिक विज्ञान है,

अन्य समाजविज्ञान उसके भेदकरण है। इसलिये अर्थशास्त्र की परिमिति समाजशास्त्र की परिमिति से बिल्कुल भिन्न है। वह समाजशास्त्र के समान व्यापक नहीं है, बल्कि समाजशास्त्र का एक अंग है। यद्यपि वह समाजशास्त्र की एक शाखा है, परन्तु उसके उद्देश्य और उसकी व्यापकता समाजशास्त्र के उद्देश्यों और व्यापकता से बिलकुल भिन्न है। वह मनुष्य-जीवन के एक विशिष्ट पहलू का अध्ययन करता है, पूरे मनुष्य-जीवन का नहीं। उसकी अध्ययन की पद्धति, उसकी परिमिति और उसके उद्देश्य विशिष्ट और विभिन्न हैं। इसलिये अर्थशास्त्र यद्यपि समाजशास्त्र की एक शाखा है, परन्तु वह एक अलग विज्ञान है।

राजनीतिशास्त्र राज्य का अध्ययन करता है और अर्थशास्त्र सम्पत्ति का

अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र (Economics and Politics)—अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र दोनों समाजशास्त्र की शाखाएं हैं। अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। आरम्भ में लेखक अर्थशास्त्र को राजनीतिशास्त्र का एक अंग मानते थे। प्राचीन ग्रीस देश के विद्वान राजनैतिक अर्थशास्त्र (political economy) को राज्य के कर और आमदनी इकट्ठा करने की एक कला मानते थे और आदम स्मिथ (Adam Smith) के समान लेखक उसे राज्य की शक्ति बढ़ाने की एक कला मानते थे। 'राजनैतिक अर्थशास्त्र' शब्द ही से मालूम हो जाता है कि राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र में कितना निकट सम्बन्ध है। आधुनिक काल में 'राजनैतिक अर्थशास्त्र' के बदले 'अर्थशास्त्र' शब्द का उपयोग विशेष कारण से किया जाता है। इसका मतलब यह है कि अर्थशास्त्र का राज्य से सीधा प्रारम्भिक सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि आधुनिक लेखक अर्थशास्त्र शब्द का उपयोग स्वतन्त्र रूप से करते हैं, फिर भी वे यह स्वीकार करते हैं कि अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में घनिष्ट सम्बन्ध है। निम्नलिखित पैराग्राफ से यह विचार और भी स्पष्ट हो जायगा।

आर्थिक संस्थाएं राजनैतिक संगठन पर निर्भर हैं

किसी देश की आर्थिक स्थिति उस देश की शासन प्रणाली पर निर्भर है। आधुनिक काल में राज्यशासन का आर्थिक विषयों से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। धारासभाएं, मजदूरवर्ग और पूंजीपतिवर्ग के झगड़ों, आयात-निर्यात, करों, बेकारी आदि औद्योगिक और व्यावसायिक समस्याओं के हल करने में लगी रहती हैं। राज्यशासन के बनाये कानूनों के अनुसार सब आर्थिक कार्य होते हैं। व्यक्तिवाद और समाजवाद की समस्याएं अर्थशास्त्र और समाजवाद के घनिष्ट सम्बन्ध को बतलाती हैं। ये समस्याएं अलग नहीं की जा सकतीं। दोनों शास्त्र इनका विवेचन करते हैं। दूसरी बात यह है कि किसी देश का राजनैतिक संगठन उस देश के आर्थिक संगठन का दिग्दर्शक है। अरिस्टॉटल (Aristotle) ने

राज्यतन्त्र का जो वर्गीकरण स्वेच्छाशासन या तानाशाही (tyranny) सामन्तशाही (oligarchy) और प्रजातन्त्र या जनतन्त्र (democracy) में किया था, वह सम्पत्ति के आधार पर किया था। राजनैतिक आन्दोलनो के पीछे बडे-बडे आर्थिक प्रश्न रहते है। राज्य समाजवाद (state socialism) मजदूर सघवाद (syndicalism) समाजवाद विरोधी राष्ट्रीयतावाद (fascism) और साम्यवाद या मजदूरशाही (bolshevism) इत्यादि आन्दोलनो के आर्थिक और राजनैतिक दोनो स्वरूप होते है।

इन बातो से मालूम होगा है कि इन दोनो विज्ञानो में कितना घनिष्ट सम्बन्ध है, यद्यपि इन दोनो के अध्ययन के क्षत्र अलग-अलग और विशिष्ट है।

अर्थशास्त्र और आचार नीतिशास्त्र (economics and ethics)

अर्थशास्त्र आचार नीति-शास्त्र का सहयोगी है

इन दोनो विषयो में भी घनिष्ट सम्बन्ध है। आचार नीतिशास्त्र एक आदर्श रखता है और ऐसी आशा की जाती है कि आर्थिक सस्थाओ को इस आदर्श को प्राप्त करना चाहिये। अर्थशास्त्र आचार नीतिशास्त्र का सहयोगी है और उसका ध्येय मनुष्य की सर्वतोमुखी उन्नति करना है। इस प्रकार आचार नीतिशास्त्र हमारे सामने एक आदर्श रख देता है, जिसके अनुसार हमें अपने सब कार्य करने चाहिये।

फिर भी आचार नीतिशास्त्र अर्थशास्त्र का ऋणी है। अर्थशास्त्र के नियम और गवेषणाए आचारशास्त्र के अध्ययन की सामग्री होते है और उनसे आचारशास्त्र अपने सिद्धान्तो का निरूपण करता है। उदाहरण के लिये अपने

अर्थशास्त्र की सामग्री पर आचार नीतिशास्त्र बनता है

अध्ययन के अनुभव से अर्थशास्त्र यह कहता है कि कुछ परिस्थितियो में बिना सोचे विचारे गरीबो को सहायता देना आलस्य बढाता है और आत्मनिर्भरता का घातक है। आचारशास्त्र इसके आधार पर अपने सिद्धान्त बनाता है और गरीबो को बिना सोचे विचारे मनचाही भिक्षा देना उचित नही ठहराता। वह बतलाता है कि किन परिस्थितियो में दान देना चाहिये। इस प्रकार अर्थशास्त्र और आचार नीतिशास्त्र में निकट सम्बन्ध है। सेलिगमेन (Seligman) ने उचित ही कहा है कि "आचार नीतिशास्त्र के समान अर्थशास्त्र भी प्रधानत एक समाजविज्ञान है। सच्चा आर्थिक कार्य अन्त में नैतिक कार्य होता है।"[1]

---

१ Seligman 'Principles of Economics', p 35.

दूसरा अध्याय

कुछ मौलिक विचार

(Some Fundamental Ideas)

वस्तुए (Goods)—मौतिक या अभौतिक कोई भी वस्तु जो मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरी करती है वस्तुओ में गिनी जाती है। वस्तुओ के दो प्रकार माने गये है । एक तो स्वतन्त्र या प्रचुर वस्तुए (free goods) और दूसरी आर्थिक वस्तुए (economic goods) । स्वतन्त्र वस्तुए वे होती है जिनकी पूर्ति सीमित नही है । इन वस्तुओ की जितनी माग हो सकती है, उससे

आर्थिक वस्तुए

कही अधिक प्रचुर मात्रा मे वे प्राप्त रहती है । उसकी पूर्ति आवश्यकता से अधिक रहती है । धूप, हवा, समुद्र का पानी और मरुस्थल की रेत स्वतन्त्र या प्रचुर वस्तुओ के उदाहरण है । स्वतन्त्र वस्तुए प्राय प्रकृति की देन होती है । जिन वस्तुओ की पूर्ति माग की अपेक्षा कम होती है, उन्हें आर्थिक वस्तुए कहते है । कमी का अर्थ केवल मात्रा का सीमित होना नहीं है। मांग की अपेक्षा पूर्ति की कमी होनी चाहिये । किसी वस्तु की जितनी माग हो और वह वस्तु उस कुल माग को पूरी न कर सके, तब उसे आर्थिक दृष्टि से कम मानते है। इस प्रकार स्वतन्त्र वस्तुओ और आर्थिक वस्तुओ में निश्चित और साफ अन्तर नही है। आजकल के बडे-बडे शहरो में प्रत्येक घर में पानी एक आर्थिक वस्तु है । परन्तु किसी नदी के किनारे रहने-वाले के लिये वह एक स्वतन्त्र वस्तु है । इस प्रकार आधुनिक सभ्यता के जटिल जीवन में अधिकाधिक स्वतन्त्र वस्तुए आर्थिक वस्तुए होती जा रही है । इस प्रकार कमी की जो विशेषता है वह कोई निश्चित विशेषता नही है । यह विशेषता मनुष्य की आवश्यकताओ के अनुसार बदलती रहती है ।

एक अन्य दृष्टिकोण के अनुसार आर्थिक वस्तुए उन्हें कहते है, जो विनिमयसाध्य (transferable) हो और जिन पर बाह्य अधिकार (external possession) किया जा सके, विनिमयसाध्य का अर्थ यह नही है कि उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाया जा सके, हस्तान्तरकरण का अर्थ स्थानान्तरकरण नही है । यदि किसी वस्तु पर अधिकार प्राप्त हो सकता है तो वह काफी है, क्योंकि कोई भी मनुष्य ऐसी वस्तु नही मांगेगा जिसका वह मालिक नही हो सकता । यद्यपि जमीन को एक स्थान से दूसरे स्थान में नही ले जा सकते, परन्तु उस पर अधिकार कर सकते है और वह अधिकार एक मनुष्य से दूसरे को

दिया जा सकता है। इस प्रकार जमीन विनिमयसाध्य है और वह हस्तान्तरित हो सकती है। एक बात यह भी है कि हस्तान्तरित होने के लिये किसी वस्तु को बाह्य होना चाहिये। क्योंकि किसी मनुष्य की आन्तरिक (internal) वस्तुओं या गुणों का अधिकार हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता, इसलिये उनके लिये कोई कुछ नहीं देगा। रवीन्द्रनाथ टैगोर की कवित्वशक्ति अथवा किसी ऊँचे दर्जे के डाक्टर की विद्या अन्य किसी मनुष्य को हस्तान्तरित नहीं की जा सकती। इसलिये आर्थिक माने में ये सम्पत्ति नहीं हैं। परन्तु जिन दो दृष्टिकोणों से हमने आर्थिक वस्तुओं की व्याख्या की है, उनमें कोई संघर्ष नहीं है। जो चीज हस्तान्तरित करने लायक या विनिमयसाध्य हो, उसे माँग की अपेक्षा कम भी होना चाहिये, क्योंकि यह सोचना गलत है कि कोई आदमी स्वतन्त्र या प्रचुर वस्तुओं के लिये भी कुछ देने को तैयार होगा।

(१) उपयोगिता
(२) कमी या न्यूनता
(३) हस्तान्तरकरण या विनिमयसाध्य होना

सम्पत्ति (Wealth)—सम्पत्ति और आर्थिक वस्तुओं का एक ही अर्थ है। सम्पत्ति की गणना में आने के लिये किसी वस्तु में चार गुण होने आवश्यक हैं। (१) उसमें उपयोगिता होनी चाहिये अर्थात् उसमें मनुष्य की आवश्यकता पूरी करने का गुण होना चाहिये। (२) माँग की अपेक्षा उसकी पूर्ति कम होनी चाहिये। (३) उसमें विनिमयसाध्यता या हस्तान्तरकरण का गुण होना चाहिये। (४) उसे मनुष्य के लिये बाह्य होना चाहिये। इस प्रकार सम्पत्ति शब्द में केवल वे भौतिक वस्तुएं सम्मिलित नहीं हैं जो बाह्य हैं और हस्तान्तरित हो सकती हैं, जैसे कि जमीन, मकान, सामान इत्यादि। वरन् वे अभौतिक वस्तुएं भी शामिल हैं जो बाह्य हैं और हस्तान्तरित हो सकती हैं। जैसे कि किसी व्यावसायिक फर्म का नाम (goodwill) किसी पुस्तक का कापी राइट, पेटेन्ट अधिकार इत्यादि। परन्तु सम्पत्ति में वे भौतिक वस्तुएं शामिल नहीं हैं, जो हस्तान्तरित नहीं हो सकतीं—जैसे कि शुद्ध वायु और वे अभौतिक वस्तुएं भी शामिल नहीं हैं, जो मनुष्य के लिये बाह्य नहीं हैं। जैसे कि किसी इंजीनियर की व्यक्तिगत कुशलता।

'सम्पत्ति' शब्द सापेक्षित है

यह नहीं भूलना चाहिये कि सम्पत्ति और आवश्यकता में एक आपसी सम्बन्ध है। कोई वस्तु तभी सम्पत्ति होती है, जब कोई मनुष्य अथवा वर्ग उसे चाहता है। मनुष्य का मनोभाव ही वास्तव में सम्पत्ति निश्चित करता है। (The psychological attitude of man is the real determinant of wealth) जब मनुष्य का मनोभाव बदल जाता है, तब सम्पत्ति की प्रकृति भी बदल जाती है। एक अशिक्षित मनुष्य के लिये सम्पत्ति का कोई मूल्य नहीं है। परन्तु शिक्षित मनुष्य की दृष्टि में वे उसकी सम्पत्ति का एक अंश हैं।

सामूहिक सम्पत्ति (Collective Wealth)—सामूहिक सम्पत्ति में वे विनिमय-साध्य और बाह्य भौतिक और अभौतिक वस्तुएं शामिल हैं। जो सार्वजनिक सम्पत्ति है और जिनका उपभोग समाज के सब लोग करते हैं। सड़कें, सरकारी दफ्तर, सार्वजनिक भवन, चित्रशालाएं इत्यादि सामूहिक सम्पत्ति में शामिल हैं।

राष्ट्रीय सम्पत्ति (National Wealth)—राष्ट्रीय सम्पत्ति में व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों सम्पत्तियां शामिल हैं। राष्ट्रीय सम्पत्ति का लेखा करने के लिये समाज के सब व्यक्तियों की सब सम्पत्ति और सब सार्वजनिक सम्पत्ति, भौतिक और अभौतिक दोनों प्रकार की जोड़ते हैं। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि कुछ उलटी या प्रतिकूल सम्पत्ति (Negative Wealth) भी होती है। सरकारी ऋण व्यक्तियों के लिये तो सम्पत्ति होती है, क्योंकि सरकारी सिक्यूरिटी में रुपया लगाने से ब्याज मिलता है। परन्तु यह एक प्रकार का राष्ट्रीय ऋण है। इसी प्रकार कई सार्वजनिक कार्यों के लिये भी सार्वजनिक ऋण लिया जाता है। परन्तु देश के लोगों का जो ऋण विदेश के लोगों पर रहता है। उसे राष्ट्रीय सम्पत्ति में जोड़ा जाता है।

मूल्य (Value)

उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य और विनिमय सम्बन्धी मूल्य (Value-in-use and Value-in-exchange) मूल्य का अर्थ दो में से एक कोई हो सकता है। उसका अर्थ केवल उपयोगिता हो सकता है। अथवा मूल्य का अर्थ विनिमय शक्ति से हो सकता है कि अन्य वस्तुओं पर उसमें खरीदने की शक्ति कितनी है। पहिले अर्थ को उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य कहते हैं और दूसरे अर्थ को विनिमय सम्बन्धी मूल्य।

उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य (Value-in-use)

विनिमय सम्बन्धी मूल्य

विनिमय सम्बन्धी मूल्य होने के लिये किसी वस्तु में उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य भी होना चाहिये, और साथ ही मांग की अपेक्षा उसकी पूर्ति में कमी भी होनी चाहिये। अर्थशास्त्र में उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य से प्रयोजन नहीं रहता। केवल विनिमय सम्बन्धी मूल्य से मतलब रहता है।

कुछ वस्तुओं में उपयोगिता बहुत रहती है, परन्तु उनकी विनिमय शक्ति उतनी ऊंची नहीं रहती। उदाहरण के लिये पानी मनुष्यों के लिये बड़ा उपयोगी वस्तु है। सच पूछा जाय तो पानी सोने से कहीं अधिक उपयोगी है, परन्तु फिर भी पानी की अपेक्षा सोने की विनिमय शक्ति कहीं अधिक है। अर्थात् पानी में उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य सोने से अधिक है, परन्तु विनिमय सम्बन्धी मूल्य सोने से कहीं कम है। कारण स्पष्ट है। पानी की पूर्ति उतनी सीमित नहीं है, जितनी सोने की पूर्ति है। जैसा कह चुके हैं, विनिमय सम्बन्धी मूल्य होने के लिये किसी वस्तु में केवल उपयोगिता होनी ही काफी नहीं है।

उसकी पूर्ति भी सीमित होनी चाहिये। अन्य सब वस्तुओ के यथास्थिति होते हुए (other things being equal) पूर्ति जितनी अधिक सीमित होगी, मूल्य भी उतना ही *अधिक होगा।*

मूल्य और कीमत (Value and Price)—जैसा बतला चुके है, मूल्य का अर्थ विनिमय शक्ति है। इस प्रकार मूल्य दो वस्तुओ के बीच में एक अनुपात है। एक मन *चावल का मूल्य अन्य वस्तुओंकी वह मात्रा है, जो उसके बदले में प्राप्त की जा सकती है।* इस प्रकार चावल का मूल्य गेहूँ, जूट, कपास अथवा अन्य किसी वस्तु के हिसाब से बतलाया जा सकता है, जो चावल के साथ बदली जा सकती है। *जब मूल्य द्रव्य या रुपये-पैसे के हिसाब से बतलाया जाता है, तब उसे कीमत या दाम कहते है। जब एक मन चावल का* विनिमय द्रव्य के साथ किया जाता है, तब उसका जो अनुपात द्रव्य की मात्राओ के साथ होगा, उसे कीमत (price) कहते है।

वास्तविक जीवन में सब विनिमय द्रव्य में किया जाता है। इसलिये किसी वस्तु का मूल्य (value) हम अन्य वस्तुओ के रूप में जानने के बदले उसकी कीमत (price) द्रव्य के हिसाब से जानते है।

इस सम्बन्ध में एक अन्य बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है। सब वस्तुओ के दाम आमतौर से गिर या बढ सकते है, परन्तु सब वस्तुओ के मूल्य में ऐसी बात नही हो सकती। क्योकि सब चीजो की कीमत दो बातो पर निर्भर रहती है। एक तो उन सब वस्तुओ की कुल मात्रा जिसका विनिमय द्रव्य से होता है और दूसरी द्रव्य की कुल मात्रा जो चलन में है। चलन में जो द्रव्य है, यदि उसकी मात्रा बढती है, तो वस्तुओ के दाम आमतौर से बढ जावेंगे। इसके विरुद्ध यदि चलन में जो द्रव्य है, उसकी मात्रा घटती है, तो अन्य वस्तुओ के यथास्थिति रहते हुए वस्तुओ के दाम घट जावेंगे। अर्थात् सब वस्तुओ के दाम गिर जायेंगे, यद्यपि सब वस्तुओ के दाम एक से नही गिरेंगे। वस्तुओ के दामो का आम तौर से बढना या घटना

क्या मूल्य और कीमत आमतौर से घट-बढ सकते है ?

वस्तुओं का वर्गीकरण—

वस्तुए
- बाह्य
  - भौतिक
    - हस्तान्तरित होनेवाली, जैसे—मकान, रोटी।
    - हस्तान्तरित न होनेवाली, जैसे—हवा, जलवायु।
  - व्यक्तिगत
    - हस्तान्तरित होनेवाली, जैसे—किसी व्यवसाय फर्म का नाम
    - हस्तान्तरित न होनेवाली, जैसे—व्यावसायिक सम्बन्ध
- आन्तरिक—व्यक्तिगत—हस्तान्तरित न होनेवाली, जैसे—किसी डाक्टर की कुशलता

सम्पत्ति में बाह्य—भौतिक—हस्तान्तरित होनेवाली और बाह्य—व्यक्तिगत और हस्तान्तरित होनेवाली वस्तुए शामिल होती है।

एक ऐसी क्रिया है, जो बराबर होती रहती है। महायुद्ध का अन्त होते ही वस्तुओं के दामों का स्तर बहुत ऊँचा हो गया। परन्तु सब वस्तुओं के मूल्य (value) में आमतौर से घटा-बढी नहीं हो सकती। क्योंकि मूल्य तो एक अनुपात है। एक उदाहरण ले लिया जावे। यदि चावल का मूल्य बढता है, तो उसका अर्थ यह है कि चावल के बदले में अधिक वस्तुए प्राप्त की जा सकती हैं। अर्थात् चावल के हिसाब में अन्य वस्तुओं का मूल्य गिर गया है। यदि गेहूँ के हिसाब में चावल का मूल्य अधिक बढ जाता है, तो इसका अर्थ यह है कि चावल के बदले में अधिक गेहूँ प्राप्त हो सकता है। इसका अर्थ यह भी है कि गेहूँ का मूल्य गिर गया है। जब दामों का स्तर (price-level) बढता है तब यद्यपि द्रव्य के हिसाब में अन्य वस्तुओं का मूल्य बढ जाता है। तथापि अन्य वस्तुओं के हिसाब से द्रव्य का मूल्य घट जाता है। इसलिये सब वस्तुओं के मूल्य में आमतौर से घटी या बढी नही हो सकती।

प्रतियोगिता और आर्थिक स्वतन्त्रता (Competition and Economic Freedom)–अब कुछ कल्पनाओं या विचारों का समझना आवश्यक है। जिनके आधार पर अर्थशास्त्री अपने अनुमान निश्चित करते है। सबसे महत्त्वपूर्ण कल्पना या विचार जिसके आधार पर प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने अपनी गवेषणा की, यह था कि बाजार में प्रतियोगिता होती है। सब सभ्य आर्थिक प्रणालियों की यह एक आम विशेषता मानी जाती थी कि उनमें प्रतियोगिता करने की प्रवृत्ति होती है। परन्तु प्रतियोगिता क्या वर्तमान युग की विशेषता है? इस प्रश्न के उत्तर में मार्शल ने लिखा है कि यद्यपि कई लेखकों ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन काल की अपेक्षा आधुनिक काल के व्यवसाय में अधिक प्रतियोगिता है, परन्तु प्रतियोगिता शब्द से आधुनिक काल की विशेषताए अच्छी तरह से नहीं समझी जा सकती। "प्रतियोगिता का बिलकुल ठीक अर्थ यह मालूम पडता है कि कोई वस्तु खरीदने या बेचने के लिहाज से एक आदमी दूसरे से होड या दौड करे।" परन्तु इससे आधुनिक कालकी सब विशेषताए समझ में नहीं आती। आधुनिक काल की विशेषताए इस प्रकार है–"एक प्रकार की स्वतत्रता, अपने लिये अपना रास्ता स्वय चुनने की आदत, एक प्रकार की आत्मनिर्भरता, सोच विचार कर अपना मन जल्दी निश्चित कर लेने की शक्ति, भविष्य देख लेने की आदत और भविष्य के ध्येय को ध्यान में रखकर काम करना। ये काम मनुष्यो में आपस में प्रतियोगिता करा सकते हैं और प्राय कराते हैं। परन्तु दूसरी तरफ ये काम आपस में अच्छा और बुरा सब प्रकार का सगठन और सहयोग भी कराते हैं और इनकी प्रवृत्ति इस समय इसी ओर है।"[1]

---

१ Marshall 'Principles of Economics', p 5.

इसके सिवाय "प्रतियोगिता शब्द के साथ बुरा अर्थ जुड गया है। उसके साथ स्वार्थ की भावना का अर्थ जुड गया है, जो दूसरों के सुख की तरफ उदासीन हो जाता है। यह बात सच है कि प्राचीन उद्योग-धन्धो में जितनी जान-बूझ कर स्वार्थ की मात्रा होती थी, आधुनिक धन्धो में उससे अधिक है। परन्तु यह भी सच है कि जान-बूझकर नि स्वार्थ की मात्रा भी होती है। यह जानने-बूझने का जो गुण है, वही आधुनिक युग की विशेषता है स्वार्थपरता नही"[1] इस गुण या विशेषता को हम सबसे अच्छी तरह प्रकट करने के लिये 'साहस की स्वतन्त्रता' (freedom of enterprise) या 'आर्थिक स्वतन्त्रता' (*economic freedom*) कह सकते है।

'प्रतियोगिता' का वास्तविक अर्थ

साहस और उद्योग की स्वतन्त्रता अथवा आर्थिक स्वतन्त्रता में निम्नलिखित बातें सम्मिलित है। (अ) गमनागमन की स्वतन्त्रता (*freedom of movement*) इसका सम्बन्ध पूजी और मजदूरो के चलन या गमनागमन से है। पूजी और मजदूरी में उद्योगो के उन केन्द्रो की ओर जाने की प्रवृत्ति होती है, जहा उन्हें सबसे अधिक लाभ होता है। (ब) उद्योग-धन्धा चुनने की स्वतन्त्रता (freedom of occupation) इसका अर्थ यह है कि मजदूरो को जो धन्धा सबसे अधिक उचित और लाभदायक समझ पडे, उसे चुनने की स्वतन्त्रता रहे। धन्धा चुनने की स्वतन्त्रता से सही काम के लिये सही आदमी मिलने की सम्भावना हो जाती है, जिससे उत्पादन भी बढता है और वितरण भी अच्छा होता है। (स) उपभोग की स्वतन्त्रता (freedom of consumption) बहुत से देशो में ऐसे कानून थे, जो बडी बारीकी के साथ इस प्रकार के नियम बना देते थे कि कौन वर्ग अथवा मनुष्य क्या खायेगा, क्या पहिनेगा इत्यादि। यद्यपि इन नियमो का ध्येय अच्छा होना था, परन्तु उनका फल प्राय बुरा होता था। आवश्यकताओ का प्रसार रोक देने से वे उन्नति के बाधक होते थे। आर्थिक स्वतन्त्रता में इस प्रकार के नियमो के लिये स्थान नही है। (द) उत्पादन और व्यवसाय की स्वतन्त्रता (freedom of production and trade) मध्यकाल में उत्पादन और व्यवसाय स्वतन्त्र नही थे। आधुनिक काल में उत्पादन स्वतन्त्र हो गया है और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय मध्यकालीन बन्धनो से मुक्त हो गया है। मध्यकाल में (guilds), जिनके पास उत्पादन के एकाधिकार थे। उत्पादन की स्वतन्त्रता होने से उसके सगठन और साधनो में लोच आ जाती है। मौका मिलते ही नयी आवश्यकताओं के अनुसार नये धन्धे खडे हो जाते है, और बदलती हुई माग के अनुसार पुराने धन्धे भी अपने तरीके बदल देते है।

आर्थिक स्वतन्त्रता के दोष

---

१ Marshall 'Principles of Economics', p 5.

स्वतन्त्र साहस की प्रथा के दोष (Defects of the System of Free Enterprise)—'स्वतन्त्र साहस' प्रथा की सफलता अधूरी ही रही। व्यक्तियों की कार्य-स्वतन्त्रता के मार्ग में जो बाधाएं थीं, उन्हें तो इसने हटा दिया। परन्तु वह एक प्रतिकूल या उल्टा सुधार (negative reform) था। परन्तु जहां तक निर्माणात्मक राजनीति का प्रश्न था, वहां तक इसने कुछ नहीं किया। इसने सार्वजनिक खर्च पर उत्पादन की विभिन्न क्रियाओं में खोज करने के लिये कुछ नहीं किया। न तो इसने सब लोगों की शिक्षा के लिये ही कोई प्रबन्ध किया। दूसरे यद्यपि इस प्रथा ने छोटे उद्योगपतियों को उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में नेतृत्व प्राप्त करने का मौका दिया है, इसने यह प्रबन्ध नहीं किया कि इस क्षेत्र में जो नालायक लोग ऊंचे और सुरक्षित स्थानों में बैठे हैं, उन्हें हटाया जा सके। 'प्रतियोगिता द्वारा नालायक उद्योगपतियों को क्षेत्र से बाहर निकालने में समय लगता है। और इस बीच में वह चाहे जितना नुकसान कर सकता है। कम से कम वह बर्बादी तो बहुत कर सकता है।' तीसरे आर्थिक स्वतन्त्रता अथवा सरकारी हस्तक्षेप न करने की नीति (Laissez-faire) यह मान लेती है कि सब लोगों को अवसर की समानता (equality of opportunity) प्राप्त होगी। परन्तु समाज के वर्तमान संगठन में सम्पत्ति का वितरण बहुत असमान है। जब तक सम्पत्ति के वितरण की यह असमानता काफी हद तक दूर नहीं होगी, तब तक अवसर की समानता नहीं प्राप्त हो सकती। अन्त में वर्ग पक्षपात का भी प्रश्न है। एक मध्यमवर्ग का मनुष्य निम्नवर्ग की अपेक्षा मध्यमवर्ग के मनुष्य को ही पसन्द करेगा, चाहे वह निम्नवर्ग का मनुष्य कितना ही योग्य क्यों न हो। यह वर्ग पक्षपात की भावना समाज के आर्थिक संगठन में मनुष्यों और सम्पत्ति का उचित सम्बन्ध नहीं होने देती। इससे समाज की पूंजी और श्रम की व्यर्थ हानि होती है।

नालायकों को निकालने के साधन प्राय नहीं प्राप्त रहते।

परन्तु मार्शल ने जब से अपने विचारों का प्रतिपादन किया, तब से अब तक परिस्थितियां काफी बदल गई हैं। हाल की घटनाओं से पता चलता है कि ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसमें अधिक तथ्य नहीं है। प्रतियोगिता अथवा स्वतन्त्र आर्थिक साहस का प्रभाव पूंजी के संगठन द्वारा धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। एक तो पूंजीपतियों के संगठन और दूसरे समाज सम्बन्धी बदलते हुए विचारों के कारण आर्थिक संगठन में शासन का हस्तक्षेप भी बढ़ गया है। इसका प्रयत्न किया जाता है कि उत्पादन कार्य एक विशेष ढंग से हो। इस प्रकार आधुनिक युग को हम 'राष्ट्रीय आर्थिक योजनाओं' (National Economic Planning) का युग कह सकते हैं।

तीसरा अध्याय

उपभोग : आवश्यकताएं और विलास

(Consumption : Necessaries, Luxuries)

उपभोग का अर्थ किसी वस्तु को नष्ट करना नही है। मनुष्य न किसी वस्तु को उत्पन्न कर सकता है, न किसी वस्तु को नष्ट कर सकता है। उपभोग का अर्थ आवश्यकताओ की पूर्ति करना है, उत्पादन कार्य द्वारा भौतिक वस्तुओ में जो उपयोगिता आ जाती है, मनुष्य उसी का उपभोग करता है। उपभोग में उपयोगिता का लाभ उठाया जाता है, वस्तु का नही। वस्तु में जो उपयोगिता रहती है हम उसे काम में लाते है। वस्तु का केवल आकार और रूप बदल जाता है। जब हम कपडे पहिनते है या मकान में रहते है, तो हम उनका उपभोग करते है। 'जिस मकान के बनाने में संसार के विभिन्न भागो के अन-गिनत श्रमिको का श्रम लगा हुआ है और जिसके लकडी का फर्श बनानेमें एक बढई कीले ठोकने में लगा हुआ है। वह बढई भी उतना ही बडा उपभोक्ता है, जितना बडा उस मकान में आराम से रहने वाला रईस है।'

उपभोग का अर्थ उप-योगिता को काम में लाना है।

अभी कुछ समय पहिले तक अर्थशास्त्र के अध्ययन में उपभोग के विषय पर अधिक ध्यान नही दिया जाता था। आरम्भ में अर्थशास्त्री मनुष्य की आवश्यकताओ पर बहुत कम ध्यान देते थे। परन्तु हाल में अर्थशास्त्रियो ने जब मनुष्य की माग रेखा (demand curve) का अध्ययन करना शुरू किया कि आखिर वे कौन से कारण है, जो मनुष्य की मागें और आवश्यकताएं उत्पन्न करते है, तब उन्होंने इस विषय की ओर अधिकाधिक ध्यान देना आरम्भ किया।

उत्पादन सम्बन्धी जितने काम होते है, उन सबका ध्येय उपभोग होता है। उत्पादन केवल कारण है, कार्य नही। कार्य अथवा ध्येय तो मनुष्यो की आवश्यकताओ की पूर्ति है। मनुष्य के जितने कार्य होते है, उनका प्रधान कारण उसकी आवश्यकताएं है। उत्पादन सम्बन्धी जितने कार्य होते है, उन सब की तह में हम मनुष्य की आवश्यकताओ को कारण रूप से पाते है। मनुष्य की आवश्यकताओ का बाहरी रूप हम द्रव्य के लेन-देन में देखते है। खरीदार अथवा उपभोक्ता कुछ वस्तुएं पसद करते है और कुछ

उपभोग और उत्पादन में सम्बन्ध

को छोड़ देते हैं। अपनी रुचि या पसन्दगी के द्वारा वे उत्पादन की दिशा निर्धारित करते हैं। जिस तरह लोग धन खर्च करना चाहेंगे, उसी तरह के सामान भी बनेंगे। जहां खर्च नेतृत्व करता है, वहां उत्पादन अनुकरण करता है।

परन्तु जहां एक तरफ आवश्यकताओं के अनुसार उत्पादन कार्य होते हैं, वहां दूसरी तरफ इसका उल्टा भी होता है। अर्थात् उत्पादन के अनुसार आवश्यकताएं होती हैं। विशेषकर आजकल ऐसा ही होता है। समाज के प्रारम्भिक काल में शारीरिक इच्छाओं के आधार पर मनुष्य सब काम करता था। जब तक कुछ मौलिक और प्राकृतिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने की समस्या न उठती थी, तब तक प्रारम्भिक काल का जंगली मनुष्य कुछ काम नहीं करता था। परन्तु ज्यों-ज्यों सभ्यता की प्रगति बढ़ती है, त्यों-त्यों आवश्यकताओं का मनुष्यों के कार्यों के ऊपर प्रभाव तो रहता है, परन्तु कई बार ऐसा देखने में आता है कि मनुष्य के कार्य नई आवश्यकताओं को जन्म देते हैं। साइकिल और टेलीफोन का आविष्कार मनुष्य की निश्चित और पहिले से मालूम आवश्यकता के अनुसार नहीं हुआ। परन्तु आविष्कार के बाद उनका इतना प्रचार हो गया कि एक नये प्रकार की आवश्यकताएं उत्पन्न हो गईं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पादन के कारण उपभोग बढ़ा। ऐसा अनेक वस्तुओं के सम्बन्ध में हुआ है। इसलिये हम कह सकते हैं कि उपभोग और उत्पादन का आपस का सम्बन्ध कार्य और कारण की अपेक्षा परस्पर निर्भरता का अधिक है।

आधुनिक काल में उत्पादन कार्य से कई नई आवश्यकताएं उत्पन्न होती हैं।

आवश्यकताएं—चूंकि मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति ही उपभोग है, इसलिये यह जानना आवश्यक है कि आवश्यकताएं क्या हैं। आवश्यकताएं चार कारणों से उत्पन्न होती हैं। पहिले तो आवश्यकताएं इसलिये उत्पन्न होती हैं कि जीवित रहने के लिये कुछ वस्तुएं नितांत आवश्यक हैं। जीवित रहने की इच्छा ही कुछ कम से कम वस्तुओं की अनिवार्य आवश्यकता उत्पन्न करती है। कम से कम उपयुक्त मात्रा में खाने और कपड़ों की आवश्यकताएं इसी प्रकार की हैं। दूसरे समाज में अपने वर्ग के रहन-सहन का जो दर्जा है, उसे बनाये रखने की इच्छा से कुछ आवश्यकताएं उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार की भावना से जो आवश्यकताएं उत्पन्न होती हैं, उन्हें कई लोग कृत्रिम आवश्यकताएं (conventional necessaries) भी कहते हैं। तीसरे आवश्यकताओं की उत्पत्ति अपनी उच्चता और महत्ता तथा व्यक्तित्व दिखाने की इच्छा से उत्पन्न होती है। इसी प्रकार की इच्छा के वश होकर स्त्रियां नये-नये तरह के कपड़े और आभूषण पहिनती हैं। चौथे प्रकार की आवश्यकताएं सार्वभौमिक

आवश्यकताओं का उद्गम

या कलात्मक भावनाओं की प्रेरणा से उत्पन्न होती हैं। परन्तु यह चौथा कारण उतना महत्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि इस प्रकार की आवश्यकताओं पर जो खर्च होता है, वह किसी उपभोक्ता के कुल खर्च का एक छोटा-सा भाग रहता है। इन चारों प्रकार की आवश्यकताओं का वर्गीकरण हम दूसरे प्रकार से भी कर सकते हैं। इनको हम दो वर्गों में रख सकते हैं। एक तो वे जो नियमित रूप से बार-बार होती हैं और दूसरी वे जो बार-बार नहीं होती या अनियमित रूप से होती हैं। इन दोनों प्रकारों में साफ-साफ भेद नहीं है, परन्तु अध्ययन के लिये हम इनके दो भेद बना सकते हैं। पहिले समूह में अर्थात् आवर्तक या बार-बार होनेवाली आवश्यकताओं (recurring wants) में अनिवार्य आवश्यकताएं, कृत्रिम आवश्यकताएं और कुछ उच्चता या व्यक्तित्व प्रदर्शन सम्बन्धी आवश्यकताएँ शामिल हैं और दूसरे समूह में अर्थात् अनावर्तक या बार-बार न होनेवाली इच्छाओं में (non-recurring wants) व्यक्तित्व प्रदर्शन सम्बन्धी प्रतियोगिता से उत्पन्न होनेवाली तथा सार्वभौमिक और अन्य भावनाओं से उत्पन्न होनेवाली इच्छाएं या आवश्यकताएं शामिल हैं। पहिले समूह में दो विशेषताएं हैं।[1] ये अधिकतर पहिले से निश्चित (pre-determined) होती हैं। अर्थात् ये आदत और सामाजिक प्रथाओं के कारण होती हैं। कोई मनुष्य समाज के जिस वर्ग में रहता है, उस वर्ग के रहन-सहन के दर्जे के अनुसार ये आवश्यकताएं निश्चित होती हैं। इसलिये इस सम्बन्ध में जो आवश्यकताएं होती हैं, वे साधारणतः बेलोच (inelastic) होती हैं। यदि इन आवश्यकताओं की वस्तुओं के दाम गिरें तो लोग उन्हें बहुत बड़ी मात्रा में खरीदने को तैयार न होंगे। परन्तु जो वस्तुएं अनावर्तक इच्छासमूह में आती हैं, उनकी माग प्रायः लोचदार (elastic) हुआ करती है।

आवश्यकताओं की विशेषताएं (Charecteristics of Wants)—आवश्यकताओं की चार विशेषताएं होती हैं। (अ) प्रत्येक आवश्यकता विशेष की पूर्ति या तृप्ति हो सकती है। हमें कोई वस्तु जितनी अधिकाधिक
(ब) प्रत्येक आवश्यकता मात्रा में मिलती जाती है, उसके लिये हमारी इच्छा कम
होती जाती है। एक मनुष्य को कोई वस्तु जितनी अधिक मात्रा में मिलती जाती है, उन मात्राओं से मिलनेवाली तृप्ति अधिकाधिक घटती जाती है। इस समय के आधार पर घटती उपयोगिता का नियम (law of diminishing utility) बनाया गया है।

(ब) साधारणतः आवश्यकताएं अनन्त होती हैं। यदि हमें कोई वस्तु बहुत अधिक मात्रा में मिल जावे तो उस वस्तु के लिये अपनी आवश्यकता विशेष की तृप्ति कर सकते हैं।

---

१ Angell "Consumer's demand" in the Quarterly Journal of Economics, August 1925.

परन्तु साधारणतः मनुष्य की आवश्यकताओं की कोई सीमा नहीं है और न उनकी तृप्ति की ही कोई सीमा है। जब हम आवश्यकताओं के एक समूह की तृप्ति कर लेते हैं, तो उनकी जगह दूसरी आवश्यकताएं उत्पन्न हो जाती हैं। या उन्हीं आवश्यकताओं के दूसरे प्रकार तैयार हो जाते हैं। मनुष्य की सन्तोष वृत्ति अस्थायी होती है।

(ब) साधारणतः मनुष्य की आवश्यकताओं की तृप्ति नहीं की जा सकती

(स) आवश्यकताओं में परस्पर प्रतियोगिता होती रहती है। हमारी भोजन की आवश्यकता रोटी या चावल या अन्य किसी प्रकार के खाने से पूरी हो सकती है। 'अतृप्त असंतोष की दशा में जो मनुष्य हो उसे अच्छी पुस्तक, बढ़िया खाना या किसी बड़े फुटबाल मैच की लालच से प्रसन्न किया जा सकता है।' इस प्रकार से सभी आवश्यकताएं प्रतियोगी हुआ करती हैं। क्योंकि यदि हमारे साधन भी अनन्त हों तो भी हमारे पास समय इतना कम है कि एक आवश्यकता का उपभोग करते समय हमें अन्य आवश्यकताओं का त्याग करना पड़ता है। इस विशेषता के आधार पर आवश्यकताओं के बदलने का सिद्धान्त अथवा सम-सीमान्त उत्पत्ति का नियम (law of equimarginal returns) बना है।

(स) आवश्यकताएं अधिक होने से हमें उनमें चुनाव करना पड़ता है।

(द) आवश्यकताएं परस्पर पूरक होती हैं। बहुत-सी आवश्यकताओं की पूर्ति एक साथ करनी पड़ती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि जब हम एक आवश्यकता की पूर्ति के लिये एक वस्तु का उपयोग करते हैं, तब हमें उसके साथ अन्य वस्तुओं का भी उपभोग करना पड़ता है। जैसे, जब हमें मोटर पर चढ़ने की इच्छा होती है, तब मोटरकार के साथ-साथ पेट्रोल की भी आवश्यकता होती है।

(द) आवश्यकताएं परस्पर पूरक होती हैं

आवश्यकताएं, आराम और शौक (Necessaries, Comforts & Luxuries)—सम्पत्ति के इन तीन वर्गों में अन्तर बतलाना सरल नहीं है। कुछ लोगों ने विशेषकर प्राचीनकाल में नैतिक आधार पर सम्पत्ति का वर्गीकरण किया है। उन लोगों ने आवश्यकताओं में उन वस्तुओं को शामिल किया था, जिससे 'सादा जीवन उच्च विचार' का आदर्श प्राप्त होता था। उनके विचार में शौक या विलास की वस्तुएं मनुष्य के जीवन को पतित करती थीं। कभी-कभी सम्पत्ति का वर्गीकरण 'उत्पादक' उपभोग के आधार पर किया जाता है। उन वस्तुओं को आवश्यकताओं में सम्मिलित किया जाता है, जो जीवन और कार्यक्षमता बनाये रखने के लिये आवश्यक हैं। इस हिसाब से हम आवश्यकताओं को दो भागों में बांट सकते हैं। (अ) जीवन

जीवन की और कार्यक्षमता की आवश्यकताएं

की आवश्यकताए (necessaries for life) इनमें वे वस्तुए सम्मिलित हैं, जो जीवन-रक्षा के लिये नितात आवश्यक हैं। (ब) कार्यक्षमता की आवश्यकताए (necessaries for efficiency) जीवन-रक्षा सम्बन्धी वस्तुओ के साथ-साथ इनमें वे वस्तुए शामिल हैं, जो मनुष्य को अपना कार्य करने के लिये सब प्रकार से योग्य बनाती है।

इन दो प्रकार की आवश्यक्ताओ के सिवा एक तीसरे प्रकार की भी आवश्यकताएँ मानी जाती हैं। इन्हें कृत्रिम आवश्यकताए या मानी हुई आवश्यक्ताए (conventional necessaries) कहते हैं। इनमें वे वस्तुए शामिल हैं, जो जीवन-रक्षा अथवा कार्यक्षमता के लिये आवश्यक नही हैं। परन्तु आदत के कारण वे इतनी आवश्यक बन जाती है कि जब तक मनुष्य उन्हें प्राप्त नही कर लेता, तब तक अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति को अधूरा समझता है। चाय तम्बाकू फैशन के कपडे इत्यादि कृत्रिम आवश्यकताओ के परिचित उदाहरण हैं।

कृत्रिम आवश्यकताए

(स) आराम (Comforts) आराम सम्बन्धी वस्तुओ का स्थान कृत्रिम आवश्यकताओं और शौक या विलास की वस्तुओ के बीच में हैं। इनमें वे वस्तुए शामिल हैं, जिनसे मनुष्य की योग्यता और कार्यक्षमता तो बढती है, परन्तु इतनी नही बढती कि उन पर किये गये खर्च के बराबर हो सके।

आराम

(द) शौक या विलास (Luxuries)–शौक में वे वस्तुए शामिल हैं, जिनका उपभोग आवश्यक इच्छाओ की पूर्ति के लिये किया जाता है। इनके उपभोग से मनुष्य की योग्यता नही बढती, वरन् कभी-कभी कम हो जाती है।

शौक

आवश्यकताए, आराम और शौक ये सब तुलनात्मक शब्द हैं। जलवायु और सामाजिक प्रथाओं के भेद कुछ वस्तुओं को एक स्थान में आवश्यक बना देते हैं तो दूसरे स्थान में अनावश्यक। पश्चिमी देशो में एक मजदूर के लिये कमीज आवश्यक वस्तु है, परन्तु एक भारतीय मजदूर के लिये वह बहुधा एक शौक की वस्तु है। इसलिये जब हम किसी वस्तु की गणना आवश्यकता में करते हैं, तब स्थान और समय के अनुसार केवल तुलनात्मक दृष्टि से कर सकते हैं। कृत्रिम आवश्यकताए भी विभिन्न समाजो और सामाजिक वर्गों के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार की हुआ करती हैं। हमारे देश में निम्न वर्गों के लोगो में हुक्का बहुत प्रचलित है और मध्यवर्ग में चाय की प्रथा अधिक है। वस्तुओं का वर्गीकरण करते समय हमें लोगों के धन्धों का भी ध्यान रखना चाहिये। जो वस्तु एक आदमी के लिये आराम की वस्तु है, वही दूसरे के लिये शौक की सामग्री हो सकती है और तीसरे के लिये

ये शब्द तुलनात्मक हैं

अपनी योग्यता बनाये रखने के लिये आवश्यक । एक गरीब मनुष्य के लिये मोटरकार शौक की वस्तु है परन्तु वही मोटरकार किसी डाक्टर के लिये अपनी कार्यक्षमता बनाये रखने के लिये आवश्यक हो जाती है और वही मोटरकार कितनो के लिये आराम का साधन हो सकती है ।

क्या आर्थिक दृष्टि से शौक की वस्तुओं पर खर्च करना उचित है ? शौक या विलास शब्द में ही कुछ निन्दनीय अर्थ टपकता है। परन्तु अर्थशास्त्री का इससे कोई मतलब नही।

शौक कब उचित हो सकता है ?

अपने अध्ययन के लिये हम शौक की वस्तुओ को दो श्रेणियो में बांट सकते हैं—एक तो हानिकारक शौक और दूसरे हानि-रहित शौक। हानिरहित शौक में वे वस्तुए शामिल है, जिनसे मनुष्य की योग्यता या कार्यशक्ति न तो बढती है न घटती है, जैसे कीमती कपडे। हानिकारक शौक में वे वस्तुए शामिल हैं, जो मनुष्य की योग्यता या कार्यशक्ति को कम कर देती है, जैसे शराब। इसलिये हानिकारक शौक के पदार्थों का उपभोग उचित नही कहा जा सकता। हानिरहित शौक के पदार्थों के सबध में कभी-कभी यह कहा जाता है कि उनके उपयोग से कुछ लोगो को काम मिलता है। अर्थात् कुछ लोगों को अपनी जीविका उपार्जन का एक साधन मिल जाता है। परन्तु इस दलील में तथ्य नही है। जो रुपया शौक की वस्तुओं पर खर्च किया जाता है, वह अन्य वस्तुओ के खरीदने में खर्च किया जा सकता था अथवा उसे ब्याज पर लगाया जा सकता था। इसमे भी तो मजदूरो को काम मिलता, यद्यपि वह काम किसी अन्य प्रकार का होता। आर्थिक दृष्टि से शौक पर खर्च इसलिये उचित कहा जा सकता है कि विलास की इच्छा मनुष्य में धन सग्रह की प्रवृत्ति बढाती है और इस प्रवृत्ति के कारण वह परोक्षरूप से समाज का बडा हित करता है। विलास की इच्छा मनुष्य से हमेशा अधिकाधिक काम कराती है। चाहे यह इच्छा निम्न प्रकार की हो, परन्तु यह सच है कि वह मनुष्य को कार्यशील बनाती है, समाज की उत्पादन शक्ति को बढाती है। यह बात भी सच है कि विलास की प्रवृत्ति के ही कारण ललित कलाओ ने इतनी उन्नति की है।

———

चौथा अध्याय

उपयोगिता
(Utility)

उपयोगिता (Utility) शब्दकोष के अनुसार उपयोगिता का अर्थ उपयोगी होना या काम में आना है। इस अर्थ में हवा और पानी में बहुत उपयोगिता है। परन्तु अर्थशास्त्र में उपयोगिता शब्द का अर्थ अन्य दृष्टि से लिया जाता है। उपयोगिता का अर्थ आवश्यकताओं को पूरा करने की शक्ति है। इसके माने यह है कि जब किसी वस्तु की आवश्यकता होती है तो यह आशा की जाती है कि वह किसी इच्छा विशेष की पूर्ति कर सकेगी। हम किसी वस्तु की इच्छा इसलिये कर सकते हैं कि वह उपयोगी हो। पर यह भी सम्भव है कि वह उपयोगी न भी निकले। हम यह भी नहीं कह सकते कि किसी वस्तु से हमें जो इच्छापूर्ति या तृप्ति मिलती है, वही उस वस्तु की उपयोगिता है। इच्छा और तृप्ति दो भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं। उनमें सदा सन्तुलन (balance) नहीं रहता। इसलिये उपयोगिता इच्छा की प्रगाढ़ता का माप है, उपयोग का नहीं और न तृप्ति का। (utility is the measure, not of usefulness, nor of satisfaction, but of the intensity of desire.).

किसी वस्तु की आवश्यकता जितनी प्रगाढ़ इच्छा के साथ होती है और उसके उपभोग से जो वास्तविक तृप्ति प्राप्त होती है, ये दोनों दो भिन्न मानसिक स्थितियों के द्योतक हैं। वास्तव में अर्थशास्त्री दूसरी स्थिति को नापना चाहता है, परन्तु वह इसलिये नहीं नाप सकता कि वह उपभोक्ता के मन में प्रवेश नहीं कर सकता। इसलिये उसे पहिली स्थिति का आसरा लेना पड़ता है। अर्थशास्त्री यह मान लेता है कि जिस वस्तु की इच्छा होती है, उस इच्छा का गाढ़ापन और उसके उपभोग से मिलनेवाली तृप्ति लगभग बराबर होते हैं। अर्थात् जितनी अधिक इच्छा होती है, लगभग उतनी ही अधिक पूर्ति या तृप्ति होती है। परन्तु यह हमेशा नहीं होता है। अर्थशास्त्र के आचार्य मार्शल ने इच्छा और तृप्ति की इस असमानता के कई कारण बतलाये हैं, जैसे मानसिक उत्तेजना, आदत, कुप्रवृत्ति, झूठी आशा इत्यादि।[1]

उपयोगिता की व्याख्या करने में हम यह मान लेते हैं कि इच्छा की प्रगाढ़ता और उपभोग से प्राप्त तृप्ति बराबर होते हैं।

[1] Marshall 'Principles of Economics', page 92

परन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि जब किसी मनुष्य की आदतें काफी हद तक निश्चित होती हैं, तब यह अनमानता इतनी नहीं होती कि अर्थशास्त्री के सिद्धान्तों पर आघात कर सके।

उपयोगिता का माप हम परोक्ष रूप से द्रव्य की रूप में कर सकते हैं

किसी वस्तु की उपयोगिता प्रत्यक्ष रूप से (directly) नहीं नापी जा सकती, क्योंकि हम उपयोगिता की परिमाण मौलिक रूप से नहीं कर सकते। जिस प्रकार कि भोजन के पदार्थों की कह सकते हैं कि अमुक पदार्थ में इतनी स्वास्थ्यप्रद मात्रा या कैलोरीज होती हैं। हम अपनी मानसिक अवस्थाओं को ठीक-ठीक नहीं नाप सकते, न उनकी तुलना ही कर सकते हैं। परन्तु हम एक वस्तु की उपयोगिता की तुलना दूसरी वस्तु की उपयोगिता से कर सकते हैं। अथवा एक वस्तु की उपयोगिता की तुलना द्रव्य की उपयोगिता से कर सकते हैं। अथवा दो वस्तुओं की उपयोगिताओं की तुलना द्रव्य की दो रकमों के अनुपात में की जा सकती है। 'जब हम एक मनुष्य को इस असमंजस में पाते हैं कि वह थोड़े से आने एक सिगार पर खर्च करे, अथवा एक कप चाय पर अथवा पैदल घर जाने के बदले किसी सवारी पर, तब हम साधारण कहावत के अनुसार यह कहते हैं कि वह उन सबसे बराबर उपयोगिता पाने की आशा करता है।'[1]

अन्त में यह ध्यान रखना चाहिये कि यद्यपि 'उपयोगिता' शब्द से नीतिशास्त्र की विचारधारा की ओर इशारा होता है, परन्तु अर्थशास्त्र इस शब्द का उपयोग नीतिशास्त्र से बिना किसी प्रकार के सम्बन्ध के किया जाता है। जिस इच्छा की प्रगाढ़ता या प्रबलता हम नापना चाहते हैं, वह उच्च भी हो सकती है और नीच भी। अर्थशास्त्री का सम्बन्ध तो केवल इच्छा या आवश्यकता के अस्तित्व से होता है, उसके प्रकार से नहीं कि वह अच्छी है या बुरी।

घटती उपयोगिता (Diminishing Utility)—यद्यपि साधारणतः मनुष्य की आवश्यकताओं की सीमा नहीं है, परन्तु कोई भी आवश्यकता विशेष की पूर्ति की जा सकती है। कोई भी वस्तु हमें जितनी अधिकाधिक मात्रा में मिलती जाती है, उतनी ही हमारी इच्छा उसके लिये कम होती जाती है। मनुष्य की प्रकृति के सम्बन्ध में यह चिर-परिचित अनुभव है और इसी अनुभव के आधार पर यह सिद्धान्त बनाया गया है। एक जोड़ा जूता रखने की हमारी इच्छा बड़ी प्रबल होती है। परन्तु दूसरे जोड़े के लिये उतनी तेज न होगी, तीसरे जोड़े से तो हमें और भी कम तृप्ति मिलेगी और चौथा जोड़ा तो उसे शायद एक बोझ सा लगने लगे। उपभोग के सभी क्षेत्रों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है

---

१ Ibid page 15. यहां 'आराम' शब्द की जगह हमने 'उपयोगिता' शब्द का उपयोग किया है।

कि जैसे-जैसे किसी वस्तु की अधिक मात्राएं मिलती जाती है, वैसे-वैसे उन मात्राओं की उपयोगिता घटती जाती है। यह हो सकता है कि किसी वस्तु की मात्राओं की उपयोगिता कम तेजी से घटे और किसी की अधिक तेजी से, परन्तु यह घटने की प्रवृत्ति सबमें रहती है। और एक ऐसा समय आ जाता है कि जब मात्राओं में उपयोगिता बिल्कुल न रहेगी। इस अनुभव को घटती उपयोगिता का नियम (law of diminishing utility) कहते हैं। मार्शल ने इस नियम का वर्णन इस प्रकार किया है—

'किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु का जो सचय होता है और उस सचय में बढ़ती होने से उसे जो अधिक तृप्ति मिलती है, वह तृप्ति क्रमश घटती जाती है, ज्यो-ज्यो उस सचय में प्रत्येक बार बढ़ती होती है,' हम देख चुके हैं कि उपयोगिता का नाप केवल परोक्ष रीति से हो सकता है। कोई मनुष्य किसी वस्तु की जो कीमत देने को तैयार है, उसी कीमत के द्वारा उसकी उपयोगिता का नाप हो सकता है। कीमत के हिसाब से इस नियम को हम इस प्रकार समझावेंगे। मान लो एक आदमी एक जोड़े जूते का दाम ६ रुपया देने को तैयार है। यह रकम उस मनुष्य के लिये एक जोड़े जूते की उपयोगिता बतलाती है। दूसरे जोड़े जूते की उपयोगिता उसके लिये उतनी नहीं रहेगी जितनी कि पहिले जोड़े की है। इसलिये वह दूसरे जोड़े के लिये कम दाम देगा। मान लो दूसरे जोड़े के लिये वह ५ रुपया देगा। यह रकम उसके लिये दूसरे जोड़े की उपयोगिता बतलाती है। घटती उपयोगिता के कारण वह तीसरे जोड़े के लिये और भी कम दाम देगा, मान लो तीसरे जोड़े के लिये वह ४ रुपया देगा। यह सख्या उसके लिये तीसरे जोड़े की उपयोगिता बतलाती है। इस प्रकार जैसे-जैसे वह मनुष्य अधिक जूते खरीदता है, वह क्रमश कम दाम देता है और एक ऐसा समय आवेगा जब वह जूता खरीदने से बिलकुल इनकार कर देगा। जूते का अन्तिम जोड़ा जिसे खरीदने को वह किसी प्रकार राजी होता है, सीमान्त जोड़ा या सीमान्त मात्रा (marginal unit) कहलाता है और इस जोड़े से जो उपयोगिता प्राप्त होती है, उसे सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) कहते हैं। मान लो वह केवल तीन जोड़े जूते खरीदेगा, अधिक नहीं। तो इन तीन जोड़ों में जूते की सीमान्त उपयोगिता ४ रुपया मानी जायगी। तब हम घटती उपयोगिता के नियम की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं—

सीमान्त मात्रा

'किसी एक समय किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु का जो सचय है, उस सचय में प्रत्येक बढ़ती के साथ उस मनुष्य के लिये उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है।' इस नियम को अगले पृष्ठ में दिये गये चित्र न० १ की सहायता से इस प्रकार समझाया जा सकता है।

चित्र न० १ में अ ब रेखा पर हम वस्तु (जूता) की मात्राएं नापते हैं और अ स रेखा पर हम जूतों के दाम नापते हैं, जो आदमी विभिन्न जोडों के देने के लिये तैयार है। अ क जोडा के लिये उपभोक्ता क क१ दाम देगा, क ख जोडा के लिये वह ख ख१ दाम देगा। क्योंकि क ख जोडे की उपयोगिता अ क जोडे से कम होगी। इस प्रकार ख ग जोडे
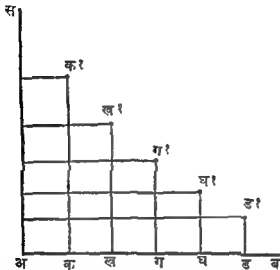
चित्र न० १

के लिये वह ग ग१ दाम देगा और ग घ जोडे के लिये वह घ घ१ दाम देगा। जिस प्रकार वह अधिक जोडे खरीदता जावेगा, उसी प्रकार जोडों के दाम कम होते जावेंगे। जो क१ ख१ ग१ घ१ बिन्दुओं को जोडेगी वह घटती उपयोगिता का नियम बतलावेगी और इस रेखा का घुमाव नीचे की ओर होगा।

नियम की सीमाएं (Limitation of Law)—'किसी एक समय' शब्दों में इस नियम का एक महत्वपूर्ण बन्धन या सीमा है। यदि हम अपना अध्ययन एक दिये हुए समय पर केन्द्रित रखते हैं, तो यह कहा जा सकता यह मान लिया जाता है है कि उसी बीच में उपभोक्ता की आदतें या रुचि बदल सकती कि उपभोक्ता की आदतें हैं। इसलिये यह कहना नियम का अपवाद नहीं है कि कोई और रुचि नहीं बदलती। मनुष्य अच्छा संगीत जितना अधिक सुनेगा, उसकी इच्छा संगीत के लिये उतनी अधिक बढेगी। अथवा कोई मनुष्य ज्यों-ज्यों शराब पीयेगा, उसकी इच्छा शराब के लिये अधिकाधिक बढेगी। क्योंकि

उसी बीच में उसकी आदतें और रुचि बदल जाती है। हमें प्रत्येक बार एक निश्चित समय मानना ही पड़ेगा। यह नियम सही है कि किसी एक समय यदि उपभोक्ता की आदतों और रुचि में अन्तर न हो तो किसी वस्तु की अधिकाधिक मात्राओं से उसे घटती हुई तृप्ति या पूर्ति प्राप्त होगी।

इसी प्रकार हमें मात्राएं या इकाइयां बहुत छोटी नहीं लेनी चाहिये। यदि हम किसी वस्तु की मात्राएं बहुत छोटे परिमाण की मानेंगे तो सीमान्त उपयोगिता घटने के बजाय आरम्भ में बढ़ेगी। बहुत थोड़े समय की छुट्टी से आदमी के काम से थके हुए शरीर और दिमाग को शायद पूरा आराम न मिले। परन्तु यदि उसे उससे दुगुने समय की छुट्टी मिल जावे तो आराम की दृष्टि से उसकी उपयोगिता पहिली की अपेक्षा दुगुनी से भी अधिक हो सकती है। इसलिये यह आवश्यक है कि जो मात्राएं हम लें वे आकार और परिमाण में न्यायोचित हों। इस प्रकार ये सीमाएँ वास्तविक अपवाद नहीं हैं। वे तो केवल नियम के कुछ बन्धन बतलाते हैं।

यदि मात्राएं बहुत छोटी हों तो सीमान्त उपयोगिता बढ़ सकती है

कुछ ऐसी वस्तुएं हैं, जिनकी सीमान्त उपयोगिता उनके सचय में बढ़ती के साथ-साथ नहीं घटती। जैसे यदि किसी मनुष्य को विचित्र वस्तुएं (curios) या डाकखाने के टिकट (stamps) सग्रह करने का शौक है, तो जैसे-जैसे उसके सग्रह की बढ़ती होगी, वैसे-वैसे उसकी इच्छा उन वस्तुओं का सग्रह बढ़ाने के लिये बढ़ती जावेगी। परन्तु वाइनर[1] के मत के अनुसार यह भी कोई अपवाद नहीं है। शर्त केवल यह है कि हमें उस वस्तु की पूरी मात्रा को इकाई मान लेनी चाहिये। जैसे, मान लो ससार भर में केवल दो विचित्र एक से मोती प्राप्त हैं, तो हमें इन दोनों को एक मात्रा या इकाई मान लेना चाहिये। इस तरह के मोतियों की अधिक मात्राएँ घटती उपयोगिता देने लगेंगी।

कभी-कभी सीमान्त उपयोगिता बढ़ सकती है, जैसे टिकटों की।

कभी-कभी किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता केवल मनुष्य के सग्रह पर नहीं, परन्तु अन्य मनुष्यों के पास उस वस्तु के सग्रह पर भी निर्भर होती है। जैसे यदि किसी मनुष्य के पास टेलीफोन है तो जितने अधिक मनुष्यों के पास टेलीफोन होगा उतनी अधिक उस मनुष्य के टेलीफोन की उपयोगिता होगी। यही हाल बहुत-सी फैशन की वस्तुओं का है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि किसी एक समय यदि किसी वस्तु के उपयोग की सीमा निश्चित कर दी जावे तो किसी वस्तु के लिये उस वस्तु की अधिकाधिक मात्राओं

---

[1] Viner "The Utility Concept in Economic Theory" in the *Journal of Political Economy* 1925.

की उपयोगिता घटती जावेगी। उदाहरण के लिये यदि टेलीफोन का उपयोग करनेवालों की संख्या कम कर दी जावे अथवा वही रहे तो एक मनुष्य के लिये दूसरे टेलीफोन की उपयोगिता उतनी न रहेगी जितनी पहिले थी होती है।

यद्यपि ये सीमाएं या अपवाद अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, परन्तु इनके रहते हुए भी यह प्रवृत्ति इतनी अधिक पाई जाती है और इसके अपवाद भी इतने कम हैं कि हम इस प्रवृत्ति को सार्वभौमिक कह सकते हैं। इस नियम का महत्त्व इस कारण है कि माग के नियम का आधार यही है और माग की रेखा (demand curve) का ढाल सदा नीचे की ओर होने के यही कारण बतलाता है।

घटती उपयोगिता के नियम का अधिक विस्तृत वर्णन—इस नियम की परिभाषा आप इस प्रकार की जाती है कि किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता किसी मनुष्य के पास उसके कुल संग्रह पर निर्भर होती है और उस संग्रह में किसी वस्तु की उपयोगिता प्रत्येक बढ़ती के साथ वह घटती जाती है। परन्तु किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता कई वस्तुओं पर निर्भर है। वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उन वस्तुओं की मात्रा पर निर्भर भी होती है, जो उसके बदले में उपयोग में आ सकें और उसकी सहायक या पूरक भी हो सकें। उदाहरण के लिये चाय की सीमान्त उपयोगिता केवल इस पर निर्भर नहीं है कि एक मनुष्य ने कितने प्याले पिये हैं, वरन् काफी की कीमत पर भी निर्भर है। दूसरे किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता इस बात पर भी निर्भर होती है कि उसकी पहुंच के भीतर कितनी वस्तुएं हो सकती हैं। यदि किसी मनुष्य की आमदनी एकाएक दुगुनी हो जाती है तो फिर वह किसी वस्तु के लिये अधिक दाम देने को तैयार हो जायेगा और उसकी इच्छा भी उस वस्तु के लिये अधिक प्रगाढ़ हो जायेगी। 'जो मनुष्य मोटरकार न होने के कारण साइकिल पर चढ़ता है, यदि उसे मोटरकार मिल जावे तो साइकिल की उपयोगिता उसके लिये शून्य हो जावेगी।' अन्त में किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु का जो संग्रह है, केवल उस पर उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता निर्भर नहीं होती, वरन अन्य लोगों के पास उस वस्तु का जो संग्रह है, अन्य लोगों में उसका जो वितरण होता है और वे लोग कौन हैं, इन बातों पर भी उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता निर्भर होती है। जैसे कि हीरा का उपयोग जितना ज्यादा होगा, उसकी उपयोगिता उतनी कम होगी। परन्तु किसी फैशन के कपड़ों की लोकप्रियता जितनी अधिक होगी उनकी उपयोगिता भी उतनी ही अधिक होगी। यदि यह मालूम हो जाय कि राजघराने के लोग कोई विशेष प्रकार के कपड़े पहिनते हैं तो लोगों की इच्छा उन कपड़ों के लिये बढ़ सकती है। इसलिये किसी मनुष्य के लिये किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उसके पास उस वस्तु का जो संचय है, केवल उस पर निर्भर नहीं होती, वरन् इस बात पर भी निर्भर होती है कि उस वस्तु की सहायक और प्रतियोगी वस्तुओं की मात्रा कितनी है, उसके पास अन्य वस्तुओं का संग्रह कितना है, अन्य लोगों के पास अन्य वस्तुओं का संग्रह कितना है तथा

अन्य लोगो में उस वस्तु का वितरण कैसा है और वे अन्य लोग समाज के किस वर्ग के हैं।[१]

पूर्ण उपयोगिता और सीमांत उपयोगिता (Total Utility and Marginal Utility)—किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु की जितनी मात्राए होती हैं, उन सबकी उपयोगिता के जोड को पूर्ण उपयोगिता कहते हैं। उन मात्राओ के खो जाने या न मिलने से हमें जो नुकसान होता है उसके बराबर उस वस्तु की पूर्ण उपयोगिता है। सीमान्त उपयोगिता उस वस्तु की उस मात्रा की उपयोगिता को कहते हैं, जिसे वह मनुष्य एक निश्चित दाम पर खरीदने को किसी प्रकार राजी हो जाता है। जूतो के उदाहरण को यदि हम यहा फिर से लें जैसा हम मान चुके हैं कि वह मनुष्य केवल तीन जोडे जूते खरीदता है। तो उसके लिये जूतो की पूर्ण उपयोगिता उसने जो कीमत दी है, उसके अनुसार (६+५+४) १५ रुपय के बराबर है और सीमान्त उपयोगिता ४ रुपये के बराबर है।

कीमत के द्वारा पूर्ण उपयोगिता नहीं केवल सीमान्त उपयोगिता मापी जाती है। एक आदमी तबतक कोई वस्तु खरीदता जायगा, जबतक उसकी सीमान्त उपयोगिता ठीक उस वस्तु की कीमत के बराबर न आ जायगी। पानी की

कीमत केवल सीमात उपयोगिता नापती है पूर्ण उपयोगिता नहीं

एक कम या एक अधिक मात्रा पानी के दाम पर प्रभाव डालती है, हमारे पास पानी की जो पूरी मात्राए हैं वे नही। इसलिये पूर्ण उपयोगिता का महत्त्व केवल सिद्धान्त की दृष्टि से है। परन्तु सीमात उपयोगिता का महत्त्व प्रत्यक्ष व्यावहारिक दृष्टि से है। किसी वस्तु की पूर्ण उपयोगिता जानने की कोई परवाह नही करता। जैसे चाय की पूर्ण उपयोगिता जानने की कोई परवाह नही करता, परन्तु सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त हमारे दैनिक जीवन में आता रहता है। जब कोई व्यक्ति कोई वस्तु खरीदता है, तो उसके मन में यही समस्या रहती है कि कितना खरीदें। खरीद कहा बन्द करें। वह जो भी वस्तु खरीदता है, उसके लिये सीमा बाधनी होती है और यह सीमा निश्चित करने में उसे यह ख्याल करना पडता है कि यदि वह एक मात्रा और ले तो उसकी उपयोगिता कीमत के बराबर होगी या नहीं। अन्त में वह खरीद बन्द करता है, अर्थात् वह अपनी खरीद की सीमा पर पहुच गया। यह ध्यान में रखना चाहिये कि सीमात उपयोगिता अन्तिम मात्रा की उपयोगिता नहीं है। वह तो सिर्फ

सीमांत मात्रा अंतिम मात्रा नहीं है

वस्तु की एक अधिक या एक कम मात्रा की उपयोगिता है। क्योंकि मौलिक रूप में मात्राओ में आपस में अन्तर नहीं होता उन्हें एक दूसरे से अलग-अलग रखना कठिन है। जैसे कि हमारे पास जो चाय का संचय है, उसमे किसी एक पौण्ड की उपयोगिता वही है, ज

१ Pigou 'Some Remarks on Utility' in the Economic Journal, 1903

किसी दूसरे पौण्ड की। इस सचय के अन्तिम पौण्ड की उपयोगिता वही है, जो किसी अन्य पौण्ड की। परन्तु ५ पौण्ड चाय के सचय में, अन्य वस्तुए यथास्थिति रहते हुए भी एक पौण्ड की उपयोगिता ६ या अधिक पौण्ड चाय के सचय के एक पौण्ड की उपयोगिता की अपेक्षा अधिक है।

उपयोगिता सिद्धान्त की आलोचना[1]—उपयोगिता सिद्धान्त की काफी आलोचना हुई है। एक तो यह कहा गया है कि वह कच्चे मनोवैज्ञानिक आधार पर खड़ा किया गया है। इन आलोचको की धारणा है कि अर्थशास्त्रियो ने घटती उपयोगिता का सिद्धान्त मनोविज्ञान के वेबर-फकनर सिद्धान्त (Weber-Fechner Law of psychology) के आधार पर बनाया है। उनका कहना है कि मनोविज्ञान का यह सिद्धान्त घटती उत्तेजनाओ (diminishing sensations) की व्याख्या करता है भावो (feelings) की नही। इसलिये वह कच्चे मनोवैज्ञानिक आधार पर खड़ा है। परन्तु यह सिद्ध करने के लिये कोई सबूत नहीं है कि प्रारम्भिक अर्थशास्त्रियो ने अपने सब मनोवैज्ञानिक विचार मनोवैज्ञानिकों से ग्रहण किये थे। उन्होंने अपने सिद्धात कोई मनोवैज्ञानिक सिद्धाता के आधार पर नही बनाये थे। उन्होने अपने अध्ययन की सामग्री अनुभव और अवलोकन से प्राप्त की, मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो से नही।

(अ) कच्चा मनोवैज्ञानिक आधार

दूसरे, यह कहा जाता है कि सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त मनुष्य के आचरण को इतना अधिक तर्कपूर्ण या बुद्धिमत्तापूर्ण बना देता है कि उसमें वास्तविकता नही रह जाती। मनुष्य के अधिकाश कार्य पहिले से बिना सोचे-विचारे होते हैं। उसके अधिकाश आचरण 'उत्तेजना, प्रेरणा, आदत, प्रथा, फैशन तथा चलतू लोकमत' के अनुसार होते है। परन्तु अर्थशास्त्री का मतलब तो केवल इच्छा (desire) से रहता है। इच्छा के उत्पादक कारणो से नही। इच्छा चाहे उत्तेजना से हो, चाहे प्रेरणा से, अर्थशास्त्री को इससे कोई मतलब नहीं। हमें इस बात पर अधिक जोर देने की आवश्यकता नहीं है कि हमारे सिद्धान्त में बुद्धि या तर्क का स्थान बहुत अधिक है। असल बात यह है कि मनुष्य प्रतियोगी इच्छाओ का शिकार है और चूकि उसके

(ब) मनुष्य के आचरण को बहुत बुद्धिवादी बना देती है

---

[1] Cf Viner—"The Utility Concept in Economic Theory" in the Journal of Political Economy, 1925: also Allen Y Young—Trend of Economics as seen by some American Economists" in the Quarterly Journal of Economics Feb. 1925 pp 175-76

पास जो साधन और समय है, वे सीमित हैं, इसलिये उसे अपनी विभिन्न इच्छाओं में चुनाव करना पड़ता है। यदि वह एक चीज खरीदता है, तो उसे दूसरी चीज छोड़नी पड़ती है। जीवन की यह दुखभरी कहानी सभी लोग जानते हैं। 'उपयोगिता की यह व्याख्या चुनाव करने के केवल एक मानसिक तरीके का वर्णन है[1]।' और उपयोगिता की व्याख्या करने से हमें जो परिणाम प्राप्त होते हैं, वे मूल्य सिद्धान्त (theory of value) के लिये एक तर्कपूर्ण आधार देते हैं। किसी वस्तु की उपयोगिता और विनिमय में जो काफी अन्तर होता है, उसका सन्तोषप्रद उत्तर इस सिद्धान्त से प्राप्त हो जाता है। मनुष्य के आचरण में जो समानता पाई जाती है, जिसे सदा हम माग रेखा की निम्न गति में देखते हैं, उस समानता का अनुमान भी हम इस सिद्धान्त की व्याख्या द्वारा कर सकते हैं।[2]

इस नियम से महत्त्वपूर्ण परिणाम मिलते हैं

पांचवां अध्याय

मांग

(Demand)

मांग (Demand)—उपयोगिता के सिद्धान्त का अध्ययन करने के बाद यह स्वाभाविक है कि हम माग सम्बन्धी सिद्धान्त का अध्ययन करें। क्योंकि सब प्रकार की माग की तह में उपयोगिता स्थित रहती है। किसी वस्तु की केवल इच्छा करने से वह उस वस्तु की माग नहीं हो जाती। अंग्रेजी में एक कहावत है कि यदि केवल इच्छा करने से घोड़े मिल जाते तो भिखारी भी सवारी करते। बचपन में हलवाई की दूकान में तरह-तरह की मिठाइयां देखकर हम सबका जी ललचाया करता था। परन्तु हमारी वह इच्छा अर्थशास्त्र की दृष्टि से माग नहीं थी। माग वह तभी हुई जब हमारा रोना-मचलना देखकर हमारे माता-पिता ने हमें एक रुपया दिया, उसे लेकर हम हलवाई की दूकान

---

१ Davenport. 'Economics of Enterprise.' See also Henderson 'Supply and Demand', pp. 44–49.

२. Viner. 'The Utility Concept in Economic Theory' in the Journal of Political Economy 1925

समूह जिनके आधार पर वे खरीद करते हैं, अपेक्षाकृत स्थिर होता है। जैसे कि भौतिक-शास्त्र में वायुमंडल का प्रत्येक परमाणु जो हमारे शरीर से घर्षण करता है, परिवर्तनशील और अस्थिर होता है, परन्तु उन परमाणुओं के कारण वायुमंडल में हवा का दबाव प्रति वर्ग इंच में पन्द्रह पौंड के हिसाब से स्थिर होता है।"[1]
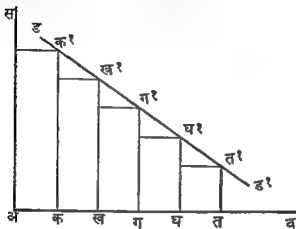
चित्र न० २

यह ध्यान रखना चाहिये कि कीमत बाजार में साधारण सीमान्त उपयोगिता नहीं नापती। कीमत वस्तु की सीमान्त उपयोगिता प्रत्येक व्यक्ति के लिये अलग-अलग बतलाती है। चूंकि प्रत्येक मनुष्य की आमदनी और रुचि भिन्न-भिन्न होती है। इसलिये यदि प्रत्येक मनुष्य किसी वस्तु को एक ही दाम पर खरीदे तो भी उस दाम से सबके लिये एक बराबर उपयोगिता नहीं नापी जा सकती।

चित्र न० २ में माग-सूची का ग्राफ दिया गया है। किसी वस्तु की विभिन्न मात्राओं के लिये खरीदार जो कीमत देंगे वह अ स रेखा पर हैं और विभिन्न दामों पर वस्तु की जो मात्राएं खरीदार लेंगे वे अ ब रेखा पर हैं। जब दाम क क१ हैं, तब खरीदार केवल अ क मात्रा लेंगे, क्योंकि दाम ऊंचा है। जब कीमत क क१ से घटकर ख ख१ हो जाती है, तब ग्राहक अ ख अर्थात् अधिक मात्राएं लेते हैं और जब कीमत गिरकर घ घ१ हो जाती हैं, तब माग भी बढ़कर अ घ हो जाती है।

मांग का नियम (Law of Demand)—माग के नियम की परिभाषा इस प्रकार है। अन्य चीजों के यथास्थिति रहते हुए किसी वस्तु की कीमत जैसे-जैसे कम

१ Fisher. Elementary Principles of Economics, p. 301

होगी वैसे-वैसे उसकी माग बढेगी। इस प्रकार माग कीमत के उल्टे अनुपात में घटती बढ़ती है। यह घटी-बढी धीमी भी हो सकती है और तेज भी। कभी-कभी कीमत थोड़ी-सी घटने से भी माग अधिक बढ जाती है। कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध में माग अधिक बढाने के लिये कीमत अधिक घटाने की आवश्यकता होती है।

'अन्य चीजो के यथास्थिति रहते हुए' शब्दो में इस नियम की एक बडी शर्त लगी है। माग का नियम यह कहता है कि वस्तुओं की कीमत जैसे-जैसे बदलती है, वैसे-वैसे उनकी माग भी बदलती है। परन्तु यदि इसी बीच में बाजार में अन्य परिस्थितिया बदल जाती है, तो सभव है ऐसा न भी हो। उदाहरण के लिये यदि फैशन या रीति-रिवाज या मौसम बदल जाता है तो यह भी हो सकता है कि दाम घटने पर भी माग न बढे। इसके सिवा यदि किसी वस्तु की प्रतियोगी या सहायक वस्तुओं के दाम बदलते है, तब भी यह हो सकता है कि उस वस्तु की कीमत में बिना कोई घटी-बढी के उसकी माग किसी एक दाम पर बदल जावे। और थोड़े से कुछ मौके ऐसे भी आ सकते है, जब दाम बढने से किसी वस्तु की माग भी बढ जावे। यदि लोग ऐसा सोचते है कि अभी इस वस्तु के दाम और बढेंगे तो थोड़े से दाम बढने पर वे उसको अधिक मात्रा में खरीदने का प्रयत्न करेंगे।

नियम की शर्तें

मांग की लोच (Elasticity of Demand)—लोच माग की एक विशेषता है। हम देख चुके है कि किसी वस्तु के दाम बढने पर उसकी माग घटती है। परन्तु घटने की गति धीमी भी हो सकती है और तेज भी। कीमत बदलने पर माग जिस गति से बदलती है, उसे माग की लोच कहते है।

किसी वस्तु के लिये माग लोचदार हो सकती है या बेलोच। जब किसी वस्तु के दाम में थोडी-सी कमी होने पर उसकी माग अधिक बढ जाती है, तब उस माग को लोचदार माग कहते है। अथवा जब कीमत थोडी-सी बढने पर माग ज्यादा घट जाती है, तब भी माग लोचदार कही जाती है। परन्तु जब कीमत में थोडी-सी कमी होने पर माग भी थोडी बढती है और धीरे-धीरे बढती है, अथवा थोडी-सी कीमत बढने पर माग भी थोडी-सी घटती है, तब उस माग को बेलोच कहा जाता है। यहां 'थोडी सी', 'ज्यादा' 'अधिक' इन शब्दो के अर्थ स्पष्ट नही है। अपने विचारों को स्पष्ट और निश्चित करने के लिये मार्शल ने लोच नापने की एक रीति सुझाई है। उसका मत है कि किसी वस्तु की जितनी मात्रा की माग किसी एक कीमत पर होती है, उस मात्रा और कीमत का गुणा करने से जो गुणनफल आता है, वह गुणनफल जबतक एक-सा रहता है, तबतक माग की लोच को सम (unity) मान लेना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि दाम या कीमत में चाहे जो घटी बढी हो,

मांग की लोच नापने की रीति

परन्तु किसी वस्तु की खर्च की गई कुल रकम वही रहेगी। उदाहरण के लिये मान लो कि जब कीमत ५ रुपया है तो लोग किसी वस्तु की १०० मात्राएं लेंगे। जब कीमत ४ रुपया है, तब वे १२५ मात्राएं लेंगे और जब कीमत २ रुपया है, तब वे २५० मात्राएं लेंगे। इन तीनों में दाम और मात्राओं का गुणनफल एक-सा रहता है, अर्थात् ५०० रुपया रहता है। इसलिये माग की लोच कम है। परन्तु जब दाम में थोडी-सी कमी होने पर माग इतनी अधिक बढ जावेगी कि वस्तु पर खर्च की हुई कुल रकम भी बढ जावेगी, तब मांग की लोच सम से अधिक हो जावेगी। हमने ऊपर जो उदाहरण दिया है, मान लो ५ रुपया प्रति मात्रा की दर से १०० मात्राओं की माग है। परन्तु ४ रुपया प्रति मात्रा की दर से १३० मात्राओं की माग है। तब पहिले सौदे में खरीदारों ने कुल रकम ५०० रुपया खर्च की और दूसरे सौदे में ५२० रुपया। इसलिये यहां माग की लोच सम से अधिक होगी।
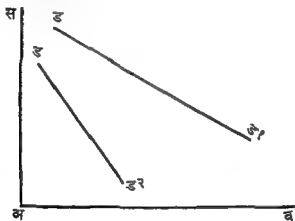
चित्र न० ३

जब कीमत में थोडी-सी घटी होने से माग में इतनी थोडी वृद्धि होगी कि कुल खर्च की हुई रकम घट जावेगी, तब माग की लोच सम से कम कही जायगी। जैसे कि ऊपर के उदाहरण के अनुसार जब कीमत ५ रुपया है, तब १०० मात्राएं बिकती हैं। परन्तु जब कीमत ४ रुपया है, तब १२० मात्राएं बिकती हैं। पहिले सौदे में कुल रकम ५०० रुपया खर्च होती है, परन्तु दूसरे सौदे में कुल रकम ४८० रुपया खर्च होती है। इसलिये माग की लोच सम से कम है।

ऊपर के चित्र न० ३ में ड ड१ रेखा लोचदार माग बतलाती है और ड ड२ रेखा बेलोच माग।

अर्थशास्त्रियों के मतानुसार पांच प्रकार की माग की लोच होती है। एक तो पूर्ण लोचदार माँग होती है। इसमें कीमत में थोड़ी-सी कमी होने पर माग बहुत अधिक बढ़ जाती है। दूसरी अपेक्षाकृत लोचदार माग होती है। कीमत में थोड़ी-सी कमी होने पर माग में अपेक्षाकृत काफी अधिक वृद्धि होगी। अर्थात् उतनी कीमत नही घटेगी जितनी माग बढ़ जावेगी। तीसरा प्रकार यह है जब माग सम रहेगी। इसका वर्णन ऊपर कर चुके है। चौथी माग अपेक्षाकृत बेलोच हो सकती है। इसमें कीमत में थोड़ी-सी बदली होने से माग में कोई विशेष बदली नहीं होती। पांचवा प्रकार पूर्ण बेलोच माँग का है। यह तब होता है, जब कीमत में चाहे जो बदली हो, माग बिलकुल नहीं बदलती।

माँग की लोच किन बातों पर निर्भर है

माग की लोच किन बातो पर निर्भर है? (अ) शौक की वस्तुओं की माँग लोचदार होती है, परन्तु आवश्यक वस्तुओं की माँग बेलोच होती है। क्योंकि आवश्यक वस्तुओं पर खर्च होनेवाली रकम पहिले से मालूम रहती है और वह बधी हुई होती है। कीमत चाहे जो हो आवश्यक वस्तुएं हमें खरीदनी ही पड़ेंगी। परन्तु कीमत बढ़ने पर शौक के चीजों की खरीद बन्द कर दी जा सकती है। परन्तु 'आवश्यक' 'शौक की' ये शब्द यहा तुलनात्मक अर्थ में उपयोग किये जाते है। किसी व्यक्ति या कुछ व्यक्तियो के लिये जो शौक की वस्तु है, वह दूसरे के लिये आवश्यक हो सकती है। इसलिये किसी वस्तु की माग की लोच समाज के विभिन्न वर्गों के लिये विभिन्न प्रकार की होती है। जो वस्तु एक वर्ग के लिये शौक की चीज है, वही दूसरे वर्ग के लिये आवश्यक हो सकती है। इसलिये उसी चीज की लोच में उन दोनो वर्गों के लिये भेद हो जायगा। परन्तु जो वस्तुएं जीवन के लिये आवश्यक है, उन सबकी माग सब वर्गों के लिये बेलोच होती है। जो वस्तुए कृत्रिम या मानी हुई आवश्यकताओं में शामिल है, उनकी भी माग बेलोच होती है। क्योंकि उनका उपयोग आदत में शामिल हो जाता है, जो जल्दी नही छोड़ी जा सकती है। परन्तु कई वस्तुए जो कार्यक्षमता या योग्यता सम्बन्धी आवश्यकताओं में शामिल है, उनके लिये गरीब तथा निम्न मध्यम श्रेणी की माग तो लोचदार होती है और धनिक वर्ग की माग बेलोच होती है। (ब) यदि कोई वस्तु ऐसी है कि उसके बदले में अन्य वस्तुओं का उपयोग हो सकता है, तो उस वस्तु की माँग लोचदार होगी। ट्रामकार और 'बस' एक दूसरे के बदले में उपयोग में आ सकती है। यदि 'बस' वाले ज्यादा किराया लेने लगें तो बहुत से लोग ट्रामकार में चढ़ने लगेंगे। अर्थात् यदि 'बस' की सवारी की कीमत बढ़ जाती है, तो उनकी माग में काफी कमी हो जायगी। (स) यदि वस्तु के कई प्रकार के उपयोग हो सकते हैं, तो उसकी माँग लोचदार होगी। उदाहरण के लिये बिजली ले लीजिये। इस समय प्रति इकाई के भाव से बिजली की जो कीमत है, उसके कारण लोग बिजली का उपयोग केवल रोशनी के लिये करते है। परन्तु यदि प्रति इकाई कीमत कम हो जाय तो लोग बिजली का उपयोग भोजन बनाने, ठंड में कमरा गरम रखने इत्यादि के लिये

खर्च करना चाहते हैं कि हमें प्रत्येक वस्तु से बराबर सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो। यदि किसी समय कोई व्यक्ति यह सोचता है, कि सिगार की अपेक्षा चाय पर एक रुपया खर्च करने से उसे अधिक तृप्ति मिलेगी, तो वह अधिक सिगार खरीदने के बदले अधिक चाय खरीदेगा। जिस वस्तु से हमें अधिक उपयोगिता मिलती है, उसको हम कम उपयोगिता देनेवाली वस्तु से तबतक बदलते जाते हैं, जबतक दोनों से प्राप्त होनेवाली सीमान्त उपयोगिता बराबर नहीं हो जाती।

चित्र न० ४ सम-सीमान्त उत्पत्ति का नियम समझाता है। अ-ग पर द्रव्य की मात्राएं हैं, और अ स पर उपयोगिता की मात्राएं, जो चाय या सिगार पर द्रव्य खर्च करने से प्राप्त
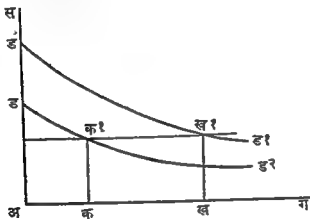
चित्र न० ४

हुई है। चाय पर खर्च करने से जो सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हुई, उसे ड ड१ रेखा बतलाती है और सिगार पर खर्च करने से जो सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हुई उसे ड ड२ रेखा बतलाती है। चित्र यह बतलाता है कि यदि उपभोक्ता सिगार पर अ क द्रव्य की मात्रा खर्च करता है तो वह चाय पर अ ख द्रव्य की मात्रा खर्च करेगा, क्योंकि तब क क१ (सिगार पर खर्च की गई द्रव्य की एक मात्रा की सीमान्त उपयोगिता) ख ख१ (चाय पर खर्च की गई द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता) के बराबर होती है। लेकिन हम अपनी आमदनी चाहे इस समय उपयोगिता प्राप्त करने में खर्च कर दें, चाहे भविष्य में। अर्थात् हम चाहें तो इसी समय अपनी आमदनी खर्च कर दें, चाहे कभी भविष्य में। हम अपने कुल खर्च का प्रबन्ध इस प्रकार करेंगे कि इस समय के खर्च की किसी वस्तु की एक मात्रा से और भविष्य के खर्च की किसी वस्तु की मात्रा से बराबर उपयोगिता प्राप्त हो।

उत्पादन के क्षेत्र में कोई भी उत्पादक अपने साधनों का वितरण उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में इस प्रकार करेगा कि उसका कुल लाभ अधिकतम हो। वह बराबर अपने मन में

उत्पादन में

उत्पादन के विभिन्न साधनों की सीमान्त उपयोगिताओं की तुलना करता रहता है। ये भूमि, पूंजी और श्रम हैं। यदि कभी वह ऐसा सोचता है कि अधिक मजदूरों की अपेक्षा अधिक मशीनों का उपयोग करने से अधिक लाभ होगा, तो वह ऐसा ही करेगा। यदि वह सोचता है कि एक एकड़ अधिक जमीन खरीदने की अपेक्षा मकान में एक खंड अधिक बनवाने में कम खर्च पड़ेगा, तो वह जमीन न खरीदकर मकान में एक खंड और बनवा लेगा। अर्थात् वह अधिक भूमि की अपेक्षा अधिक पूंजी और मजदूरों का उपयोग करेगा। इस प्रकार वह अपनी लागत का उपयोग इस तरह करेगा कि उसकी लागत की प्रत्येक मात्रा की सीमान्त उत्पत्ति बराबर होगी, चाहे वह मात्रा भूमि में लगी हो, चाहे श्रम में और चाहे पूंजी में। इसी प्रकार एक किसान अपनी भूमि में अधिक जूट अथवा अधिक चावल पैदा कर सकता है। यदि वह देखता है कि चावल की अपेक्षा अधिक जूट पैदा करने में लाभ अधिक होगा तो वह अधिक जूट ही उत्पन्न करेगा। इस तरह उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में, चाहे उद्योग में, चाहे कृषि में, उत्पादक अपने साधन इस चीज पर अथवा उस चीज पर अथवा एक साथ कई चीजों पर इस प्रकार लगा सकता है कि प्रत्येक चीज की सीमान्त उत्पत्ति बराबर होती है।

वितरण के सिद्धान्त के सम्बन्ध में इस नियम से यह पता चलता है कि उत्पादन में किस साधन का कितना हिस्सा है। यदि हम उत्पादन कार्य के संगठन पर सम्पूर्ण रूप

वितरण में

से विचार करें तो देखेंगे कि उत्पादन का प्रत्येक साधन दूसरे साधन के द्वारा बदला जा सकता है। हम देख चुके हैं कि प्रत्येक उत्पादक व्यवसायी अपनी लागत भूमि, श्रम, पूंजी और संगठन में इस प्रकार वितरित करता है और यहां तक वितरित करता है कि प्रत्येक साधन की प्रत्येक मात्रा की सीमान्त उत्पत्ति बराबर होती है। इस स्थिति में प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पत्ति उनसे होनेवाली लाभ से नापी जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्थिक क्षेत्र में प्रतिस्थापन का नियम बहुत महत्वपूर्ण है। इस नियम का सम्बन्ध क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम या घटती उपयोगिता नियम (law of diminishing utility) और क्रमागत ह्रास या घटती उत्पत्ति नियम (law of diminishing returns) से बहुत घनिष्ठ है। यदि किसी वस्तु के संचय में वृद्धि के साथ-साथ उपयोगिता घटने के बजाय बढ़ती जाती तो कोई व्यक्ति एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु का उपयोग करने की बात न सोचता। चूंकि हमें किसी वस्तु की अधिकाधिक मात्राओं से क्रम से घटती हुई उपयोगिता प्राप्त होती है, इसलिये हम अन्य वस्तुएं खरीदने की बात सोचते हैं। इसी प्रकार उत्पादन क्षेत्र में अन्य

वस्तुओ के यथास्थिति रहते हुए यदि किसी एक साधन की अधिकाधिक मात्राओ का उपयोग करने से उत्पत्ति घटने के बजाय बढती जाती तो कोई भी उत्पादक व्यवसायी एक साधन के बदले दूसरे साधन के उपयोग करने की बात न सोचता।

यहा आलोचना के रूप में यह कहा जा सकता है कि यह नियम मनुष्य-स्वभाव को बहुत तर्कपूर्ण और हिसाब-किताब करनेवाला मान लेता है। वास्तविक जीवन में खर्च करते समय हम एक वस्तु की उपयोगिता की तुलना दूसरी वस्तु की उपयोगिता के साथ नही करते हैं। प्राय हम आदत या प्रेरणा के वश होकर खरीद करते हैं। परन्तु जैसा कि चेपमेन ने लिखा है 'हम अपनी आमदनी का वितरण प्रतिस्थापन नियम या सम-सीमान्त खर्च के अनुसार करने के लिये विवश नही है, जैसा कि ऊपर फेंका गया पत्थर एक प्रकार से नीचे गिरने के लिये विवश है। परन्तु फिर भी एक मोटे हिसाब से हम इस नियम का पालन करते है, क्योकि हममें तर्कबुद्धि है।'[१] इस नियम से हम दो महत्त्वपूर्ण बातें जान सकते हैं। उपभोग के सम्बन्ध में इस नियम का उपयोग करके हम द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता जान सकते हैं। द्रव्य की एक अधिक मात्रा की जो उपयोगिता होगी, वही द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता है। यदि द्रव्य की इस अधिक मात्रा की उपयोगिता वही न रहती, चाहे वह इस वस्तु की सीमा पर खर्च की जाय, चाहे उस वस्तु की सीमा पर, तो हम निश्चित रूप से द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता के सम्बन्ध में कुछ न कह सकते। क्योकि तब विभिन्न वस्तुओ के साथ-साथ द्रव्य की उपयोगिता भी बदलती रहती।

अधिकतम तृप्ति का नियम

इस नियम के आधार पर एक और नियम बनता है, जिसे **अधिकतम तृप्ति का नियम** (doctrine of maximum satisfaction) कहते हैं। जब सीमान्त उपयोगिताए बराबर होती है, तब पूर्ण उपयोगिता अधिकतम होती है। एक उदाहरण ले लें। मान लो एक मनुष्य चाय अथवा सिगार पर ५ रुपये खर्च कर सकता है। जाहिर है कि वह अपने रुपये से अधिकतम तृप्ति चाहेगा। अब मान लो कि चाय पर १ रुपया खर्च करने से उसे ८ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है। चाय पर दूसरा रुपया खर्च करने से उसे [illegible] रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है। यदि चाय पर वह तीसरा रुपया खर्च करे तो उसे ५ रुपये के बराबर तृप्ति मिलेगी। चाय पर चौथे रुपये से उसे ३ रुपये के बराबर तृप्ति मिलेगी और पाचवें से १ रुपये के बराबर। अब यदि वह सिगार पर एक रुपया खर्च करता है तो उसे ६ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है और सिगार के ऊपर दूसरे रुपये से ५ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है। तीसरा रुपया जब वह सिगार पर खर्च करता है, तो उसे ४ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है। चौथे रुपये से

---

१ Chapman. Outlines of Political Economy, p 48

२ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है और अन्तिम रुपये से केवल एक रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है।

यदि वह पूरे ५ रुपये सिर्फ चाय पर खर्च करता है, तो उसे २४ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है। यदि वह पूरे ५ रुपये सिर्फ सिगार पर खर्च करता है तो उसे १८ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है। यदि वह एक रुपया सिगार पर और ४ रुपये चाय पर खर्च करता है तो उसे २९ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है। यदि वह २ रुपये सिगार पर और ३ रुपये चाय पर खर्च करता है तो उसे ३१ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है। परन्तु यदि वह ३ रुपये सिगार पर और २ रुपये चाय पर खर्च करता है, तो उसे ३० रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जब वह २ रुपये सिगार पर और ३ रुपये चाय पर खर्च करता है, तब उसे सबसे अधिक तृप्ति मिलती है। और द्रव्य की अन्तिम मात्रा की उपयोगिता अर्थात् चाय पर खर्च की गई सीमान्त उपयोगिता (अर्थात् ५) सिगार पर खर्च की गई सीमान्त उपयोगिता के ठीक बराबर है (अर्थात् वह भी ५ है)। इसलिये जब सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर होती हैं, तब पूर्ण उपयोगिता (total utility) अधिकतम होती है। इसे अधिकतम तृप्ति का नियम कहते हैं।

जब सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर होती हैं तब पूर्ण उपयोगिता अधिकतम होती है।

उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus)—उपभोक्ता की बचत का नियम घटती उपयोगिता के नियम से बनाया गया है। हम किसी वस्तु की जो कीमत देते हैं, वह केवल सीमान्त उपयोगिता बतलाती है, पूर्ण उपयोगिता नहीं। केवल सीमान्त मात्रा पर जिसे खरीदार किसी तरह खरीदने को राजी हो जाता है, कीमत ठीक उतनी तृप्ति के बराबर होती है, जितनी वह उस मात्रा मे पाने की आशा करता है। लेकिन वह जो दूसरी मात्राएं खरीदता है, उन पर उसे अधिक तृप्ति मिलती है। इन मात्राओ के लिये वह जितनी कीमत देता है, उससे अधिक देने को तैयार हो जायगा। वस्तुएं खरीदने से उपभोक्ता को जितनी तृप्ति मिलती है और उनके लिये दाम देने से उसे जितनी तृप्ति छोड देनी पडती है, इन दोनो का अन्तर उपभोक्ता की बचत का आर्थिक नाप है। उपभोक्ता को जो अधिक तृप्ति मिलती है, वही उसकी बचत है। यह 'अधिक' तृप्ति क्या है? खरीदी हुई वस्तुओ की उपयोगिता और न खरीदी हुई वस्तुओं की उपयोगिता का जो अन्तर है, वही यह 'अधिक' तृप्ति है। यदि उसे इच्छित वस्तु न मिलती तो वह अपना द्रव्य अन्य वस्तुओं पर खर्च करने को बाध्य होता। परन्तु इनमे उसे पहिले के बराबर तृप्ति न मिलती।

घटती उपयोगिता के नियम से बना है

अपने विचारो को ठीक-ठीक प्रकट करने के लिये हम जूता का उदाहरण ले लें, जिसे हम पीछे दे चुके हैं। जैसा पहिले कह चुके हैं जूते के पहिले जोडे से एक व्यक्ति को कम

से कम ६ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है। दूसरे जोड़े से वह ५ रुपये के बराबर अधिक तृप्ति की आशा करता है। तीसरे जोड़े से वह ४ रुपये के बराबर अधिक तृप्ति की आशा करता है। मान लो वह किसी तरह तीन जोड़े जूते खरीदने पर राजी होता है, अधिक नहीं। चूंकि बाजार में एक कीमत से अधिक नहीं हो सकती अर्थात् केवल एक दाम हो सकता है, इसलिये प्रत्येक जोड़े का मूल्य सीमान्त जोड़े के हिसाब से होगा। अर्थात् ४ रुपया होगा। वह तीनों जोड़े के लिये कुल मिलाकर १२ रुपये (४×३) देगा। परन्तु हमारे उदाहरण के अनुमान के अनुसार वह तीनों जोड़ों से १५ रुपये (६ रु० +५ रु०+४ रु०) के बराबर तृप्ति पाता है। इसलिये अपनी खरीद पर वह जो खर्च करता है, उससे ३ रुपये (१५ रु०–१२ रु०=३ रु०) अधिक की तृप्ति का भोग करता है। इसलिये पूर्ण उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता में जो अन्तर होता है उसमें खरीदी हुई मात्राओं का गुणा करने से जो गुणनफल आता है, वही उपभोक्ता की बचत कहलाता है।
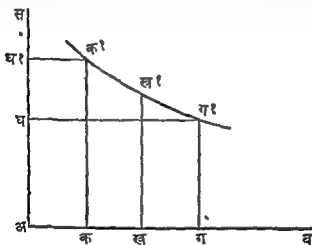
चित्र नं० ५

किसी वस्तु के उपभोग से किसी व्यक्ति को जो उपभोक्ता की बचत होती है, वह चित्र नं० ५ में दरसायी गई है। इस चित्र में अ स रेखा पर कीमत अथवा उपयोगिता नापी गई है। अ व रेखा पर मात्राएं नापी गई हैं। किसी वस्तु की अ क मात्रा के लिये एक मनुष्य क क१ कीमत देने के लिये तैयार है। अर्थात् वह कम से कम अ क क१ घ१ मात्रा में तृप्ति की आशा करता है। नहीं तो वह क क१ के बराबर कीमत देने को तैयार न होगा।

अ ख मात्रा के लिये ख ख१ के बराबर कीमत देगा। अर्थात् वह क ख मात्रा से क ख ख१ क१ मात्रा में तृप्ति पाने की आशा करता है। ख ग मात्रा के लिये वह ग ग१ कीमत देगा। अर्थात् उससे वह ख ग ग१ ख१ क्षेत्रफल के बराबर तृप्ति पाने की आशा करता है। मान लो वह अ क, क ख और ख ग, ये तीन मात्राएं ग ग१ कीमत पर खरीदता है। तो वह जितनी कुल रकम खर्च करता है, वह अ ग ग१ घ क्षेत्रफल (अर्थात् अ ग×ग ग१) के बराबर है। इसलिये अ क, क ख और ख ग मात्राओं के खरीदने से उपभोक्ता को घ ग१ ख१ घ१ क्षेत्र के बराबर अधिक तृप्ति मिलती है।

मार्शल के मतानुसार अधिक तृप्ति की मात्रा हमारे सामने आनेवाले अवसरों (opportunities) या हमारे मन के भावों पर निर्भर होती है। आधुनिक सभ्यता में बहुत-सी वस्तुएं बड़ी आसानी से और कम खर्च पर बनती हैं। इसलिये वे कम कीमत पर बिकती भी हैं। परन्तु उनसे जो तृप्ति मिलती है, वह बहुधा बहुत अधिक होती है। परन्तु किसी वस्तु से हमें जो तृप्ति मिलती है, कम सभ्य जातियों में उसका महत्त्व नहीं होता। उनके लिये वह प्राय व्यर्थ उत्पादन होता है।

उपभोक्ता की बचत मापने में कठिनाइयां (Difficulties of Measuring Consumers Surplus)—द्रव्य के रूप में उपभोक्ता की बचत मापने में कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यह बात मान लेनी पड़ती है कि कम या अधिक द्रव्य खर्च करने से द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता पर उसका असर नहीं पड़ता। यदि पड़ता भी है तो वह इतना कम पड़ता है कि हमें उस पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। यह अनुमान तभी उचित हो सकता है, जब किसी वस्तु पर किया गया खर्च कुल आमदनी का बहुत छोटा भाग हो। परन्तु जब हम ऐसी वस्तुओं का विचार करते हैं, जिन पर हमारी आमदनी का काफी बड़ा भाग खर्च होता है, तब खर्च की कमी-बेशी द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता पर अवश्य असर डालेगी और उसे बदल देगी, तब हमारे नतीजों में अन्तर पड़ जायगा।

हमें यह मानना पड़ता है कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता कभी नहीं बदलेगी

यह कठिनाई वास्तविक है और इससे इस सिद्धान्त की उपयोगिता पर काफी बड़ी रोक लग जाती है। इस सम्बन्ध में 'मार्शल' का कहना है कि यह कठिनाई तो सभी आर्थिक समस्याओं में पाई जाती है। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह कोई विशेष बात नहीं है। जे० आर० हिक्स[1] ने इस कठिनाई का एक हल बतलाया है। उसका मत है कि इस समस्या पर विचार करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि उपभोक्ता की बचत को एक प्रकार से आमदनी में वृद्धि समझना चाहिये, जो किसी वस्तु की कीमत गिरने से प्राप्त होती है। मान लो एक मनुष्य १० पैसे जोड़े के हिसाब से ४ जोड़े मोजे खरीदेगा। यदि कीमत गिरती

१ J. R. Hicks. 'Value and Capital', pp. 38–41.

है और सतरा ६ पैसे जोडा हो जाता है, फिर भी वह ६ पैसे जोडे के हिसाब से केवल ४ जोडे सतरे खरीदने का निश्चय करता है। तब उसकी द्रव्य-आमदनी चार आना बढ जावेगी और उसे वह अन्य वस्तुओ पर खर्च कर सकता है। सम्भावना तो यह है कि सतरो की कीमत अपेक्षाकृत अधिक गिरने के कारण वह सतरो पर ही अधिक खर्च करेगा और अन्य वस्तुओ पर कम। इससे उसे लाभ ही होगा। जो भी हो, हम यह कह सकते है कि सतरो की कीमत गिरने के कारण उसे जो उपभोक्ता की बचत होगी, वह चार आने से कम न होगी।

दूसरी कठिनाई तब उठती है, जब बाजार में किसी वस्तु के कुल उपयोग के आधार पर उसकी उपभोक्ता की कुल बचत द्रव्य के रूप में निश्चित करनी पडती है। जिस बाजार में धनी और गरीब सभी वर्गो के लोग होगे, उसमें गरीब आदमी के लिये एक रुपया खर्च करना धनी आदमी की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके सिवा यदि सब आदमियो की आमदनी बराबर भी होती तो भी उनकी रुचि और विचारों में तो अन्तर होता ही। एक आदमी किसी वस्तु की इच्छा दूसरे आदमी की अपेक्षा अधिक प्रगाढता से कर सकता है। तब वह उसके लिये अधिक कीमत देने के लिये तैयार होगा। अथवा जो कीमत दूसरा आदमी देगा, वही कीमत देकर भी पहिले आदमी की तृप्ति अधिक होगी, क्योंकि इसकी इच्छा अधिक प्रगाढ थी। लेकिन ये कठिनाइया ऐसी नही है कि इनके कारण बाजार में उपभोक्ता की बचत न मापी जा सके। क्योंकि जब हम बहुत से लोगो का उदाहरण लेते है, तब हम औसत नियम (law of averages) की सहायता ले सकते है। एक तरफ जहा थोडे से धनी लोगो की सम्पत्ति और रुचि रहती है, वहा दूसरी तरफ सम-तुलन के लिये बहुत से लोगो की गरीबी रहती है। इसलिये हम इन धन और रुचि के विभेदो को छोड सकते है।

सम्पत्ति-भेद

रुचि-भेद

पैटन आदि कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि कोई मनुष्य जब किसी वस्तु की अधिकाधिक मात्राए खरीदता है, तब पहिले खरीदी हुई मात्राओ के लिये उसकी इच्छा की प्रगाढ़ता कम हो जाती है। अर्थात् जैसे-जैसे उसकी खरीद बढती जाती है, वैसे-वैसे तृप्ति के साथ-साथ पहिले खरीदी हुई मात्राओ के लिये उसकी माग की कीमत (demand price) कम होती जाती है। इसलिये हमारे उपभोक्ता की बचत का माप सही नहीं होता। हमने पीछे जूतो का उदाहरण लिया था। उसे ही देख लिया जाय। जब मनुष्य जूते का पहिला जोडा खरीदता है, तब उसकी उपयोगिता घटने लगती है और जब वह तीसरा जोडा खरीदता है, तब उसकी उपयोगिता ६ रुपये

जैसे-जैसे हम अधिक मात्राए खरीदते है वैसे-वैसे पहले की मात्राओं की उपयोगिता कम होती जाती है

में बहुत कम हो जाती है। "लेकिन इस बात की सम्भावना बहुत कम है कि उप-भोग में थोड़ा-सा अन्तर होने से पहले की मात्राओं की उपयोगिता पर अधिक प्रभाव पड़ेगा। क्योंकि उपभोग की 'समानता' ('commonness') में अन्तर अनुभव करने के लिये उपभोग में काफी अन्तर की आवश्यकता है।"[1] इसके सिवाय इस आलोचना में एक त्रुटि यह भी है कि माँग के अनुसार कीमत (demand price) की सूची बनाने की रीति के बारे में भी यह गलत विचार करती है। यह आलोचना तब उचित होती, जब माँग के अनुसार कीमत की सूची मात्राओं की औसत-उपयोगिता बतलाती। हमने जो उदाहरण लिया है, उसमें जूते के पहिले जोड़े की उपयोगिता ६ रुपया है। जब वह दूसरा जोड़ा ५ रुपये में खरीदता है, तब दोनों जोड़ों की औसत-उपयोगिता ५॥ रुपये होगी। जब वह तीसरा जोड़ा ४ रुपये में खरीदता है, तब एक जोड़े की औसत उपयोगिता ४ रुपये होती है। इसलिये यदि हमारी माँग की रेखा केवल औसत-उपयोगिता दिखाती, तब यह होता कि जैसे-जैसे कोई मनुष्य किसी वस्तु की अतिरिक्त मात्राएं खरीदता, वैसे-वैसे प्रारम्भिक मात्राओं की औसत उपयोगिता कम होती जाती। लेकिन माँग के अनुसार कीमत की सूची अधिक मात्राओं की अधिक उपयोगिता (additional utility) दरशाती है। खरीदार को दूसरे जोड़े से जो उपयोगिता मिलती है, वह पहिले जोड़े से मिली हुई उपयोगिता के अलावा (in addition to) है और यह उपयोगिता ५ रुपये के बराबर है। इसलिये बाद की खरीद का पहिले की खरीद पर प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये यह आलोचना सही नहीं है।

एक अन्य कठिनाई यह है कि हम माँग रेखा के प्रारम्भ के हिस्से नहीं खींच सकते, क्योंकि वे शुद्ध अनुमान पर अवलम्बित होते हैं। यदि हमें यह मालूम है कि कोई वस्तु हमें बिलकुल नहीं मिलेगी तो हम यह नहीं कह सकते कि हम उस वस्तु की कितनी कीमत देने को तैयार होंगे। उदाहरण के लिये यदि संसार भर में केवल एक जोड़ा जूता प्राप्त होता तो हम नहीं कह सकते कि उसके लिये कहाँ तक कीमत मिल सकती है। केवल अनुमान द्वारा हम कोई भी कीमत बता सकते हैं। इसलिये किसी वस्तु की माँग-कीमत केवल अनुमानमात्र है। हम उसका अनुमान चालू दामों के आसपास लगाते हैं। लेकिन यह कठिनाई केवल सैद्धान्तिक (theoretical) है, और वह भी बहुत कठिन नहीं है। क्योंकि जहाँ तक नियम के व्यावहारिक प्रयोग का प्रश्न है, वह तो चालू दामों के आसपास की कीमतों में फरक आने से उपयोगिता में जो अन्तर आते हैं

हम पूरी माँग सूची नहीं जानते

1. Pigou. 'Some Remarks on Utility' in the Economic Journal, 1903, page 65.

उनसे सम्बन्धित हैं। कीमतों में छोटे-छोटे अन्तर होने से उपभोक्ता की कुल बचत में जो अन्तर होता है, उससे हमारा सम्बन्ध है। उसे हम ऐसे मापना चाहते हैं जैसे करों की समस्या में। और इस काम के लिये हमारी माग के अनुसार कीमत की सूची काफी तर्कपूर्ण रहती है यद्यपि उसमें कुछ त्रुटियां होती हैं।

बदली जानेवाली वस्तुओं के कारण कठिनाइयाँ

सहायक अथवा बदली जानेवाली वस्तुओं के कारण भी उपभोक्ता की बचत मापने में कुछ कठिनाई होती है। बदली जानेवाली वस्तुओं का सबसे अच्छा उदाहरण चाय और काफी है। यदि चाय बिल्कुल न मिले तो लोग काफी पीने लगें। यद्यपि चाय न मिलने से उनकी तृप्ति में बहुत हानि होगी। परन्तु यदि चाय और काफी दोनों न मिलें तो हानि बहुत होगी, क्योंकि फिर चाय के बदले काफी नहीं मिलेगी। इसलिये यदि यह मान लें कि चाय न मिलेगी तो काफी तो मिलेगी और इस स्थिति में दोनों की जो उपयोगिता है, उससे अधिक एक साथ चाय और काफी मिलने की पूर्ण उपयोगिता अधिक है। इसलिये यदि हम चाय और काफी से मिलनेवाली कुल उपयोगिता को जोड दें तो भी दोनों के उपभोग से मिलनेवाली कुल तृप्ति को वह नहीं माप सकती। इस कठिनाई को हल करने के लिये मार्शल का कहना है कि ऐसी स्थिति में हमें चाय और काफी दोनों वस्तुओं को एक वस्तु मानना चाहिये और इन बदली जानेवाली वस्तुओं को एक माग-सूची में रखना चाहिये।

मनुष्य को प्रतिकूल और अनिश्चित तृप्ति मिलती है

जो वस्तु जीवन की आवश्यकताओं में शामिल है, उसकी पूर्ण उपयोगिता निश्चित करनी बहुत मुश्किल है। ऐसी वस्तुओं के उपभोग से जो तृप्ति मिलती है, वह बहुधा प्रतिकूल (negative) होती है। अर्थात् स्वयं उनके जीवन की आवश्यकताओं उपभोग से कोई तृप्ति नहीं मिलती। परन्तु यदि वे न मिलें तो हमें बडी भारी कमी मालूम होगी। उनसे वंचित रहने के बजाय हम अपना सब कुछ उन पर खर्च करने को तैयार हो जायगे। इस स्थिति में उपभोक्ता की बचत अनिश्चित रहती है। केवल जीवन की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में नहीं, वरन् कृत्रिम आवश्यकताओं के सम्बन्ध में भी यही हाल होता है। इस कठिनाई को हल करने के लिये हम पैटन (Patten) का सुझाव मानकर 'सकष्टमय अर्थनीति' (pain economy) और 'आनन्दमय अर्थनीति' (pleasure economy) दो भेद कर सकते हैं। पहिली स्थिति वह है, जब मनुष्य केवल अपने जीवन-रक्षा के लिये अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं का उपभोग करता है, जिससे भूख, प्यास, सर्दी-गरमी से उसकी रक्षा हो सके। किसी प्रकार की तृप्ति पाने के लिये नहीं, वरन् कष्ट से बचने के लिये वह उपभोग करता है। पहिली स्थिति के समाप्त होते ही दूसरी स्थिति आरम्भ होती है। तब मनुष्य के पास

पर बना है, इसलिये वह मनगढन्त अथवा असत्य नहीं है। "चाहे यह बचत उपभोग की निम्न श्रेणी में साफ जाहिर न हो, जहा केवल जीवन रक्षा की वस्तुएं खरीदी जाती है। अथवा चाहे यह उपभोग की उच्च श्रेणी में साफ जाहिर न हो, जहा केवल प्रदर्शन की इच्छा की तृप्ति की जाती है। परन्तु जिसे हम जीवन का सच्चा आनन्द कह सकते है, वहा यह साफ जाहिर होता है।"

नियम की सैद्धान्तिक और प्रत्यक्ष उपयोगिता (Theoretical and Practical Utility of the Doctrine)—उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त की रचना सबसे पहिले मार्शल ने की थी। उसने लिखा है कि उसका ध्येय परिचित भाषा को ठोस रूप में रखना था, जिससे कि अधिक अध्ययन में सहायता मिल सके। इस सिद्धान्त से हमें यह महत्वपूर्ण बात मालूम होती है कि किसी वस्तु की कीमत उससे प्राप्त होनेवाली तृप्ति को हमेशा ठीक-ठीक नहीं बतलाती। यह केवल इस बात का सतोषप्रद उत्तर देती है कि नमक जैसी साधारण उपयोग की वस्तुओं की उपयोगिता और कीमत में बहुत अन्तर होता है और इस सिद्धान्त की सहायता से हम इस अन्तर को एक मोटे तरीके से जान सकते है। दूसरे इस सिद्धान्त की सहायता से हम वास्तविक आय की मात्राओं की तुलना कर सकते है। अथवा यह जान सकते है कि किसी देश के एक मनुष्य को दूसरे देश के मनुष्यों की अपेक्षा जीवन की कितनी सुविधाएं प्राप्त है। अथवा भूतकाल की अपेक्षा वर्तमान समय में जीवन की कितनी सुविधाएं प्राप्त है। तीसरे, एकाधिकार प्राप्त व्यवसायी के लिये यह सिद्धान्त उपयोगी हो सकता है। वह अपनी वस्तुओं के दाम इतने ऊंचे रख सकता है कि किसी खरीदार के लिये उपभोक्ता की बचत की गुजाइश न रह जायगी। परन्तु उस हालत में उसे खरीदारो के विरोध अथवा सार्वजनिक हस्तक्षेप का खतरा हो सकता है। इसलिये अपना एकाधिकार सुरक्षित रखने के लिये वह दाम कुछ कम रखेगा, जिससे उपभोक्ता की बचत के लिये कुछ गुजाइश अवश्य रहे। यदि उसमें सार्वजनिक हित की भावना है, अथवा अपने व्यवसाय प्रसार की चिन्ता है, तब तो वह अवश्य दाम कुछ कम रखेगा, जिससे उपभोक्ता की बचत के लिये भी कुछ गुजाइश रहे। किसी वस्तु के दाम कम रखने से लोग उसके उपयोग से परिचित हो जायगे, जिससे उसकी माग बढ़ेगी और अन्त में उससे मुनाफा भी अधिक प्राप्त होगा। चौथे, जैसा मार्शल ने कहा है कि विभिन्न देशो के लोगों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय से जो लाभ होता है उसे उपभोक्ता की बचत के रूप में मापा जा सकता है। पांचवें कर सम्बन्धी

यह उपयोगिता और कीमत में अन्तर मापता है।

विभिन्न समय की परिस्थितियों की तुलना कर सकते है

एकाधिकार सिद्धान्त की समस्याओं के सम्बन्ध में यह महत्वपूर्ण है।

समस्याओं के अध्ययन में इस सिद्धांत का विशेष महत्त्व है। इसकी सहायता से अर्थमन्त्री यह जान सकता है कि यदि चीनी अथवा नमक पर कुछ आना प्रति मन कर अधिक बढ़ा दिया जावे तो उपभोक्ता की बचत में कितनी हानि होगी। यदि वस्तु ऐसी है कि उसमें क्रमागत वृद्धि का नियम लागू होता है तो उस पर जितना कर लगेगा उससे अधिक कीमत में वृद्धि कर दी जायगी। परन्तु यदि उस वस्तु पर क्रमागत ह्रास का नियम लागू है, तो कीमत में वृद्धि कर की मात्रा से कम रहेगी। इसलिये दूसरी स्थिति की अपेक्षा पहिली स्थिति में उपभोक्ता की बचत को हानि अधिक होगी। साधारणतः अन्य वस्तुओं के यथास्थिति रहने से पहिले की अपेक्षा दूसरी स्थिति का कर अधिक अवाछनीय है। परन्तु जहा व्यवसाय में सरकारी सहायता दी जाती है, वहा पहिली स्थिति का कर वाछनीय होगा। इस प्रकार उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त का सम्बन्ध अर्थशास्त्र के कई महत्वपूर्ण सिद्धान्तों और समस्याओं से है और अर्थशास्त्र में सत्य की खोज का यह एक महत्त्वपूर्ण साधन है।

छठां अध्याय

उत्पादन क्या है ?

(What is Production ?)

साधारण बातचीत में उत्पादन का अर्थ भौतिक वस्तुए बनाना होता है। लेकिन मनुष्य पदार्थ नहीं बना सकता। वह तो प्रकृति की देन है। प्रकृति के दिये हुए जो भौतिक पदार्थ हैं, मनुष्य उनका केवल रूप और आकार बदल सकता है। हम पत्थर का कोयला अथवा कच्चा लोहा नहीं बना सकते। उनका केवल उपयोग कर सकते हैं। जो कोयला पृथ्वी के गर्भ में छिपा रहता है, वह बाहर लाया जा सकता है और उसका विविध प्रकार से उपयोग किया जा सकता है। 'कोयले के उत्पादन' से हमारा यही अर्थ होता है। मनुष्य का श्रम पदार्थ का एक अणु भी उत्पन्न नहीं कर सकता। इसलिये उत्पादन का अर्थ भौतिक पदार्थों का उत्पन्न करना नहीं हो सकता।

मनुष्य पदार्थ नहीं उपयोगिता उत्पन्न करता है

अर्थशास्त्र में उत्पादन का अर्थ उपयोगिता उत्पन्न करना होता है। मनुष्य पदार्थ को बदलकर अधिक उपयोगी और कीमती बना देता है। जगल में सागौन उपयोगी रहता है, परन्तु जब वह शहरों में लाया जाता है तब और अधिक उपयोगी हो जाता है। उसमें अधिक उपयोगिता जुड़ जाती है। इसलिये उसे जगल से शहर में लाने का कार्य उत्पादक

कार्य है। फिर मनुष्य उस सागौन से कुरसी, टेबिल इत्यादि बनाकर उनका उपयोग करते हैं। तब उनकी उपयोगिता सागौन से अधिक हो जाती है। इसलिये यह भी एक उत्पादन कार्य है।

तीन प्रकार की उपयोगिता उत्पन्न की जा सकती है—रूप की उपयोगिता, स्थान की उपयोगिता और समय की उपयोगिता। जब किसी वस्तु के रूप, रंग, वज़न, गन्ध अथवा रूप, स्थान समय अन्य गुणों में ऐसी बदली कर दी जाती है कि उसमें कुछ ऐसी तीन प्रकार की उपयोगिताए उपयोगिता आ जाती है जिससे उसकी मनुष्यकी आवश्यकताए पूरी करने की शक्ति बढ़ जाती है, तब उसे रूप सम्बन्धी उपयोगिता उत्पन्न करना कहते हैं। फिर जहा कोई वस्तु बहुतायत से पैदा होती है, वहा से उसे ऐसे स्थान में लाया जा सकता है, जहा वह बहुत कम पैदा होती है। फल यह होता है कि उसकी उपयोगिता बढ़ जाती है। इस प्रकार की उपयोगिता को स्थान सम्बन्धी उपयोगिता कहते हैं। व्यवसायी लोग स्थान सम्बन्धी उपयोगिता उत्पन्न करते हैं। अन्तिम वर्ष के एक मौसम में कोई वस्तु बहुतायत से हो सकती है और दूसरे मौसम में बहुत कम। अथवा एक वर्ष कोई वस्तु बहुत अधिक पैदा हो सकती है और दूसरे वर्ष बहुत कम। इसलिये यदि कोई वस्तु एक ऋतु से दूसरी ऋतु तक अथवा एक वर्ष से दूसरे वर्ष तक सुरक्षित रखी जा सकती है तो उसकी उपयोगिता बढ़ जाती है। यह सुरक्षित रखने का कार्य समय सम्बन्धी उपयोगिता उत्पन्न करता है।

उत्पादक और अनुत्पादक श्रम (Productive and Unproductive labour)—अरिस्टॉटल (Aristotle) के समय से यह विचार प्रचलित है कि कुछ प्रकार का श्रम तो विशेष महत्वपूर्ण होता है और कुछ केवल उन मज़दूरों का साधारण। अरिस्टॉटल के विचार में कुछ कार्य, जैसे कृषि, काम उत्पादक समझा 'स्वाभाविक' थे और कुछ जैसे व्यवसाय और विनिमय 'अस्वा-जाता था, जो भौतिक भाविक' थे। इस विचार को विभिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न वस्तुए बनाते थे प्रकार से प्रकट किया। व्यापार में सोना-चांदी प्रधानतावाद के सिद्धान्त के समर्थक (Mercantilists) अर्थशास्त्रियों के मत में सबसे अच्छा धन्धा वह विदेशी व्यापार था, जिसके कारण देश में सोना-चांदी इत्यादि बहुमूल्य धातुओं का काफी आयात होता था। परन्तु भूमि प्रधानतावादी (Physiocrats) अर्थशास्त्री व्यवसायी वर्ग को एक बांझ या अनुत्पादक वर्ग समझते थे, जिससे प्रत्यक्ष उत्पादन के रूप में कुछ भी नहीं प्राप्त होता था। उनके मत में कृषि सबसे उत्तम धंधा था, क्योंकि उससे प्रकृति से बहुत अधिक उत्पादन प्राप्त होता था। आडम स्मिथ (Adam Smith) ने उत्पादन सम्बन्धी विचारों को और विस्तृत किया। उसने न केवल कृषि वरन् सब प्रकार के व्यवसाय और उनसे सम्बन्धित सब पेशा उत्पादक ठहराया। उसके मत में केवल वह श्रम उत्पादक था, जो बिकनेवाले

पदार्थ या भौतिक पदार्थ बनाता था। केवल शारीरिक श्रम करनेवाले मजदूर ही नहीं, परन्तु काम करनेवाले मैनेजर, इंजीनियर, फोरमैन इत्यादि का काम भी उत्पादक समझा जाता था। तब भी आडम स्मिथ ने बहुत से लोगों के कामो को अनुत्पादक ठहराया, जिनमें न केवल सेवा-टहल करनेवाले नौकर-चाकर और गाने-बजानेवाले तथा नाटकों में काम करनेवाले कलाकार शामिल थे, वरन् कुछ गम्भीर और महत्त्वपूर्ण काम करनेवाले लोग भी उसमें शामिल थे, जैसे, धर्म-पुरोहित, वकील, डाक्टर, साहित्यकार और शायद अर्थशास्त्री भी।

भौतिक वस्तुओ के उत्पादन के आधार पर श्रम का उत्पादक और अनुत्पादक वर्गीकरण जॉन स्टुअर्ट मिल नामक अर्थशास्त्री ने भी अपनी रचनाओ में स्वीकार किया। लेकिन इन लेखकों ने यह नही समझा कि इस प्रकार के वर्गीकरण मे कई प्रकार के विरोधी प्रश्न खड़े हो जाते है। गायकों का उदाहरण ले लिया जाय। एक गायक का श्रम अनुत्पादक समझा जाता था, क्योंकि उसमे भौतिक वस्तुओं का उत्पादन नही होता था। लेकिन संगीत सम्बन्धी बाजे बनानेवाले का श्रम उत्पादक समझा जाता था। यदि बाजो का उपयोग करनेवाले गायकों का श्रम अनुत्पादक समझा जाता था, तो फिर बाजा ही क्यों बनाया गया ? और बाजा बनाने का श्रम क्यों उत्पादक समझा जावे ? यदि बाजा बनानेवाले का श्रम उत्पादक है, तो उस बाजे के उपयोग करनेवाले का श्रम भी उत्पादक है। जैसा कहा जा चुका है, मनुष्य स्वयं पदार्थ उत्पन्न नही करता। वह तो प्रकृति द्वारा दिये गये पदार्थों की केवल उपयोगिता बढ़ा देता है।

जिस श्रम से मनुष्य की आवश्यकताएं पूरी होती है वह उत्पादक है।

आधुनिक विचार यह है कि जिन मनुष्यों के श्रम से मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, उन सबको उत्पादक श्रमिक समझा जाना चाहिये। 'जब तक एक मनुष्य आवश्यकता समझकर कोई वस्तु खरीदता है, अथवा किसी सेवा के लिये दाम देता है और उनसे तृप्ति पाता है, तब तक उनमें लगा हुआ श्रम उत्पादक है'' इस दृष्टि से शिक्षक, वकील, सैनिक और न्यायाधीश इन सबका श्रम उत्पादक है। इस प्रकार के उत्पादक वर्ग के लोगो से केवल उनको अलग किया जायगा जो अपना श्रम पूरा नही कर सके। अथवा जिन्होने ऐसी वस्तुएं, बनाई जिनकी मांग नही थी।

जिस श्रम से सुख समृद्धि नहीं बढ़ती क्या वह भी उत्पादक है ?

अब प्रश्न यह है कि जिन मनुष्यो के श्रम से प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से भौतिक सुख की बढ़ती नही होती, क्या उनका श्रम भी उत्पादक समझा जाना चाहिये। एक मामूली दवा बनानेवाले नीमहकीम का उदाहरण ले लो। क्या उसका श्रम उत्पादक है ? उत्तर में हमे 'हां' कहना पड़ेगा। क्योंकि जबतक उसकी वस्तुओ के खरीदार लोग है, जो उन चीजो के दाम देने को तैयार है, तबतक हम यही समझेंगे कि उन्हें उन वस्तुओ से तृप्ति प्राप्त होती है। जिन वस्तुओ और

मैत्राओ से अधिक सुख नही बढ़ता, यदि हम उन्हें त्यागने लगें तो समझ में नही आयगा कि हम कहा रुकें।

उत्पादन के साधन (Factors of Production)—जितने उत्पादन काम होते हैं वे सब कई साधनो के सहयोग से होते हैं। प्राचीन अग्रेज अर्थशास्त्रियो (classical economists) ने उत्पादन के तीन साधन माने थे—भूमि, श्रम और पूजी। अर्थशास्त्र में भूमि का अर्थ केवल पृथ्वी का धरातल नही है। भूमि में व सब वस्तुए और शक्तिया शामिल हैं जिन्हें प्रकृति मनुष्य की सेवा के लिये जमीन, पानी, हवा, प्रकाश और तेज अथवा गरमी के रूप में देती है। उसमें कृषि के लिये जमीन, नदिया, खदानें, धूप इत्यादि शामिल हैं। श्रम में मनुष्य के वे सब शारीरिक और बौद्धिक काम शामिल हैं, जो केवल आनन्द के लिये किये जाते हैं। एक गणितशास्त्री से लेकर कुली तक प्रत्येक मनुष्य श्रमिक है। प्रकृति द्वारा दिये हुए साधनो में हम अपने श्रम का उपयोग करके कुछ भौतिक वस्तुए प्राप्त करते हैं, जिनका उपयोग उत्पादन के सम्बन्ध में किया जाता है। ये वस्तुए एक तो हमारे पिछले श्रम का फल हैं और दूसरे हम इन्हें इस समय उत्पादन कार्य में लगाते हैं। इन्हें पूजी कहते हैं। परन्तु व्यवसाय सगठन जैसे-जैसे बढता गया, वैसे-वैसे यह जाहिर होने लगा कि उत्पादन कार्य में एक चौथा स्वतन्त्र साधन भी सहायता करता है। इस चौथे साधन को सगठन कहते हैं।

किसी व्यवसाय को सगठित करके उसे चलाने के श्रम को सगठन कहते हैं। आजकल उत्पादन कार्य बहुत बडे पैमाने पर होता है, इसलिये सगठन का महत्त्व बहुत अधिक है। सगठन का मुख्य कार्य उत्पादन के विभिन्न साधनो को इस प्रकार उचित अनुपात में जुटाना है कि कम से कम लागत में अधिक से अधिक उत्पादन हो सके।

सातवां अध्याय

भूमि

(Land)

अर्थशास्त्र में भूमि का अर्थ किसी देश के सब प्राकृतिक साधन होते हैं। इसलिये भूमि में पूरा क्षेत्रफल, सब प्रकार की जमीनें, जलवायु, गरमी, हवा, धूप, जगल, खनिज-पदार्थ, नदिया, समुद्र तथा मछलियो के स्थान, जल-विद्युत्-शक्ति इत्यादि शामिल हैं। मनुष्य जीवन में भूमि का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। उससे मकानों, कारखानो, बगीचों के लिये स्थान मिलता है, जीवित रहने के लिये भोजन मिलता है और तरह-तरह के पदार्थ मिलते हैं, जिनकी सहायता से मनुष्य अपने विभिन्न कार्य करता है। भूमि के सम्बन्ध में अर्थशास्त्री की दृष्टि में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि अन्य साधनों की अपेक्षा

भूमि की पूर्ति बहुत बेलोच होती है। उत्पादन के अन्य साधनों की तरह भूमि की पूर्ति सरलतापूर्वक और जल्दी नहीं बढ़ाई जा सकती। जैसे-जैसे किसी देश की जनसंख्या बढ़ती है, वैसे-वैसे प्रति मनुष्य पीछे भूमि का भाग कम होता जाता है। जब प्रति मनुष्य पीछे भूमि का भाग कम होता जाता है, तो प्रति श्रमिक पीछे उत्पादन की मात्रा भी कम होती जाती है। अर्थशास्त्र में इस प्रवृत्ति को क्रमागत ह्रास नियम या घटती उपज का नियम कहते हैं।

क्रमागत ह्रास का नियम (The Law of Diminishing Returns)—क्रमागत ह्रास का नियम अर्थशास्त्र के बहुत महत्त्वपूर्ण नियमों में से है। यह किसानों के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर बना है। कहा जाता है कि सबसे पहिले स्काटलैंड के एक किसान ने इस नियम का प्रतिपादन किया था। एक अनुभवी किसान जानता है कि एक एकड़ जमीन पर वह लाभ पाने की लालसा से असीमित उपज पैदा नहीं कर सकता। किसी जमीन के टुकड़े को वह जैसे-जैसे अधिक श्रमपूर्वक जोतता है उसको वैसे अनुपात में अधिक उपज नहीं मिलती। यदि एक किसान अपनी जमीन दुगुने परिश्रम और लागत से जोतता है, तो सम्भव है कि पहिली बार उसको उपज दुगुनी अथवा दुगुनी से भी अधिक हो जावे। परन्तु यदि दूसरी बार वह फिर अपने श्रम और लागत को दुगुना कर देता है तो पहिले बार की अपेक्षा अब उसे दुगुनी उपज नहीं मिलेगी। उपज दुगुनी से कम रहेगी। यही क्रमागत ह्रास का नियम है, जिसे मार्शल ने इन शब्दों में कहा है। "कृषित भूमि में लगी हुई पूंजी और श्रम की मात्रा बढ़ाने से साधारणतः उपज की मात्रा अनुपात में कम बढ़ती है, यदि इसी बीच में कृषि-कला में कोई उन्नति न हो।"

इस नियम को इस प्रकार समझाया जा सकता है। नीचे दिये हुए खानों में यह बतलाया गया है कि तीन बीघा जमीन पहिले एक मजदूर जोतता है, फिर दो, फिर तीन और इसी प्रकार मजदूरों की संख्या बढ़ती जाती है। प्रत्येक मजदूर के पास एक हल तथा कृषि

भूमि	मजदूर	कुल उपज	अधिक उपज
३ बीघा	१ मजदूर	३५ मन	. . . . .
३ ,,	२ ,,	७५ मन	४० मन
३ ,,	३ ,,	११२ मन	३७ मन
३ ,,	४ ,,	१४२ मन	३० मन

के अन्य औजार हैं। जमीन में खाद और सिंचाई का समुचित प्रबन्ध है। तीसरे खाने में प्रत्येक बार की कुल उपज दिखाई गई है और अन्तिम खाने में अधिक मजदूरों के लगाने से जो अधिक उपज बढ़ती है, वह दिखाई गई है।

उपरोक्त टेबुल के खानो से यह साफ जाहिर है कि पहिले मजदूर के सिवा एक और मजदूर उपयुक्त औजारो के साथ जब भूमि में लगाया जाता है, तब उपज पहिले की अपेक्षा दुगुनी से भी अधिक हो जाती है। परन्तु जब उसी जमीन में तीसरा मजदूर लगाया जाता है, तब उपज उसी अनुपात में नही बढ़ती । यही से क्रमागत ह्रास शुरू होता है ।

चित्र नम्बर ६ की वक्र रेखा घटती उपज का नियम दरशाती है । अ, ब रेखा किसी जमीन में लगी हुई पूजी और श्रम दिखलाती है । अ, स रेखा अधिक उपज दिखलाती है । सभव है कि जमीन पहिले अच्छी तरह नही जोती जाती थी, इसलिये जब पूजी और श्रम की अधिक मात्राए उसमें लगाई जाती है तब उपज का अनुपात अधिक होता है । वक्र रेखा का क, ख भाग यह दिखलाता है । जब ख स्थिति पहुच जाती है, तब अधिक पूजी और श्रम की मात्राए लगाने से उपज बढ़ेगी, पर घटते हुए अनुपात में बढ़ेगी । इसलिये ख बिन्दु के बाद रेखा नीचे को झुकने लगती है ।
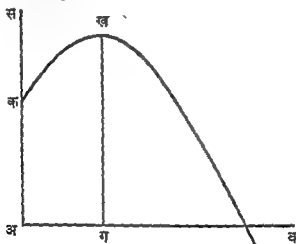
चित्र न० ६

यहा यह ध्यान रखना चाहिये कि नियम का सम्बन्ध औसत से नही है । उसका सम्बन्ध केवल उपज की कुल मात्रा से है । दूसरी बात यह भी ध्यान में रखनी चाहिये कि नियम यह नही कहता कि उत्पत्ति घटती है । उत्पत्ति तो बढती है, पर वह लगातार घटती हुई दर से बढती है । यह घटती हुई बढती का उदाहरण है । तीसरी बात ध्यान में रखने की यह है कि उत्पत्ति में जो कमी होती है, वह लगातार कृषि होती रहने के कारण, जमीन की उपजाऊ शक्ति कम होने के कारण नही होती है।

नियम का सम्बन्ध उत्पत्ति से है, औसत से नहीं

रहते हैं। नये साधन नहीं खोजे जाते, कृषि सम्बन्धी कोई नया वैज्ञानिक अनुसन्धान नहीं प्राप्त होता, और कृषि के तरीकों में कोई परिवर्तन नहीं होता। यदि किसी वैज्ञानिक खोज अथवा उत्पादन कला में कोई परिवर्तन होने के कारण जमीन की उपज बढ़ जाती है तो कुछ समय के लिये क्रमागत ह्रास नियम की क्रिया बिलकुल रुक सकती है। उदाहरण के लिये सन् १९१९-२० ई० के बाद कृषि में मशीनों तथा वैज्ञानिक तरीकों का उपयोग काफी बड़े पैमाने पर होना शुरू हुआ। उसका फल यह हुआ कि खाद्य-अन्नों की उपज बहुत अधिक बढ़ गई। इन परिस्थितियों में नियम की क्रिया कुछ समय तक रुक जाती है। लेकिन उसकी क्रिया बिलकुल बन्द नहीं होती। क्योंकि वह प्रवृत्ति तो मौजूद रहती ही है और जैसे ही मनुष्य अपने वैज्ञानिक अनुसन्धान बन्द करता है, वैसे ही वह प्रवृत्ति फिर क्रियाशील हो जाती है। जो लोग इस नियम की सत्यता में विश्वास नहीं करते, वे इस बात को भूल जाते हैं कि यदि यह नियम सत्य नहीं होता तो सारे संसार के पालन-पोषण के लिये आवश्यक अन्न केवल एक एकड़ भूमि जोतकर प्राप्त किया जा सकता था।

कृषि के सिवा उत्पादन के अन्य क्षेत्रों में इस नियम की क्रिया (The Law of Diminishing Returns as Applied to Spheres of Production Other Than Agriculture)—अभी तक हमने इस नियम की क्रिया का विचार कृषि के सम्बन्ध में किया है। परन्तु इस नियम की क्रिया की सत्यता उत्पादन के अन्य क्षेत्रों में भी उतनी ही सत्य है, जितनी कृषि में। खदानों, शहरों की भूमि, मछलीगाहों इत्यादि उद्योगों के सब क्षेत्रों में इस नियम की क्रियाशीलता दिखती है। यदि खोदने की कला में कोई उन्नति न हो तो खदानों में इस नियम की क्रियाशीलता दिखती है। यह सम्भावना तो रहती ही है कि जल्दी अथवा देर में किसी खदान के खनिज पदार्थ खतम हो जायेंगे। परन्तु इसके सिवा भी अधिक उत्पत्ति के लिये गहरी खुदाई करनी पड़ती है और जितनी अधिक गहरी खुदाई होती जाती है, उस खनिज पदार्थ का मूल्य भी उतना बढ़ता जाता है। क्योंकि गहरी खुदाई पर लागत अधिक लगती है। पदार्थ को ऊपर लाने में भी खर्च अधिक पड़ता है। जब खदानें गहरी होती जाती हैं, तब उनका ऊपर का छत अधिक मजबूत बनाना पड़ता है। उसमें भी खर्च अधिक लगता है, अधिक प्रकाश और हवा का प्रबन्ध करना पड़ता है। इस प्रकार खोदने का खर्च बढ़ता जाता है। साथ ही जैसे-जैसे खुदाई गहरी होती जाती है, वैसे-वैसे पदार्थ की उत्पत्ति भी कम होती जाती है।

खदानों के सम्बन्ध में

शहरों की जमीन में भी इस नियम की क्रिया देखने में आती है। आजकल लोहे की बल्लियों और सीमेन्ट की सहायता से पचास खंड के गगनचुम्बी भवन बनाये जा सकते हैं। लेकिन उनमें भी एक स्थिति ऐसी आ जाती है कि अधिक

बनाने से लाभ कम होने लगता है। जैसे-जैसे अधिक खण्ड जुड़ते जाते हैं, वैसे-वैसे नीचे के खंडों में हवा और प्रकाश की कमी होती जाती है, ऊपर सामान चढ़ाने का खर्च बढ़ता जाता है और उनकी देख-रेख का खर्च भी बढ़ता जाता है। इस प्रकार क्रमागत ह्रास की प्रवृत्ति अपना काम करने लगती है।

शहरों की भूमि में

मछलीगाहों में, विशेषकर नदियों में इस नियम की क्रिया हम देख सकते हैं। जमीन की उपजाऊ शक्ति की तरह, नदियों में मछली की उत्पत्ति भी सीमित होती है। इसलिये एक समय ऐसा आ जाता है, जब अधिक पूंजी और श्रम लगाने से भी मछली की जो मात्रा पकड़ने में आती है, वह बराबर घटती हुई दर से आती है। परन्तु समुद्र के मछलीगाहों में चूंकि मछली की पूर्ति बहुत अधिक रहती है, इसलिये यह प्रवृत्ति प्रायः देखने में नहीं आती।

मछलीगाहों में

अब यह अधिकाधिक स्वीकार किया जा रहा है कि क्रमागत ह्रास नियम केवल भूमि पर लागू नहीं होता। नियम की परिभाषा करते समय हम यह मान लेते हैं कि भूमि की मात्रा तो निश्चित रहती है और अन्य वस्तुओं की मात्राएं बढ़ते हुए परिमाण में भूमि में लगाई जाती हैं। इस स्थिति में कुल उत्पत्ति घटती हुई दर से बढ़ती है। परन्तु यह बात उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में सत्य है। जब उत्पादन के एक साधन की मात्रा बंधी हुई रहती है और उसके सहयोगी अन्य साधनों की मात्राओं का उपयोग अधिकाधिक मात्राओं में किया जाता है तब कुल उत्पत्ति घटती हुई दर से बढ़ती है। आधुनिक लेखक परिवर्तनशील अनुपात नियम (law of variable proportions) की बहुधा चर्चा किया करते हैं। यह संभव हो सकता है कि किसी कारण से उत्पादन के एक साधन की मात्रा न बढ़ाई जा सके। अथवा बढ़ाई जानेवाली मात्रा घटिया किस्म की हो सकती है। यदि उत्पत्ति बढ़ाना आवश्यक है तो उस साधन की सीमित मात्रा के साथ उत्पादन के अन्य साधन मिलाये जायंगे। अथवा घटिया गुणोंवाले उसी मात्रा के अधिक परिमाण के साथ अन्य साधन मिलाये जायँगे। फल यह होगा कि जो अधिक उत्पत्ति होगी उसका उत्पादन-खर्च भी बढ़ा हुआ होगा। यह मानना आवश्यक नहीं है कि उत्पादन के साधन उचित अनुपातों में नहीं मिलाये गये। उद्योगपति के पूर्ण कार्यकुशल होते हुए भी यह हो सकता है कि उत्पादन के किसी साधन की मात्रा बढ़ानी संभव न हो। भूमि के सम्बन्ध में यही विशेषता है। अच्छी भूमि की मात्रा तो सीमित है। यदि फसलों की उत्पत्ति बढ़ानी आवश्यक हो जाती है तो या तो घटिया प्रकार की भूमि जोतनी पड़ेगी, या फिर अच्छी भूमि की पहिले की अपेक्षा गहरी कृषि करनी पड़ेगी। इसलिये कुल उत्पत्ति उसी अनुपात में नहीं बढ़ेगी। यही हाल पूंजी तथा अन्य साधनों का है। यदि एक कुशल उद्योगपति पूंजी की मात्रा सीमित रखे तथा अन्य साधन अधिक मात्रा में लगाये तो भी

जो अधिक उत्पत्ति होगी उसका लागत सर्च प्रति मात्रा पीछे अधिक होगा। जब उत्पत्ति बढ़ाई जायगी तो उत्पादन का सीमान्त लागत खर्च अधिक होगा। जब उत्पादन के एक साधन अथवा एक से अधिक साधन सीमित मात्रा में होते हैं तथा उनके साथ अन्य साधन अधिकाधिक मात्रा में मिलाये जाते हैं, तब यह प्रवृत्ति देखने में आती है। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि क्रमागत ह्रास का नियम उत्पादन के सब क्षेत्रों में लागू होता है।

आठवां अध्याय

श्रम की पूर्ति और जनसंख्या के सिद्धान्त

(Supply of Labour and Theories of Population)

श्रम की पूर्ति (Supply of Labour)—उत्पादन के जितने साधन हैं, उनमें मनुष्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। किसी देश के उत्पादन की मात्रा उसके कुल उपलब्ध मजदूरवर्ग पर निर्भर होती है। इसलिये जनसख्या की समस्या काफी महत्वपूर्ण है। मनुष्य उत्पादन का केवल साधन नहीं है, वह उसका ध्येय भी है। अर्थात् उत्पादन मनुष्य के उपभोग के लिये होता है। इसलिये जनसख्या की समस्या का महत्त्व अर्थशास्त्री के लिये दुगुने महत्त्व का है। वह मनुष्य को सम्पत्ति के उत्पादक और उपभोक्ता दोनों दृष्टियों से देखता है। इस अध्याय मे हम यह देखेंगे कि किसी देश की जनसख्या का निर्माण किन नियमों के अनुसार होता है और उसकी शक्ति किन बातो पर निर्भर होती है। श्रम की पूर्ति के सम्बन्ध मे मजदूरवर्ग की केवल सख्या का महत्त्व नहीं है, उसकी कार्यशक्ति का भी महत्त्व अधिक है। किसी देश की जनसख्या मनुष्यों के जन्म-दर, मृत्यु-दर और स्थान परिवर्तन अर्थात् आवास और प्रवास पर निर्भर होती है।

माल्थस का जनसख्या का सिद्धान्त (The Malthusian Theory of Population)—अर्थशास्त्र में माल्थस का जनसख्या सम्बन्धी सिद्धान्त बहुत प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन टॉमस माल्थस (Thomas Malthus) ने १७९८ ईस्वी सन् में अपनी एक पुस्तक में किया था। इस पुस्तक का नाम था—'समाज की उन्नति पर जनसख्या के प्रभाव सम्बन्धी निबन्ध' (Essay on the principle of population as it affects future improvement of society) यह पुस्तक माल्थस ने अपना नाम दिये बिना छपवाई थी।

माल्थस का मूल सिद्धान्त यह है कि सन्तानोत्पत्ति की शक्ति अपार है। मनुष्य की इन्द्रिय लोलुपता के कारण उसकी जनसख्या की दर बहुत तेजी के साथ बढ़ती है और प्राय

ऐसा देखा गया है कि किसी स्थान की जनसंख्या २५ वर्ष में दुगुनी हो जाती है। यद्यपि प्रत्यक्ष में सदा ऐसा नहीं होता, परन्तु उसके कारण हैं। सबसे बड़ा कारण तो भोजन की कमी है, पर अन्य कारण बीमारी युद्ध इत्यादि हैं। माल्थस का मत है कि जितनी जल्दी जनसंख्या बढ़ती है, उतनी जल्दी अन्न की मात्रा नहीं बढ़ती। माल्थस के शब्दों में भोजन-पूर्ति अंकगणितीय प्रगति से बढ़ती है और मनुष्य संख्या रेखागणितीय प्रगति से। अमेरिका की परिस्थितियों का अध्ययन करके माल्थस ने यह सिद्धान्त निकाला कि २५ वर्ष में जनसंख्या दुगुनी हो जाती है। परन्तु भोजन-पूर्ति दुगुनी नहीं होती। इसलिये किसी भी देश की जनसंख्या उसकी भोजन-पूर्ति से अधिक होगी। भूतकाल में ऐसा हुआ है, इसलिये भविष्य में भी ऐसा होने की संभावना है।

इसलिये यदि जनसंख्या की बढ़ती अन्य उपायों द्वारा नहीं रोकी गई तो भोजन की कमी के कारण रुक जायगी। जनसंख्या की बढ़ती दो प्रकार से रोकी जा सकती है। या तो जन्म दर कम हो जाय या मृत्यु-दर बढ़ जाय। जन्म-दर दूरदर्शिता, वशेन्द्रियता और देर में विवाह द्वारा कम की जा सकती है। इन्हें कृत्रिम निरोध या बनावटी रुकावट (preventive checks) कहते हैं। बीमारी, अकाल, युद्ध इत्यादि के कारण मृत्युसंख्या की दर बढ़ सकती है। इन्हें निश्चित निरोध (positive checks) कहते हैं। यदि जन्म-निरोध इत्यादि कृत्रिम निरोध द्वारा जन्म-संख्या की बढ़ती नहीं रोकी जाती, तो अन्त में निश्चित निरोध द्वारा वह रोक दी जावेगी। अर्थात् निश्चित निरोध अपने आप क्रियाशील हो जाता है। परन्तु उसका परिणाम दुःखद होता है, क्योंकि निश्चित निरोध अधिक मृत्यु-संख्या द्वारा होता है। वास्तव में कृत्रिम निरोध सदा क्रियाशील रहता है। 'मनुष्य जैसे-जैसे पशुओं की सतह से ऊंचा उठता है, वैसे-वैसे उसकी जनसंख्या भी आवश्यकताओं के बढ़ने के डर से रुकती जाती है।' बहुत असभ्य समाजों को छोड़कर बाकी सभ्य समाजों की जन्म-संख्या (निश्चित निरोध द्वारा) अधिक मृत्यु-दर से नहीं, वरन् दूरदर्शिता द्वारा सीमित रखी जाती है। माल्थस अपने देशवासियों को कृत्रिम उपायों द्वारा जनसंख्या को सीमित रखने के लिये उत्साहित किया करता था।

यदि कृत्रिम निरोध से काम नहीं लिया गया तो निश्चित निरोध क्रियाशील होगा।

यही माल्थस का सिद्धान्त है। यह ध्यान रखना चाहिये कि इस सिद्धान्त का क्रमागत ह्रास उत्पत्ति नियम से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जनसंख्या बढ़ने से कृषि अधिक गहरे तरीकों से होती है। फल यह होता है कि उत्पत्ति घटती दर से होती है। यहीं से परिस्थिति की गंभीरता आरम्भ होती है। जनसंख्या दुगुनी होने पर जमीन में अधिक श्रम लगाया जायगा। परन्तु अन्न की उत्पत्ति उसी अनुपात में नहीं बढ़ेगी। इसलिये हमारे सामने अन्न की कम उत्पत्ति और भूखों मरने की समस्या खड़ी हो जाती है।

मालथस के सिद्धान्त की आलोचना (Criticisms Advanced Against the Malthusian Theory of Population)—उन्नीसवीं शताब्दी में जो आर्थिक प्रगति हुई उसने मालथस की जनसंख्या सम्बन्धी

इतिहास ने उसकी भविष्य-वाणी गलत साबित की

अशुभ भविष्यवाणी को झूठा साबित कर दिया। जब मालथस अपने विचारों को लिख रहा था, उस समय औद्योगिक क्रान्ति आरम्भ हो गई थी। इस औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप संसार की उत्पादन शक्ति में महान् उन्नति हुई। यद्यपि सब देशों की जनसंख्या जल्दी बढ़ी, परन्तु उनके रहन-सहन की सतह भी काफी ऊंची उठी। जीवन के साधनों के सम्बन्ध में मालथस के जो विचार थे, उनसे कहीं अधिक उन्नति कृषि और औद्योगिक उत्पादन में हुई। बीसवीं सदी में वैज्ञानिक तरीकों और मशीनों की सहायता से कृषि उत्पादन में बहुत उन्नति हुई। साथ ही जन्म-निरोध के उपायों के प्रचार से उसके भविष्य में जनसंख्या की बढ़ती के सम्बन्ध में जो विचार थे, उनमें भी काफी अन्तर पड़ा। वास्तव में यह कहा जा सकता है कि कुछ पश्चिमी देशों में तो घटती हुई जनसंख्या एक चिन्ताजनक समस्या बन गई है।

मालथस के सिद्धान्त की आलोचना में यह कहा जाता है कि न केवल उसकी भविष्य-वाणी गलत साबित हुई, वरन् उसका सिद्धान्त भी अमान्य है। यह सही नहीं है। पहिला कारण तो यह है कि उसका यह गणितीय सिद्धान्त स्वीकार

गणितीय सिद्धांत सही नहीं है

नहीं हो सकता कि अन्न की मात्रा अकगणितीय तरीके से बढ़ती है और जनसंख्या रेखागणितीय तरीके से। वास्तव में खाद्यान्न की मात्रा अकगणितीय क्रम की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ी। परन्तु हम यह कह सकते हैं कि अकगणितीय नियम का उपयोग उसने केवल सरलतापूर्वक अपने विचार प्रकट करने के लिये किया था। संसार की खाद्यान्न की उत्पत्ति में जो उन्नति हुई है, उसके सही आंकड़े देकर हम चाहे यह सिद्ध कर दें कि अकगणितीय नियम उसमें लागू नहीं होते हैं। परन्तु फिर भी मालथस के सिद्धान्त का सार गलत सिद्ध नहीं होता।

दूसरी आलोचना यह है कि जनसंख्या में बढ़ती केवल खाद्यान्न की बढ़ती के सम्बन्ध में नहीं देखना चाहिये। जनसंख्या में बढ़ती की तुलना देश की कुल सम्पत्ति से करनी चाहिये। हो सकता है कि देश की अन्न की उत्पत्ति उसकी जनसंख्या के हिसाब से बहुत कम हो। परन्तु वह अपनी अन्य अधिक सम्पत्ति को दूसरे देशों के अन्न के साथ विनिमय करके अपनी अन्न की कमी को पूरा कर सकता है। इंगलैण्ड में जितना अन्न पैदा होता है, उससे उसकी जनसंख्या का बहुत थोड़ा भाग पल सकता है। परन्तु वह औद्योगिक दृष्टि से उन्नत है और अपना कोयला तथा अन्य औद्योगिक वस्तुओं का विनिमय कृषि प्रधान देशों से करके अपनी अन्न की कमी को पूरा कर लेता है।

तीसरी आलोचना यह है, जैसा कि केनन (Cannan) ने कहा है कि माल्थ

ने यह विचार नहीं किया कि जनसंख्या की प्रत्येक बढती के साथ उसकी श्रमिक शक्ति भी बढ जाती है। जो मनुष्य जन्म लेता है, वह खाने के लिये मुह और पेट के साथ-साथ काम करने के लिये दो हाथ भी लाता है। जनसंख्या में वृद्धि होने से देश की श्रमिक शक्ति में भी वृद्धि होती है। इस अधिक श्रमिक शक्ति से कृषि और उद्योग की उत्पत्ति बढाई जा सकती है। अधिक जनसंख्या होने से श्रम का विभाजन अधिक अच्छा होगा और कृषि में मशीनो का उपयोग करने का अधिक मौका मिलेगा। कृषि की उत्पत्ति बहुत अधिक बढ जायगी। इसके सिवा 'यदि प्रति मनुष्य पीछे कृषि की उत्पत्ति कम भी हो जाती है, तो भी अन्य प्रकार की उत्पत्ति बढाई जा सकती है।'

जनसंख्या-वृद्धि से कृषि और उद्योग की उत्पत्ति में वृद्धि हो सकती है

सेलिगमेन (Seligman) ने लिखा है कि इन कारणो से जनसंख्या की समस्या केवल आकार या गिनती की समस्या नहीं है, वह कुशल उत्पादन और न्यायोचित वितरण की भी समस्या है। जनसंख्या बढने से कोई देश श्रम विभाजन अधिक अच्छी तरह से कर सकता है, जो छोटी जनसंख्या होने से सभव नही है। श्रम विभाजन अच्छा होने से उत्पादन शक्ति भी बढ जायगी, जिससे उस देश के लोगो की रहन-सहन का दर्जा अधिक अच्छा हो सकता है। इसके सिवा यदि आय और सम्पत्ति का वितरण न्यायानुकूल हो तो इस समय की अपेक्षा अधिक जनसंख्या का निर्वाह हो सकता है।

इसलिये माल्थस को झूठा भविष्यवक्ता ठहराया गया है। जन्म-निरोध के तरीको के प्रचार में जन्म-दर कम कर दी है। स्त्रीशिक्षा के प्रचार ने भी जन्म-दर को कम कर दिया है। शिक्षा के प्रभाव से एक तो लडकियो का विवाह देर में होता है और दूसरे वे अधिक कुटुम्ब बढाना पसन्द नही करती। रहन-सहन के दर्जे में उन्नति होने से भी जन्म-दर कम हो जाती है। जब आरामपरस्ती का दर्जा ऊचा हो जाता है, तब जिंदगी में लोग काफी उम्र तक उपयुक्त आमदनी नही कर पाते। इसलिये लाचार होकर वे देर से शादी करते है। बडा कुटुम्ब भी वे पसन्द नही करते, क्योकि उससे उनकी रहन-सहन का दर्जा कम हो जायगा। नवयुवको के सामने जब यह प्रश्न उठता है कि मोटरकार होनी चाहिये कि बच्चा, तो प्राय कार की इच्छा ही की जीत होती है।

जनसंख्या सम्बन्धी आदर्श अधिकतम सिद्धान्त (The Optimum Theory of Population)—आधुनिक अर्थशास्त्रियो का ध्यान अधिकतर जनसंख्या के आकार और देश की उत्पादन शक्ति के सम्बन्ध पर केन्द्रित होता है। वे अब अधिकतम जनसंख्या का विचार देश की भोजन सामग्री के सम्बन्ध में नहीं करते। बल्कि अब यह उत्तरोत्तर स्वीकार किया जाता है कि एक निश्चित समय में देश में एक आदर्श अधिकतम जनसंख्या होती है। आदर्श अधिकतम जनसंख्या वह है, जिसमें प्रति मनुष्य पीछे वस्तुओ और सेवाओ के रूप में वास्तविक अधिकतम आय

आदर्श अधिकतम का अर्थ

हो सके। आदर्श अधिकतम संख्या में थोड़ी भी कमी या वढी होने से समाज की वास्तविक आय घट जायगी।

आदर्श अधिकतम सिद्धान्त का वास्तविक अर्थ

यदि यह मान लिया जाय कि किसी देश में प्राकृतिक साधनों का एक निश्चित समूह है, उसके पास एक निश्चित उत्पादन कला है और पूजी की मात्रा भी निश्चित है, तो फिर एक निश्चित मनुष्य-संख्या उससे प्रति मनुष्य पीछे अधिकतम आय उत्पन्न कर देगी। यदि मनुष्य-संख्या बहुत थोडी है, तो विभिन्न प्रकार के श्रमिकों में विशेषज्ञता प्राप्त करने का अवसर बहुत कम रहेगा। अधिकतम श्रम-विभाजन के लिये जनसंख्या काफी बडी होनी चाहिये। जितनी अधिक जनसंख्या होगी, वस्तुए वेचने के लिये बाजार भी उतना ही बडा होगा। अर्थात् बिक्री का अवसर अधिक रहेगा तथा श्रम-विभाजन के लिये भी अधिक मौका रहेगा। इससे उत्पादन भी अधिक बडे पैमाने पर हो सकेगा। इसलिये उत्पादन की प्रति मात्रा पीछे लागत भी घट जायगी।

जब प्रति मनुष्य पीछे आय अधिकतम हो जाती है, तभी जनसंख्या भी आदर्श अधिकतम समझनी चाहिये। जिस प्रकार किसी फर्म या उद्योग सगठन में भूमि, श्रम, पूजी और प्रबंध का आदर्श सम्मिश्रण होने से अधिकतम उत्पत्ति और प्रति श्रमिक पीछे अधिकतम सीमान्त उत्पत्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार किसी देश में भी भूमि और उद्योग की एक निश्चित स्थिति के लिये श्रम (अर्थात् जनसंख्या) की एक निश्चित संख्या अधिकतम राष्ट्रीय सम्पत्ति उत्पन्न कर सकती है अर्थात् जनसंख्या की प्रति मनुष्य पीछे अधिक आय हो सकती है। हमने अभी जो आदर्श फर्म मान ली है, उसमें लगे हुए श्रमिकों की संख्या में घटी या बढी करने से अधिकतम सीमान्त उत्पत्ति कम हो जायगी। इसी प्रकार किसी देश में भी अन्य वस्तुओं के यथास्थिति रहते एक मनुष्य-संख्या होती है, जिसमें कुछ भी कमी या वेशी होने से प्रति मनुष्य पीछे आय घट जायगी। इस प्रकार यदि केवल लखपतियों का एक समाज हो और उसमें कुछ लखपतियों के कम होने से अन्य लखपतियों की आय प्रति मनुष्य बढ जावे तो हम कह सकते हैं कि उस समाज की मनुष्य-संख्या अधिक है।

आदर्श अधिकतम स्थिति निश्चित नहीं है। वह सचल है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि आदर्श अधिकतम स्थिति एक निश्चित स्थिति नहीं है, क्योंकि अन्य वस्तुए बराबर या यथास्थिति नहीं है। हम एक प्रगतिशील समाज में रहते हैं। किसी को यह मानने में गलती की कि किसी क्षेत्र के लिये आदर्श अधिकतम संख्या हमेशा वही रहेगी। कृषि, कला तथा उद्योग में वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ आदर्श अधिकतम भी एक स्थिति से दूसरी स्थिति पर बदलता रहता है। अर्थात् वैज्ञानिक उन्नति और आविष्कारों के साथ-साथ मनुष्यों की वह आदर्श संख्या जो व्यक्ति पीछे सबसे अधिक आय करती है, बदलती रहती है। इस प्रकार आदर्श अधिकतम एक बिन्दु है, पर वह सचल बिन्दु है।

डाल्टन (Dalton) ने अधिक जनसंख्या और कम जनसंख्या का अर्थ आदर्श अधिकतम नियम के आधार पर लगाया है। प्रत्यक्ष जीवन में प्रत्येक जगह वास्तविक संख्या का आदर्श अधिकतम संख्या के साथ गलत सम्बन्ध या गलत अनुपात होता है। यह गलत अनुपात दो बदलती हुई वस्तुओं के कारण होता है। मान लो म गलत अनुपात बतलाता है, अ आदर्श अधिकतम, व वास्तविक संख्या, तो—

अधिक मनुष्य संख्या मापने का डाल्टन का हल या गुर

$$म = \frac{व - अ}{अ}$$

जब म किसी धनात्मक संख्या के बराबर है, तब वह अधिक जनसंख्या (over-population) का द्योतक है। और जब म ऋणात्मक है, तब वह कम जनसंख्या (under-population) का द्योतक है। चूंकि वर्तमान परिस्थिति में अ में होनेवाले परिवर्तन हम नहीं माप सकते, इसलिये हम गुर या हल की उपयोगिता में हमें सन्देह है। परन्तु जिस विधि द्वारा यह हल बनाया गया है, वह हमारे लिये उपयोगी है। किसी एक क्षेत्र के लिये अ कैसे निश्चित होता है? प्रति व्यक्ति पीछे प्राप्त प्राकृतिक साधनों और आर्थिक सहयोग के लिये प्राप्त सुविधाओं (जिनमें अन्य क्षेत्रों के लोगों का सहयोग भी शामिल है) में अनुमानित बदलती हुई संख्याओं के कारण जो परस्पर प्रभाव पड़ता है, उसके फलस्वरूप अ निश्चित होता है। अनुमानतः जैसे-जैसे व शून्य से बढ़कर अ होता है, वैसे-वैसे पहिली संख्या घटती है, परन्तु दूसरी बढ़ती है और उससे अधिक हो जाती है। जब आर्थिक उन्नति तेज गति से होती है, तब दूसरी संख्या बड़ी तेजी से बढ़ती है और उसी के साथ-साथ अ बढ़ता है। युद्धकाल में अथवा युद्ध के बाद जब राजनैतिक परिस्थितियां और सीमाएं एकाएक बदलती हैं, पहिले के व्यावसायिक सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, नये आयात-निर्यात कर लगाये जाते हैं तथा व्यवसाय में तरह-तरह के अड़ंगे लगाये जाते हैं, तब दूसरी संख्या एकाएक कम हो जाती है और उसी के साथ-साथ अ भी कम होता है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि आदर्श अधिकतम हमेशा बढ़ता है।

आदर्श अधिकतम सिद्धान्त का मूल्य इस दृष्टि से है कि उसकी सहायता से हम जनसंख्या में होनेवाली बढ़ती के महत्व और परिणामों को भलीभांति समझ सकते हैं। माल्थस के अनुयायियों के मतानुसार तो जनसंख्या में वृद्धि कभी अच्छी नहीं होती है। इसलिये वह वाञ्छनीय नहीं है। परन्तु आदर्श अधिकतम सिद्धान्त की सहायता से हम इस समस्या पर एक दूसरे दृष्टिकोण से और अधिक अच्छी तरह विचार कर सकते हैं। यदि वास्तविक जनसंख्या आदर्श अधिकतम से कम है, तो जनसंख्या में वृद्धि होने से प्रति व्यक्ति पीछे आय बढ़ेगी, इसलिये वह वाञ्छनीय है। उससे हमें आर्थिक सहयोग की अधिक सुविधाएं प्राप्त होती हैं, हम विशेषज्ञता प्राप्त कर सकते हैं और मशीनों

क्या बढ़ती हुई जनसंख्या किसी देश के लिये सदा लाभप्रद है ?

की सहायता से अधिक बड़े पैमाने पर उत्पादन कर सकते हैं । परन्तु जब आदर्श अधिकतम की स्थिति पहुँच जाती है, तब यह ज्ञात हो जाता है कि अब वृद्धि के माने अधिक जनसख्या होगी और उसका फल यह होगा कि प्रति व्यक्ति पीछे आय कम जायगी । इसलिये जनसख्या में वृद्धि न हमेशा अच्छी होती है और न हमेशा बुरी । उसका विचार आदर्श अधिकतम सिद्धान्त के सम्बन्ध में करना चाहिये ।[1]

ध्यान रहना चाहिये कि मनुष्य-सख्या की बढ़ती केवल जन्म-दर और मृत्यु-दर के अध्ययन से नही जानी जा सकती । यदि मृत्यु-दर से जन्म-दर अधिक है, तो उससे यह नही कह सकते कि जनसख्या बढ रही है ।

वास्तविक पुनरुत्पादन दर जनसख्या बढ रही है या नही यह जानने की सबसे अच्छी रीति 'वास्तविक पुनरुत्पादन दर' जानना है । यह रीति इस प्रकार जानी जाती है । उदाहरण के लिये १०० लडकिया ले लें और यह जानने का प्रयत्न करें कि बच्चा उत्पन्न करने की अवस्था में (अर्थात् १५ वर्ष से लेकर ४० वर्ष तक) वे कितने बच्चे उत्पन्न करेंगी । यदि यह मालूम हो कि जन्म-दर और मृत्यु-दर की वर्तमान दर के अनुसार वे १०० बच्चियां उत्पन्न करेंगी तो हम यह मान सकते है कि वर्तमान जनसख्या का पुनरुत्पादन होगा । इसलिये वास्तविक पुनरुत्पादन दर एक होगी । परन्तु यदि वे केवल ८० बच्चियां उत्पन्न करती हैं, जो आगे चलकर सन्तान उत्पन्न करेंगी तो वास्तविक पुनरुत्पादन दर ८ होगी । अर्थात् जनसख्या धीरे-धीरे कम हो जायगी, यद्यपि जनसख्या मृत्युसख्या से अधिक है ।

श्रम की कार्य कुशलता (Efficiency of Labour)—श्रम की वास्तविक पूर्ति तथा कुल उत्पादन केवल श्रमिकों की सख्या पर निर्भर नही होते, श्रम की कार्य-कुशलता पर भी वह निर्भर होते है । श्रमिक जितने अधिक कार्यकुशल होगे, किसी उद्योग अथवा देश का कुल उत्पादन भी उतना ही अधिक होगा । श्रमिको की उत्पादन शक्ति कई बातो पर निर्भर होती है, जैसे श्रम का विभाजन, बड़े पैमाने पर उत्पादन की शक्ति, उत्पादन में पूजीवादी प्रथा का वृहद् प्रयोग, श्रम का प्रकार इत्यादि । यहा हम श्रम के प्रकार पर विचार करेंगे । प्रश्न यह है कि श्रम की कार्य-कुशलता किन बातों पर निर्भर होती है ?

---

१ इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में सबसे बडी कठिनाई यह है कि यह कहना प्राय असम्भव है कि किसी देश के लिये आदर्श अधिकतम जनसख्या क्या है । किसी देश में प्रति व्यक्ति पीछे जो वास्तविक आय होती है, उसमें होनेवाले परिवर्तन मापना भी कोई सरल काम नही है । इसके सिवा किसी भी देश की उत्पादन कला और पूजी सम्बन्धी प्राप्त साधन सदा बदलते रहने हैं । इसलिये आदर्श अधिकतम जनसख्या सिद्धान्त का 'प्रत्यक्ष व्यावहारिक महत्त्व बहुत कम है ।'

किसी श्रमिक की कार्य-कुशलता के दो पहलू होते हैं—एक शारीरिक और दूसरा बौद्धिक। जहांतक शारीरिक कुशलता का प्रश्न है, वह श्रमिक के स्वास्थ्य और ताकत पर निर्भर होती है। बौद्धिक कुशलता, उसकी बुद्धि, कारीगरी और काम करने की इच्छा पर निर्भर होती है। कुछ हद तक श्रमिक की ताकत और स्वास्थ्य उसकी जाति पर निर्भर होते हैं। एक जाति के मजदूर दूसरी जाति के मजदूरों की अपेक्षा अधिक तगड़े और मेहनती हो सकते हैं। जलवायु का भी मजदूरों की कार्य-कुशलता पर काफी प्रभाव पड़ता है। समशीतोष्ण जलवायु में लोग अधिक बौद्धिक और मानसिक परिश्रम कर सकते हैं। गरम जलवायु में कुछ घंटों के काम करने के बाद शरीर थक जाता है। फिर श्रमिक का स्वास्थ्य कुछ हद तक काफी मात्रा में स्वास्थ्यप्रद भोजन मिलने पर भी निर्भर होता है। जिस प्रकार भाफ के इंजिनों की ताकत कोयले की मात्रा पर निर्भर होती है उसी प्रकार एक श्रमिक की ताकत भी उसके भोजन की किस्म और मात्रा पर निर्भर होती है। भारतवर्ष के अधिकांश श्रमिकों को स्वास्थ्यप्रद भोजन उपयुक्त मात्रा में नहीं मिलता। वे अधपेट खाते हैं और भूखों मरते हैं। इसलिये यदि श्रमिकों को स्वास्थ्यप्रद भोजन उचित मात्रा में मिलने लगे तो उनकी उत्पादन शक्ति और कार्य-कुशलता काफी बढ़ जायगी। जिस प्रकार श्रमिकों के लिये अच्छे भोजन का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार अच्छे मकान, काफी कपड़े तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओं का प्रश्न भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। साफ और हवादार मकान जिनमें कुटुम्बसहित रहने की सुविधाएं हों, सर्दी और गरमी के लिये काफी कपड़े, मेहनत के बाद आराम का प्रबन्ध, ये सब श्रमिक के स्वास्थ्य और ताकत को सुरक्षित रखने के लिये आवश्यक हैं।

श्रमिक का स्वास्थ्य और ताकत

अच्छा भोजन मिलना

अच्छे मकान इत्यादि

इसके सिवा, मिलों और कारखानों में काम करने का जो वातावरण रहता है, उसका प्रभाव भी श्रमिकों के स्वास्थ्य और नैतिक विचारों पर बहुत पड़ता है। यदि कारखानों में सफाई हो, हवा तथा प्रकाश का अच्छा प्रबन्ध हो तो श्रमिकों की उत्पादन कुशलता बढ़ जाती है। यहांतक देखा गया है कि यदि कारखानों में शोरगुल कम होता हो और दीवालों का रंग शान्तिप्रद हो तो उनका प्रभाव भी श्रमिकों की कार्य-कुशलता पर अच्छा पड़ता है।

कारखानों में हवा, प्रकाश, तथा सफाई का प्रभाव

श्रमिकों की कार्य-कुशलता इस बात पर भी बहुत हद तक निर्भर होती है कि उन्हें कितने घंटे काम करना पड़ता है। यदि किसी श्रमिक को अधिक घंटों तक काम करना पड़ता है, तो कुछ घंटों के बाद थकावट लगने लगती है और उसका ध्यान बटने लगता है तथा

कुछ समय बाद थकावट के मारे काम करना असम्भव हो जाता है। इस त्रुटि को दूर करने के लिये काम के घंटे कम होने चाहियें और काम के बीच में श्रमिकों को विश्राम का समय मिलना चाहिये, जिससे उनकी थकावट दूर हो सके।

श्रम की बुद्धि और चतुराई

श्रम की कार्य-कुशलता बुद्धि और कारीगरी पर भी निर्भर होती है। आजकल उत्पादन बारीक और पेचीदा मशीनों द्वारा होता है। इन मशीनों पर काम करने के लिये श्रमिक को बुद्धिमान और होशियार होना चाहिये। एक बुद्धिमान और शिक्षित कारीगर अशिक्षित मनुष्य की अपेक्षा अधिक उत्पादन करेगा। इसलिये साधारण और विशेष शिक्षा के प्रचार से श्रमिकों में बुद्धि और कारीगरी का विकास होगा।

कुछ काम ऐसे होते हैं, जिनमें शिक्षा के प्रभाव से कुशलता नहीं बढ़ सकती। बहुत से कारखाना तथा ग्रामोद्योग में कुछ ऐसे काम होते हैं, जिनमें किताबी शिक्षा, कुशलता नहीं बढ़ा सकती। यह सब कहने के बावजूद भी यह सत्य है कि देश में जितना अधिक शिक्षा का प्रचार होगा, लोगों की कार्य-कुशलता भी उतनी अधिक बढ़ेगी। तरह-तरह के सुधारों और उन्नति का प्रचार बौद्धिक आदान-प्रदान के द्वारा अधिक जल्दी होता है।

विशेष वैज्ञानिक शिक्षा का कार्य-कुशलता पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। इंजीनियरों और कारीगरों को जो शिक्षा मिलती है, उससे उन्हें विगत युगों का अनुभव प्राप्त होता है। उससे कला की उन्नति होती है तथा विभिन्न विभागों में तरह-तरह के सुधार होते हैं। बड़े-बड़े आविष्कार कारखानों में होते हैं। विभिन्न प्रकार की कारीगरी और पेशों की विशिष्ट शिक्षा से श्रम की कार्यशीलता बढ़ती है।

भविष्य की आशा, स्वतन्त्रता और नवीनता

काम करने की इच्छा भविष्य की आशा, स्वतन्त्रता और परिवर्तन पर निर्भर होती है। मनुष्य को आश्वासन मिलना चाहिये कि यदि उसका काम अच्छा हुआ तो उसे भविष्य में उन्नति करने का मौका मिलेगा। गुलामों को न तो स्वतन्त्रता मिलती थी न भविष्य के लिये कोई आशा थी। इसलिये स्वाभाविक था कि उनमें काम करने की इच्छा नहीं होती थी। काम ऐसा होना चाहिये कि उसमें यकसूनियत न रहे। यदि कार्य की प्रकृति बदलती रहे और नये सर्ग होते रहें, तो मनुष्य में नई स्फूर्ति, नई उत्पादक शक्ति आ जाती है।

नवां अध्याय

पूंजी
(Capital)

पूंजी क्या है ? (What is Capital ?)—अर्थशास्त्र का यह बड़ा विवादग्रस्त विषय है कि पूंजी क्या है। इस बात पर सभी अर्थशास्त्री सहमत हैं कि पूंजी उत्पादन का एक साधन है और वे यह भी मानते हैं कि पूंजी कोई मूल साधन नहीं है। परन्तु पूंजी का अर्थ क्या है और कौन-कौन पदार्थ पूंजी में शामिल हैं, इन बातों पर अर्थशास्त्री एकमत नहीं हैं। इस विषय में जो सबसे तर्कपूर्ण विचार हैं, वे प्रचलित विचारों से भिन्न हैं और जो प्रचलित विचार हैं भी वे तर्कपूर्ण नहीं हैं।

प्रचलित विचारों से विषय का विवेचन करना ज्यादा अच्छा होगा। यदि किसी व्यवसायी से पूछा जाय कि उसकी पूंजी क्या है, तो शायद वह मकान, मशीनों, कच्चे सामान इत्यादि में लगी हुई कुल रकम बतलायेगा। अपने कुल व्यवसाय की कुल पूंजी बतलाते समय वह बतलायेगा कि उसके कारखाने का मूल्य क्या है तथा उसके फर्म के नाम का मूल्य कितना है। परन्तु पूंजी का विचार करते समय अर्थशास्त्री मूल्य पर ध्यान नहीं देता। पूंजी का विचार करते समय वह श्रम तथा प्राकृतिक साधनों को छोड़कर बाकी उत्पादन के सब भौतिक साधनों का विचार करता है। अर्थशास्त्र में पूंजी का अर्थ होता है, उत्पादक पदार्थ (capital goods) वे भौतिक वस्तुएं जो मनुष्य के श्रम से बनी हैं और आगे चलकर जिनका प्रयोग उत्पादन के लिये किया जायगा। वे स्वयं उपभोग के काम में न आयगी।

पूंजी में वे वस्तुएं शामिल हैं जो उत्पादन में काम आती हैं

परियों की कहानियों से हम इस परिभाषा को स्पष्ट कर सकते हैं। मान लो एक आधुनिक समाज को किसी परी ने एकदम सुला दिया है। बाकी सब वस्तुएं यथास्थिति दुरुस्त हैं। इस सोते हुए शहर में परियों का राजकुमार अपनी परी रानी को खोजता फिर रहा है। शहर में घूमता हुआ राजकुमार क्या देखता है ? वह कई प्रकार की वस्तुएं देखेगा जो मनुष्य की तत्काल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बनाई गई हैं। रसोई-घर में और थालियों में उसे तरह-तरह के भोजन रखे मिलेंगे, लोग तरह-तरह के कपड़े और जूते पहिने सोते दिखाई देंगे। लोगों के कमरे अनेक प्रकार से सजे मिलेंगे। ये सब उपभोग की वस्तुएं हैं। उसे बहुत-सी ऐसी वस्तुएं भी मिलेंगी, जिनका उपयोग तत्काल नहीं हो सकता अथवा सीधी उनसे किसी आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो सकती। परन्तु भविष्य में वे कई आवश्यकताओं की पूर्ति करने के काम में आयेंगी। यदि राजकुमार अर्थशास्त्री

का जो समूह है उसका वर्तमान मूल्य पूजी है। यह परिभाषा बहुत तर्कपूर्ण है, परन्तु इसके अनुसार अमल करना बहुत कठिन है।

क्या भूमि पूंजी है ? (Is land Capital ?)—भूमि उत्पादन का स्वतन्त्र साधन मानी जाती है। इसलिये वह पूंजी से पृथक् मानी जाती है। कई अर्थशास्त्रियों के मन में भूमि पूंजी के अन्य प्रकारों से भिन्न नहीं है। और जो भेद बतलाये गये हैं वे आर्थिक विवेचना के लिये गलत और व्यर्थ हैं। भेद के प्राय ये कारण बतलाये जाते हैं। एक तो भूमि प्रकृति की मुफ्त देन है, जब कि पूंजी श्रम का फल है। दूसरे पूंजी नष्ट हो जाती है, परन्तु भूमि अमर है, वह कभी नष्ट नहीं होती। तीसरे भूमि की मात्रा निश्चित है और उसका पुनरुत्पादन नहीं हो सकता। चौथे पूंजी और भूमि से होनेवाली आय के सम्बन्ध में जो कानून या नियम होते हैं, वे भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं।

जहां तक पहिले प्रकार के भेद का सम्बन्ध है, हम यह कह सकते हैं कि अन्य वस्तुएं, भी अपने मौलिक रूप में प्रकृति की देन हैं। फिर कई जगह भूमि पर उतना ही श्रम किया गया है, जितना अन्य वस्तुओं के उत्पादन पर। नहरों और भूमि प्रकृति की देन हैं। बांधों के बिना भूमि के बड़े-बड़े भाग उपजाऊ न होकर मरुस्थल के समान बंजर होते हैं। भूमि के एक भाग को एक मनुष्य ने अपने श्रम से उपजाऊ खेत बना दिया और दूसरे मनुष्य ने अपने श्रम से एक लकड़ी को मेज के रूप में परिवर्तित कर दिया। इसलिये हमें इन दो प्रकार के श्रम में कोई भेद नहीं मानना चाहिये।

दूसरा भेद भी मान्य नहीं है। अन्य किसी साधन के समान भूमि भी नष्ट हो सकती है। भूमि में जो रासायनिक द्रव्य रहते हैं, जिन पर उसका मूल्य निर्भर होता है, सदा सुरक्षित नहीं रहते। वे नष्ट हो सकते हैं। इसलिये भूमि में बराबर खाद देनी पड़ती है। कुछ वर्षों के बाद उत्तम भूमि भी बेकार हो सकती है। इसलिये आर्थिक दृष्टि से भूमि उतनी ही नश्वर है, जितनी अन्य उत्पादक वस्तुएं।

तीसरे भूगोल की दृष्टि से भूमि की मात्रा निश्चित हो सकती है। परन्तु संसार में प्रत्येक वस्तु की मात्रा निश्चित है। कच्चे लोहे की मात्रा उतनी ही निश्चित है, जितनी भूमि की। खनिज पदार्थ अपरिमित नहीं है और भूमि भी बिलकुल परिमित नहीं है। इसके सिवा हमारा मतलब तो भूमि के उपजाऊपन से है, उसकी मात्रा से नहीं। "जिस प्रकार एक टन लोहे को भाफ इंजिन में परिवर्तित करके उसकी उत्पादक शक्ति बढ़ाई जा सकती है, उसी प्रकार एक एकड़ भूमि की भी उत्पादक शक्ति बढ़ाई जा सकती है।"[1]

चौथा भेद यह बतलाया जाता है कि एक बाजार में पूंजी से आय प्राय एक दर से होती है। परन्तु भूमि से होनेवाली आय की दर एक-सी नहीं होती। उसके उत्तर में हम यह

[1] Cannan. A Review of Economic Theory, Page 296.

कह सकते हैं कि इन दोनो वस्तुओं का मापदण्ड एक-सा नही होता। भूमि का माप धरातल के हिसाब से होता है, परन्तु पूजी का माप मूल्य के आधार पर होता है।

जिन लोगो ने पूजी और भूमि में भेद बतलाया है, वे भी इन समानताओ और समाधानों को जानते है। बात यह है कि दोनो में प्रकार भद नही है। केवल अश भेद है। इन समानताओ के होते हुए भी भूमि और पूजी में एक महत्त्वपूर्ण भद है। भूमि की कमी एक स्थायी बात है। वह हमेशा बनी रहती है। परन्तु अन्य वस्तुओ की कमी अस्थायी होती है, वह हमेशा नही बनी रहती। कभी-कभी होती है। इसके सिवा आर्थिक उन्नति का अन्य वस्तुओ की अपेक्षा भूमि पर दूसरे प्रकार का असर हो सकता है। भौतिक सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ अन्य वस्तुओ का मूल्य कम होता जाता है। परन्तु जनसख्या की बढ़ती के साथ-साथ भूमि का मूल्य बढ़ता जाता है।

भूमि और पूजी में अशों का अन्तर है

इसलिये भूमि और पूजी में बहुत-सी समानताए होते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि भूमि पूजी से पृथक् है, क्योकि पूजी की अपेक्षा भूमि की पूर्ति अधिक बेलोच है। इसी-लिये बहुत से अर्थशास्त्री भूमि और पूजी में भेद मानते है।

पूजी का वर्गीकरण (Classification of Capital)—पूजी का विस्तार हम समाज की दृष्टि से और व्यक्ति की दृष्टि से कर सकते है। इस प्रकार से पूजी के दो भेद हो सकते है—एक तो सामाजिक (social) और दूसरी व्यक्तिगत या निजी (private)। जैसा पहिले कह चुके है, सामाजिक दृष्टि से भूमि को छोडकर वे सब वस्तुए पूजी है, जिनसे आय होती है। इसमें वे वस्तुए भी शामिल है, जिन पर सार्वजनिक अधिकार है। निजी पूजी वह पूजी है, जिस पर व्यक्तिगत रूप से विचार किया जाता है। कोई भी वस्तु जिससे कोई व्यक्ति आय प्राप्त करने की आशा करता है, पूजी है। यदि युद्धकाल में सरकार ऋण ले तो वह व्यक्ति की दृष्टि से पूजी है, परन्तु सामाजिक दृष्टि से पूजी नहीं है। सामाजिक पूजी के दो भेद किये जाते है। एक तो उपभोक्ता की पूजी और दूसरी उत्पादक की पूजी। उपभोक्ता की पूजी में बनी हुई वस्तुए शामिल हैं, जिन पर उपभोक्ता उत्पादन करते समय अपना निर्वाह करते है, जैसे—मकान, कपड़ा, भोजन इत्यादि।

उत्पादक की सहायक या औजारवाली पूजी में वे वस्तुए शामिल है, जो उत्पादन में श्रम की सहायता करती हैं। औजार, मशीनें, कारखानें, रेलें, जहाज बन्दरगाह इत्यादि उत्पादक की पूजी है।

सामाजिक पूजी के दो भेद और किये गये हैं। एक अचल पूजी (fixed capital) और दूसरी चल पूजी (*circulating capital*)। अचल पूजी में वे वस्तुए शामिल हैं, जो टिकाऊ होती है। वे काफी समय तक टिकती है जैसे मशीनें। चल पूजी में वे वस्तुए शामिल हैं, जिनका उपयोग केवल एक बार होता है, जैसे, कपास,

चमड़ा इत्यादि। जब कपास का सूत बन जाता है, तब वह कपास नहीं रह जाता। इस सम्बन्ध में पुरानी पूंजी (old investment) और चलती पूंजी (floating capital) में अन्तर समझ लेना चाहिये। जो रुपया मशीनों, औजारों इत्यादि में एक बार लगा दिया जाता है, वह वहां फंस जाता है। कुछ समय के बाद उन मशीनों का मूल्य उनकी उत्पादक शक्ति के ऊपर रहता है। इन मशीनों को पुरानी पूंजी कहते हैं। परन्तु जिन वस्तुओं के मूल्य का उपयोग हम द्रव्य के रूप में किसी भी काम के लिये कर सकते हैं, उन्हें चलती हुई पूंजी (free or floating capital) कहते हैं।

पूंजी से उत्पादन (Production with Capital)—पूंजी के द्वारा उत्पादन बड़ा घूम-फिर कर होता है। उसमें कई मंजिलें तय करनी होती हैं। बॉम बावर्क (Bohm Bawerk) ने इसका बड़ा अच्छा उदाहरण दिया है। आदिकाल में जब असभ्य मनुष्य के पास पूंजी नहीं थी, तब प्यास लगने पर वह पास के झरने पर चला जाता था और अपने हाथों से पानी पी आता था। उसके पास पानी भरकर रखने के साधन नहीं थे, इसमें प्यास लगने पर प्रत्येक बार उसे झरने तक जाना पड़ता था। इसमें उसे बड़ी असुविधा होती थी। झरने तक जाकर प्यास बुझाने के बदले मान लो उसने एक दिन, दिनभर परिश्रम करके एक लकड़ी की बाल्टी बना डाली और झरने तक जाकर उसमें पानी भर लाया। अब उसका बार-बार झरने तक जाने का परिश्रम बच गया। इसके बाद मान लो उसने झरने से अपने घर तक लकड़ी का नल लगाने का उपाय सोच निकाला, जिससे उसके घर काफी मात्रा में बराबर पानी आता रहे। नल लगाने में उसे बाल्टी बनाने से अधिक समय लगेगा। इस प्रकार अधिक पूंजी लगाने से उत्पादन अधिक टेढ़ा-मेढ़ा या घुमावदार हो जाता है। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि घुमावदार रीति की उत्पादन शक्ति प्रायः अधिक होती है।

पूंजी के कार्य (Functions of Capital)—सब आर्थिक कार्यों का ध्येय उपयोगिताएं बढ़ाकर और उत्पादन खर्च कम करके अतिरिक्त वस्तुएं प्राप्त करना होता है। उत्पादन की जो पूंजीवादी रीति है, उसका प्रभाव इस अतिरिक्त पर दो प्रकार से पड़ता है। एक तो वह वस्तुओं का भंडार बढ़ाती है और उत्पादन का खर्च हमेशा कम करती है। वह श्रम और श्रमिक दोनों की सहायता करती है। वह श्रमिक की सहायता औजारों और मशीनों द्वारा करती है। उससे श्रम अधिक उत्पादक हो जाता है। एक तो कुल उत्पादन की मात्रा बढ़ जाती है और दूसरे उत्पादन का खर्च कम हो जाता है।

पूंजी से उत्पादन की मात्रा बढ़ती है और वस्तुएं सस्ती होती हैं

पूंजी श्रमिकों को केवल औजार नहीं देती। उत्पादनकाल में वह उन्हें जीवन-निर्वाह के साधन भी देती है। आरम्भ में एक कारीगर स्वयं अपने हाथ से आदि से लेकर अन्त तक कोई पूरी वस्तु बनाता था। पहिले ग्राम का चमार स्वयं चमड़ा पकाता था,

उसे सिखाता था, उसका जूता बनाता था और उसे बाजार में भी बेचता था। यदि इस उत्पादनकाल में उसके पास जीवन-निर्वाह के लिये थोड़ी-सी अपनी पूजी नहीं होती तो जब तक उसका जूता बाजार में न बिक जाता, तब तक उसे ठहरना पडता। परन्तु उत्पादन में समय अधिक नही लगा। उसे जूता बनाने में थोडे दिन लगे। और चाहे वह अग्रेज हो, चाहे अफ्रिका निवासी, थोडे दिनों के लिये खाना सबके घर में होता था। ग्राम निवासी चमार एक जोडा जूता बनाकर तब दूसरा शुरू करेगा। परन्तु एक आधुनिक कारखाने में एक तरफ कच्चा माल चला आता है, दूसरी तरफ पक्का माल तैयार होता जाता है। थोडे-से समय में एक जोडा जूता तैयार हो जाता है। इसलिये पूजी श्रम और उपभोग का मिलान कर देती है। श्रमिक को तब तक नही ठहरना पडता, जब तक पक्का माल न बिक जाय। उसे रोज मजदूरी मिल जाती है। पूजीपति श्रमिक को मजदूरी पहिले दे देता है, यद्यपि तैयार माल जिसके बनाने में मजदूर ने श्रम किया है, उपभोक्ता के पास महीनो बाद पहुचेगा।

पूजी श्रम और उपभोग का मिलान कर देती है।

मजदूरो को तरह-तरह के सामान और औजार देकर पूजी उत्पादन में सहायता पहुचाती है। मजदूर अधबने सामानों का उपयोग करके उन्हें पक्का रूप देते है। पूजी का बडे पैमाने पर उपयोग किये बिना यह सभव नहीं हो सकता।

पूजी उद्योग के सामानों द्वारा श्रम की सहायता करती है

उत्पादन की पूजीवादी प्रथा एक टेढी मेढी रीति है। पूजी के कारण उत्पादन का समय बढ जाता है। जब जूता बनना शुरू होता है, तब से लगाकर उसके उपभोक्ता तक पहुचने में काफी समय लग जाता है। पूजी के उपयोग से श्रमविभाजन अपनी कुशलता की पराकाष्ठा पर पहुच गया है। कच्चे सामान खरीदने के लिये, कारखाने की इमारत बनवाने के लिये, मशीनें खरीदने के लिये, श्रमिको को मजदूरी देने के लिये, व्यापारियो को देने के वास्ते थोक माल रखने के लिये पूजी की आवश्यकता होती है। पूजी का जितना अधिक उपयोग किया जायगा, उत्पादन की विधि उतनी ही टेढी-मेढी होती जायगी। परन्तु इसके साथ ही मशीनो की सहायता से उत्पादन का एक भाग बडी जल्दी पूरा हो जाता है। इस प्रकार पूजी उत्पादन विधि के एक अंश का तो समय कम कर देती है, परन्तु पूरी विधि का समय बढ़ा देती है। इससे श्रम की उत्पादन शक्ति अपनी चरम सीमा तक पहुंच जाती है। समाज के दृष्टिकोण से पूजी का अर्थ उत्पादन का जारी रहना है।

पूंजी के उपयोग से उत्पादन विधि टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती है

पूजी से उत्पादन जारी रहता है

पूजी का सचय (Accumulation of Capital)—आय में बचत करने

से पूंजी जमा होती है। उत्पादक वस्तुओं का संग्रह तीन प्रकार से हो सकता है। जो मनुष्य उपभोग की वस्तुएं बनाने में लगे हैं, वे कुछ दिनों के लिये अपने काम के घंटे बढ़ा दें और पहिले की अपेक्षा अधिक वस्तुएं बनावें। इन वस्तुओं का एक भाग अलग रख दिया जावे और उनका उपयोग तब किया जावे जब वे मनुष्य किसी प्रकार की उत्पादक वस्तुओं के बनाने में लगे हों। अपने काम के घंटों में से मनुष्य कुछ समय तो उपभोग की वस्तुएं बनाने में लगावें और बाकी उत्पादक वस्तुएं बनाने में। परन्तु इसमें उन्हें अपने उपभोग में कुछ कमी करनी पड़ेगी, क्योंकि अब उपभोग की वस्तुओं की मात्रा पहिले की अपेक्षा कम रहेगी। तीसरा प्रकार यह है कि लोग आपस में दो प्रकार के काम बांट सकते हैं। कुछ लोग उपभोग की वस्तुएं बनावें और कुछ लोग उत्पादक वस्तुएं। इसमें उपभोग की वस्तुएं बनाने वाले लोग अपनी बनाई हुई सब वस्तुओं का उपभोग नहीं कर सकते। उनके जो साथी मशीनें आदि उत्पादक वस्तुएं बना रहे हैं, उनका भी उन्हें पोषण करना पड़ेगा। उत्पादन का औसत समय पूरा होने तक इनका पोषण करना पड़ेगा। अर्थात् उत्पादक वस्तुओं की सहायता से जब तक उपभोग की वस्तुएं न बनने लगेंगी तब तक इन लोगों का पोषण करना पड़ेगा। इसलिये जो लोग उपभोग की वस्तुएं बनावें उन्हें सब वस्तुओं का उपभोग नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार पूंजी का संग्रह करने के लिये लोगों को अपनी पूरी आय नहीं खर्च करनी चाहिये। उन्हें कुछ बचत अवश्य करनी चाहिये। लेकिन यह पूछा जा सकता है कि लोग अपने उपभोग में कमी क्यों करें? इसका मुख्य कारण यह है कि उपभोग में कमी करने से ही उत्पादक वस्तुओं अथवा पूंजी का संग्रह होता है। उत्पादन में पूंजी का उपयोग करने से श्रम की उत्पादन शक्ति बढ़ जाती है। इसलिये यदि हम थोड़ा कष्ट सहकर कुछ पूंजी जमा कर लें और फिर अपने सब साधन और शक्ति उपयोग की वस्तुएं बनाने में लगा दें तो बाद में हमें उपभोग अधिक मात्रा में मिलेगा।

बचत करने से पूंजी जमा होती है

इसलिये पूंजी की बढ़ती बचाने की मात्रा पर निर्भर होती है और बचत लोगों की आय पर निर्भर होती है। यदि आय इतनी कम है कि जीवन की केवल आवश्यकताएं पूरी करने के बाद कुछ नहीं बचता तो बचत की मात्रा बहुत कम होगी। जितनी ऊंची आय होगी देश में बचत की संभावना भी उतनी अधिक होगी। लेकिन यदि आय की सतह काफी ऊंची भी हो तो इसके माने यह नहीं है कि लोग हमेशा उसका कुछ अंश बचायेंगे। बचत कई प्रकार की परिस्थितियों और विचारों पर निर्भर होती है।

बचत की मात्रा आय पर निर्भर होती है

कई प्रकार की इच्छाएं मनुष्य को बचत करने की लालसा देती हैं। मनुष्य अग्रसोची होता है। कहावत है अग्रसोची सदा सुखी। इसलिये भविष्य में बुरे दिनों के डर से मनुष्य कुछ द्रव्य बचाकर रखने की सोचता है अथवा बच्चों की शिक्षा, लड़कियों की शादी

और बुढ़ापे में आराम करने के विचार से भी मनुष्य कुछ बचत करने का विचार करता है। तीसरे वह अपने रहन-सहन का दर्जा ऊंचा करने के लिये बचाने का प्रयत्न कर सकता है। चौथे मनुष्य की यह इच्छा हो सकती है कि मृत्यु के बाद वह कुटुम्ब के लिये कुछ धन छोड़ जावे, स्त्री और बच्चों के भरण-पोषण का प्रबन्ध कर जावे। इस इच्छा से भी वह धन बचाने का प्रयत्न कर सकता है। पाचवें हमारे समाज में धनी मनुष्यो का आदर होता है, इसलिये वह समाज में मान प्रतिष्ठा पाने के लिये धन संग्रह का प्रयत्न कर सकता है। अन्तिम मनुष्य की कजूस मनोवृत्ति हो सकती है जिसे वह अकारण डर के मारे किसी वस्तु पर खर्च करना नहीं चाहता। यह भी बचत का एक कारण हो सकता है। बचाने की इन इच्छाओ को हम बुद्धिमानी, दूरदृष्टि, उन्नति, कुटुम्ब-प्रेम, अभिमान और कजूसपन कह सकते हैं।

बचाने की इच्छा

वर्तमान समाज में बचत का एक भाग मिश्रित पूजीवाली कपनी जैसी सार्वजनिक संस्थाओ से भी आता है। इन संस्थाओ के प्रबन्धकर्ता भविष्य सुरक्षित बनाने के लिये बचत करते हैं। घसारा या निरन्तर उपयोग द्वारा जो मूल्य ह्रास होता है, उसे पूरा करने के लिये बचत करते हैं। कभी-कभी मंदी तथा अन्य प्रकार के सकट के समय जल्दी द्रव्य प्राप्त करने के लिये भी वे बचत करते हैं। कभी-कभी वे अधिक व्यावसायिक साहस करने की नीयत से भी बचत करते हैं। यदि वे काफी साधन जमा कर लेंगे तो बिना कर्ज लिये वे अपने उद्योग का प्रसार कर सकते हैं।

सार्वजनिक संस्थाओं के बचत करने के ध्येय

द्रव्य की बचत करने की प्रवृत्ति कई प्रकार की परिस्थितियो पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिये जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा अवश्य रहनी चाहिये। नहीं तो कोई मनुष्य कुछ नहीं बचावेगा। क्योकि भविष्य में आनन्द और सुख भोग के लिये मनुष्य कष्ट सहकर जो बचत करता है उसके सुरक्षित रहने में सन्देह हो तो मनुष्य क्यो बचावेगा? वह उसका उपभोग तत्काल न कर लेगा? जिस देश में लाभप्रद पूजी लगाने की सुविधाएं प्राप्त हैं, वहा बचत करने की प्रवृत्ति बलवान होगी। धन बचाने की प्रवृत्ति पर देश के धर्म, प्रथा, शिक्षा इत्यादि का भी प्रभाव पड़ता है।

जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा

बचत की मात्रा पर ब्याज दर का भी प्रभाव पड़ता है। इधर हाल में अर्थशास्त्रियो ने इसकी काफी चर्चा की है। मार्शल जैसे लेखको के मत में ब्याज दर का बचत की मात्रा पर गहरा प्रभाव पड़ता है। ब्याज दर जितनी ऊंची होगी, अर्थात् बचत पर जितना अधिक लाभ होगा, बचाने की प्रवृत्ति उतनी ही बलवान होगी। इसके विपरीत

बचत पर ब्याज दर का प्रभाव

ब्याज दर कम होने पर बचाने की इच्छा कमजोर होगी। ब्याज दर अधिक होने पर भी कुछ लोग ऐसे अवश्य होंगे, जो बचत कम करेंगे। जिन लोगो ने केवल इतना बचाने का निश्चय किया है कि भविष्य में एक निश्चित आमदनी भोगने को मिल जाय, उन्हें ब्याज दर ऊंची होने पर अपेक्षाकृत कम बचाना पड़ेगा और ब्याज दर कम होने पर अधिक बचाना पड़ेगा। कुछ लोग ऐसे भी मिलेंगे जो बचाने का क्रम नियमपूर्वक पालेंगे, ब्याज की दर चाहे जो हो। ये लोग या तो धनीवर्ग के होते हैं अथवा बहुत अधिक अग्रसोची। इसके सिवा मिश्रित पूंजी की कम्पनियां (joint-stock companies) बचत द्वारा काफी धन संग्रह करती हैं। परन्तु उनकी बचत का कारण ब्याज की ऊंची दर नही होती। इसलिये कीन्स (Keynes) के समान लेखकों ने बचत की मात्रा और ब्याज दर के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया है। उनके मत में ऊंची ब्याज दर आर्थिक कार्यों को शिथिल कर देगी और मुनाफे के लिये लगने वाली पूंजी पर भी उसका प्रभाव अच्छा न होगा। फल यह होगा कि द्रव्य की कुल आय कम हो जायगी और यदि बचत की वही प्रवृत्ति रही तो बचत की मात्रा भी कम हो जायगी। बचत की कुल मात्रा दो बातो से निश्चित होती है—एक तो धन की आय की सतह और दूसरे उस आय में से खर्च करने की प्रवृत्ति। जब धन की आय की सतह नीची होगी तो बचत की मात्रा अपेक्षाकृत कम होगी। परन्तु जैसे-जैसे आय की सतह ऊंची उठती है, वैसे-वैसे बचत की मात्रा भी बढ़ने की आशा रहती है, यदि उसी आय से खर्च करने की प्रवृत्ति बनी रहे।

वास्तविकता यह है कि यदि एक मनुष्य सोच-विचार कर काम करनेवाला है, तो ब्याज दर ऊंची होने पर वह अपनी आय में से अधिक बचत करने का प्रयत्न करेगा। अधिक ब्याज दर का अर्थ बचत पर अधिक लाभ मिलना है। इसलिये मनुष्य की बुद्धि उसे बचाने की प्रेरणा अवश्य देगी। लेकिन बचत करने में मनुष्य अपनी बुद्धि का सबसे कम उपयोग करता है। वह नाना प्रकार के विश्वासो और सामाजिक बन्धनो से घिरी रहती है। इसके सिवा आय में परिवर्तन होने से खर्च में जो परिवर्तन होते है, उनके बीच सम्बन्ध स्थापन करने के लिये बचत की मात्रा 'मध्यस्थ' का काम करती है। 'जब उपभोक्ता की आय बढ़ती है अथवा जब दाम गिरते हैं, तब उसके रहन-सहन का दर्जा उसकी आय की बढ़ती हुई क्रय-शक्ति से पिछड जाता है और वह बचत करने में समर्थ होता है।[१] और जब वस्तुओ के दाम बढ़ते हैं, अथवा आय घटती है, तब इसके विपरीत होता है। इसलिये बचत की मात्रा हमेशा मनुष्य की विवेक बुद्धि पर निर्भर नही होती। "फिर भी जब हम इस सम्बन्ध में दूर तक की समस्याओ का विवेचन करते हैं, तब बचत के विवेक बुद्धि सम्बन्धी सिद्धान्त अधिक तर्कपूर्ण मालूम होते हैं।"[२]

१-२ Boulding K. Economic Analysis, Page 653

दसवां अध्याय

श्रम-विभाजन और उत्पादन का संगठन

(Division of Labour and the Organization of Production)

श्रम-विभाजन (Division of Labour)—वर्तमान आर्थिक व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता श्रम-विभाजन है। प्रारम्भिक काल में आदि जातियों में किसी न किसी प्रकार श्रम-विभाजन होता था। ईसाई धर्म में आदिकाल सम्बन्धी एक कथा है जिसके अनुसार सृष्टि के आदि में ईडन के बगीचे में आदम तो जमीन खोदने का काम करता था और उसकी स्त्री ईव घर में चर्खा चलाती थी। प्रारम्भ में श्रम-विभाजन कुटुम्ब तक सीमित था। कुछ समय बाद लोग कुटुम्ब के बदले ग्राम को आर्थिक इकाई मानने लगे। एक ग्राम को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी इकाई बनाने के लिये ग्राम के विभिन्न कुटुम्ब विभिन्न धन्धे करने लगे। जैसे-जैसे भौतिक सभ्यता की उन्नति हुई, तरह-तरह की नई-नई मशीनों का आविष्कार हुआ, आवागमन के साधन सुगम हुए जिससे बाजारों का विस्तार बढ़ा और आर्थिक क्षेत्र अधिक विस्तृत हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि श्रम का विभाजन अधिक बारीक और जटिल हो गया।

श्रम-विभाजन के लिये दो बातें आवश्यक हैं—(अ) बाजार का विस्तार और (ब) लगातार उत्पादन। यदि किसी वस्तु के उत्पादन के श्रम को उचित रूप से विभाजित करना है, तो बहुत से आदमियों को कई प्रकार के कार्यों में लगाना पड़ेगा। इसलिये उत्पादन भी बड़े पैमाने पर करना पड़ेगा। जब बड़े पैमाने पर उत्पादन होगा, तो उसकी खपत के लिये विस्तृत बाजार चाहिये, नहीं तो अधिक उत्पादन से कोई लाभ न होगा। अधिक उत्पादन के लिये बड़े बाजार की आवश्यकता होती है। इसलिये श्रम का विभाजन बाजार के विस्तार द्वारा सीमित होता है। दूसरे यदि श्रम-विभाजन बारीक ढंग पर करना है, तो उत्पादन लगातार होना चाहिये। यदि उत्पादन का काम बीच-बीच में रुक जाता है तो बेकारी के दिनों में श्रमिक को अन्य काम खोजना पड़ता है। तब हम श्रम विभाजन के अधिकतम आर्थिक लाभ को नहीं पा सकते।

बाजार का विस्तार

लगातार उत्पादन

श्रम-विभाजन दो प्रकार का होता है। एक साधारण और दूसरा मिश्रित (complex)। साधारण प्रकार के श्रम-विभाजन में एक श्रमिक उत्पादन के कई भागों में से एक भाग का सब प्रकार का काम पूरा-पूरा करता है, जैसे कि जूता बनानेवाला

मोची या दर्जी। मिश्रित प्रकार के श्रम-विभाजन में उत्पादन के कई भागों में से एक भाग का काम भी कई आदमियों और विभागों में बट जाता है। जूते के कारखाने में जूते का एक जोड़ा एक आदमी द्वारा नहीं बनाया जाता। उसमें बहुत से आदमियों का श्रम और कारीगरी लगी रहती है। श्रम-विभाजन का एक अन्य पहलू है, जिसे भौगोलिक श्रम-विभाजन (geographical division of labour) कहते हैं। जब रेलवे, नहर और जहाजों के आविष्कार के कारण आवागमन के साधनों में उन्नति हुई तो कोई स्थान-विशेष अथवा देश-विशेष किसी वस्तु-विशेष के उत्पादन में विशेषता प्राप्त करने लगा। बहुधा उस स्थान अथवा देश को उस वस्तु-विशेष के उत्पादन की कुछ स्वाभाविक सुविधाएं अथवा रुचि या कारीगरी प्राप्त रहती है। उदाहरण के लिये बंगाल विशेषकर जूट की फसल पैदा करता है और बरार कपास।

भौगोलिक श्रम-विभाजन

श्रम-विभाजन से लाभ और हानि (Advantages and Disadvantages of Division of Labour)—श्रम-विभाजन के लाभ बहुत पहिले आदम स्मिथ ने वर्णन कर दिये हैं। सबसे बड़ा लाभ यह है कि उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि होती है। आदम स्मिथ ने लिखा था कि आलपीन बनानेवाला एक मनुष्य अकेले दिन भर में २० पिन से अधिक नहीं बना सकता, परन्तु यदि उचित रूप से श्रम-विभाजन कर दिया जाय तो १० मनुष्य एक दिन में कम से कम ४,८०० पिन बना सकते हैं। उत्पादन में इस वृद्धि के कई कारण हैं। पहिला कारण यह है कि यदि काम का विभाजन उचित ढंग से किया जाय तो प्रत्येक मनुष्य को वह काम दिया जा सकता है जिसके लिये वह सबसे अधिक उपयुक्त है। इसमें श्रम की फिजूलखर्ची न होगी, क्योंकि जो काम एक साधारण बेसीखा मजदूर कर सकता है, वह काम एक सीखे हुए कारीगर को न करना पड़ेगा। इसमें अपनी रुचि के अनुसार काम करने का सबसे अच्छा मौका मिलता है। दूसरा कारण यह है कि श्रम-विभाजन से प्रत्येक श्रमिक की योग्यता बढ़ जाती है। जब कोई मनुष्य बहुत समय तक लगातार एक ही काम करता रहता है, तो वह उसके करने में विशेष कुशलता प्राप्त कर लेता है। इसलिये स्वाभाविक है कि श्रमिक कार्यकुशल हो जायगे। इस प्रकार की कुशलता प्राप्त करने में एक और लाभ है। सम्भव है कि एक आदमी दूसरे की अपेक्षा प्रत्येक काम को अच्छे ढंग से करे, परन्तु उसकी कारीगरी भी अन्य वस्तुओं की अपेक्षा कुछ कामों में विशेषरूप से दिखाई देगी। यदि ठीक ढंग से श्रम का विभाजन किया जाय तो वह आदमी केवल वही काम करेगा, जहां उसकी कुशलता सबसे अधिक चमकेगी। तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त (theory of 'comparative cost') के सम्बन्ध में यह नियम विशेषरूप से लागू होता है और इसके

उचित मनुष्य को उचित काम पर लगाता है

श्रमिक को अधिक कुशल बनाता है

विदेशी व्यवसाय में देश को बहुत लाभ होता है। तीसरा कारण यह है कि श्रम-विभाजन से समय और औजारो की बचत और किफायत होती है। चूकि श्रमिक को एक ही प्रकार का काम लगातार करना पडता है, इसलिये एक काम से दूसरे काम पर जाने में उसका समय नष्ट नही होता। समय की बचत अन्य प्रकार से भी होती है। चूकि श्रमिक को उत्पादन कार्य का एक अश सीखना पडता है इसलिये सीखने में भी अधिक समय नही लगता। इस प्रकार समय और श्रम की बचत हो जाती है। औजारो की भी बचत होती है। प्रत्येक मशीन एक विशेष प्रकार के काम में लगाई जाती है। उसे कई प्रकार के कामो के लिये बार-बार खोलना जमाना नही पडता। चौथा कारण यह है—श्रम-विभाजन के कारण मशीनो का आविष्कार बहुत अधिक हुआ है। आडम स्मिथ ने एक उदाहरण दिया है। एक लडका भाफ के इजिन पर काम करता था। उसने एक उपाय ढूढ निकाला, जिससे उसका काम भी चालू रहे और उसे खेलने के लिये समय भी मिल जाय। इस उपाय ने भाफ-इजिन में बहुत उन्नति कर दी। ज्यो-ज्यो उत्पादन का श्रम बटता जाता है, त्यो-त्यो वह अधिक सरल भी होता जाता है। यहा तक कि कुछ काम केवल मशीनो द्वारा हो सकते है। इस प्रकार श्रम-विभाजन से उत्पादन में बहुत वृद्धि होती है और उत्पादन की लागत में काफी कमी हो जाती है।

समय और औजारों की बचत होती है

मशीनों का आविष्कार होता है

लेकिन श्रम-विभाजन से कई प्रकार की हानिया भी होती है। जब मनुष्यो में अत्यधिक श्रम विभाजन हो जाता है, तो उससे निम्नलिखित हानिया होती हैं। एक तो कुशलता और जिम्मेदारी कम हो जाती है। श्रमिक केवल मशीन चलानेवाला रह जाता है। उसे अपने काम में आनन्द नही मिलता, अपनी बनाई हुई चीजो पर अभिमान नही होता, क्योकि वास्तव में वह उसकी बनाई हुई नही है। न जाने उसमें कितने मनुष्यो का श्रम लगा है और शायद वे मनुष्य एक दूसरे से हजारों मील दूर रहते है। एक दूसरे से परिचित नही है। एक वस्तु का पूर्णरूप में बनाने की जिम्मेदारी हजारो लोगो में बटी हुई है, इससे वह किसी की जिम्मेदारी नही रह जाती। दूसरे श्रम-विभाजन से एक मनहूसियत आ जाती है। दिन पर दिन उसी मशीन पर वही काम करते-करते बुद्धि मद हो जाती है, कला भाव मद पड जाता है और दृष्टि सकुचित हो जाती है। मनुष्य में किसी नये काम पर हाथ उठाने की क्षमता और आत्मविश्वास नही रह जाता। तीसरे किसी काम के एक अग पर अत्यधिक निर्भर होने से बेकारी का खतरा बढ जाता है। यदि किसी कारण से उस वस्तु

योग्यता की हानि होती है

मनहूसियत आ जाती है

की माग कम हो जाय तो उसके उत्पादन में लगे हुए आदमी बेकार हो जायगें।

अत्यधिक स्थानानुसार श्रम-विभाग (territorial division of labour) के कारण निम्नलिखित हानिया हो सकती है। यदि देश का एक भाग किसी एक वस्तु पर निर्भर हो जाता है और यदि किसी कारण से उस वस्तु का उत्पादन रुक जाता है तो यह निर्भरता उस भाग के लिये खतरनाक हो जाती है। यदि एक देश अपने आवश्यक अन्न के लिये किसी अन्य देश पर निर्भर है तो युद्ध होने पर अन्न का आयात बन्द हो सकता है। दूसरे अत्यधिक स्थानानुसार श्रम-विभाजन से उद्योग-धन्धों का स्थानीयकरण (localization of Industries) हो जाता है। स्थानीय धधे में केवल एक प्रकार के मजदूरो की माग होगी, लोहे के धन्धे में बलिष्ठ आदमियों की माग रहती है। वहा स्त्रियों और बच्चो के लिये काम नही रहता। इसलिये वहा के मजदूरवर्ग के एक कुटुम्ब की औसत आय बहुत कम होगी, चाहे कुटुम्ब के पुरुष भले ही अपेक्षाकृत अधिक मजदूरी पाते हो। इसका उपाय यह है कि ऐसे बड़े-बड़े उद्योगो के आस-पास सहायक उद्योग स्थापित करने चाहियें, जहा स्त्रिया और बच्चो को भी काम मिल सके।

इससे बेकारी का डर रहता है

उत्पादन बन्द होने का डर रहता है

उद्योगों का स्थानीयकरण होता है

मशीन का उपयोग, उसके लाभ और हानियाँ (The Use of Machinery : Its advantages and disadvantages)—हम देख चुके हैं कि आधुनिक जीवन में श्रम-विभाजन ने जो जटिल रूप धारण कर लिया है उसका मशीन के आविष्कार और औद्योगिक क्रान्ति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अब हम यह विचार करेंगे कि श्रमिकों का काम मशीनो से लेने से उसके आर्थिक परिणाम क्या होते हैं और उनसे क्या बुराइया पैदा होती है। मशीन का उपयोग करने से निम्नलिखित आर्थिक परिणाम होते हैं। कुछ ऐसे काम होते है, जो केवल मनुष्य की शक्ति से पूरे नही हो सकते। उनमें मशीन और प्रकृति की शक्तियों का उपयोग आवश्यक होता है। कुछ ऐसे काम होते हैं, जो मशीनो की सहायता से बड़ी सरलता से किये जा सकते हैं। एक क्रेन (crane) आज जिन भारी वजनदार वस्तुओं को उठा देता है, वे मनुष्य की शक्ति से नहीं उठ सकतीं। प्राय मनुष्य की अपेक्षा मशीन कहीं तेजी से काम करती है और मनुष्य से अधिक उत्पादन भी करती है। मशीन के काम में फरक नहीं होता, एकसा होता है। यह बात मनुष्य के काम में नही पाई जाती। क्योंकि मशीन तो अपना काम ठीक उसी प्रकार दुहराती रहती है। मशीन के पेंच-पुरजों की बनावट आकार-प्रकार एकसा रहता

मशीन के उपयोग के आर्थिक परिणाम

मशीन का सबसे अधिक हानिकर प्रभाव पूँजीपति और श्रमिकों के आपस के सम्बन्धों पर पड़ता है। जो श्रमिक पहिले ग्रामीण उद्योगों में लगे थे, वे एकाएक बेकार हो गये और काम की खोज में बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों की ओर जाने को लाचार हुए। उन्हें बड़े-बड़े कारखानों में काम मिल सकता है, पर उनकी पहिले की स्वतन्त्रता चली जाती है। कारखाने के ऊँची तनख्वाह पानेवाले मैनेजर और श्रमिकों में व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं रहता। वे एक प्रकार से मशीनों के एक अंग हो जाते हैं। ग्रामीण उद्योगों में जो मधुर कौटुम्बिक वातावरण होता था, वह चला जाता है। पूँजीपति और श्रमिक सोचने लगते हैं कि उनके स्वार्थ परस्पर विरोधी हैं। श्रेणी-युद्ध या वर्ग-युद्ध के बीज यहीं से आरम्भ होते हैं। मशीन का हानिकर प्रभाव श्रमिकों के स्वास्थ्य और नैतिक विचारों पर भी पड़ता है। उन्हें कई घंटों तक लगातार अस्वास्थ्यकर वातावरण में काम करना पड़ता है और अस्वास्थ्यकर बस्तियों में रहना पड़ता है। स्त्रियों और बच्चों से उनके स्वास्थ्य का विचार किये बिना काम लिया जाता है। स्त्रियों और पुरुषों के मेल-जोल में कोई बाधा नहीं रहती और उन लोगों के निवास-स्थान इस प्रकार के होते हैं कि उनमें दूषित अनैतिकता का शीघ्र प्रचार हो जाता है। ये सब बुराइयाँ केवल मशीन के उपयोग के कारण उत्पन्न नहीं होतीं और न ये स्थायी होती हैं। औद्योगिकरण की प्रारम्भिक स्थिति में उचित प्रबन्ध न करने से तथा पूँजीपतियों के लालची स्वभाव के कारण ये बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। यदि कारखानों-सम्बन्धी (factory laws) कानूनों का उचित रूप से पालन किया जाय और यदि लोग मजदूर कल्याण कार्य (labour walfare) में अधिक दिलचस्पी लेने लगें तो ये बुराइयाँ बहुत हद तक दूर हो सकती हैं। मशीन के उपयोग में कुछ त्रुटियाँ अवश्य हैं, परन्तु जाति का उससे बहुत लाभ हुआ है। उससे मनुष्य जीवन अधिक सुखी और पूर्ण हो गया है।

कुछ त्रुटियों के रहते भी मशीन मनुष्य के लिये लाभदायक सिद्ध हुई है

मशीन और बेकारी (Machinery and Unemployment)—हमेशा तो नहीं, पर प्रायः मशीनों से श्रम की बचत होती है। जब मशीनों का उपयोग आरम्भ होता है, तब प्रायः कुछ समय के लिये कुछ श्रमिकों की आवश्यकता नहीं रहती। जो काम पहिले सौ मनुष्यों द्वारा होता था, वही अब पाँच मनुष्यों द्वारा पूरा हो सकता है। इसलिये कुछ समय के लिये मशीनों के उपयोग से श्रमिकों में साधारणतः बेकारी फैलती है। पूँजी और श्रम में एक प्रतियोगिता-सी होती है और वे एक दूसरे का स्थान छीनते हैं।

इस कारण से श्रमिक प्रायः मशीन के उपयोग का विरोध करते आये हैं। औद्योगिक क्रान्ति के समय में हालैण्ड में मजदूर बहुत लड़ाई-झगड़े करते थे और कारखाने में नई लगाई हुई मशीनें तोड़-फोड़ देते थे, क्योंकि उन्हीं के कारण उनमें बेकारी फैलती थी। परन्तु परिस्थिति इतनी बुरी नहीं है, जितनी मजदूर नेता उसे बना देते हैं। वाद-विवाद

के जोश में लोग यह भूल जाते हैं कि मजदूर और पूंजी के सहयोग से राष्ट्रीय आय सम्भव होती है। बिना श्रम के पूंजी मरी हुई वस्तु है और

आविष्कार और बेकारी बिना पूंजी के श्रम अयोग्य रहता है। परस्पर सहयोग करने से दोनो की आय बढती है। वास्तव में मशीनो के उपयोग से दीर्घ काल में बेकारी की जगह राष्ट्र में कुछ काम बढता है और अधिक लोग काम पाते हैं। मान लो कपड़े के उद्योग में एक मशीन लगाई गई है, जिससे श्रम की बचत होती है। तो कुछ समय के लिये कुछ आदमी बेकार अवश्य हो जायगे। परन्तु शीघ्र ही उन्हें फिर काम मिल जायगा। मशीनो के उपयोग के कारण सूती कपड़े सस्ते हो जायगे। यदि इन कपड़ो की माग लोचदार है तो उपभोक्ता उन्हें अधिक खरीदेंगे। इससे उद्योग का विस्तार होगा और बेकार श्रमिको में से कुछ को फिर काम मिल जायगा। परन्तु यदि माग बेलोच है और उपभोक्ता अपनी कपड़े की खरीद नहीं बढाते तो उन कपड़ो की बिक्री कम होगी और वह पहिले की अपेक्षा सस्ता हो जायगा। इसलिये उपभोक्ता के पास अन्य वस्तुओ पर अधिक खर्च करने के लिये कुछ द्रव्य बच जायगा। फल यह होगा कि अन्य उद्योगो में उत्पादन बढेगा और उनमें से कुछ बेकार श्रमिको को काम मिलेगा। कुछ श्रमिकों को मशीन बनाने के कारखानों में काम मिलेगा। अन्तिम मशीनो के उपयोग से काम में लगे हुए श्रमिको को पहिले से अधिक मजदूरी मिलेगी, क्योंकि मशीनो से श्रमिको की उत्पादन योग्यता बढ जाती है। अब ये श्रमिक वस्तुओ पर अधिक खर्च करेंगे और इनकी आवश्यकताए पूरी करने में अन्य मजदूरो को काम मिलेगा। इस प्रकार धीरे-धीरे बेकार मजदूरो को किसी न किसी धन्धे में काम मिल जायगा। यह भी याद रखना चाहिये कि मशीनो के कारण वस्तुओ के दाम सस्ते हो जाते हैं और जहा तक उपभोक्ता की दृष्टि से मजदूरो का सम्बन्ध है, वहा तक सम्पूर्ण मजदूरवर्ग की भलाई होती है। वास्तव में जिन वस्तुओ का उपयोग अधिकतर मजदूरवर्ग करता है, उनमें उन्नति और आविष्कार अधिक जल्दी होते हैं। इसलिये यह कहना सत्य है कि निकटकाल में पूंजी और श्रम प्रतियोगी हैं, तथापि दीर्घकाल में वे सहयोगी हैं।

यह सब दीर्घकाल में होता है। अन्तरिम काल में जब बहुत हेर-फेर होते हैं, तब बहुत से श्रमिक बरबाद हो सकते हैं। बहुत से श्रमिक बहुत कष्ट और प्रयत्न के बाद किसी ऐसे धंधे में काम पावेंगे, जिसे उन्होंने सीखा नहीं है। इसलिये उन्हें मजदूरी कम मिलेगी। बेकारी का समय एक ओर तो उद्योगपतियो पर निर्भर करता है कि नई परिस्थितियो का उपयोग वे कितने समय में करते हैं और दूसरी ओर श्रमिको पर निर्भर करता है कि वे कितने समय में नये धन्धो में काम करने योग्य हो सकते है।

उद्योग में बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के लाभ (The Advantages of Large-Scale Production in Manufacture)—श्रम-विभाग और मशीन के उपयोग का निश्चित परिणाम बड़ी मात्रा में उत्पादन होता है। बड़े पैमाने

पर उत्पादन में कुछ लाभ होते हैं। मार्शल के समान उन लाभों को हम उत्पादन की आन्तरिक और बाह्य बचत कह सकते हैं। बाह्य बचत (external economics) उसे कहते हैं, जो किसी एक कारखाने या फर्म के विस्तार के कारण नहीं होती। वह देश भर के पूरे उद्योग के विस्तार के कारण होती है। इसका अच्छा उदाहरण बडी मात्रा में बनाई जानेवाली मशीनों की कीमत है। कपडे की मिलें जितनी अधिक होंगी, उनकी मशीनें उतनी अधिक मात्रा में बनाई जावेंगी और उनकी कीमत भी कम होती जायगी। स्थानीयकरण के लाभ इसी वर्ग में आते हैं।

आन्तरिक बचत (Internal Economics) वह है, जो किसी फर्म को उसके विस्तार के कारण प्राप्त होती है। इस प्रकार की बचत एक तो उद्योग के साधारण विस्तार पर निर्भर होती है और दूसरे फर्म विशेष के योग्यतापूर्ण प्रबंध और परिचालन पर। बडी मात्रा में उत्पादन में लगी हुई किसी फर्म को निम्नलिखित प्रकार की आन्तरिक बचत हो सकती है।

(१) **योग्यता की बचत**—लाभप्रद उत्पादन के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य एक निश्चित काम में लगातार लगा रहे और वह काम ऐसा हो जिसमें वह अपनी अधिक से अधिक कुशलता और योग्यता दिखा सके। श्रम विभाजन को उसकी चरमसीमा तक पहुंचा देने से योग्यता की बचत प्राप्त होती है।

(२) **मशीन की बचत**—कोई बडा कारखाना कीमती मशीनों का उपयोग कर सकता है, जो किसी विशेष कार्य के लिये बनाई गई हों। वह अच्छी से अच्छी और नवीनतम मशीनें खरीद सकता है। इससे उसे छोटे कारखानों की अपेक्षा बहुत लाभ होगा।

(३) **सामान की बचत**—बडे कारखाने में उप-उत्पत्ति या फालतू पैदावार (by-products) का उपयोग करके खर्च घटाया जा सकता है और लाभ बढाया जा सकता है। यदि उप-उत्पत्ति से कुछ कीमत प्राप्त हो जाए तो प्रधान वस्तु कम दाम पर बेची जा सकती है।

(४) **बडे पैमाने पर खरीद और बिक्री से बचत**—बडे कारखाने को कच्चे सामान सस्ती दर से मिल जाते हैं। उसकी बिक्री की लागत या खर्च भी कम होता है। वह अच्छे ढंग से विज्ञापन कर सकता है और प्रति इकाई पर विज्ञापन का खर्च कम होगा। वह फुटकर बिक्री के लिये अपनी दुकानें खोल सकता है और दलाल का मुनाफा खुद ले सकता है।

(५) **बाजार की तेजी-मंदी का प्रभाव बडे कारखाने पर छोटे कारखाने की अपेक्षा कम पडता है**—बडे कारखाने का प्रबंधकर्त्ता या मैनेजर प्राय ऐसा व्यक्ति होता है जिसे काफी दूरदर्शिता और अनुभव होता है। वह बतला सकता है कि उसके कारखाने के उत्पादन की माग भविष्य में कैसी होगी। उसी हिसाब से वह उत्पादन का सचालन करता है। वह प्रतियोगिता का मुकाबिला साहसपूर्वक करता है। प्रबंधकर्त्ता अपना समय कारखाने की छोटी छोटी बातों में नष्ट नहीं करता। वह अपनी बुद्धि और ज्ञान बाजार

की परिस्थिति जानने में लगाता है। उसका सतत प्रयत्न लागत खर्च कम करने और माल की बिक्री बढाने की ओर रहता है।

(६) *प्रयोग और अनुसन्धान*—बडा कारखाना प्रयोग और अनुसन्धान पर काफी खर्च कर सकता है। परन्तु इससे उसका खर्च प्रति इकाई अधिक नही बढता। वह उत्पादन के तरीको में उन्नति कर सकता है। नये-नये कच्चे सामानो का उपयोग कर सकता है और वैज्ञानिक अनुसन्धान का लाभ सबसे पहिले उठा सकता है।

व्यवसाय के विस्तार की सीमा (Limits to the Expansion of a Business)—अब प्रश्न यह उठता है कि बडे पैमाने के लाभप्रद उत्पादन को देखते हुए कारखानो का बहुत अधिक विस्तार क्यो नही होता ? वास्तव में प्रत्येक उद्योग में हम छोटे-छोटे कारखाने देखते है। इसका क्या कारण है। इसका कारण यह है कि बडी मात्रा में उत्पादन से होनेवाले लाभ की भी सीमा होती है। बात यह है कि जब किसी फर्म का विस्तार होता है, तब प्राय उससे होनेवाले लाभ में क्रमागत ह्रास होने लगता है। विस्तार के कारण उसके सामने बहुत-सी कठिनाइया भी आ जाती है। एक तो श्रम-विभाजन और बडी मशीनो से होनेवाली बचत की भी सीमा होती है। एक स्थिति ऐसी आती है, जब अधिक विस्तार से मशीन सम्बन्धी लाभ नही होता। "छोटी भट्टी की अपेक्षा बडी भट्टी मे अधिक बचत होती है। परन्तु एक स्थिति ऐसी आ जाती है, जहा से अधिक विस्तार में लाभ नही होगा।" दूसरे मनुष्य की शक्ति की भी एक सीमा होती है। इस कारण से भी फर्म के विस्तार में बडी बाधा होती है। व्यवसाय के विस्तार के साथ-साथ प्रबन्ध और देख-रेख सम्बन्धी कठिनाइया भी बढती जाती है। जब जब श्रम विभाजन अधिक बढता है, और एक नई शाखा या नया विभाग खोला जाता है, तब विभिन्न विभागो को सम्बद्ध करने का काम अधिक कठिन हो जाता है। "एक बडा फर्म पहियो के अन्दर पहियो की एक कतार के समान है। वह एक शासनसूत्र के समान है।

सम्बद्ध करने की कठिनाई

जिसमें प्रत्येक निर्णय लेते समय एक आदमी की सलाह लेनी पडती है, दूसरे आदमी से पूछ-ताछ करनी पडती है, तीसरे आदमी से आज्ञा लेनी पडती है, चौथे आदमी से समझौता करना पडता है और इस प्रकार निर्णय लेने में चाहे जितना समय लग जाता है।" एक समय ऐसा आता है, जब फर्म बहुत भारी हो जाता है और उसका प्रबन्ध करना कठिन हो जाता है। विभिन्न विभागो को सम्बद्ध और सगठित करना, हजारो श्रमिको के काम की देख-रेख करना, कई शाखाओं को सभालना यह सब काम इतना भारी हो जाता है कि बडी मात्रा में उत्पादन की जो बचत होती है, उस सबको वह निगल जाता है। तीसरे बडे पैमाने पर उत्पादन करने के लिये किसी फर्म को काफी धन की आवश्यकता पड़ेगी। सम्भव है कि विस्तार करने के लिये उपयुक्त समय पर रुपया न मिले। जो व्यवसायी अपने फर्म का विस्तार करना चाहे, यदि उसके पास आवश्यक धन नही

धन सम्बन्धी बाधाएं

है तो उसे बैंक अथवा अन्य संस्थाओं से लेने का प्रबन्ध करना पड़ेगा। परन्तु सम्भव है कि वे ब्याज दर अधिक मांगें जो वह न दे सके। तब वह अपने फर्म को मिश्रित पूंजीवाली कम्पनी (joint-stock company) बनाकर जनता से रुपया इकट्ठा करने का प्रयत्न करेगा। तब उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता खतम हो जायगी, क्योंकि उसे हिस्सेदारों की इच्छानुसार काम करना पड़ेगा। इसका उसके साहस और योग्यता पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है। जिससे उसके फर्म का सुप्रबन्ध और कुशलता बिगड़ने का डर रहता है। चौथा उत्पादित माल में काफी तेजी-मन्दी का डर रहता है। इससे बड़ा कारखाना नुकसान में आ सकता है। बड़े कारखाने का ढांचा और प्रबन्ध बड़े पैमाने पर होता है। इसलिये जब मांग का रुख बदलता है, तो कारखान को नई परिस्थितियों के अनुसार बदलने में बड़ी कठिनाई होती है। इसके कारण व्यवसाय के विस्तार में बड़ी बाधा आती है। अन्त में यद्यपि किसी फर्म में विस्तार द्वारा उत्पादन की बचत करने की शक्ति होती है परन्तु वह वास्तव में ऐसा करने में

विस्तार की लागत

समर्थ न हो, क्योंकि 'विस्तार की लागत'[1] के कारण उसे लाभ की सम्भावना न हो। विस्तार की लागत बाधक बन सकती है। अपने उत्पादन की बिक्री के लिये फर्म को रुपया खर्च करना पड़ेगा। विस्तार करने के प्रयत्न में बिक्री का संगठन करने में इतना खर्च पड़ सकता है कि विस्तार से कोई लाभ न हो। अपूर्ण बाजार तथा उदासीन खरीदार व्यवसाय के विस्तार को सीमित कर देते हैं।

छोटे उत्पादक की सुविधाएं

छोटे कारखानों को उत्पादन सम्बन्धी कुछ सुविधाएं प्राप्त रहती हैं, जिनके कारण उनका अस्तित्व बना रहता है। छोटे व्यवसायों के मालिकों की व्यक्तिगत शक्ति उनकी बड़ी भारी सम्पत्ति और साधन होती है। कुछ ऐसे आदमी होते हैं, जो दूसरों की अपेक्षा स्वयं अपने लिये अधिक लगन और योग्यता के साथ काम करेंगे। वे काम का प्रत्येक अंश अच्छी तरह देख भाल कर सकते हैं। मजदूर हरदम उनकी दृष्टि के सामने रहते हैं, इसलिये कामचोरी का मौका नहीं आता। मालिक के व्यक्तित्व और कार्यशक्ति का प्रभाव नौकरों पर भी पड़ता है और वे जी लगाकर काम करते हैं। छोटे व्यवसायी की दूसरी सुविधा यह है कि उसके सामने परस्पर विरोधी विभागों को सम्बद्ध करने का प्रश्न नहीं आता। छोटे-से फर्म को थोड़े-से आदमियों से सलाह और पूछ-ताछ करनी पड़ती है, इसलिये वह निर्णय भी शीघ्रतापूर्वक कर सकता है। जिस उद्योग में जल्दी-जल्दी तत्काल निर्णय

---

१ E. A. G. Robinson. 'The Structure of Competitive Industry', Page 120.

करने पड़ते है, वहा छोटे फर्मों की ही विजय होती है और वे उन्नति करते है। इसलिये जिन उद्योगो में फैशन और उत्पादन के तरीके जल्दी-जल्दी बदलते रहते है, उनमें अधिकाश छोटे फर्मो की बहुतायत रहती है। इन उद्योगों में प्रामाणिकता या दर्जाबन्दी (Standardisation) समव नही होती। छोटे उत्पादक को कलात्मक वस्तुए बनाने की भी सुविधाए रहती है। वह प्रत्येक वस्तु के बनाने में अधिक समय लगा सकता है। उसकी वस्तुओ की बनावट अच्छी रहेगी। इस प्रकार के उद्योगो में अभी तक छोटे उत्पादक बड़े-बड़े उत्पादको का मुकाबिला साहस और सफलतापूर्वक करता आया है।

उद्योगों का स्थानीयकरण, उसके कारण और परिणाम (Localization of Industries Its Causes and Effects)—उद्योगो के स्थानीयकरण का अर्थ यह है कि विशेष प्रकार के धन्धे देश के अलग-अलग स्थानो में केन्द्रित हो जाते है। जब एक ही वस्तु बनानेवाले या बेचनेवाले बहुत-से फर्म विशेष क्षेत्रों में केन्द्रित हो जाते है, तब ऐसा कहा जाता है कि इस उद्योग का इस क्षेत्र में स्थानीयकरण हो गया। जैसे कि भारत में जूट का उद्योग कलकत्ता में केन्द्रित है और स्काटलैण्ड में डंडी में। भारतवर्ष के सूती कपडे का उद्योग बहुत कुछ बम्बई और अहमदाबाद में केन्द्रित है।

देश के विभिन्न भागो में विभिन्न उद्योगो का स्थानीयकरण किन कारणो से होता है? कोई भी उत्पादक अपने व्यवसाय को ऐसे स्थान में स्थापित करने का प्रयत्न करेगा, जहा उत्पादन-खर्च कम से कम हो। इसलिये वह स्थान चुनते समय कई बातो को ध्यान में रखेगा। जिससे एक तो उत्पादन की लागत कम हो और दूसरे आवागमन का खर्च कम से कम हो। इन कारणो को हम भौतिक आर्थिक और राजनैतिक विभागो में बाट सकते है।

स्थानीयकरण के कारण

भौतिक कारण सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इनमें जलवायु जमीन अथवा खनिज पदार्थ का पास में होना और जमीन अथवा पानी द्वारा सुगम आवागमन शामिल है। धातुओ के उद्योग वहा केन्द्रित हुए है, जहा या तो खदानें पास में है या ईंधन पास में है। यदि कच्चा माल और ईंधन एक ही स्थान में प्राप्त हो, तो स्थानीयकरण बड़ी आसानी से हो जाता है। चूंकि बिहार और छोटा नागपुर में लोहे और कोयले की खदानें पास-पास में है, इसलिये वहां लोहे के कई कारखानें स्थापित हो गये है। भौतिक और जलवायु सम्बन्धी कारण कच्चे सामानों का वितरण और किसी कारखाने की स्थिति के लिये वातावरण निश्चित करते है। इन्ही के द्वारा बन्दरगाह, समुद्र और नदियों की स्थिति और महत्व निश्चित होता है, क्योंकि कच्चे

(अ) भौतिक कारण

(१) कच्चा माल पास में मिलना

और बने हुए माल के आवागमन के ये साधन है। केन्द्रीयकरण बहुत हद तक बाजार के विस्तार पर निर्भर होता है और बन्दरगाहो तथा नदियो द्वारा बाजार का विस्तार बढ जाता है। इगलैण्ड में अधिकतर उद्योग बन्दरगाहो के पास स्थित है। वहा से वे सारे ससार के बाजारो में अपना माल भेजते है। यदि

(२) भौतिक और जल-वायु सम्बन्धी कारण

पास में उत्पादन के लिये चालक-शक्ति प्राप्त हो तो वह भी स्थानीयकरण का एक कारण हो जाती है। पहिले जमाने मे तेज बहने-वाली नदियो के किनारे कारखाने स्थापित किये जाते थे। आजकल कारखाने वहा केन्द्रित होते है, जहा जल-विद्युत्-शक्ति या कोयले की खदानें हो।

(३) चालक-शक्ति का पास में होना

आर्थिक कारणों में बाजार तक पहुच (accessibility) सबसे महत्व-पूर्ण है। इसमें सन्देह नही कि आर्थिक कारण नदियो और बन्दरगाहो की भौतिक स्थिति से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते है। प्राय बडे-बडे शहरो के आस-पास कारखाने स्थापित किये जाते है, जहा उनका माल आसानी से बिक सके। बहुत से उद्योग बडे-बडे रेलवे जकशनो के पास केन्द्रित हो जाते है, क्योकि वहा भी उन्हें बडे बाजार मिलने की सुविधा रहती है। स्थानीयकरण का एक महत्वपूर्ण कारण काफी मात्रा में श्रम मिलने की सुविधा भी है। कलकत्ता में बहुत से उद्योगो के स्थानीयकरण का एक कारण यह भी है कि कलकत्ता तथा उसके आसपास मजदूर काफी सख्या में मिलते रहते है। कभी-कभी ऐसा होता है कि सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक कारणो से एक प्रकार का काम जाननेवाले कुशल कारीगर और मजदूर एक स्थान में बस जाते है। इस कारण से भी उस स्थान पर कोई उद्योग केन्द्रित हो सकता है। क्योंकि वहा श्रमिक मिलने की सुविधा रहती है।

(ब) आर्थिक कारण

(१) बाजार तक पहुच

(२) काफी मात्रा में श्रम मिलना

राजनैतिक कारणो में राजघरानो की कृपा उद्योगो के केन्द्रीयकरण मे बहुत सहायता पहुचाती है। ढाका में मलमल का उद्योग और मुर्शिदाबाद में रेशम का उद्योग वहा के हिन्दू और मुस-लमान राजाओ की कृपा से उन्नत हुआ।

(स) राजनैतिक कारण राजा की कृपा

किसी उद्योग का किसी स्थान में केवल इसलिये स्थानीयकरण हो सकता है कि उस स्थान में कुछ व्यवसायी बस गये है और वहा व्यवसाय करते है। कई फर्में एक स्थान में इसलिये जम सकते है कि उस स्थान का नाम कुछ वस्तुए बनाने के लिये प्रसिद्ध हो।

स्थान प्रसिद्धि

शेफील्ड के कांटे और छुरी आदि तथा स्विट्जरलैंड की घडिया ससार भर में प्रसिद्ध है। इस

प्रसिद्धि के कारण उन स्थानो में नये फर्म भी अपना व्यवसाय आरभ करेंगे, जिसमें उन्हें 'शेफील्ड की बनी' या 'स्विट्जरलैंड की बनी' इत्यादि ट्रेड मार्कों का लाभ मिल सके ।

जब कोई उद्योग एक स्थान में जम जाता है, तो उस स्थान का पूरा लाभ उठाने के लिये वह उस स्थान में लम्बे समय तक जमा रहता है । एक तो उस स्थान की बनी वस्तुओ का नाम हो जाता है, इसलिये वस्तुओ के दाम अच्छे मिलते हैं । जैसे शेफील्ड के बने काटे और छुरी तथा स्विट्जरलैंड की घडियो का नाम ससार-प्रसिद्ध है । लोगो का उनके गुणो में विश्वास है । उनके दाम अच्छे मिलते हैं और बेचने में भी कठिनाई नही होती । दूसरे उस स्थान के श्रमिक उस उद्योग में परम्परागत कुशलता पाते आते हैं । ऐसा लगता है, मानो उस स्थान के वातावरण में उस उद्योग की विशेषता भरी रहती है और बच्चे उसे अपने आप सीख लेते हैं । तीसरे उस स्थान में एक विशेष प्रकार की कुशलता के लिये एक बाजार तैयार हो जाता है । उस उद्योग सम्बन्धी कुशलता प्राप्त लोग जगह-जगह से उस स्थान में आते हैं, क्योंकि वे जानते है कि उनके कुशल श्रम की माग वहा बराबर बनी रहती है । इसलिये उस स्थान में उस उद्योग सम्बन्धी नये फर्म भी स्थापित होते जाते हैं, क्योकि वहा उन्हें व्यवसाय सम्बन्धी कुशल श्रम आसानी से मिल जाता है । चौथे उस स्थान मे बहुत से सहायक धन्धे स्थापित हो जाते हैं । ये सहायक उद्योग कई प्रकार से प्रधान केन्द्रीय उद्योग की सहायता करते हैं । वे उसे कच्चे सामान तथा औजार, कल-पुरजे इत्यादि देते हैं । उसके गमनागमन का सगठन करते हैं, उसकी उप-उत्पत्तियों का कई प्रकार से उपयोग करते है और कई तरह से उसकी बचत कराते हैं । पाचवें स्थानीयकरण से विशेष प्रकार की मशीनो का उपयोग बढता है । ये मशीनें विशेष कार्यों के लिये बनती हैं । जब उस स्थान में स्थापित कई फर्मों में प्रतियोगिता होती है, तो इन मशीनो में अधिक उन्नति होने तथा नये आविष्कार होने का मौका रहता है । छठें जिस उद्योग का स्थानीयकरण हो जाता है, उसे काफी पूजी मिलने की सुविधाए प्राप्त हो जाती हैं । बैंक और पूजी देनेवाले फर्म ऐसे स्थानो और उद्योगों पर विशेषरूप से अपनी दृष्टि रखते हैं । यहा पूजी लगाना उन्हें अधिक लाभदायक प्रतीत होता है ।

स्थानीयकरण के लाभ

परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि स्थानीयकरण से हानि नहीं होती । पहिला नुकसान तो यह है कि किसी उद्योग-विशेष में एक ही प्रकार के श्रम की आवश्यकता होती है । फल यह होता है कि कुटुम्ब के अन्य लोग जैसे स्त्री और बच्चे बेकार रहते हैं । जैसे, पक्का लोहा बनानेवाले कारखानो में केवल पुरुषो को काम दिया जाता है । वहा स्त्रियो और बच्चो को काम नही दिया जाता । चाहे पुरुषों की मजदूरी की दर अधिक हो । पर वह इतनी ऊची नही रहती कि बिना अन्य किसी

स्थानीयकरण से हानियां

आय के केवल अपनी कमाई से वह सारे कुटुम्ब का भरण-पोषण कर सकें। उद्योगपतियों के सामने भी एक कठिनाई रहती है। पुरुषों को उन्हें मजदूरी ऊंची दर से देनी पड़ती है, परन्तु इससे उनका उत्पादन का लागत खर्च बढ़ जाता है। लेकिन यह कठिनाई दूर की जा सकती है। यदि सहायक उद्योग स्थापित कर दिये जायं तो वहां स्त्रियों और बच्चों को काम दिया जा सकता है। दूसरा नुकसान यह है कि स्थानीयकरण से देश का एक भाग दूसरे भाग पर निर्भर हो जाता है। कभी-कभी एक देश आवश्यक वस्तुओं के लिये दूसरे देश पर निर्भर हो जाता है। यदि किसी केन्द्रित उद्योग में मन्दी आती है तो बहुत से लोग बेकार हो जाते हैं अथवा यदि किसी कारण से उत्पादन रुक जाता है तो लोगों को कष्ट सहना पड़ता है। इसलिये एक स्थान में कई प्रकार के उद्योग स्थापित करने चाहिये। लेकिन इस उपाय से भी हम किसी उद्योग में मंदी नहीं रोक सकते।

युक्तिसंगत पुनर्संगठन का अर्थ

युक्तिसगत पुनर्संगठन (Rationalization)—दो महायुद्धों के बीच में जो समय बीता, उसमें समाज की परिस्थिति में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए। इसी बीच में बराबर यह प्रयत्न होता रहा है कि परिवर्तनों के अनुसार उद्योग के संगठन में भी परिवर्तन करने की आवश्यकता है। परिवर्तन होते भी रहे हैं। इसी को युक्तिसंगत पुनर्संगठन कहते हैं। संक्षेप में इसका अर्थ उद्योग में तर्क या युक्ति का उपयोग करना है। सन् १९२७ में विश्व आर्थिक सम्मेलन में इस शब्द की व्याख्या में कहा गया था कि युक्तिसंगत पुनर्संगठन का अर्थ 'उत्पादन की क्रिया और संगठन को इस प्रकार रखना है, जिससे साधन और श्रम की बरबादी कम से कम हो।' इसमें कई बातें शामिल हैं, जैसे वस्तुओं और सामानों का एक दर्जा बांध देना, प्रकार भेद या बहुतायत को कम करके उसमें समानता और सरलता लाना, उत्पादन क्रिया में बरबादी को कम करना, प्रबन्ध वैज्ञानिक ढंग पर करना, आदमी के श्रम के बदले मशीन का अधिकतम उपयोग, समान और विशिष्ट मशीनों के उपयोग के लिये विभिन्न व्यवसायियों में सहयोग, जो फर्म या कम्पनियां लाभपूर्वक नहीं चलती उनको बन्द कर देना, ऊपरी खर्च में कमी और बिक्री सम्बन्धी खर्च में कमी। संक्षेप में युक्तिसंगत पुनर्संगठन उत्पादन का लागत खर्च कम करने का एक वैज्ञानिक तरीका है। 'इसका अर्थ राष्ट्रीय अर्थनीति के सम्बन्ध में तथा अन्य उद्योगों के सम्बन्ध में किसी एक उद्योग का जागृत नेतृत्व है।'[1] यह साहस, बुद्धि और धन का एकीकरण है।

युक्तिसंगत पुनर्संगठन की कई विधियां हैं। जैसे कि केवल पूंजी सम्बन्धी युक्तिसंगत पुनर्संगठन हो। किसी व्यवसाय में आवश्यकता से अधिक पूंजी लगी हो और उसमें पूंजी की कमी की जावे अथवा व्यवसाय का मिश्रण (integration of enterprise) हो सकता है। यह मिश्रण 'खड़ा मिश्रण' (किसी वस्तु के भिन्न-भिन्न भाग बनानेवालों

१ Rationalization of the German Industry, Page 7.

युक्तिसंगत पुनर्संगठन की कठिनाइयाँ

जैसा प्रोफेसर क्ले (Prof. Clay) ने कहा है कि युक्तिसंगत पुनर्संगठन के मार्ग में बहुत-सी बाधाएं आती हैं। सबसे पहिली समस्या पुनर्संगठित उद्योग की कीमत की नीति से सम्बन्ध रखती है। यद्यपि यह कहा जाता है कि युक्तिसंगत पुनर्संगठन से वस्तुओं के दामों में कमी होती है, परन्तु हमेशा यह खतरा बना रहता है कि व्यवसायी मिलकर पुनर्संगठन के द्वारा एकाधिकार की सुविधा बना लें और कीमत की दर ऐसी रक्खें कि उन्हें एकाधिकार के समान लाभ हो। जब प्रतियोगिता की परिस्थिति रहती है, तब बाजार में कीमत की दर, माल और पूर्ति का परस्पर प्रभाव बांधता है और कम्पनियां व्यक्तिगत रूप से अपने उत्पादन का बाजार दर के साथ मेल कराती रहती हैं।

(१) एकाधिकार की कीमत लगाई जा सकती है

परन्तु युक्तिसंगत पुनर्संगठन में ऐसा भी नहीं होगा। तब मूल्य स्थिर करते समय 'उपभोक्ता के हितों का' कम्पनी के हिस्सेदारों के हितों का, सुरक्षित धन '(reserve) का और आकस्मिक खर्च (contingency) का सामञ्जस्य करना पड़ेगा।"[1] उद्योगपति समाज विरोधी-नीति ग्रहण करके कीमत बढ़ा सकते हैं। तब इस कठिनाई का हल केवल राज्य शासन के हाथ में रह जाता है।

(२) उपयुक्त नेता कैसे मिलें

उसके बाद नेतृत्व की समस्या आती है। इस युग के व्यावसायिक नेता चाहे काम संभाल लें। परन्तु अगली पीढ़ी के लिये हम क्या कह सकते हैं। क्या युक्तिसंगत पुनर्संगठित उद्योगों के लिये योग्य नेता मिल सकते हैं, जो उन्हें सफलतापूर्वक चला सकें। उद्योगों के बड़े पैमाने पर मिश्रण के कारण जो बड़ी-बड़ी विशालकाय कम्पनियां और ट्रस्ट बन रहे हैं, उनके कारण स्वतन्त्र वृत्ति के महत्वाकांक्षी नवयुवकों को व्यवसाय में प्रवेश और उचित स्थान पाना कठिन हो रहा है। मानसिक परिस्थिति ऐसी हो उठी है कि योग्य व्यक्तियों को बड़े-बड़े व्यावसायिक फर्मों में साधारण नौकरियों से सन्तोष करना पड़ता है। युक्तिसंगत पुनर्संगठित उद्योगों में योग्य व्यावसायिक नेताओं का मिलना एक महान् समस्या होती जा रही है।

(३) युक्तिसंगत पुनर्संगठन और बेकारी

पुनर्संगठन के विरुद्ध एक आरोप यह है कि उसके कारण बेकारी बढ़ती है। युक्तिसंगत पुनर्संगठन का मुख्य ध्येय यह है कि प्रति श्रमिक से अधिक काम करा सके। जब पुनर्संगठन किया जाता है, तब श्रम में बचत की जाती है। अने-

---

१ MacGregor. Economic Journal, 1927.

रिका के संयुक्तराष्ट्र में सन् १८९९ से सन् १९१३ के बीच में उद्योग में मशीनीकरण की प्रगति बहुत हुई। उद्योग में उत्पादन प्रति श्रमिक १६.३ प्रतिशत बढ़ गया। और श्रम १९२१ से १९२७ के बीच में अर्थात् ६ वर्षों में उत्पादन प्रति श्रमिक पीछे ४० प्रतिशत बढ़ा। इसलिये यह कहा जा सकता है कि युक्तिसंगत पुनर्संगठन में मशीनीकरण के कारण बेकारी बढ़ी। परन्तु सब प्रकार के युक्तिसंगत पुनर्संगठन में बेकारी नहीं बढ़ती। *उदाहरण के लिये यदि केवल पूंजी सम्बन्धी पुनर्संगठन किया तो बेकारी नहीं बढ़ेगी।* लेकिन यदि उद्योगों का मिश्रण हो और उत्पादन का प्रामाणिकपन हो तो बेकारी बढ़ेगी। जब वस्तुओं के दाम गिर रहे हों, *तब यदि युक्तिसंगत पुनर्संगठन किया जाय तो बेकारी* बढ़ सकती है। क्योंकि गिरते दामों के समय में मजदूरी की

कुछ परिस्थितियों में बेकारी बढ़ सकती है

दर में उतनी कमी नहीं होती, जितनी होनी चाहिये। और खर्च में कमी करने के लिये व्यवसायी कुछ श्रमिकों को निकालने का प्रयत्न करेंगे। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि युक्तिसंगत पुनर्संगठन के कारण हमेशा बेकारी बढ़ेगी। आविष्कारों और वैज्ञानिक उन्नति के कारण समाज की क्रय-शक्ति नष्ट नहीं होती। केवल उसकी दिशा बदल जाती है। यदि एक प्रकार की कुछ वस्तुओं की मांग कम होती है तो दूसरी प्रकार की अन्य वस्तुओं की मांग बढ़ जाती है। इसके सिवा युक्तिसंगत पुनर्संगठन से वस्तुओं के दाम कम हो जाते हैं और उपभोक्ता उतनी ही वस्तुओं को कम दामों में पा जाता है। इसलिये उनके पास खर्च करने के लिये कुछ अधिक द्रव्य बच जायगा। यदि इस अधिक द्रव्य को उपभोक्ता खर्च करने या व्यवसाय में लगाने के बदले जमा करे तो बेकारी बढ़ेगी।"[1]

लेकिन यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि युक्तिसंगत पुनर्संगठन के कारण उद्योग का जो लाभ होता है, उससे नये उद्योगों के लिये रास्ता खुल जाता है। इसलिये यह संभव है कि उपभोक्ता जो अधिक द्रव्य बचायेंगे, उसे लाभदायक व्यवसाय में लगायेंगे। यदि ऐसा हो तो बेकारी का डर न रहेगा। इसके सिवा दीर्घकाल में कीमतों की कम दर और रहन-सहन के दर्जे की ऊंची सतह के कारण बेकारी *की मात्रा बहुत घट जायगी। परन्तु इस दीर्घकाल की अवधि बहुत लम्बी हो सकती है।* इस बीच में अस्थायी बेकारी रहेगी। अन्तरिम काल में श्रम की गतिहीनता (immobility) के कारण कई मनुष्यों का काफी हानि हो सकती है। साथ ही परिवर्तन काल की अवधि भी बढ़ जायगी। इस अस्थायी अव्यवस्था को छोड़कर युक्तिसंगत पुनर्संगठन अथवा मशीनीकरण की उन्नति से बेकारी नहीं बढ़ती। सन् १९२४ से १९२७

---

[1] Gregory, 'Rationalisation and technological unemployment" Economic Journal, 1930

तक, चार वर्ष में जर्मनी में जो युक्तिसंगत पुनर्संगठन हुआ उसके पहिले १८ महीनों में बेकारी में काफी कमी हुई। उसके बाद के १८ महीनों में बेकारी काफी बढ़ी और अन्तिम वर्ष में बेकारी में फिर काफी कमी हुई। इन परिस्थितियों को देखते हुए यह कहना कठिन है कि युक्तिसंगत पुनर्संगठन और बेकारी में कोई सम्बन्ध है।"[1]

ग्यारहवां अध्याय

व्यवसाय का संगठन

(Organization of Business)

व्यवसायी वर्ग की उत्पत्ति और प्रमुखता आधुनिक औद्योगिक क्रान्ति का स्वाभाविक परिणाम है। औद्योगिक क्रान्ति के पहिले उत्पादन के तरीके सीधे-सादे थे, बाजार सीमित था और पूंजी का उपयोग भी कम मात्रा में किया जाता था। उत्पादन के कार्यों का और साधनों का परस्पर संगठन अधिक कठिन और कष्टदायक नहीं था। इसलिये उद्योगों के प्रबन्ध के लिये श्रेष्ठ व्यक्तियों की आवश्यकता नहीं रहती थी। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति ने परिस्थिति बदल दी। अब उत्पादन बड़ी मात्रा में होता है, कीमती और बारीक पेंचीली मशीनों का उपयोग होता है, पूंजी का उपयोग बड़ी मात्रा में होता है, सारे संसार की मांग स्थिति का अध्ययन करना पड़ता है और उसी के अनुसार उत्पादन करना पड़ता है और उत्पादन तथा बिक्री में जोखिम का सामना करना पड़ता है और साहस की आवश्यकता होती है। उत्पादन के विभिन्न साधनों का उपयुक्त अनुपात में मिलना बड़ा कठिन काम हो गया है। इसलिये जो मनुष्य उद्योगों का संगठन करते हैं, अब उनका महत्त्व बहुत बढ़ गया है। जो मनुष्य आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था का संचालन करते हैं, उन्हें साहसी व्यवसायी (entrepreneurs) कहते हैं।

साहसी व्यवसायी वे लोग हैं जो आधुनिक जटिल उत्पादन प्रथा की व्यवस्था और संचालन करते हैं।

साहसी व्यवसायी के कार्य (Functions of the Entrepreneur)—आजकल के साहसी व्यवसायी का महत्त्व बहुत अधिक है। वह इस बात का निर्णय करता

---

[1] *Henery Fuss "Rationalisation and Unemployment"* International Labour Review June 1928

है कि किसी वस्तु का उत्पादन करना, कहां करना और कैसे करना। आरम्भ से अन्त तक वह पूरे व्यवसाय का नक्शा तैयार करता है। वह उत्पादन की मात्रा और किस्म का निर्णय करता है। वह चुनकर अच्छी मशीनें खरीदता है और माल को व्यर्थ नष्ट नहीं होने देता। वह उत्पादन के विभिन्न साधनों का उपयुक्त अनुपात में मिलान करके उनका पारस्परिक सगठन करता है और प्रत्येक साधन का उपयोग उसी काम में करता है, जिसके लिये वह सबसे अधिक उपयुक्त है।

वह निर्णय करता है कि क्या, कहां और कैसे उत्पन्न करना

प्राचीन अंग्रेज अर्थशास्त्रियों (classical economists) का मत था कि व्यवस्था करना साहसी व्यवसायी का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य था। अपने व्यवसाय के उत्पादन सम्बन्धी विभिन्न कार्यों की व्यवस्था और देख-रेख करना उसी का कार्य था। लेकिन मिश्रित पूंजीवाली अथवा ज्वॉइन्ट स्टॉक कम्पनियों की उन्नति के साथ-साथ यह कार्य वेतनभोगी व्यवस्थापकों या मैनेजरों के हाथों में अधिकाधिक आता गया है। इन वेतनभोगी व्यवस्थापकों को हम साहसी व्यवसायी नहीं कह सकते। इसलिये अब यह आवश्यक नहीं समझा जाता कि साहसी व्यवसायी स्वयं अपने उद्योगों की व्यवस्था करें। छोटे उद्योगों में यह बात विशेषकर लागू होती है। साहसी व्यवसायी और वेतनभोगी व्यवस्थापक में यह अन्तर है कि व्यवसाय का असली भार और अन्तिम जिम्मेदारी साहसी व्यवसायी के ऊपर रहती है। पूरे व्यवसाय पर उसका वास्तविक अधिकार होता है। साहसी व्यवसायी एक या एक से अधिक व्यक्ति होते हैं, जो व्यवसाय पर अधिकार रखते हैं और उसकी नीति निश्चित करने का भी पूर्ण अधिकार रखते हैं।

वह व्यवसाय का अधिकारी होता है

उसके कुछ वितरण सम्बन्धी काम भी होते हैं। व्यवसाय की पूरी आय उसके हाथ में आती है। उसे भूमि, श्रम और पूंजी को उपयुक्त पुरस्कार देना होता है। यदि हानि भी होती है, तो ये साधन हानि न सहेंगे। उन्हें शर्तों के अनुसार पारिश्रमिक या वेतन मिलना ही चाहिये।

वह साधनों के आय वितरण करता है

इसलिये साहसी व्यवसायी का सबसे महत्त्वपूर्ण काम जोखिम (risk) लेना है। इसमें सन्देह नहीं कि उत्पादन के प्रत्येक काम में जोखिम रहता है, परन्तु साहसी व्यवसायी का जोखिम एक विचित्र प्रकार का होता है। उसके जोखिम की परिमिति नहीं होती। वह अनिश्चित होता है और मापा नहीं जा सकता। भविष्य की माग की आशा पर आधुनिक उत्पादन होता है। माल को तैयार कर बाजार तक

उसका सबसे बड़ा काम जोखिम लेना है।

लाने में महीनों लग जाते हैं। इसलिये साहसी व्यवसायी या उद्योगपति को पहिले वस्तु की माँग का अध्ययन करना पड़ता है। फिर वह यह देखता है कि वह वस्तु बाजार में कितनी मात्रा में प्राप्य है, अर्थात् उसकी पूर्ति कितनी है। तब वह उसका उत्पादन हाथ में लेता है। यदि उसके अध्ययन और हिसाब में कहीं गलती हो जाय तो सम्भव है कि लाभ के बदले उसे हानि उठानी पड़े। आधुनिक उत्पादन और बिक्री की प्रणाली इतनी जटिल है कि अधिकतर यही सम्भावना रहती है कि उसका अन्दाज और हिसाब चाहे जब अदृष्ट कारणों से गलत हो सकता है। फैशन बदल जा सकती है, जिससे किसी वस्तु की माँग बिलकुल न रहे। कोई नया आविष्कार हो जावे जिससे उद्योगपति के उत्पादन के तरीके पुराने हो जावें। उनसे लाभ होने की कोई आशा न रहे। वह इस प्रकार के जोखिम अपने सिर पर लेता है, इसलिये उत्पादन की आधुनिक प्रणाली में उसका इतना महत्त्व है।

कुछ लेखकों का मत है कि उत्पादन कार्य में साहसी उद्योगपति का एक विशेष कार्य होता है। उसका मुख्य कार्य नये-नये तरीके (innovation) निकालना है। अपने व्यवसाय में वह मार्गदर्शक होता है। वह नये काम हाथ में लेता है, उन्हें करने के नये तरीके ग्रहण करता है। वह आविष्कार और उन्नत तरीकों के ग्रहण करने में दूसरे लोगों से आगे बढ़ता जाता है।

नये तरीके ग्रहण करना

साहसी व्यवसायी वर्ग की पूर्ति (The Supply of the Entrepreneur Class) उद्योग के महान पथ-प्रदर्शकों में उस क्षेत्र में नेतृत्व के लक्षण जन्मजात होते हैं। शिक्षा-दीक्षा द्वारा वे नहीं प्राप्त किये जाते। विलक्षण और विचक्षण लोगों की बुद्धि की प्रखरता के कारण जानना मनुष्य के ज्ञान के बाहर की बात है। अवसर का सदुपयोग करने की स्वतन्त्रता और समानता तथा शिक्षा के विस्तृत प्रसार द्वारा इस प्रकार के प्रखर बुद्धि के मनुष्य मिलना सम्भव होता है।

प्रखर बुद्धिवाले मनुष्य बहुत कम होते हैं।

परन्तु व्यवसाय की औसत योग्यता प्राप्त कर लेना कठिन कार्य नहीं है। साधारण और विशिष्ट शिक्षा के प्रचार से उद्योग में लगे हुए मनुष्य अधिक बुद्धिमान हो जाते हैं। और अवसर मिलने पर यही लोग योग्य व्यवसायी हो सकते हैं। जो मनुष्य किसी उद्योग में लगा हो, उसके पुत्र को अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक सुविधाएं प्राप्त होंगी। एक बार जब दूकान चल पड़ती है, तब उसे साधारण योग्यतावाला मनुष्य भी चालू रख सकता है। बड़े-बड़े उद्योगपतियों के पुत्रों ने स्वतः साधारण योग्यता रखते हुए भी अपने पितरों के व्यवसाय को सफलतापूर्वक चालू रखा है। यह भी सच है कि कभी-कभी पुत्र अपने पिता के उद्योग-व्यवसाय को सफलतापूर्वक नहीं चला सके। लेकिन उनकी अयोग्यता का यह अर्थ नहीं है कि व्यवसाय नष्ट हो जायगा। ऐसा हो सकता है कि वे किसी योग्य मनुष्य या मनुष्यों को साझेदार बनाकर व्यवसाय का चलाना उसके ऊपर छोड़ दें और स्वयं अपने

हिस्से की मुनाफे की बडी रकम लेकर सुप्त साझी (sleeping partner) बने रहें। इस प्रकार उद्योग में निम्न श्रेणियों के योग्य मनुष्य ऊपर की ओर चढते रहते हैं। *निम्न श्रेणियो में ऐसे लोग होते हैं, जो थोडी पूंजी लगाकर भी योग्यतापूर्वक व्यवसाय* करते हैं और बडे-बडे उद्योगपतियो से प्रतियोगिता करते हैं। समय पाकर यही लोग बडे-बडे उद्योगपति बन जाते हैं। विश्वविद्यालय की समुचित शिक्षा और अनुभव भी व्यावसायिक योग्यता बढाते हैं।

व्यवसाय सगठन के भेद (Forms of Business Organisation)—अब हम यह देखेंगे कि कानून के अनुसार उद्योगो का सगठन कितने प्रकार का होता है। साधारणत इनका वर्गीकरण पाच प्रकार से किया जाता है—व्यक्तिगत उद्योग, साझेदारी का उद्योग, मिश्रित पूंजी का उद्योग, सहकारी उद्योग और सरकारी उद्योग।

व्यक्तिगत उद्योग व्यवस्था (The Single Entrepreneur System)—इस व्यवस्था में उद्योग व्यवसाय का मालिक और प्रबन्धकर्त्ता केवल एक व्यक्ति होता है। वह अकेला व्यवसाय की सफलता अथवा असफलता के लिये जिम्मेदार होता है। एक छोटी दूकान रखनेवाला बनिया या अपनी थोडी-सी जमीन स्वय जोतनेवाला किसान इसके अच्छे उदाहरण हैं। इस प्रकार के व्यवसाय में कई लाभ हैं। मालिक अपने व्यवसाय में व्यक्तिगत दिलचस्पी लेता है और इस बात का भरसक प्रयत्न करता है कि वह उसे सुव्यवस्थित और सुसगठित बनावे। दूसरे चूकि वह अपने व्यवसाय के लिये स्वय जिम्मेदार है, इसलिये उसे इच्छानुसार काम करने की स्वतन्त्रता रहती है। उसे बहुत से साझेदारो और हिस्सेदारो की सलाह लेने की आवश्यकता नही रहती, जो उसके काम में बाधा डाल सकते हैं। उसे साझेदारो के जरिये अपने व्यवसाय के गुप्त भेदो के प्रकट होने का डर नही रहता। अन्तिम, छोटे व्यवसाय में व्यवस्था सीधी-सादी होती है और उसमें अधिक पूंजी की आवश्यकता नही होती। ऐसे व्यवसाय में एक आदमी बहुत अच्छी तरह अपनी योग्यता भर चमक सकता है। वह अपने ग्राहको की रुचि के अनुसार वस्तुओ का उत्पादन कर सकता है। वह सुन्दर कारीगरी की वस्तुए बना सकता है।

लाभ

इस व्यवस्था का सबसे बडा दोष यह है कि एक व्यक्ति अपने व्यवसाय में बडी मात्रा में पूंजी नही लगा सकता। आधुनिक उद्योग व्यवसायो में बडी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता पडती है। यदि वह बडी मात्रा में पूंजी लगा भी सकता है, तो भी उसमें खतरा बहुत अधिक रहता है, क्योकि व्यवसाय की असफलता की पूरी जिम्मेदारी केवल उसी के सिर पर रहती है। इसलिये वर्तमान समय में इस प्रकार की व्यवसाय व्यवस्था कम हो रही है और उसका स्थान मिश्रित पूंजी वाली कम्पनिया ले रही हैं। केवल कृषि के क्षेत्र में व्यक्तिगत व्यवस्था काफी बडे रूप में देखी जाती है।

दोष

कम्पनी और साझेदारी में अन्तर

कम्पनी कुछ व्यक्तियों को मिलाकर बनती है, जिन्हें शेयर होल्डर या स्टॉक होल्डर कहते हैं। ये व्यक्ति मिलकर किसी विशिष्ट व्यवसाय को चलाने का और उसके लिये पूंजी इकट्ठी करने का निर्णय कर लेते हैं। व्यक्तियों का यह समूह मिलकर व्यवसाय के संगठन की शर्तें तय कर लेता है। इन शर्तों में कम्पनी का नाम, इसे बनाने के उद्देश्य, कितनी और किस प्रकार की पूंजी लगेगी, इत्यादि बातें साफ-साफ लिख दी जाती हैं। ये लिखित शर्तें एक सरकारी आफिसर के सामने पेश की जाती हैं। यह आफिसर जब इन्हें स्वीकार करके एक प्रमाणपत्र (certificate of incorporation) दे देता है, तब कम्पनी अपना कार्य आरम्भ करती है। तब कम्पनी एक कानूनी व्यक्ति (legal person) का रूप धारण कर लेती है। कम्पनी किसी पर मुकदमा चला सकती है और कम्पनी पर मुकदमा चलाया जा सकता है। साझेदारी के विपरीत कम्पनी का जीवन शेयर-होल्डरों या हिस्सेदारों के जीवन से स्वतन्त्र रहता है। किसी हिस्सेदार की मृत्यु होने से कम्पनी नहीं टूटती। यदि भूकम्प जैसी किसी आकस्मिक घटना से कम्पनी के सब हिस्सेदार एक साथ मर जावें, तो वे हिस्से उन हिस्सेदारों के उत्तराधिकारियों के नाम में चले जायेंगे और कम्पनी पहिले की तरह चालू रहेगी। कम्पनी पूंजी का समूह है, व्यक्तियों का नहीं।

सीमित उत्तरदायित्व

साझेदारी और संयुक्त पूंजीवाली कम्पनी में दूसरा अन्तर यह है कि साझेदारी में व्यवसाय के ऋणों के लिये साझेदारों का उत्तरदायित्व (liability) असीमित रहता है, परन्तु संयुक्त पूंजीवाली कम्पनी में हिस्सेदारों का उत्तरदायित्व सीमित (limited) रहता है। प्रत्येक व्यक्ति ने कम्पनी में जितनी पूंजी लगाने का जिम्मा लिया है, केवल उतने ही तक उसका उत्तरदायित्व सीमित रहता है, यद्यपि कभी-कभी उत्तरदायित्व हिस्से की कीमत का दुगुना होता है। हिस्सेदारों का जोखिम केवल इतना रहता है कि यदि कम्पनी दिवालिया हो जाती है या टूट जाती है तो उनका उतना धन चला जाता है जितने के उन्होंने हिस्से खरीदे हैं। कम्पनी के साहूकार या ऋणदाता उनकी निजी सम्पत्ति पर अपना अधिकार नहीं जमा सकते।

साधारण और रियायती हिस्से

संयुक्त पूंजीवाली कम्पनी की पूंजी जनता में कम्पनी के हिस्से (shares of stocks) बेचकर इकट्ठी की जाती है। हिस्सों का मूल्य प्रायः छोटी संख्या में निर्धारित किया जाता है। एक व्यक्ति चाहे जितने हिस्से खरीद सकता है, यद्यपि कभी-कभी यह शर्त लगा दी जाती है कि एक नाम में अमुक संख्या से अधिक के हिस्से नहीं खरीदे जा सकते। जो कम्पनी के हिस्से खरीदते हैं, वे ही लोग कम्पनी के स्वामी होते हैं। प्रत्येक हिस्सेदार को हिस्सेदारों की साधारण सभा में भाग लेने का, कम्पनी की नीति निर्धारण में अपनी राय या वोट देने का, डाइरेक्टर

या सचालक के चुनाव में भाग लेने का तथा कम्पनी के लाभ में से अपने हिस्सों पर लाभ प्राप्त करने का अधिकार होता है। कभी-कभी हिस्से दो किस्मों में बाट दिये जाते हैं। पहला साधारण हिस्से (ordinary shares) और दूसरा रियायती हिस्से (preference shares)। इन दोनों प्रकार के हिस्सों में यह भेद होता है कि रियायती हिस्सों पर कम्पनी एक निश्चित रकम मुनाफे के रूप में देना मजूर कर लेती है, परन्तु साधारण हिस्सों पर लाभ की दर अनिश्चित रहती है। एक शर्त यह भी रहती है कि रियायती हिस्सों पर मुनाफा या लाभाश साधारण हिस्सों पर लाभाश बटने के पहिले बट जाना चाहिये। यह बात अवश्य है कि कम्पनी को यदि कोई लाभ नहीं होता तो रियायती हिस्सोंपर भी कोई लाभ नहीं दिया जाता। कभी-कभी कम्पनी की पूजी में सचयशील रियायती हिस्से (cumulative preferential shares) भी रक्खे जाते हैं। इनके मुनाफे की दर प्राय निश्चित होती है। यदि नुकसान या अन्य किसी कारण से कम्पनी ने किसी वर्ष लाभाश नहीं दिया तो इनका लाभाश जमा होता रहता है। जब कभी लाभाश बाटा जाता है, तब पहिले इन हिस्सों पर लाभाश बाटा जाता है, फिर साधारण हिस्सों पर। यदि कम्पनी दिवालिया होती है या किसी कारण से टूटती है तो उसकी अवशेष पूजी में से पहिले रियायती हिस्सों का पूरा मूल्य चुकाने के बाद तब साधारण हिस्सों के हक पर विचार किया जाता है।

कम्पनी की पूजी का कुछ अश दस्तावेज (bond) और निश्चित सूद दरवाले ऋण-पत्र (debenture) द्वारा इकट्ठा किया जा सकता है। बाण्ड या डिबन्चर दस्तावेज या ऋण का प्रमाण-पत्र है। इसे कम्पनी एक निश्चित ब्याज दर पर बेचती है और कुछ निश्चित वर्षों के बाद मूल और ब्याज चुकाकर दस्तावेज वापस ले लेती है। जो व्यक्ति बाण्ड खरीदता है, उसका कम्पनी के प्रबन्ध या व्यवस्था में कोई हाथ नहीं रहता। वह कम्पनी का ऋणदाता है, स्वामी नहीं। यदि कम्पनी का दिवाला निकलता है तो अवशेष पूजी में से पहिले बाण्ड होल्डर का ऋण चुकाया जाता है, तब रियायती और साधारण हिस्सों का धन चुकाने की बात पर विचार किया जाता है। इस प्रकार बाण्ड हिस्सों से अधिक सुरक्षित होते हैं। परन्तु यदि कम्पनी ने उन्नति की और अधिक लाभ उठाया तो उनके लाभाश बढने की कोई सभावना नहीं रहती, क्योंकि उनकी सूद दर तो बधी रहती है। इस प्रकार कम्पनी की पूजी कई वर्गों में बटी रहती है और पूजी लगानेवाले अपनी-अपनी रुचि के अनुसार वर्ग चुन सकते हैं।

यद्यपि हिस्सेदार कम्पनी के मालिक होते हैं, परन्तु वे उसकी व्यवस्था के प्रबन्धकर्त्ता नहीं होते। कम्पनी का प्रबन्ध वेतनभोगी मैनेजरों के हाथों में छोड़ दिया जाता है। हिस्सेदार वोट द्वारा चुनाव करके एक सचालक सभा (board of director) नियुक्त कर देते हैं और ये डाइरेक्टर कम्पनी के कारबार की देख-भाल करते हैं। डाइरेक्टर अथवा सचालक कम्पनी की नीति का निर्धारण करते हैं। इस व्यवस्था में कम्पनी का स्वामित्व

और उसका प्रबन्ध सफलतापूर्वक अलग अलग कर दिये गये हैं। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि यद्यपि कम्पनी का प्रबन्ध देखने में प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार दिखता है परन्तु *वास्तव में वह अल्प जनतन्त्र (oligarchy) या कुछ व्यक्तियो के शासन* के समान होता है। वास्तव में हिस्सेदारो में अधिकाश कम्पनी के प्रबन्ध में कोई दिलचस्पी नही लेते। न वे हिस्सेदारो की सभा में भाग लेते हैं और न वोट देते हैं। थोडे से लोग मिलकर कुछ हिस्सो को बहुसख्या (५१ प्रतिशत या उससे अधिक) अपने हाथो में कर लेते हैं अथवा वे कुछ हिस्सेदारो का लिखित मत (vote) अपने पक्ष में मगवा लेते हैं और *ये प्रमुख लोग प्रत्यक्ष रूप से कम्पनी का प्रबन्ध करते हैं।*

लाभ–इस व्यवस्था ने बडे पैमाने पर उत्पादन सभव कर दिया है। पहिले समय में जब किसी उद्योग में लाखो रुपयो की आवश्यकता पडती थी तो इतना रुपया इकट्ठा करना कठिन हो जाता था। परन्तु अब बहुत से लोगो के सहयोग से बडे पैमाने पर उत्पादन सभव हो गया है। उत्पादन का खर्च कम हो जाता है और उत्पत्ति के दाम भी कम हो जाते हैं। इसलिये उपभोक्ता वर्ग का लाभ होता है।

बडे पैमाने पर उत्पादन सम्भव हो गया है

इस व्यवस्था से पूजी बचाने और उसको लाभ पर लगाने की आदत या प्रथा को प्रोत्साहन मिला है। जिन लोगो की बचत थोडी रहती है, वे उसे बेकार न रखकर उसे कम्पनियों के थोडी कीमत के हिस्से खरीद लेते हैं। जो लोग जोखिम लेने को तैयार रहते है, वे हिस्से खरीदते हैं और जो लोग जोखिम नही लेना चाहते वे बान्ड खरीदते है। हिस्सों में भी जोखिम की मात्रा घट और बढ जाती है, क्योकि हिस्से भी दो प्रकार के होते हैं–एक साधारण और दूसरे रियायती। हस्तातरकरण (transferability) और स्टॉक एक्सचेंजो (stock-exchanges) के स्थापन के कारण बचत करके हिस्सों में पूजी लगाने की प्रथा को बहुत प्रोत्साहन मिला है। स्टॉक एक्सचेंजों पर कम्पनियों के हिस्से या बाड इत्यादि बेचे और खरीदे जाते है। हिस्सो की खरीद और बिक्री बाजार में अन्य वस्तुओ की बिक्री के समान स्वतन्त्रतापूर्वक होती हैं। इसलिये पूजी लगानेवाला आवश्यकता पडने पर चाहे जब अपनी पूजी वापिस खीच सकता है। हस्तान्तरकरण की सुविधा उद्योग के अयोग्य और कमजोर व्यक्तियो के हाथ से छीनकर योग्य मनुष्यो के हाथो में सौंपने की सुविधा प्रदान करती है। जो व्यक्ति उद्योग को सुचारु रूप से चला सकते हैं और उसका भविष्य जान सकते हैं, वे उसे अयोग्य और साहसहीन व्यक्तियो से खरीद सकते हैं।

पूजी की पूर्ति की मात्रा बढ गई है।

सयुक्त पूजी प्रथा का एक फल यह हुआ है कि साहसपूर्ण योजनाओ में रुपया लगने लगा है। चूकि इसमें उत्तरदायित्व सीमित रहता है और प्रत्येक हिस्सेदार का जोखिम भी सीमित रहता है, इसलिये सचालक अर्थात् कम्पनी के डाइरेक्टर साहसपूर्ण योजनाएं

सदा मातहतों को सौंपने ही हैं और प्राय एक विभाग एक मैनेजर के प्रबन्ध में रहता है। यद्यपि विभिन्न विभागों में प्रबन्धकर्त्ता मैनेजर एक ही प्रधान के मातहत होते हैं, परन्तु फिर भी उन विभागों का आपस का सम्बन्ध और सहयोग जितना अच्छा होना चाहिये, उतना नहीं होता।

प्रबन्ध एक व्यक्ति उद्योग या साझेदारी के समान चुस्त नहीं होता

कभी-कभी संचालक स्वयं जोखिमपूर्ण साहस के काम नहीं करना चाहते। आराम से समय बिताना चाहते हैं। इसलिये वे स्वयं कोई कार्य आरम्भ नहीं करते। परन्तु यह दोष मनुष्य प्रकृति की एक प्रवृत्ति के कारण कम हो जाता है। वह प्रवृत्ति यह है कि मनुष्य धनलिप्सा से अधिक अपनी योग्यता प्रदर्शित करने की लालसा रखता है। बहुधा मैनेजर अपनी योग्यता दिखाने को अपनी जिम्मेदारी पर नये कार्य आरंभ कर देता है, क्योंकि उसे प्राय अतिरिक्त लाभ का अंश मिल जाता है।

नए काम आरम्भ न करने की प्रवृत्ति

संयुक्त पूंजी प्रथा के प्रबन्ध में एक कमी यह भी रहती है कि नियंत्रण (discipline) में लोच नहीं होती है। छोटे व्यक्तिगत फर्मों के समान मैनेजर अपने मातहतों के साथ व्यवहार में अपने अनुभव और विश्वास के अनुसार नहीं बर्त सकता। उसे उनका काम देखने के लिये बंधे हुए तरीकों से काम लेना पड़ता है। सब बातों का ध्यान रखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस प्रथा में दोषों की अपेक्षा लाभ कहीं ज्यादा हैं। संयुक्त पूंजी प्रथा के बिना आधुनिक बड़े पैमाने पर उत्पादन संभव नहीं हो सकता था। इस प्रथा की श्रेष्ठता इसी बात से सिद्ध हो जाती है कि आधुनिक उत्पादन के सब क्षेत्रों में व्यवसाय संगठन का यह तरीका अन्य सब तरीकों की अपेक्षा अधिक प्रचलित हो रहा है।

कर्मचारियों का चुनाव अच्छा न हो।

सहकारी प्रथा (Co-operation)—औद्योगिक संगठन सहकारी सिद्धान्तों के अनुसार भी होता है। यह उत्पादन के पूंजीवादी तरीकों के विपरीत होता है, जिसमें पूंजीपति मजदूरों से काम लेता है और बदले में उन्हें मजदूरी देता है। वर्तमान पूंजीवाद का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह धीरे धीरे पूंजीपति और मजदूर में भेद कर देता है। दोनों वर्गों के हितों में विरोध उत्पन्न कर देता है। बोल्शेविज्म, कम्यूनिज्म, समाजवाद इत्यादि आन्दोलन इस वर्ग संघर्ष के चिह्न हैं। सहकारिता औद्योगिक संगठन का वह रूप है, जिसमें पूंजीपति के लिये कोई स्थान नहीं रहता। श्रमिक स्वयं पूंजी इकट्ठा करके लगाते हैं, उद्योग का प्रबन्ध स्वयं करते हैं और उसमें जो लाभ होता है, उसे आपस में बांट लेते हैं। प्रबन्धकर्त्ता मैनेजर से लगाकर साधारण मजदूर तक सब उद्योग के स्वामी होते हैं। मालिक और नौकर का भेद नहीं होता और सब प्रकार के कामों का एक-सा आदर होता है।

सहकारिता प्रधानतः दो प्रकार की होती है—एक तो उत्पादकों में सहकारिता और दूसरी उपभोक्ताओं में सहकारिता। इसी को हम उत्पादन सम्बन्धी सहकारिता और वितरण सम्बन्धी सहकारिता कह सकते हैं। जब कुछ श्रमिक मिलकर उत्पादन करते हैं और लाभ को आपस में बांट लेते हैं, तब उसे उत्पादन सम्बन्धी सहकारिता कहते हैं। अर्थ-

सहकारी उत्पादन

शास्त्रियों का मत है कि सहकारी उत्पादन पूर्णतया नहीं तो अधिकांश में असफल रहा है। इसे बहुत कम सफलता मिली है। कुछ क्षेत्रों में विशेषकर कृषि और छोटे उद्योगों में उसे कुछ सफलता मिली है। इसका कारण शायद यह है कि इन क्षेत्रों में औद्योगिक नेतृत्व की सबसे कम आवश्यकता है। परन्तु जो उद्योग बड़े पैमाने पर चलते हैं, उनमें सहकारी प्रथा असफल हुई है। इसका प्रधान कारण यह है कि इस प्रथा में साहसी उद्योगपति के लिये कोई स्थान नहीं होता। सहकारी उत्पादन संगठन के प्रबन्धकर्ता साधारण योग्यता के व्यक्ति होते हैं। चूंकि मजदूर स्वयं उद्योग के स्वामी होते हैं इसलिये वे प्रबन्धकर्ता की आज्ञा और नियमों का समुचित आदर नहीं करते। इसलिये संगठन में नियंत्रण की कमी आ जाती है। 'सहकारी उत्पादन में मौलिक त्रुटि यह है कि जहां व्यवसायी की सबसे अधिक आवश्यकता होती है, वहां उसमें व्यवसायी के लिये कोई स्थान नहीं होता। उसकी असफलता व्यावसायिक नेतृत्व का कारण और महत्व बतलाती है।'[1] इसके सिवा उपयुक्त मात्रा में पूंजी और बिक्री के लिये बाजार प्राप्त करने की भी कठिनाई होती है। फिर भी हमें उसके लाभों को नहीं भूल जाना चाहिये। वह वर्ग संघर्ष के अन्त करने का प्रयत्न करता है। श्रमिकों में आत्माभिमान जागृत करता है और यदि उचित ढंग से चलाया जाय तो उन्हें अधिक धन भी देता है।

दूसरे प्रकार का सहकारी संगठन उपभोक्ताओं का संगठन होता है। यह वस्तुओं की थोक और फुटकर बिक्री के लिये बनाया जाता है। सहकारी दूकान के संगठन के सदस्य जितनी खरीद करेंगे, उसी के अनुसार उन्हें दूकान के लाभ में हिस्सा भी मिलेगा। यही इसका सिद्धान्त है। सहकारी उत्पादन संगठन के विपरीत सहकारी वितरण संगठन

सहकारी वितरण

को पूर्ण सफलता मिली है। किसी मुहल्ले के लोग मिलकर हिस्सों के द्वारा कुछ पूंजी इकट्ठा करते हैं और अपनी एक दूकान स्थापित कर लेते हैं। इसका उद्देश्य हिस्सेदारों को आवश्यक वस्तुएं देना होता है। दूकान में वस्तुएं थोक भाव से खरीदी जाती हैं और फुटकर भाव में बेची जाती हैं। जो लाभ होता है, उसे दूकान के हिस्सेदार सदस्यों में बांट दिया जाता है। अथवा यह भी होता है कि उस दूकान के हिस्सेदार सदस्यों को वस्तुएं कम कीमत पर मिलती हैं। फल एक ही होता है। दलाल या आढ़तिया (middleman)

---

१ Taussig, Principles of Economics.

का लाभ खरीदारों को मिलता है। इसकी सफलता का कारण यह है कि इसके ग्राहक बधे रहते हैं। एक तो विज्ञापन पर खर्च नहीं करना पड़ता और दूसरे खरीदार के रूप में हिस्सेदार बहुत मोल-भाव करके कम दामों में खरीदने का प्रयत्न नहीं करते। बहुत से सहकारी बिक्री की शाखाएं संसार के विभिन्न भागों में हैं। इन संगठनों ने अपने उत्पादन संगठन भी स्थापित किये हैं, जिससे अपनी आवश्यकता की वस्तुएं वे स्वयं बना सकें।

सार्वजनिक प्रबन्ध (Concerns Under Public Management)—एक ऐसा भी व्यावसायिक संगठन होता है, जिसका प्रबन्ध सरकार अथवा स्थानीय अधिकारियों के हाथ में होता है। भारत सरकार रेल, तार, डाक, टेलीफोन इत्यादि की स्वामी भी है और उनका प्रबन्ध भी करती है। पश्चिमी देशों में बहुत-सी म्युनिसिपल कमेटियां शहर में रेल, बिजली और पानी के कारखाने चलाती हैं, जो उन्हीं के होते हैं। जिन उद्योगों का प्रबन्ध सरकार के हाथों में होता है, उनमें यह प्रथा होती है कि सरकार विशेषज्ञों की एक कमेटी बना देती है और उस कमेटी के ऊपर उस उद्योग को व्यावसायिक तरीक़ों के अनुसार चलाने का भार छोड़ दिया जाता है। कमेटी पर किसी प्रकार का राजनैतिक दबाव नहीं डाला जाता तथा वह स्वार्थी प्रभाव से भी मुक्त होती है। भारतवर्ष में रेलों का प्रबन्ध इसी प्रकार के रेलवे बोर्ड के हाथ में है। लेकिन प्रजातन्त्र में प्रबन्ध की अन्तिम जिम्मेदारी वोट देनेवाले लोकमत पर रहती है।

बारहवां अध्याय

एकाधिकार और संघबन्दी

(Monopoly and Combinations)

इस अध्याय में हम दूसरे प्रकार के व्यावसायिक संगठन का अध्ययन करेंगे, जिसका महत्त्व कुछ समय से बहुत अधिक बढ़ गया है। व्यवसाय के प्रसार के साथ-साथ यह भी हुआ है कि एक या थोड़े-से फर्मों ने मिलकर बाजार पर अपना अधिकार इस प्रकार कर लिया है कि एक किसी वस्तु के बिक्री में उनका एकाधिकार-सा हो गया है। लगभग सारा बाजार उनकी मुट्ठी में आ जाता है। इसलिये इस प्रकार के एकाधिकारी संगठनों के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करना आवश्यक है।

एकाधिकार का अर्थ यह है कि किसी वस्तु के व्यवसाय का अधिकार केवल एक फर्म के हाथ में रहे। परन्तु किसी वस्तु के व्यवसाय का इस प्रकार का पूरा अधिकार एक संगठन के हाथ में बहुत कम देखा जाता है। अधिकांश एकाधिकारी संगठनों को किसी न

किसी प्रकार की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। कम से कम स्थानापन्न या बदले की वस्तुएं तो रहती ही हैं, जो उस वस्तु के बदले उपयोग में लाई जा सकती हैं। कलकत्ता इलेक्ट्रिक सप्लाई कारपोरेशन को कलकत्ता शहर में बिजली देने का एकाधिकार प्राप्त है। उस क्षेत्र में दूसरी कोई कम्पनी न बिजली बना सकती है न बेच सकती है। इस हद तक हम यह कह सकते हैं कि इस कम्पनी को कलकत्ता में बिजली के व्यवसाय पर पूरा अधिकार है और वह एकाधिकार की परिभाषा की सब शर्तें पूरी करती है। परन्तु प्रकाश के लिये बिजली के बदले गैस और मिट्टी के तेल का भी उपयोग होता है और रसोईघरों तथा कारखानों में कोयले का उपयोग होता है। इसलिये कम्पनी को कुछ न कुछ प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है और हम यह नहीं कह सकते कि बाजार पर उसका पूर्ण अधिकार है। अधिकतर एकाधिकार इसी प्रकार के होते हैं। उनका किसी वस्तु के उत्पादन या पूर्ति पर इस प्रकार का अधिकार होता है कि वे कुछ हद तक उसके दामों पर प्रभाव डाल सकते हैं। यह हो सकता है कि कुछ फर्मों के पास दूसरों की अपेक्षा अधिक हद तक अधिक मात्रा में एकाधिकार हो। दक्षिण अफ्रिका की डी० बीअर्स कम्पनी के अधिकार में वहां की प्रायः सभी हीरे की खदानें हैं। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि वह पूर्ण एकाधिकार की परिभाषा में आ सकती है।

पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति में किसी भी वस्तु के बेचनेवाले बहुत होते हैं। उनमें से प्रत्येक विक्रेता उस वस्तु के कुल उत्पादन का बहुत थोड़ा-सा भाग बेचता है। उस व्यवसाय में आना किसी भी व्यक्ति के लिये बिल्कुल स्वतन्त्रता है और अपेक्षाकृत आसान भी है। अन्य उद्योगों में लाभ की जो औसत रहती है, उससे अधिक औसत यदि किसी उद्योग में मिलती है, तो उत्पादक उस उद्योग में अधिक संख्या में आवेंगे। इसलिये उस उद्योग पर कोई एक उत्पादक ठोस अधिकार नहीं कर सकता। और न वह उत्पादन कम करके उसकी कीमत बढ़ा सकता है। परन्तु जिसका एकाधिकार होता है, वह उत्पादन कम करके कीमत बढ़ा सकता है। वह सफलतापूर्वक तभी ऐसा कर सकता है, जब अन्य व्यवसायियों का उस उद्योग में आना कठिन हो। इसलिये हमें यह जानना चाहिये कि किसी उद्योग में प्रवेश किस प्रकार कठिन हो सकता है। इस प्रकार के चार कारण होते हैं। पहिला तरीका यह है कि कानून द्वारा लोगों का किसी व्यवसाय में प्रवेश करना कठिन किया जा सकता है। कानून की सहायता से थोड़े से चुने हुए लोगों को उस उद्योग में काम करने की आज्ञा दी जाय। इस प्रकार के एकाधिकारों को कानूनी अधिकार (legal monopolies) कहते हैं। नये आविष्कारों के पेटेन्ट और पुस्तकों के कापीराइट कानूनी एकाधिकार के उत्तम उदाहरण हैं। नये आविष्कारों के आविष्कर्ताओं को राज्य यह एकाधिकार दे देता है कि वे स्वयं उन आविष्कारों का उपयोग कर उनसे लाभ उठावें। इसका ध्येय आविष्कारों और उनके करनेवालों को

एकाधिकार के आधार

प्रोत्साहन देना होता है। कभी-कभी किसी वस्तु का व्यवसाय अथवा कोई अन्य काम करने का एकाधिकार राज्य स्वयं अपने हाथ में रखता है। उदाहरण के लिये डाक और तार का काम सरकार का एकाधिकार है। कभी-कभी बड़े-बड़े उद्योगों में सरकार किसी को एकाधिकार देती है। इन्हें *सार्वजनिक उपयोगिता सम्बन्धी एकाधिकार* (public utility monopolies) कहते हैं। यदि एक ही शहर में दो गैस कम्पनियां या बिजली कम्पनियां काम करें तो सड़कों पर दुहरे बिजली और गैस के तार लगेंगे। व्यर्थ दुहरा काम होगा। यदि एक शहर में दो टेलीफोन कम्पनियां रहें तो एक कम्पनी के ग्राहक दूसरी कम्पनी के ग्राहकों से बात करने की सुविधा न पावेंगे। लोग बड़ी असुविधा में पड़ जायेंगे। इसलिये लोगों की सुविधा के लिये सरकार ऐसे व्यवसायों में एक कम्पनी को एकाधिकार दे देती है।

नए प्रतियोगियों पर कानूनी बन्धन

दूसरे प्रकार का एकाधिकार यह होता है कि एकाधिकारी को महत्त्वपूर्ण कच्चे माल के साधनों पर अधिकार प्राप्त हो। हीरों के व्यवसाय में डी० बीअर्स कम्पनी की यही स्थिति है। तीसरा कारण अधिक पूंजी की आवश्यकता हो सकती है। लाभ के लिये यह आवश्यक हो कि उत्पादन और बिक्री बड़े पैमाने पर की जाय। इसके लिये बड़ी पूंजी की आवश्यकता होती है। कुछ व्यवसायों में छोटे पैमाने पर उत्पादन ठीक नहीं होता। यदि किसी विशिष्ट प्रकार के धन्धे में पुरानी कम्पनियां बड़ी पूंजी लगाकर जमी हुई हैं तो एक नया उद्योगपति उस क्षेत्र में आते हुए हिचकिचायेगा। उसे यह डर लगेगा कि पुरानी कम्पनियां अपने माल के दाम गिराकर उसके साथ प्रतियोगिता न करने लगें। लोहा और इस्पात का उद्योग इसका उदाहरण है। अथवा सीने के धागे के व्यवसाय में कोट्स नामक फर्म का जैसा एकाधिकार है। इस कारण से ऐसे उद्योगों में जमे हुए फर्मों का एक प्रकार से एकाधिकार रहता है। उन्हें नये प्रतियोगियों का डर नहीं रहता। अन्त में पुराने जमे हुए फर्मों की प्रसिद्धि या नाम (good-will) के कारण भी किसी उद्योग या व्यवसाय में प्रवेश करना कठिन हो सकता है। विज्ञापन तथा अन्य उपायों द्वारा पुराने जमे हुए फर्म अपने उद्योगों के माल का ग्राहकों के मन और रुचि पर ऐसा सिक्का जमा लेते हैं कि नये व्यवसायियों के लिये उन लोगों को अपना माल बेचना कठिन हो जाता है। लोग नये माल को पसन्द नहीं करते। एक ग्राहक को पीयर्स का साबुन इतना पसन्द हो सकता है कि उसे अन्य कोई साबुन खरीदना पसन्द नहीं होगा। वह पीयर्स साबुन को ही सर्वश्रेष्ठ साबुन समझ सकता है। ग्राहकों की रुचि बदलने के लिये बहुत लम्बे

कच्चे माल के साधनों पर अधिकार

अचल पूंजी में बड़ी लागत

पुरानी प्रसिद्धि

समय तक बहुत रुपया खर्च करने को आवश्यकता पड़ेगी। इसलिये नये उद्योगपति उस व्यवसाय में जल्दी न आवेंगे।

उद्योगों की संघबन्दी या गुटबन्दी (Combinations)—अधिकतर एकाधिकारी व्यवसाय कई फर्मों का संगठन बनाने से बनता है। इस प्रकार के संगठनों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। सबसे अधिक प्रचलित वर्गीकरण को खड़ा और आड़ा संगठन या संघबन्दी कहते हैं।

खड़ी गुटबन्दी (Vertical Combinations) में उत्पादन के सब काम कच्चे माल से लेकर बिलकुल तैयार माल तक एक गुट में बांध दिये जाते हैं। कई फर्म मिलकर उत्पादन कार्य का विभाजन कर लेते हैं। उदाहरण के

खड़ा संगठन

लिये लोहे के उद्योग में एक फर्म केवल कच्चा लोहा खोदने का काम करता है। दूसरा फर्म केवल कोयला खोदता है, तीसरा फर्म लोहा बनाता है, चौथा इस्पात बनाता है और पाचवा लोहे और इस्पात से कोई वस्तु बनाता है। इसी प्रकार अन्य कई कम्पनियां एक-एक वस्तु बनाती हैं। जब एक उद्योगपति या प्रबन्धक के हाथ में उद्योग के कुछ लगातार काम आ जाते हैं तब खड़ा संगठन हो जाता है। टाटा आयरन एन्ड स्टील कम्पनी इस प्रकार के संगठन का एक उदाहरण है। वह लोहे और कोयले की खदानों की मालिक है। वह कच्चा लोहा और कोयला खोदती है और पक्का लोहा और इस्पात बनाती है। इस प्रकार के संगठन का ध्येय प्रबन्ध में खर्च घटाना रहता है। साथ ही उत्पादन के अलग-अलग काम में जो लाभ विभिन्न कम्पनियों को मिलता है, वह एक ही कम्पनी को मिल जाता है। बिक्री और विज्ञापन के खर्च कम हो जाते हैं। कच्चे माल का बराबर मिलते रहना निश्चित हो जाता है और उत्पादन की किसी भी स्थिति में आवश्यकता से अधिक उत्पादन का खतरा बहुत कम हो जाता है। इसे उद्योगों का सम्मिलन (integration of industries) भी कहते हैं।

जब एक ही वस्तु बेचनेवाली कई कम्पनियां या व्यक्ति एक प्रबन्ध के अन्तर्गत संगठित हो जाते हैं, तब उसे आड़ा मिलन या आड़ी गुटबन्दी (horizontal combination) कहते हैं। सम्मिलन में लोहा तथा

आड़ी गुटबन्दी

कोयला खोदना, कच्चा और पक्का लोहा बनाना आदि विभिन्न कामों का एक साथ संगठन है। पर आड़े संगठन में एक ही प्रकार के कामों का एक प्रबन्ध के अन्तर्गत संगठन होता है। जैसे दो अथवा अधिक लोहे की कम्पनियों का एक प्रबन्ध के अन्दर मिल जाना। अथवा दो या अधिक कोयले की खदानों का एक प्रबन्ध के अन्तर्गत संगठन। इस प्रकार के संगठन का ध्येय कुछ तो प्रबन्ध के खर्च में कमी करना होता है और कुछ अवांछित प्रतियोगिता का अन्त करना, जिससे कि लाभ एकाधिकार के आधार पर हो सके। आड़ी गुटबन्दी का पैमाना बहुत बड़ा हो सकता है। वह सारे समाज को अपना क्षेत्र बनाकर की जा सकती

हैं। स्टेन्डर्ड ऑयल कम्पनी इसका उदाहरण है। उसका महत्त्व और क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय है।

गुटबन्दी के विभिन्न रूप (The Various Phases of Combinations)–गुटबन्दियों का वर्गीकरण उनके सगठन के आधार पर भी किया जाता है। इन्हें समझौता (agreement), एकत्रीकरण (pool), कारटल (kartel) और ट्रस्ट (trust) कहते हैं। सगठन के इन वर्गों के छोटे-छोटे उपवर्ग भी होते हैं।

सबसे साधारण और सरल गुटबन्दी उत्पादकों का एक ढीला-सा सगठन होता है, जिसका ध्येय आपस की प्रतियोगिता सीमित करना होता है। उदाहरण के लिये भारत में पेट्रोल के दाम बरमा ऑयल कम्पनी और स्टेन्डर्ड ऑयल कम्पनी नामक दो बड़े प्रतियोगियो द्वारा आपस के समझौते से निश्चित किये जाते हैं। इसी प्रकार दाम और भाव निश्चित करने के और भी सगठन हो सकते हैं। इग्लैण्ड में जहाजी कम्पनियों का एक सघ है, जिसे शिपिंग कान्फ्रेन्स (shipping conference) या जहाजी सभा कहते हैं। यह सघ विभिन्न बन्दरगाहो के बीच जहाजो का किराया निश्चित करता है। उत्पादन सीमित करने के लिये भी समझौता हो सकता है। भारतीय जूट मिल सघ (Indian Jute Mills Association) इसी प्रकार का सगठन है। इस सघ ने कई बार यह निश्चित किया है कि सघ का प्रत्येक सदस्य मिल इस प्रकार उत्पादन करेगा कि जूट की वस्तुओ के दाम स्थिर रहें अथवा बढ़ सकें। अर्थात् वह उत्पादन निश्चित कर देता है। इस प्रकार के अन्तिम सगठन का नाम कोष (pool) होता है। इस सघ का एक कोष होता है और प्रत्येक सदस्य को अपने उत्पादन का एक निश्चित भाग कोष में देना पड़ता है। फिर एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार इस कोष का बटवारा सदस्यो में किया जाता है। इस प्रकार की सब गुटबन्दियो में समझौते एक निश्चित काल के लिये किये जाते हैं और प्रत्येक फर्म या कम्पनी के आन्तरिक सगठन और प्रबन्ध में दखल नही दिया जाता।

कोष

गुटबन्दी का एक अन्य रूप कारटल (kartel) है। यह रूप जर्मनी में बहुत प्रचलित है। यह गुटबन्दी कोष के समान रहती है, पर कोष से अधिक दृढ और विस्तृत होती है। प्रतियोगी व्यवसायी एक कम्पनी स्थापित करते हैं और प्रत्येक का इसमें हिस्सा रहता है। वह एक विक्रय कम्पनी के समान स्थापित की जाती है। यह कम्पनी उत्पादन और भाव दोनो निश्चित करती है। यह कम्पनी प्रत्येक सदस्य फर्म के उत्पादन की मात्रा निश्चित कर देती है और उसका बिक्री का भाव भी बाध देती है। प्राय बिक्री का सब काम यही करती है। माल की जितनी माग आती है, वह सब इसी के पास आती है। हमारे देश में धीरे-धीरे इसी प्रकार की योजना ग्रहण की जा रही है। सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी ऑफ इडिया और इडियन शुगर सिंडीकेट इस प्रकार के सगठनो के उदाहरण हैं।

कारटल

गुटबन्दी के अन्य रूप को ट्रस्ट (trust) कहते हैं। यह संगठन भी बड़े पैमाने पर होता है। प्रारम्भ में इसका अर्थ विशेषरूप की गुटबन्दी होती थी। कई कम्पनियों के बड़े-बड़े हिस्सेदार अपने हिस्से ट्रस्टियों की एक सभा (board of trustees) को सौंप देते हैं। ये ट्रस्टी या साझेदार इन हिस्सों को एक धरोहर के रूप में ले लेते हैं। इस प्रकार इन ट्रस्टियों के हाथ में कई प्रकार का प्रबन्ध आ जाता है। क्योंकि हिस्से सौंपनेवाले प्रत्येक हिस्सेदार के हाथ में उस कम्पनी के अधिकांश हिस्से होते हैं। ट्रस्टियों की सभा इन सब कम्पनियों का प्रबन्ध एक कम्पनी की तरह करती है। परन्तु आजकल किसी भी बड़ी गुटबन्दी को ट्रस्ट कहते हैं।

ट्रस्ट

प्रबन्धक कम्पनी (holding company) भी इसी वर्ग का एक संगठन है। जब अमेरिका में ट्रस्टों का बनाना गैर कानूनी घोषित कर दिया गया, तब वकीलों की तीक्ष्ण सूझ ने इस प्रकार की गुटबन्दी का निर्माण किया। ट्रस्टियों की सभा के बदले एक स्वतन्त्र कम्पनी बनाई जाती है। यह कम्पनी बहुत-सी कम्पनियों के हिस्से खरीद लेती है। प्रबन्धक कम्पनी इन कम्पनियों की नीति निर्धारण और व्यवसाय का प्रबन्ध करती है।

प्रबन्धक कम्पनी

गुटबन्दी का अन्तिम रूप विलयन (merger) होता है। इसमें विभिन्न कम्पनियां अपना अस्तित्व मिटाकर एक नई कम्पनी बनाती है और यह कम्पनी इन कम्पनियों की सब सम्पत्ति ले लेती है। कोष और कारटल में कम्पनियों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व बना रहता है। परन्तु विलयन में सदस्य कम्पनियों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व खतम हो जाता है।

विलयन

अन्तर्राष्ट्रीय कारटल (International Kartels)—गत कुछ वर्षों में गुटबन्दी का क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दी में जो समझौते होते हैं, उनमें साधारणतः एक देश के मुल्क को उसके राष्ट्रीय बाजार दे दिये जाते हैं और अन्य देशों के लिये या तो बिक्री की मात्रा बाँध दी जाती है या मार्ग बाँट दिया जाता है। प्रायः समझौते में या तो बिक्री के क्षेत्र बाँट दिये जाते हैं या विभिन्न क्षेत्रों के लिये दाम निश्चित कर दिये जाते हैं। ताँबे के उद्योग में एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ है। इस संघ के अधिकार में संसार भर के ताँबे के उत्पादन का ९० प्रतिशत भाग है। इसका प्रधान दफ्तर ब्रुसेल्स में है। इस संघ का नाम कॉपर एक्सपोर्ट ट्रेडिंग कम्पनी है। इसी प्रकार सीमेंट, लोहे की खानों आदि के भी संघ हैं।

एकाधिकार के लाभ (Economics of Monopoly)—पूर्ण प्रतियोगिता की तुलना में एकाधिकार के लाभ बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करते हैं कि एकाधिकार का संगठन किस ढंग से किया जाता था। यदि एकाधिकार एकत्रीकरण (pool), या कारटल के ढंग पर हुआ, तब निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें

शामिल होनेवाली कम्पनियां प्रतियोगी कम्पनियों से अधिक योग्य होंगी। परन्तु यदि एकाधिकार विल्यन के ढंग का हुआ तो पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा उसमें कुछ लाभ होंगे। प्रामाणिककरण (standardization) विशिष्टीकरण (specialization) तथा उत्तम संगठन के द्वारा बहुत से साधारण धन्धों में वह सब कुशलता और किफायत लाई जा सकती है, जो बड़े-बड़े ट्रस्टों में प्राप्त की जाती है। एकाधिकारियों को उत्पादन सम्बन्धी तीन या चार प्रकार की खर्च सम्बन्धी बचत हो सकती है। एक एकाधिकारी अपने विभिन्न कारखानों को एक सीमित प्रकार के कार्य में विशिष्ट कर सकता है। अथवा वह ऐसा प्रबन्ध कर सकता है कि प्रत्येक बाजार में सबसे पास के कारखाने से सामान पहुंचाया जाय। इससे उसके यातायात के खर्च में बहुत बचत हो जायगी। प्रतियोगिता की परिस्थिति में बम्बई की मिल अहमदाबाद में और अहमदाबाद की मिल बम्बई में अपना माल बेच सकती है। परन्तु यदि कई मिलें आपस में मिल जायं तो वे यह तय कर सकती हैं कि बम्बई के बाजार में केवल बम्बई की मिल का माल आवेगा। इससे उनका यातायात सम्बन्धी खर्च बच जायगा। एकाधिकार से एक लाभ और होता है। उससे ज्ञान और पेटेन्टों का एकत्रीकरण हो सकता है। इससे प्रत्येक फर्म दूसरे फर्मों का अनुभव, व्यावसायिक गुप्त-भेद प्राप्त कर लेगा। इसलिये प्रतियोगिता की अपेक्षा एकाधिकार में प्रत्येक फर्म को अधिक विशिष्ट ज्ञान और पेटेन्ट प्राप्त होंगे। तीसरे जब बहुत-से फर्म एक दूसरे के साथ आपस में प्रतियोगिता करते हैं तो प्रत्येक फर्म के लिये व्यवसाय में खतरा और अनिश्चितता बढ़ जाती है। प्राय यह कहना कठिन नहीं होता कि अगले एक वर्ष में जूट के माल की मांग कितनी रहेगी। परन्तु यह बतलाना असम्भव होता है कि प्रत्येक जूट मिल बाजार में अपना माल कितना बेच पावेगी। अर्थात् कुल बिक्री में उसका भाग कितना रहेगा। मिलों की संख्या जितनी अधिक रहेगी, इस सम्बन्ध में अनिश्चितता भी उतनी ही अधिक रहेगी। इसलिये मिल के प्रबन्धकर्त्ताओं की कठिनाई भी उतनी ही अधिक रहेगी। एकाधिकारी को इस प्रकार की अनिश्चितता का सामना नहीं करना पड़ता। इस प्रकार प्रबन्धकर्त्ता का काम एकाधिकार में प्रतियोगिता की अपेक्षा अधिक सरल हो सकता है।

बिक्री सम्बन्धी किफायत

ज्ञान और पेटेंट का एकत्रीकरण

प्रबन्धकर्त्ता का काम अधिक सरल हो जाता है

एकाधिकारी को एक अन्य लाभ भी प्राप्त होता है। जब एक दूसरे से प्रतियोगिता करनेवाले बहुत-से फर्म रहते हैं, तब प्रत्येक को प्रतियोगितापूर्ण विज्ञापनों में बहुत खर्च करना पड़ता है। परन्तु एकाधिकार में विज्ञापन और बिक्री संगठन में इतना अधिक [illegible] होगा। अन्त में यह कहा गया है कि एकाधिकार और गुटबन्दी से

उद्योग में अस्थिरता कम हो जाती है और स्थिरता आती है। जो धन वे नष्टकारी प्रतियोगिता में खर्च करते, उसे रचनात्मक कार्यों में खर्च कर सकते हैं। अपने बड़े आकार और बड़ी शक्ति को ध्यान में रखकर वे उत्पादन और दामों में स्थिरता लाने का प्रयत्न कर सकते हैं। टॉसिग (Taussing) का विश्वास है कि उद्योग में इस प्रकार की स्थिरता सम्भव है। परन्तु साथ ही गलत या कमजोर गुटबन्दी, लाभ बढ़ाने के लालच, आवश्यकता से अधिक पूंजी लगाने तथा सट्टेबाजी के कारण अस्थिरता का खतरा भी बढ़ सकता है। एकाधिकार के सम्बन्ध में एक लेखक ने हाल में लिखा है कि इस बात का बहुत कम सबूत मिलता है कि गुटबन्दी से उद्योग में स्थिरता आती है।[1]

प्रतियोगितापूर्ण विज्ञापन में बचत

हानियां (Disadvantages)—एकाधिकार में सबसे बड़ी हानि यह है कि उससे उत्पादन के साधनों का एकांगी वितरण होता है। प्रतियोगितापूर्ण परिस्थितियों में प्रत्येक वस्तु का उत्पादन तब तक बढ़ता जायगा, जब तक कि अतिरिक्त साधनों से बने हुए माल के वास्तविक दाम उस वस्तु के दामों के बराबर न हो जायगें। अर्थात् एकाधिकारी उस हद तक उत्पादन करेगा जिस पर सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर होती है और सीमान्त आय वस्तु के दाम से कम रहती है। इसलिये एकाधिकार में हमेशा उत्पादन समाज की आवश्यकता से कम रहता है। अर्थात् पूर्ण प्रतियोगिता में जितना उत्पादन होता है, उतना एकाधिकार में नहीं होता। एक दूसरा नुकसान भी है। थोड़े से अपवादों को छोड़कर एकाधिकारी अपने बनाये हुए माल पर जो दाम लेता है, वे प्रायः प्रतियोगिता के दामों से ऊंचे रहते हैं। इसलिये खरीदने की शक्ति या क्रय-शक्ति उस माल के खरीदारों के हाथ से निकलकर एकाधिकारियों के हाथ में चली जाती है। यह तबदीली प्रायः गरीब व्यवसायियों से धनी साहसी व्यवसायियों में होती है। इससे वर्तमान आय की असमानता बढ़ने की ही सम्भावना अधिक होती है और यह परिस्थिति उचित नहीं है। इसके सिवा अपनी दृढ़ और कुशल स्थिति के कारण एकाधिकारी मजदूरों तथा उत्पादन के अन्य साधनों का शोषण कर सकता है। पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियों में उन्हें जितनी मजदूरी मिलती है, वह उन्हें उससे कम देने की स्थिति में रह सकता है।

अपने स्वार्थ साधने के लिये एकाधिकारी राजनैतिक वातावरण भी भ्रष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उनके पास बहुत अधिक साधन रहते हैं। उनके द्वारा वे व्यवस्थापिका के सदस्यों, राजनैतिक नेताओं और न्यायाधीशों को घूस द्वारा तथा अन्य कई तरीकों से अपने वश में करने का प्रयत्न करते हैं, जिससे कानून उनके पक्ष में बनें और न्याय भी उनके पक्ष में हों।

राजनैतिक भ्रष्टाचार

---

[1] Monopoly. E. A. G. Rabinson page 166.

अनावश्यक पूंजी और सट्टा

सट्टा, फाटका और जरूरत से ज्यादा पूंजी लगाना औद्योगिक गुटबन्दी की खास बुराइयां हैं। थोड़े-थोड़े समय बाद पूंजी बढ़ाई जाती हैं और सट्टा की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया जाता है। कभी-कभी एकाधिकारी संघ या गुट इतना बड़ा आकार धारण कर लेते हैं कि उनका उपयुक्त प्रबन्ध करना कठिन हो जाता है और संगठन में जहां कुछ कुशल प्रबन्ध-कर्त्ताओं की मृत्यु हुई कि उपयुक्त प्रबन्ध-कर्त्ताओं की कमी के कारण उद्योग के चौपट होने का डर रहता है।

एकाधिकार का नियन्त्रण (Control of Monopoly)—हम देख चुके हैं कि एकाधिकार में प्रतियोगिता की अपेक्षा उत्पादन कम होता है और वस्तुओं के दाम भी अधिक रहते हैं। यदि सरकार हस्तक्षेप करके एकाधिकार की बुराइयों को दूर कर सके, तो समाज की काफी भलाई होगी। हस्तक्षेप सम्बन्धी बातों को हम तीन वर्गों में रख सकते हैं—अनुचित प्रतियोगिता रोकना, उद्योगों के उत्पादन पर नियन्त्रण रखने के लिये कर लगाना और आर्थिक सहायता देना, एकाधिकारी दामों पर नियन्त्रण रखना।

अनुचित प्रतियोगिता बन्द करना

(अ) बहुत से व्यवसायी अनुचित उपायों द्वारा अपने प्रतिद्वन्द्वियों को बाजार से भगाने का प्रयत्न करते हैं। इन अनुचित उपायों में सबसे अनुचित उपाय दाम गिराना है। हमारे देश में कई बार जहाजी कम्पनियों ने अपना भाड़ा बहुत गिराकर नई कम्पनियों को नष्ट करने के प्रयत्न किये हैं। जब नये प्रतियोगी व्यवसाय क्षेत्र से भगा दिये जाते हैं, तब दाम फिर बढ़ा दिये जाते हैं। सरकार इस प्रकार के कार्यों को बन्द कर सकती है। उदाहरण के लिये वह यह नियम बना सकती है कि जब एक बार कोई कम्पनी अपने दाम गिराती है, तब फिर उन्हें बढ़ा नहीं सकती। इसमें एक बड़ा दोष यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता का वातावरण नहीं रह जायगा। यदि कोई कम्पनी अपने माल की बिक्री बढ़ाने के लिये अथवा नये ग्राहक खींचने के लिये कुछ समय के लिये अपने दाम गिराना चाहती है, तो यह बिलकुल उचित उपाय है। हम इसे अनुचित नहीं कह सकते। यह एक प्रयोग है। अनुचित उपाय की व्याख्या और परिभाषा करना बड़ा कठिन है।

(ब) कर और सरकारी सहायता (Taxes and Bounties)—सिद्धान्त के रूप में एकाधिकार की बुराइयां दूर करने के लिये यह अच्छा उपाय है। जो धन्धे बहुत उन्नत हैं, उनके उत्पादन के साधनों पर कर लगाकर सरकार उन साधनों का उन धन्धों में आना रोक सकती है। साथ ही आर्थिक सहायता देकर वह उत्पादन के साधनों को कम उन्नत अथवा एकाधिकारी उद्योग में पहुंचा सकती है। परन्तु सरकार को इस उपाय का उपयोग इस प्रकार करना चाहिये कि सब उद्योगों में साधनों का वास्तविक सीमान्त [illegible] बराबर हो। इसी प्रकार सरकार किसी उद्योग में आदर्श अधिकतम आकार

(optimum size) की फर्में बना सकती हैं। जो फर्म आदर्श अधिकतम आकार से बड़ा हो, उस पर कर लगा दिया जाय और जो आदर्श अधिकतम आकार से छोटा हो उसे आर्थिक सहायता दी जावे। परन्तु इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि सरकार के लिये उत्पादन के साधनों का वास्तविक सीमान्त उत्पादन (marginal net products) और आदर्श अधिकतम आकार निश्चित करना संभव नहीं है।

(ख) दामों का नियन्त्रण (Control of Prices) —सरकार ऐसा प्रयत्न भी कर सकती है कि एकाधिकारी अपने माल के जो दाम लेगा वह प्रतियोगिता के दाम के बराबर होगा। यह दो प्रकार से हो सकता है—(१) सरकार ऐसा नियम बना सकती है कि किसी फर्म को कुल पूजी पर अधिक से अधिक इतना मुनाफा दिया जा सकता है। और यदि वास्तविक मुनाफा उस हद से अधिक हुआ तो उस फर्म के माल के दाम घटने चाहिये। परन्तु इस सम्बन्ध में मुख्य कठिनाई यह है कि किसी फर्म की वास्तविक पूजी का पता लगाना कठिन है। उदाहरण के लिये किसी फर्म की पूजी कृत्रिम रूप से बढ़ाई जा सकती है। प्रतियोगितापूर्ण और उचित दाम का पता लगाना भी मुश्किल है। इसके सिवा इस रीति के अनुसार काम करने से योग्य प्रबन्ध पर भी बुरा असर पड़ने का डर है। सरकार उत्पादन के साधनों के और वस्तुओं के अधिकतम दाम निश्चित कर सकती है। परन्तु इस तरीके में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से एकाधिकार के अन्तर्गत किसी भी वस्तु के प्रत्येक किस्म या गुण के अलग-अलग अधिकतम दाम बाधने पड़ेंगे। फिर जैसे-जैसे उत्पादन के वैज्ञानिक तरीकों और लोगों की रुचि में परिवर्तन होंगे, वैसे-वैसे इन दामों में भी परिवर्तन करने पड़ेंगे।

(ग) गुटबन्दी विरोधी कानून (Anti-Combination Laws)—नियन्त्रण के तरीकों में कई प्रकार के दोष होने के कारण अन्त में सरकार को ऐसे काम करने पड़े, जिससे स्वयं एकाधिकार का अन्त हो। कानून द्वारा उद्योगों की गुटबन्दी बन्द कर दी जाती है। अमेरिका में गुटबन्दी रोकने के लिये शेरमन कानून (Sherman Anti-Trust Law) और क्लेटन कानून (Clayton Act) बने। परन्तु यहां भी कठिनाइयां हैं। वकीलों की पैनी बुद्धि ने इन कानूनों की अवहेलना करने के उपाय ढूंढ निकाले हैं। साथ ही यह भी हो सकता है कि इन कानूनों से गुटबन्दी और एकाधिकार रोके जा सकें, परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता का वातावरण तैयार नहीं किया जा सकता। यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इन कानूनों से काफी संख्या में आदर्श अधिकतम आकार के कई बड़े स्वतन्त्र फर्म बन जावेंगे, अथवा बाजार में बिक्री सम्बन्धी जो बुराइयां हैं, वे दूर हो जावेंगी।

तेरहवां अध्याय

उत्पत्ति सम्बन्धी नियम

(The Law of Returns)

क्रमागत ह्रास नियम (*The Law of Diminishing Return*)—हम पिछले एक अध्याय में देख चुके हैं कि कृषि में उपज क्रमागत ह्रास के नियम के अनुसार होती है। जब भूमि के एक निश्चित टुकड़े में अधिक श्रम और पूंजी लगाई जाती है, तब उत्पादन की सीमान्त लागत बढ़ने लगती है। जब उत्पादन के कुछ निश्चित साधनों के साथ उत्पादन के अन्य साधन अधिकाधिक मात्रा में जोड़े जाते हैं तो इन अधिकाधिक मात्राओं से होनेवाली उत्पत्ति घटने लगती है। इसके साथ में अवश्य लगी रहती है कि साधनों का आदर्श मिश्रण हो चुका है और उत्पादन के तरीकों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

क्रमागत ह्रास नियम

जब किसान अपनी उपज बढ़ाना चाहता है, तब वह अपनी जमीन में अधिक पूंजी और श्रम लगावेगा। श्रम और पूंजी पर उसे जो खर्च करना पड़ेगा वह इन चीजों की बाजार दर पर निर्भर होगा। यदि हम यह मान लें कि उनकी मांग के कारण इन चीजों के भाव नहीं बढ़ते तो पूंजी और श्रम की अधिक मात्राओं के लिये उसे पुराने भाव से दाम देने पड़ेंगे। परन्तु इन अधिक मात्राओं की प्रति इकाई पीछे उपज घटती जाती है। वह श्रम तथा पूंजी की प्रत्येक अधिक मात्रा के लिये पहिले के भाव से दाम दे रहा है, परन्तु उनकी प्रत्येक मात्रा पीछे उसे अब कम उत्पत्ति मिल रही है। इसलिये जैसे-जैसे वह अपनी उपज बढ़ाने का प्रयत्न करता है, वैसे-वैसे उसके इस अधिक उपज का उत्पादन खर्च भी बढ़ता जाता है। अर्थात् उत्पादन की सीमान्त लागत (marginal cost of products) बढ़ने लगती है। जब सीमान्त लागत औसत लागत से कम होगी तब यह क्रिया होगी। परन्तु जब सीमान्त लागत बढ़ेगी, तब वह औसत लागत से अधिक हो जायगी और फिर सीमान्त और औसत दोनों लागतें बढ़ने लगेंगी। इससे यह बात सिद्ध होती है कि जब किसी चीज का उत्पादन बढ़ाया जाता है और उसका एक या एक से अधिक साधन ऐसा होता है कि उसकी पूर्ति या मात्रा बढ़ाई नहीं जा सकती और यदि बढ़ सकती है तो वह पहिले से घटिया किस्म की होगी, तब उस चीज का उत्पादन अधिकाधिक लागत पर होगा।

बढ़ती उपज का नियम (The Law of Increasing Returns)—यह नियम कहता है कि यदि उत्पादन के किसी साधन की मात्रा बढ़ा दी जावे तो उत्पादन

उस मात्रा के अनुपात से अधिक होगा। यदि किसी व्यवसाय में उत्पादन के एक साधन की मात्रा बढ़ा दी जावे तो सम्भव है कि इससे उस व्यवसाय का संगठन सुधर जावे, जिससे उत्पादन के साधनों की शक्ति बढ़ जाय। फल यह होगा कि उतनी ही लागत पर अधिक उत्पादन प्राप्त होगा।

बड़ी उपज के कारण

उत्पादन के साधनों की कार्यशक्ति कई कारणों से बढ़ सकती है। एक कारण यह हो सकता है कि साधनों की इकाइयाँ बड़ी-बड़ी हों, जिनका विभाजन नहीं हो सकता और परिस्थितियाँ ऐसी हों कि उपज प्राप्त करने के लिये उन अविभाज्य इकाइयों का लगाना आवश्यक हो। उदाहरण के लिये एक कीमती मशीन का लगाना आवश्यक हो, चाहे उत्पादन कम हो अथवा अधिक। इसी प्रकार साहसी व्यवसायी भी एक अविभाज्य इकाई है। जब किसी साधन की अविभाज्य इकाई का उपयोग करना पड़ता है, तब उस इकाई की निश्चित कीमत को बढ़ती हुई मात्रा के साथ अधिक उत्पादन पर फैलाया जा सकता है। फल यह होगा कि जब उत्पादन बढ़ेगा तो उपज की प्रति इकाई कीमत कम होगी। इसका सबसे अच्छा उदाहरण एक नए देश में रेल की लाइन बनाने का है। रेल की नई लाइन बनाने में स्टेशन, पटरी, इंजिन आदि पर एक निश्चित कम से कम रकम लगानी आवश्यक है। सम्भव है आरम्भ में इतना आवागमन न हो, जिससे लगी हुई पूंजी का पूरा लाभ उठाया जा सके। परन्तु जैसे-जैसे उस भूमि की उन्नति होगी, वैसे-वैसे आवागमन भी बढ़ेगा। अधिक गाड़ियाँ चलाने से बढ़ते हुए आवागमन की मांग पूरी की जा सकती है। कुछ इञ्जन मंगवाने पड़ेंगे और कुछ कर्मचारी बढ़ाने पड़ेंगे। परन्तु सड़क, पुल, स्टेशन इत्यादि बनाने की आवश्यकता न पड़ेगी। ये उत्पादन के निश्चित या बंधे साधन हैं। चूंकि आवागमन में वृद्धि के साथ-साथ इन बंधे हुए साधनों में वृद्धि करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिये उत्पादन साधनों की प्रति इकाई पीछे लागत खर्च कम होता जायगा। प्रायः प्रत्येक प्रकार के व्यवसाय में यह सिद्धान्त लागू होता है। छोटे उद्योगपति प्रत्येक मशीन अथवा प्रत्येक श्रमिक की कार्यशक्ति का पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा सकते। सम्भव है कि मशीनों के इञ्जीनियरों अथवा अन्य प्रकार के विशेषज्ञों को अपनी कार्यशक्ति भर काम करने का मौका न मिले। परन्तु यदि व्यवसाय बढ़ाया जाय तो उन्हें काम करने का अधिक मौका मिलेगा और इकाइयों का कुछ लागत खर्च कम हो जायगा।

विशेषज्ञता (Specialization) बढ़ने से भी संगठन में सुधार और उन्नति हो सकती है। किसी उद्योग-विशेष में विशेषज्ञता की कई सतह होती है। यदि उत्पादन बढ़ाया जावे तो दक्षता की उच्च सतह काम में लाई जा सकती है, जिससे कार्यशक्ति बढ़ेगी, लागत खर्च घटेगा। उत्पादन की प्रत्येक क्रिया का काम एक ऐसे साधन से लिया जा सकता है, जो विशेषरूप से उसी क्रिया के लिये बना हो। जैसे-जैसे

जैसे कम्पनी के माल की मांग बढ़ती है, वैसे-वैसे वह कीमती मशीनों, विशेषज्ञों तथा कुशल श्रमिकों से काम ले सकती है। इसलिये उसकी सीमान्त लागत कम होगी।

ये 'आन्तरिक बचत' (internal economics) के उदाहरण हैं। अर्थात् जैसे-जैसे फर्म का व्यवसाय बढ़ता है, वैसे-वैसे यह किफायत उसी के आन्तरिक संगठन में हो सकती है। यह बचत मशीनों का अधिक अच्छा उपयोग करने से अथवा फर्म की दक्षता और विशेषज्ञता बढ़ाने से होती है। परन्तु बाह्य बचत (external economics) से भी लागत खर्च कम हो सकता है। मार्शल ने बाह्य बचत शब्द का उपयोग किया है। किसी फर्म का व्यवसाय बढ़ने से उसे जो बचत होती है, उसे बाह्य बचत कहते हैं। उदाहरण के लिये जब कोई नया फर्म किसी व्यवसाय में प्रवेश करता है, तब सब फर्मों के लिये उत्पादन कुछ सस्ता करना सम्भव हो सकता है। जैसे कि मशीनों के दाम कुछ सस्ते हो सकते हैं। क्योंकि मशीन बनानेवाले फर्मों का बाजार अब कुछ बढ़ गया।

बाह्य बचत

यह ध्यान रखना चाहिये कि जब किसी फर्म का व्यवसाय बढ़ता है, तो उपज की बढ़ती अनिश्चित सीमा तक नहीं होती। एक समय आयेगा, जब बचे हुए साधनों का पूर्ण उपयोग करने के बाद उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न करने से उपज घटने लगेगी। जब तक बढ़ती उपज का नियम काम करेगा, तब तक उत्पादन बढ़ाने से प्रत्येक फर्म लागत खर्च कम कर सकेगा। पूर्ण प्रतियोगिता में उसका ऐसा करना अच्छा होगा। परन्तु उत्पादन बढ़ने पर उसकी विशेषज्ञता और वृहत् उत्पादन सम्बन्धी बचत खतम हो जायगी, जब तक कि व्यवसाय बढ़ाने से उसका लागत खर्च न बढ़े।

स्थिर उपज का नियम (The Law of Constant Returns)—जब किसी वस्तु का उत्पादन प्रति इकाई पीछे लागत खर्च बढ़ाये बिना अधिक किया जा सकता है, तब यह कहा जाता है कि उसका उत्पादन स्थिर उपज के नियम के अनुसार होता है। उत्पादन के साधन बढ़ाने से उपज में भी बढ़ती होती है। किसी वस्तु का उत्पादन स्थिर लागत पर करने के लिये जहां तक हो सके, इन शर्तों का पालन करना चाहिये। एक तो उस वस्तु के उत्पादन के लिये कच्चे माल इतने अधिक होने चाहिये कि उत्पादन बढ़ने से उनके दामों में बढ़ती न हो। दूसरे उसके उत्पादन के लिये आवश्यक साधन स्थिर दामों में मिलते रहें। तीसरे, उद्योग ऐसा हो कि उसका प्रसार होने पर उसमें श्रम-विभाजन और विशेष दक्षता की बढ़ती न हो।

बढ़ती उत्पत्ति और घटती उत्पत्ति के फलों का ठीक सन्तुलन करने से भी स्थिर लागत पर उत्पत्ति हो सकती है। विशेषज्ञता तथा उत्पादन तरीकों में उन्नति के कारण जो बचत होगी, वह कच्चे माल अथवा अन्य साधनों के महंगे हो जाने के कारण मिट सकती है।

तात्पर्य (Conclusion)—यह ध्यान रखना चाहिये कि जिन नियमों का अध्ययन हमने इस अध्याय में किया है, वे केवल सिद्धान्त हैं और सिद्धान्तों के रूप में उनकी व्याख्या

की गई है। उनका महत्त्व तब मालूम होगा, जब हम मूल्य के सिद्धान्त के सम्बन्ध में कई समस्याओं का अध्ययन करेंगे। वास्तविक जीवन में कोई भी उद्योग किसी एक समय एक नियम का भी पालन नहीं करता। जैसे कि कृषि और खनिज पदार्थों के सम्बन्ध में यह देखने में आता है कि उनके उत्पादन की लागत बढ़ती जाती है। परन्तु उनसे जो वस्तुएं निर्माण की जाती हैं और उनका जो यातायात होता है वह बढ़ती उपज के नियमों के अनुसार होता है। फिर भी निश्चित रूप से कोई बात कहनी कठिन है। विज्ञान की प्रगति, नये-नये आविष्कारों तथा उत्पादन के तरीकों में चमत्कारिक परिवर्तनों ने कई उद्योगों का रूप-रंग बदल दिया है। यह परिवर्तन लगातार होता रहता है।

चौदहवां अध्याय

बिक्री क्षेत्र या बाजार
(Markets)

अनादि काल से विनिमय के सब काम बाजारों या बिक्री के केन्द्रों में होते आये हैं। वास्तव में औद्योगीकरण की उन्नति विस्तृत और पूर्ण बाजारों के विकास पर निर्भर है। यदि किसी वस्तु की बिक्री के लिये बाजार बिलकुल सीमित है तो उसकी उत्पत्ति भी सीमित रहेगी। जैसे-जैसे उसका बाजार बढ़ेगा और बाजार के साथ-साथ मांग बढ़ेगी, वैसे-वैसे उसका उत्पादन भी बढ़ेगा। आडम स्मिथ ने बहुत पहिले बतलाया था कि श्रम-विभाजन बाजार की सीमा पर निर्भर है। इसलिये मूल्य सिद्धान्त का गंभीर अध्ययन करने के पहिले बाजार के विभिन्न अंगों और विशेषताओं की जानकारी प्राप्त करनी आवश्यक है।

बाजार की परिभाषा (Difinition of a Market)—साधारण भाषा में बाजार का अर्थ वह स्थान होता है, जहां वस्तुएं बिक्री के लिये लाई जाती है।

अर्थशास्त्र में बाजार के माने

बोलचाल की भाषा में बाजार का सबसे अच्छा उदाहरण किसी ग्राम का वह साप्ताहिक मेला है, जहां बहुत से खरीद और बिक्री करनेवाले लोग इकट्ठे होते हैं और शोरगुल के साथ अपने सौदे करते हैं। परन्तु अर्थशास्त्र में बाजार का अर्थ कोई स्थान तथा क्षेत्र नहीं है। बाजार के माने कोई वस्तु या बहुत-सी वस्तुएं हैं, जिन्हें बहुत से लोग खरीदते और बेचते हैं। जैसे कि अर्थशास्त्र में 'गेहूं का बाजार' का अर्थ कोई विशेष स्थान नहीं है, जहां गेहूं खरीदा और बेचा जाता है। इसी प्रकार स्टॉक-एक्सचेंज या शेयर बाजार का सम्बन्ध किसी स्थान विशेष से नहीं है। उसका सम्बन्ध केवल प्रतियोगितापूर्ण दामों में

हिस्सों की खरीद और बिक्री से है। बाजार का अस्तित्व जानने का मापदण्ड यह है कि किसी एक समय एक दाम होना चाहिये। बाजार में किसी वस्तु की खरीद और बिक्री का एक भाव होना चाहिये। यदि किसी वस्तु के दो भाव हैं, तो एक साथ दो बाजार हो जावेंगे।

स्थान की दृष्टि से बाजार

आर्थिक बाजार का वर्गीकरण दो तरह से हो सकता है—पहिला स्थान की दृष्टि से और दूसरा समय की दृष्टि से। किसी बाजार का क्षेत्र प्रतियोगिता की सीमा पर निर्भर होता है। यदि प्रतियोगिता संसारव्यापी है, तो बाजार अन्तर्राष्ट्रीय होगा। यदि प्रतियोगिता केवल देश-व्यापी है तो बाजार भी राष्ट्र तक सीमित रहेगा और यदि प्रतियोगिता केवल किसी स्थान विशेष तक सीमित है तो बाजार भी उसी स्थान तक सीमित रहेगा। इसलिये बाजार अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय और स्थानीय होते हैं। सोना और चांदी ऐसी वस्तुएं हैं, जिनके बाजार अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं। इनके विरुद्ध दूध और साक-भाजी के बाजार स्थानीय होते हैं। बाजार का एक वर्गीकरण समय के आधार पर भी किया जा सकता है। यदि समय थोड़ा है, मान लो केवल एक दिन है, तो बेचनेवालों के पास वस्तु की मात्रा उतने समय के लिये निश्चित या बंधी हुई हो जाती है और भाव पर सबसे अधिक प्रभाव मांग का पड़ेगा। परन्तु यदि समय लम्बा है, तो वस्तु पर अधिक उत्पादन की लागत का प्रभाव पड़ेगा और उसके भाव पर सबसे अधिक प्रभाव पूर्ति का पड़ेगा। मार्शल ने समय को आधार मानकर बाजारों को चार वर्गों में बांटा है—(१) कम समय (short period), (२) मामूली लम्बा समय (moderately long period), (३) लम्बा समय (long period) और (४) काफी लम्बा समय (secular period)। आगे चलकर हम इनका विस्तृत अध्ययन करेंगे।

विस्तृत बाजार की शर्तें

विस्तृत बाजार के लिये शर्तें (Conditions For a Wide Market)—आधुनिक समय में किसी भी वस्तु के लिये बाजार विस्तृत करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। आधुनिक काल की औद्योगिक क्रान्ति केवल विस्तृत बाजारों के प्राप्त होने से संभव हो सकी है। साथ ही औद्योगिक क्रान्ति ऐसी परिस्थितियां उपस्थित कर रही है, जिनसे बाजार विस्तृत होते जाते हैं। उदाहरण के लिये रेल, तार और टेलीफोन ने सारे सभ्य संसार का एक बाजार बना दिया है। फिर भी कुछ विशेष बातें हैं, जो यह बतलाती हैं कि कुछ वस्तुओं का बाजार संसारव्यापी क्यों है और कुछ का बाजार केवल स्थानीय क्यों है। निम्नलिखित बातें किसी वस्तु के लिये बाजार विस्तृत कर देती हैं।

(१) सार्वभौम अथवा बहुत विस्तृत मांग (Universal or Very Wide Demand)—यह साफ जाहिर है कि किसी वस्तु की मांग जितनी अधिक होगी, उसके लिये बाजार भी उतना विस्तृत होगा।

(२) सुगमता (Portability)—वस्तुएं टिकाऊ हों और उनके ले जाने में आसानी हो। अर्थात् उनके थोड़े वजन में अधिक मूल्य हो। सोना और चाँदी ऐसे वस्तुओं के उदाहरण हैं। एक तो वे सटाऊ होते हैं, दूसरे उनके थोड़े वजन में मूल्य अधिक होता है। इसलिये उनको विस्तृत बाजार प्राप्त है। परन्तु वजन के हिसाब से ईंटों का मूल्य बहुत कम होता है, इसलिये वे अधिक दूरी तक नहीं ले जाई जा सकती। जिससे इनका बाजार स्थानीय क्षेत्र तक सीमित रहता है। ताजी साक-भाजी टिकाऊ नहीं होती। इसलिये उसका बाजार भी सीमित रहता है।

(३) नमूना बनाने की सुविधा (Suitability for Sampling)—यदि किसी वस्तु के अच्छे और सही नमूने बनाकर दूर के व्यवसायियों के पास भेजे जा सकते हैं तो वे उसे खरीद सकते हैं। उन्हें यह विश्वास अवश्य होना चाहिये कि उनके पास ठीक माल पहुँचेगा, परन्तु यदि वस्तु के सही नमूने नहीं बन सकते तो खरीदार को स्वयं माल के स्थान पर आना पड़ेगा। तब उस वस्तु का बाजार क्षेत्र की दृष्टि से सीमित हो जायगा। यदि उसके नमूने भेजे जा सकते हैं, तो बाजार का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जायगा।

(४) वर्गीकरण की सुविधा (Suitability for Grading)—यदि वस्तु के भिन्न भिन्न गुणों के अनुसार उसका वर्गीकरण किया जा सकता है, अर्थात् यदि कोई जानकार उसकी किस्मों का विभाजन कर दे तो खरीदार बिना नमूना देखे ही उसे खरीद सकते हैं। इस प्रकार उसका बाजार बहुत विस्तृत हो सकता है। उदाहरण के लिये भारत में जो कोयला खोदा जाता है उसका वर्गीकरण भारतीय कोयला वर्गीकरण समिति (Coal Grading Board) करती है। वह निर्णय करती है कि कौन कोयला पहिला, दूसरा, तीसरा या चौथे दर्जे का है। चीन के खरीदार बिना नमूना देखे पहिले दर्जे या दूसरे दर्जे के कोयले की माग भेज सकते हैं।

कोई वस्तु इन शर्तों का जितना अधिक पालन कर सकती है, उसका बाजार उतना अधिक विस्तृत होगा। जिन वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय बाजार होते हैं, उनके सबसे अच्छे उदाहरण सोना, चाँदी और संसार-प्रसिद्ध कम्पनियों के हिस्से हैं। सोना-चाँदी जैसी कीमती धातुओं की माग सब जगह रहती है। वे जल्दी पहिचानी जा सकती हैं, आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाई जा सकती हैं और बहुत टिकाऊ होती हैं।

सोना-चाँदी का बाजार

कुछ हद तक कपास, गेहूं, लोहा, ताबा इत्यादि का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय होता है। उद्योग के कच्चे माल की दृष्टि से उनकी माग प्रत्येक देश में होती है। उनके नमूने और किस्म भी अच्छी तरह बनते हैं। यद्यपि वजन के हिसाब से उनका मूल्य कम होता है, फिर भी उनका यातायात आसानी से हो सकता है। इसलिये उनके बाजार अच्छे ढंग से संगठित हैं।

गेहूं कपास आदि के बाजार

इन वस्तुओं के विपरीत शाक-भाजी, दूध इत्यादि वस्तुएं होती हैं, यद्यपि इनकी माग बहुत होती है, परन्तु ये टिकाऊ नही होती और कीमत के हिसाब से इनका वजन बहुत होता है। इसलिये ये वस्तुएं ज्यादा दूर नही जा सकती। इनके नमूने और वर्ग बनाना भी कठिन होता है। इसलिये इनका बाजार स्थानीय और सीमित होता है।

भारी और मरनेवाली वस्तुओं का बाजार

पूर्ण और अपूर्ण बाजार (Perfect and Imperfect Markets)—बाजारो में जो प्रतियोगिता होती है, उसके आधार पर भी बाजारो का वर्गीकरण किया गया है। यदि बाजार में सब खरीदार भिन्न-भिन्न दूकानदारो के भाव जानते हैं, और वे हमेशा कम से कम दामो पर खरीदने का प्रयत्न करते हैं और यदि प्रत्येक दूकानदार एक ही वर्ग की वही वस्तु बेचता है, तो उस बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता मानी जावेगी। साथ ही बेचनेवाले दूकानदार भी बहुत होने चाहिये। ऐसे बाजार में एक समय एक वस्तु का एक ही भाव होगा। अब मान लो कई दूकानदार एक ही वस्तु को दो भावो पर बेचते हैं। चूकि सब खरीदार बाजार भाव जानते हैं, इसलिये वे उन दूकानदारो के पास जावेंगे, जिसके दाम कम हैं। यदि इन दूकानदारो के पास कुल माल का अधिकाश हिस्सा है तो दूसरे दूकानदारो को भी उन दूकानदारो के भाव पर बेचना पड़ेगा। परन्तु यदि कम भाव वाले दूकानदारो के पास माल का थोड़ा भाग है, तो खरीदारो की प्रतियोगिता के कारण उन्हें अपने भाव अधिक भाववाले दूकानदारो के बराबर बढाने पड़ेंगे। इसलिये पूर्ण प्रतियोगिता मे एक समय एक वस्तु के एक ही दाम रहेंगे।

पूर्ण बाजार

परन्तु यदि खरीदार विभिन्न दूकानदारो के भाव नही जानते और अज्ञान अथवा आलस्य या यातायात के खर्च के कारण कम से कम दामो पर खरीदने का प्रयत्न नही करते, तो प्रतियोगिता अपूर्ण रहेगी। यदि ग्राहको का ऐसा विश्वास है कि भिन्न-भिन्न दूकानदारो के माल में किस्म का फरक है (वास्तव में चाहे हो या न हो) तो भी प्रतियोगिता अपूर्ण होगी। यदि बेचनेवाले थोड़े से हैं और उनके पास माल काफी है, तो भी प्रतियोगिता अपूर्ण होगी। अपूर्ण बाजार में दूकानदार एक वस्तु को भिन्न भिन्न ग्राहको को कई भाव पर बेच सकते हैं। अगले अध्यायो में हम यह देखेंगे कि जब प्रतियोगिता पूर्ण होती है, तब किसी वस्तु का मूल्य किन सिद्धान्तो के अनुसार स्थिर होता है। उसके बाद अपूर्ण प्रतियोगिता का अध्ययन करेंगे।

अपूर्ण बाजार

पन्द्रहवाँ अध्याय

पूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य

(Value Under Perfect Competition)

इस अध्याय में तथा इसके बाद के चार अध्यायों में हम यह मान लेंगे कि किसी वस्तु के लिये बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियां हैं। हम यह जानते हैं कि प्रतियोगिता पूर्ण होने के लिये निम्नलिखित शर्तों का पूरा होना आवश्यक है। पहिली यह कि किसी वस्तु के विक्रेता और खरीदार काफी होने चाहिये, जिससे कोई खरीदार या बेचनेवाला अपने किसी कार्य द्वारा बाजार भाव पर प्रभाव न डाल सके। एक उदाहरण से यह बात अच्छी तरह समझ में आ जायगी। मान लो किसी वस्तु के १००० बेचने वाले हैं और प्रत्येक २० इकाई बेचता है। माल की कुल मात्रा २०,००० इकाई है। यदि कोई बेचनेवाला अपनी उत्पत्ति ५ प्रतिशत बढ़ाता है तो कुल माल में केवल एक इकाई बढ़ेगी। अब २०,००० इकाई की जगह बिक्री के लिये २०,००१ इकाई हो जावेगी। इससे उस वस्तु के बाजार भाव पर असर नहीं पड़ेगा। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि यदि सब दूकानदार एक साथ उस वस्तु को अधिक मात्रा में बेचने का निश्चय कर लें तो उसके भाव पर असर नहीं पड़ेगा। परन्तु एक व्यक्ति अपने किसी स्वतन्त्र काम द्वारा भाव पर असर नहीं डाल सकता। दूसरी शर्त यह है कि बाजार में प्रत्येक विक्रेता को वही वस्तु बेचनी चाहिये। अर्थात् वस्तु की किस्मों और गुणों में भेद नहीं होना चाहिये। ब्रुकबान्ड की चाय और लिपटन की चाय एक ही वस्तु नहीं कही जा सकती। गुण भेद के कारण इन दो प्रकार की वस्तुओं में प्रतियोगिता नहीं हो सकती। तीसरी शर्त यह है कि खरीदार को विभिन्न विक्रेताओं के भाव मालूम होने चाहियें और उससे कम से कम भाव पर खरीदना चाहिये। चूंकि प्रत्येक ग्राहक कम से कम भाव पर खरीदना चाहता है, इसलिये जो विक्रेता अपना भाव अन्य विक्रेताओं से थोड़ा कम कर देगा, उसी के पास सब ग्राहक आवेंगे और यदि वह अपना भाव थोड़ा-सा बढ़ा दे तो उसके पास कोई ग्राहक न जायगा। अर्थशास्त्र की भाषा में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक विक्रेता के लिये उसके माल की माग बाजार भाव के दोनो तरफ एक छोटे से घेरे में अपरिमित रूप से लोचदार है।

पूर्ण प्रतियोगिता में किसी वस्तु के दाम ऐसे रहेंगे, कि उसकी पूर्ति और माग एक दूसरे के बराबर रहेंगी। यह समझने के लिये कि माग और पूर्ति के परस्पर प्रभाव के कारण किसी वस्तु का दाम किस प्रकार निश्चित होता है,

कुछ अनुमान मान लेना आवश्यक है। हम यह मान लेते हैं कि किसी वस्तु के खरीदने में जो धन खर्च हुआ है, वह एक व्यक्ति की कुल आमदनी का एक बहुत छोटा भाग है, इसलिये उसके लिये धन की सीमान्त उपयोगिता एक-सी रहती है। इसी प्रकार हम यह भी मान लेते है कि बेचनेवाला के लिये भी धन की उपयोगिता लगातार एक-सी रहती है।

अनुमान

(अ) धन की सीमान्त उपयोगिता स्थिर है

यह अनुमान उन बहुत-सी वस्तुओ के सम्बन्ध में उचित भी है, जिन्हें हम अपनी दैनिक जीवन की आवश्यकताओ के लिये बाजार मे खरीदते रहते हैं। इस सम्बन्ध में जो अपवाद है, वे महत्त्वपूर्ण नही है। अन्त में हमें एक निश्चित समय मान लेना पड़ता है और उस निश्चित समय के भीतर हम माग और पूर्ति की क्रिया और प्रतिक्रिया का अध्ययन करते है। मूल्य सिद्धान्त के सम्बन्ध में समय का महत्त्व एक आगे के अध्याय में बतलावेंगे।

(ब) निश्चित समय

बाजार में एक निश्चित समय में किसी वस्तु की प्रत्येक इकाई की किसी एक भाव पर माग होती है। अर्थात् उस दाम पर उस इकाई का खरीदार मिल जावेगा। जैसे-जैसे बाजार में उस वस्तु की अधिक इकाइया बिक्री के लिये आवेंगी, वैसे-वैसे उन अधिक इकाइयो के दाम माग के नियम के अनुसार कम होते आवेंगे। अर्थात् माग का भाव (demand price) कम होता जायगा। भाव कितना गिरेगा यह उस वस्तु की माग की लोच पर निर्भर रहेगा।

माग-कीमत

इसी प्रकार प्रत्येक इकाई के लिये पूर्ति-कीमत (supply-price) होती है। अर्थात् वह भाव जिस पर दूकानदार वह इकाई बेचने को तैयार होगा। यदि वास्तविक कीमत इस कीमत से कम है, तब व्यापारी नही बेचेगा। जैसे इकाइयो की माग बढेगी, वैसे पूर्ति की लोच के अनुसार अधिक इकाइयो की कीमत घटेगी या बढेगी। घटना-बढना इस पर निर्भर होगा कि उस वस्तु कि पूर्ति पर क्रमागत ह्रास नियम का प्रभाव पडता है अथवा बढती उपज के नियम का।

पूर्ति-कीमत

अब मान लो हम चाय की माग-कीमत और पूर्ति-कीमत की निम्नीय सूची तैयार करते हैं—

निम्नलिखित दामों पर	ग्राहक खरीदेंगे	व्यापारी बेचेंगे
३)	१०,००० पौ०	२३,००० पौ०
२॥)	१२,००० "	१८,००० "
२)	१५,००० "	१५,००० "
१॥)	२०,००० "	११,००० "
१)	२७,००० "	८,००० "

इन दो सूचियों को देखने से पता चलता है कि चाय का दाम जब २ रुपया प्रति पाउन्ड है, तब उपभोक्ता या ग्राहक १५,००० पाउन्ड चाय खरीदने के लिये तैयार हैं। साथ ही व्यापारी भी ठीक उतनी ही चाय बेचने के लिये तैयार हैं। इसलिये अन्त में यही भाव स्थिर हो जायगा। इस दाम को साम्य कीमत (equilibrium price) कहेंगे। यदि इस दाम पर चाय की कीमत रखी जाय तो माल की माग और पूर्ति बराबर रहेगी और माल की प्रवृत्ति घटने या बढ़ने की ओर नहीं रहेगी। यदि चाय का भाव इस भाव से ऊंचा रहता, मान लो २½ रुपया प्रति पाउन्ड होता, तो व्यापारी १८,००० पाउन्ड चाय बेचने को तैयार होते, पर खरीदार केवल १२,००० पाउन्ड खरीदते। तब व्यापारियों के पास ६,००० पाउन्ड चाय अधिक बच जाती और उसे बेचने के लिये उन्हें दाम कम करने पड़ते। इसी प्रकार यदि चाय का भाव २ रुपया प्रति पाउन्ड से कम है, मान लो १½ रुपया है, तब व्यापारी केवल ११,००० पाउन्ड बेचने को तैयार हैं और ग्राहक २०,००० पाउन्ड खरीदने को तैयार हैं। इस दाम पर खरीदने के लिये बहुत से लोग होंगे। इसलिये यदि ज्यादा माल प्राप्त करना है तो अधिक दाम देने पड़ेंगे और दाम बढ़ जायगे। इसलिये २ रुपया वास्तविक साम्य कीमत है। उस पर माग और पूर्ति बराबर रहती है। थोड़ी देर के लिये अस्थायी तौर पर कुछ खरीदारों की तीव्र इच्छा के कारण दाम बढ़ सकते हैं। अथवा यदि व्यापारियों को रुपयों की बड़ी आवश्यकता है तो वे घट भी सकते हैं। दाम में इस प्रकार के अस्थायी परिवर्तन हो सकते हैं। परन्तु यदि माग और पूर्ति में साम्य रखना है तो दाम २ रुपया प्रति पाउन्ड ही रहना चाहिये। मान लो साम्य की इस स्थिति में कुछ परिवर्तन होता है। उस बाजार में चाय का भाव २ रुपया से अधिक हो जाता है। तब तुरन्त कुछ ऐसे प्रभाव काम करने लगेंगे, जिससे भाव फिर उसी साम्य भाव पर आ जायगा। ग्राहक जितना खरीदना चाहते हैं, व्यापारी उससे अधिक बेचने को तैयार हो जायगे। तब बिक्री घटेगी, माल पड़ा रहेगा। अन्त में दाम उसी २ रुपये पर आ जायगा। इस प्रकार माग और पूर्ति का साम्य किसी वस्तु का मूल्य निश्चित करता है।

चित्र नम्बर ७ में ड ड१ रेखा वस्तु (चाय) की माग बतलाती है। क क१ रेखा उस वस्तु की पूर्ति बतलाती है। दोनों रेखाएं एक दूसरे को प बिन्दु पर काटती हैं। इसलिये प प१ वह साम्य कीमत है, जिस पर खरीदार अ प१ चाय की मात्रा खरीदने को तैयार रहेंगे और व्यापारी भी अ प१ मात्रा बेचने को तैयार रहेंगे। यदि वास्तविक दाम ध म के बराबर है, तब माग रेखा से हम जान सकते हैं कि इस दाम पर खरीदार चाय की केवल अ म मात्रा खरीदेंगे जब कि व्यापारी अ म१ मात्रा बेचने को तैयार हैं। व्यापारियों की बेचने की उत्सुकता कीमत फिर प प१ तक ले आवेगी, जो कि वास्तविक साम्य कीमत है।

संक्षेप में यही मूल्य का सिद्धान्त (theory of value) है। इसका और अधिक

ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमें वस्तु की माग और पूर्ति की लोच की ओर ध्यान देना चाहिये। उत्पादन का लागत मूल्य जितना अधिक होगा, पूर्ति उतनी ही अधिक सीमित होगी। इसलिये मूल्य अधिक होगा। परन्तु मूल्य कहा तक बढ सकता है, यह माग की लोच पर निर्भर होगा। यदि माग लोचदार है, तो माल की कमी होने पर कीमत बहुत अधिक नहीं बढेगी। परन्तु यदि माग बेलोच है, तो पूर्ति सीमित होने से अर्थात् माल की कमी होने से दाम बहुत अधिक बढ जायगे। इसी प्रकार यदि किसी वस्तु की माग बढती

मूल्य और मांग की लोच
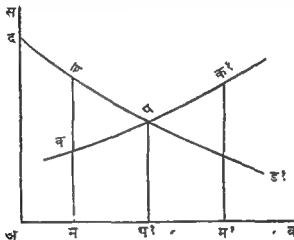
चित्र नं० ७

है और साथ ही उस वस्तु की पूर्ति बेलोच है अथवा उसमें घटती उपज का नियम काम करता है, तो उस वस्तु का दाम बढ जायगा। परन्तु यदि पूर्ति लोचदार है अथवा यदि उस वस्तु में बढती उपज का नियम काम करता है, तो अन्त में दामो में कमी होगी। क्योंकि बढती हुई माग के कारण बढती हुई उपज के लागत मूल्य मे कमी होगी।

पूर्ति की लोच

हम कह चुके हैं कि मूल्य माग और पूर्ति पर निर्भर है। परन्तु साथ ही माग और पूर्ति भी मूल्य पर निर्भर है। यदि मूल्य बढता है तो माग घट जायगी और पूर्ति बढ जायगी। इस प्रकार मूल्य-माग और पूर्ति आपस में एक दूसरे पर प्रभाव डालती हैं। यदि तीन में से किसी एक में कुछ परिवर्तन होता है तो बाकी दो पर उसका प्रभाव तुरन्त पडेगा। माग और मूल्य पूर्ति के कारण (causes) नहीं हैं।

मूल्य मांग और पूर्ति परस्पर प्रभावकर हैं

हम यह कह सकते हैं कि वे परस्पर सम्बन्धित (mutually inter-related) हैं। हमें मूल्य, माग और पूर्ति के इस पारस्परिक सम्बन्ध को नहीं भूलना चाहिये। इनमें से किसी एक का प्रभाव दूसरे से अधिक नहीं होता, यद्यपि परिस्थिति विशेष में किसी एक की महत्ता बढ जाती है।

दुर्लभ वस्तुओं का मूल्य (Value of Non-Reproducible Articles)— अभी तक हमने उन वस्तुओं के मूल्य का अध्ययन किया है, जिनकी पूर्ति माग के अनुसार बढाई जा सकती है। परन्तु कुछ ऐसी वस्तुएं भी होती हैं जिनकी पूर्ति हमेशा के लिये निश्चित रूप से सीमित होती है। रेफायल जैसे चित्रकार के चित्र इसका उदाहरण हैं। उनका मूल्य कैसे निश्चित किया जावे? ऐसी वस्तुओं का मूल्य निर्धारण करने के लिये भी किसी नये सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है। मूल्य का निर्धारण हमेशा माग और पूर्ति के साम्य द्वारा होता है। साधारण वस्तुओं के सम्बन्ध में यह होता है कि किसी समय बाजार में उनकी जो पूर्ति होती है, वह हमेशा के लिये नहीं होती। चूंकि उनका उत्पादन हो सकता है, इसलिये उनकी पूर्ति भी बढाई जा सकती है। परन्तु दुर्लभ वस्तुओं का उत्पादन फिर से नहीं हो सकता। उनकी माग के दाम चाहे जितने ऊंचे हों, पर पूर्ति नहीं बढाई जा सकती। इसलिये इन वस्तुओं का मूल्य इस तरह निश्चित होगा कि उनकी प्राप्त पूर्ति कितनी है और उसके लिये माग कैसी है। यहां माग का प्रभाव प्रधान होता है। किसी बाजार में कला की दुर्लभ वस्तुएं बिक रही हैं। वहां कोई धनी अमेरिकन पहुंचता है, जिसे कला की वस्तुओं का संग्रह करने का शौक है। उसे कला की कोई वस्तु पसन्द आ जाती है। वह उस वस्तु के लिये इतना अधिक दाम दे सकता है, जितना उसके बनानेवाले कारीगर ने कभी स्वप्न में भी न सोचा होगा। इस प्रकार माग का प्रभाव प्रधान तो रहता ही है, परन्तु पूर्ति का भी थोडा बहुत प्रभाव अवश्य रहता है। यदि कला की उस वस्तु की पूर्ति अधिक होती तो उसका मूल्य इतना अधिक न बढता। चूंकि उसकी पूर्ति बहुत अधिक सीमित है, इसलिये उसका मूल्य इतना अधिक बढा। ऐसी वस्तुओं में सबसे बडी विचित्रता यह होती है कि लागत मूल्य के कारण पूर्ति सीमित नहीं होती। उन वस्तुओं के मालिक उन पर जो भावुकतापूर्ण मूल्य लगा देते हैं, उसके कारण उनके दाम बढ जाते हैं। अर्थात् ऐसी वस्तुओं की पूर्ति के दाम सीमान्त लागत मूल्य के आधार पर निर्धारित नहीं होते। बल्कि उनके मालिक उनको जो भावपूर्ण महत्त्व दे रखते हैं, उससे उनके दाम बढते हैं। चित्र न० ८ में यह बात समझाई गई है।

दुर्लभ वस्तुओं का मूल्य माग पर अधिक निर्भर होता है

अ, ड वस्तु की पूर्ति की मात्रा निश्चित है। क, क१ माग की रेखा है। जब क, क१ रेखा माग की स्थिति बतलाती है, तब सीमित पूर्ति अ, ड, प, ड दाम पर बिकेगी। परन्तु यदि माग बढकर ख, ख१ हो जाती है, तो दाम प१, ट हो जायगा।

मांग (Demand)--मांग और पूर्ति के साम्य के प्रभाव द्वारा मूल्य निर्धारित होता है। दाम ऐसा होगा, जिससे किसी वस्तु की मांग और पूर्ति बराबर होगी। लेकिन मूल्य निर्धारित करने में मांग और पूर्ति की रेखाएं अन्तिम कारण (ultimate influences) नहीं हैं। मांग रेखा के पीछे और उस रेखा को बनानेवाला उपयोगिता का प्रभाव है। इसी प्रकार पूर्ति रेखा के पीछे उत्पादन का खर्च प्रभावकारी होता है।

मांग उपयोगिता पर अवलम्बित है
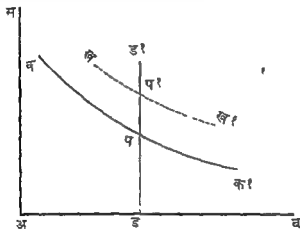
चित्र नं० ८

हम यह भी देख चुके हैं कि मूल्य पर किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता का प्रभाव पड़ता है पूर्ण उपयोगिता का नहीं। एक इकाई अधिक अथवा एक इकाई कम की उपयोगिता मूल्य निश्चित करती है। इसी से हम यह बात समझ सकते हैं कि पानी की अपेक्षा सोने का मूल्य अधिक क्यों होता है। पानी की एक इकाई कम अथवा एक इकाई अधिक की उपयोगिता का साधारणतः कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। परन्तु सोना आवश्यक वस्तु न होते हुए भी किसी के पास सोने की जो मात्रा है, उसमें एक इकाई जोड़ने या घटाने की उपयोगिता काफी होती है। चूंकि सोना एक दुर्लभ वस्तु है, जो बहुत कम मात्रा में पाई जाती है, इसलिये एक आउन्स कम अथवा अधिक होने से काफी हो जाता है।

सीमान्त उपयोगिता का मूल्य निर्धारण पर प्रभाव पड़ता है पूर्ण उपयोगिता का नहीं

पूर्ति (Supply)—पिछले अध्यायों में हम तीन बातें देख चुके हैं, जिनका प्रभाव किसी वस्तु की माँग पर पड़ता है। अब हम उन बातों का अध्ययन करेंगे, जिनका प्रभाव पूर्ति पर पड़ता है। किसी वस्तु की पूर्ति का अर्थ उसकी कुल मात्रा के उन भागों से है, जिन्हें व्यापारी एक निश्चित समय पर विभिन्न दामों पर बेचने को तैयार रहते हैं। दो बातें हैं। एक यह कि किसी समय कुल माल कितना है और, दूसरी यह कि उस कुल माल की कितनी मात्रा व्यापारी एक समय एक विशेष भाव पर बेचने को तैयार रहते हैं। इसलिये पूर्ति का अर्थ एक विशेष कीमत पर पूर्ति है जिस प्रकार माँग का अर्थ एक कीमत विशेष पर माँग से होता है।

माल और पूर्ति
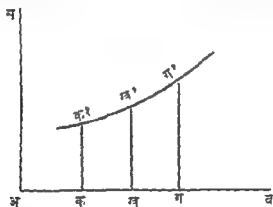
चित्र नं० ९

व्यापारी कितना माल बेचने के लिये तैयार होंगे यह बात इस पर निर्भर है कि खरीदार उसके लिये क्या कीमत देंगे। जब बाजार में किसी वस्तु का दाम बढ़ता है, तो व्यापारी उसकी अधिक मात्रा बेचने को तैयार होंगे, अर्थात् जब कीमत अधिक होती है, तब पूर्ति भी बढ़ जाती है। जब कीमत घटती है तब पूर्ति कम हो जाती है। इस प्रवृत्ति को पूर्ति का नियम (law of supply) कहते हैं। यह नियम बतलाता है कि किसी वस्तु की कीमत जैसे बढ़ती या घटती है, उसी प्रकार उसकी पूर्ति भी बढ़ने या घटने की प्रवृत्ति दिखाती है। माँग के नियम में जो प्रवृत्ति देखी थी, उसकी तुलना में यह प्रवृत्ति विरुद्ध दिशा में काम करती है। चित्र नं० ९ में यह प्रवृत्ति दरसायी गयी है।

पूर्ति नियम

म, ब रेखा पर वस्तु की वे मात्राएं हैं, जो विभिन्न दामों पर बिक्री के लिये हैं। अ, म

रेखा विभिन्न दाम बतलाती है। जब कीमत क, क १ है, तब व्यापारी अ, क मात्रा बेचने को तैयार है। जब कीमत बढ़कर ख, ख १ हो जाती है, तब व्यापारी अ, ख मात्रा बेचने को तैयार हो जाते हैं। यह प्रवृत्ति इसी प्रकार बढ़ती है और पूर्ति रेखा क १ ग १ ऊपर की ओर बढ़ती है।

इस नियम के भी अपवाद हैं। यह सम्भव है कि पूर्ति लगभग बंधी हुई हो, जैसा कि हम रेफायल के चित्रों में देख चुके हैं। तब कीमत में परिवर्तन होने से उसमें कोई परिवर्तन नहीं होगा। ऐसी वस्तुओं में कभी-कभी ऐसा हो सकता है, लेकिन बहुत कम कि जैसे कीमत बढ़े वैसे बेचनेवाला पहिले की अपेक्षा कम मात्रा में वस्तु बेचने की ओर झुकेगा। कहा जाता है कि भारतीय उद्योगपतियों का मजदूरों के सम्बन्ध में यही अनुभव है। मजदूरों के रहन-सहन का दर्जा बहुत नीचा होता है और उनकी आवश्यकताएं भी कम होती है। जब उद्योगपतियों ने उनकी मजदूरी की दर बढ़ा दी, तब दिन में कम घंटे और महीने में कम दिन काम करके वे अपनी आवश्यकताएं पूरी कर सकते थे। इसलिये मजदूरी बढ़ जाने पर काम से गैरहाजिरी भी बढ़ गई। अर्थात् जैसे मजदूरों के काम की कीमत बढ़ी, वैसे मजदूरों ने अपना काम कम मात्रा में बेचना शुरू कर दिया। इसलिये एक स्थिति के बाद पूर्ति रेखा नीचे की ओर झुकने लगती है। परन्तु इस प्रकार के उदाहरण इतने कम हैं कि पूर्ति का नियम प्रायः सब जगह लागू होता है।

पूर्ति की लोच (Elasticity of Supply)—जैसा माग के सम्बन्ध में देखा था, वैसा पूर्ति के सम्बन्ध में भी किसी वस्तु की पूर्ति की लोच अवश्य ध्यान में रखना चाहिये। दाम में परिवर्तन होने से बिक्री की वस्तु की मात्रा में जिस दर से परिवर्तन होगा, उसे पूर्ति की लोच कहते हैं। कीमत में परिवर्तन होने से अलग-अलग वस्तुओं की बिक्री की मात्रा की पूर्ति में भी अलग-अलग परिवर्तन होंगे। जब कीमत में थोड़ा-सा परिवर्तन होने से वस्तु की पूर्ति में बहुत परिवर्तन होता है, तो उसे लोचदार पूर्ति कहते हैं। परन्तु कीमत में थोड़ी-सी घटी-बढ़ी होने से जब पूर्ति में अधिक घटी-बढ़ी नहीं होती, तब पूर्ति को बेलोच कहते हैं।

पूर्ति की लोच किन बातों पर निर्भर है? वह इस बात पर निर्भर है कि वस्तु टिकाऊ है या जल्दी नष्ट होनेवाली है। दूध, मछली और ताजी तरकारियां जल्दी नष्ट होनेवाली वस्तुएं हैं। इसलिये थोड़े समय में इनकी पूर्ति बेलोच होती है। क्योंकि नष्ट होने के पहिले इनका बिक जाना जरूरी है। इसी प्रकार श्रम या मजदूरी बहुत शीघ्र नष्ट होनेवाली वस्तु है। अल्पकाल में उसकी पूर्ति भी बहुत बेलोच होती है। यदि टिकनेवाली वस्तुओं के दाम कम हों तो उनकी पूर्ति कुछ समय के लिये बढ़ाई जा सकती है। इसलिये अल्पकाल में उनकी पूर्ति लोचदार होती है। दूसरे यदि किसी वस्तु का उत्पादन बढ़ाने में पहिले की अपेक्षा लागत-खर्च काफी अधिक लगता है, तो उस वस्तु की पूर्ति बेलोच होगी। क्योंकि सम्भव है कि पूर्ति अधिक न बढ़ सके। यह क्रिया कृषि तथा

है। 'सीमान्त उपयोगिता और लागत खर्च मूल्य निर्धारित नही करते, बल्कि मूल्य के साथ-साथ ये दोनो भी मांग और पूर्ति के विविध सम्बन्धों द्वारा निर्धारित किये जाते है।'[1]

इसलिये सीमान्त इकाई मूल्य निर्धारित नही करती। हा, यह बात सच है कि यदि सीमान्त इकाई प्राप्त न होती तो वस्तु का मूल्य कुछ और होता। परन्तु यह बात किसी भी इकाई के सम्बन्ध में कही जा सकती है। क्योंकि अनुमान के आधार पर विभिन्न इकाइयों में अन्तर या भेद नही मालूम होता। सीमान्त इकाई की माग अथवा सीमान्त इकाई का उत्पादन खर्च मूल्य निश्चित नही करता। बल्कि कुल माँग और कुल पूर्ति का जो साम्य है, वह मूल्य निश्चित करता है। इसके सिवा सीमान्त इकाई की स्थिति भी केवल सीमान्त इकाई की दृष्टि से कुल माग और कुल पूर्ति के साम्य पर निर्भर है। मान लो एक नाव में केवल नौ व्यक्ति जा सकते है और वह भर गई है। एक दसवा मनुष्य उसमें कूद पड़ता है और वह डूब जाती है। तब हम यह नही कह सकते कि केवल दसवें मनुष्य के वजन के कारण वह नाव डूब गई। यह कहना सही होगा कि नौ मनुष्यों के वजन और + एक मनुष्य के वजन ने मिलकर नाव डुबा को दिया। इसी प्रकार सीमान्त इकाई की उपयोगिता मूल्य निर्धारित नही करती। बल्कि अन्य इकाइयों की माग और (+) सीमान्त इकाई की माग मिलकर मूल्य निर्धारित करते है। सीमा और माग दोनो कुल माग और कुल पूर्ति पर निर्भर है। सीमा एक बिन्दु है, जिस पर मूल्य निर्धारित होता है, उसके द्वारा नहीं।

सीमा वह बिन्दु है जिस पर मूल्य निश्चित होता है, उसके द्वारा नहीं

परन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि मूल्य पर सीमान्त इकाई का कोई प्रभाव नहीं होता। किसी अन्य इकाई के समान सीमान्त इकाई भी कुल पूर्ति का एक भाग है, इसलिये उसका कुछ प्रभाव तो होता ही है। सीमान्त इकाई, या सीमान्त खरीदार या सीमान्त बेचनेवाला न होने से मूल्य में कमी होगी, क्योंकि तब कुल पूर्ति अथवा कुल माग किसी अन्य प्रकार की होगी।

मूल्य निर्धारण समझने के लिये सीमा का जानना आवश्यक है

सीमान्त विश्लेषण के सिद्धान्त का महत्त्व इस कारण है कि सीमा वह बिन्दु है, जिस पर हम उन क्रियाओं का प्रभाव देख सकते है। जिनके द्वारा मूल्य निर्धारित होता है। जिन क्रियाओं द्वारा मूल्य में कुछ भी परिवर्तन होगा, उनका प्रभाव सीमा पर अधिकतर प्रकट होगा। जब कृषि की उपज के दाम गिरते है, तब सबसे पहिले सीमान्त भूमि बेकार छोड़ दी जाती है। सीमान्त भूमि

---

१ Marsball. 'Principle of Economics', P. 410.

वह भूमि होती है, जिस पर उत्पादन का लागत खर्च मुश्किल से उपज के दामो के बराबर होता है। इस प्रकार सीमा केन्द्र स्थान है। अर्थशास्त्रियो को सीमा के महत्व का सदा ध्यान रखना चाहिये।

सोलहवां अध्याय

बाजार मूल्य और स्वाभाविक मूल्य

(Market Value and Normal Value)

बाजार-मूल्य (Market Value)—किसी वस्तु का बाजार मूल्य वह मूल्य है, जो बाजार में थोड़े समय के लिये रहता है, जैसे एक दिन या एक हफ्ता। इतने थोड़े समय में किसी वस्तु की पूर्ति माग के अनुसार जुटाना सम्भव नहीं है। पूर्ति लगभग बधी हुई या निश्चित होती है। यदि किसी वस्तु की माग बढ़ती है, तो उसका उत्पादन बढ़ाने के लिये समय नही रहता। इसलिये माग में जब एकाएक परिवर्त्तन होंगे, तब उनका प्रभाव मूल्य पर भी असाधारण होगा। माग और पूर्ति के प्रभावो में एक अस्थायी साम्य स्थापित होगा। इसमें माग का प्रभाव अधिक होगा। अस्थायी इसलिये होता कि साम्य क्षणिक अथवा अस्थायी प्रभावों द्वारा स्थापित हुआ है।

माग और पूर्ति के अस्थायी सम्बन्ध बाजार भाव निश्चित करते हैं

हम दूध का उदाहरण लें। दूध एक ऐसी वस्तु है, जो बहुत कम टिकती है। चूंकि यह बहुत जल्दी नष्ट होनेवाला पदार्थ है, इसलिये प्रत्येक दिन बाजार में दूध की जितनी मात्रा लाई जाती है, वह उसी दिन बिक जानी चाहिये। बाजार में जो माल है, उसे घटाने या बढ़ाने का और कोई तरीका नहीं है। इस प्रकार पूर्ति तो निश्चित है, इसलिये माग के प्रभाव ही अधिकतर मूल्य निश्चित करेंगे। यदि दूध की माग उस दिन बढ़ती है, तो मूल्य एकदम बढ़ जायगा। परन्तु यदि माग घटती है, तो भाव भी एक दम गिर जायगा। माग कम हो अथवा अधिक परन्तु कुल माल (पूर्ति) का बिकना आवश्यक है। दूध के उत्पादन खर्च का उस दिन मूल्य पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा। माग चाहे जैसी हो, परन्तु उसी दिन कुल माल का बिकना आवश्यक है। एक अस्थायी साम्य स्थापित हो जायगा और उस साम्य पर सब माल बिक जायगा। यह साम्य स्थायी नहीं होता, क्योंकि कुछ समय बाद माग या पूर्ति का बदलना निश्चय है।

यद्यपि बाजार-भाव, माग और बाजार में उपलब्ध माल की वास्तविक मात्रा के परस्पर प्रभावो द्वारा निश्चित होता है, फिर भी भविष्य में उस माल की अधिक इकाइया का जो उत्पादन खर्च होगा, कुछ हद तक उसका भी प्रभाव बाजार भाव पर पडता है। क्योकि प्रत्येक वस्तु दूध और मछली की तरह शीघ्र नष्ट होनेवाली नही होती। दैनिक उपयोग की अधिकतर वस्तुए कुछ समय तक रखी जा सकती हैं। गेहू, चावल इत्यादि ऐसी ही वस्तुए हैं। ऐसी वस्तुओ के व्यापारी अपना सब माल एक दिन में बेचने को बहुत कम तैयार होगे। ऐसी वस्तुओ की कुछ मात्रा वे अपने गोदामो में स्टॉक करने के लिये रखे रहते हैं। यदि किसी कारण से माग बढती है और भाव भी बढता है, तो वे अपने गोदाम का माल कम करके बाजार में पूर्ति बढा देंगे। इससे दामो का बढना कुछ हद तक कम हो जायगा। इसी प्रकार यदि माग कम होने से बाजार भाव लागत मूल्य से भी कम हो जाता है, तो वे बाजार से माल खीच लेंगे और माग बढने की रास्ता देखेंगे। इससे कीमत गिरनी बन्द हो जायगी। इसलिये भविष्य में माग और पूर्ति सम्बन्धी सम्भावनाओ का भी बाजार भाव पर प्रभाव पडता है।

इसलिये यद्यपि अल्पकाल में मूल्य पर सबसे अधिक प्रभाव माग का पडता है, फिर भी पूर्ति की परिस्थितियो का प्रभाव थोडा होते हुए भी नगण्य नही है। मार्शल का कैंचीका प्रसिद्ध उदाहरण इस बात को बडी अच्छी तरह समझाता है। यदि कैंची की नीचे के धार को दबा कर स्थिर रखा जाय और केवल ऊपर के धारको चलाकर कपडा काटा जाय तो हम यह कह सकते हैं कि केवल ऊपर के धार से कपडा काटा गया। परन्तु यह भी सच है कि यदि नीचे का धार न होता तो ऊपर का धार कपडा न काट सकता। इसी प्रकार माग और पूर्ति दोनो की परिस्थितिया मूल्य निर्धारण करती हैं। यह हो सकता कि एक का प्रभाव प्रमुख हो। परन्तु दूसरे को भी भूलना नही चाहिये।

स्वाभाविक मूल्य (Normal Value)—अर्थशास्त्र में स्वाभाविक शब्द का प्रचार मार्शल ने किया। मार्शल का अर्थ था कि जब एक प्रकार की आर्थिक परिस्थितिया काफी समय तक रह चुकी हैं और अपना पूरा प्रभाव दिखा चुकी हैं तथा साथ ही उनमें कोई परिवर्तन भी नही हुआ, तब उस कालमें किसी वस्तु का जो मूल्य होगा, वह स्वाभाविक मूल्य होगा। यदि समय काफी लम्बा है, तो उत्पादको को माग की परिस्थिति के अनुसार कम या अधिक उत्पादन के लिये काफी समय रहेगा। पूर्ति के साथ-साथ कीमत भी बदलेगी और वह तब तक बदलती जायगी, जब तक कि वह उस वस्तु की अधिक इकाइया के उत्पादन खर्च के बराबर न आ जायगी।

मार्शल के इस सिद्धान्त की विवेचना करते हुए कुछ आधुनिक अर्थशास्त्रियो[1] ने कहा है कि स्वाभाविक मूल्य दो प्रकार का होना है। एक अल्पकालीन स्वाभाविक मूल्य

---

१ For example, see Stigler, The Theory of Price, ch 9

(short-term normal value) और दूसरा दीर्घकालीन स्वाभाविक मूल्य (short-run normal value) बाजार मूल्य का अध्ययन करते समय हमने कुछ समय के लिये यह मान लिया था कि किसी वस्तु की पूर्ति निश्चित थी। अल्पकालीन स्वाभाविक मूल्य के लिये हम यह मान लेते हैं कि किसी वस्तु की पूर्ति बदल सकती है, परन्तु उस उद्योग में व्यापारियों की संख्या तथा मशीनों की उत्पादन शक्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता। दीर्घकालीन स्वाभाविक मूल्य में हम यह मान लेते हैं कि वस्तु की पूर्ति, प्रत्येक उत्पादक के कारखाने की उत्पादन शक्ति तथा उस उद्योग में व्यापारियों की संख्या सब परिवर्तनशील हैं।

अल्पकालीन स्वाभाविक मूल्य (Short-run Normal Value)—जब मशीनों की उत्पादन शक्ति तथा व्यापारियों की संख्या में कोई परिवर्तन नहीं होता, तब अल्पकाल में स्वाभाविक मूल्य निम्नलिखित सिद्धान्तों के अनुसार निर्धारित होता है। ऐसी परिस्थितियों में किसी उत्पादक के सामने अपने उत्पादन की अपरिवर्तनशील पूर्ति की समस्या नहीं रहती (जैसी कि बाजार भाव के सम्बन्ध में रहती है) एक हद तक वह अपना उत्पादन बढ़ा सकता है। अर्थात् वह अपना उत्पादन मशीन की उत्पादन शक्ति भर बढ़ा सकता है। चूंकि हम पूर्ण प्रतियोगिता मान लेते हैं, इसलिये वह अपना माल चाहे जितनी मात्रा में चालू भाव पर बेच सकता है। भाव प्रत्येक उत्पादक के लिये लगभग बंधा रहता है। यदि प्रत्येक उत्पादक अपने माल की बिक्री से अधिक से अधिक लाभ चाहता है, तो वह तब तक उत्पादन करेगा, जब तक कि मूल्य उत्पादन के सीमान्त लागत मूल्य के बराबर नहीं होता। उत्पादन का सीमान्त लागत मूल्य वह अधिक मूल्य है, जो उत्पादक को उस वस्तु की अधिक इकाइयां उत्पन्न करने के लिये खर्च करना पड़ता है। जब तक मूल्य या दाम इस सीमान्त लागत खर्च से अधिक रहेगा, तब तक अधिक इकाइयां उत्पन्न करने से उसे अच्छा लाभ प्राप्त होता रहेगा। परन्तु जब सीमान्त मूल्य दाम से अधिक होगा, तब व्यापारी को अधिक इकाइयां उत्पन्न करने में हानि होगी। जिससे व्यापारी उत्पादन कम कर देगा। इसलिये प्रत्येक व्यापारी के लिये अल्पकालीन स्वाभाविक मूल्य वह होगा, जहां वस्तु की कीमत सीमान्त उत्पादन खर्च के ठीक बराबर होती है। पूरे उद्योग के लिये अल्पकालीन स्वाभाविक मूल्य वह होगा, जहां कीमत और निश्चित संख्या के व्यापारियों में से प्रत्येक की पूर्ति मात्रा में साम्य होगा और यह तब सम्भव है, जब सीमान्त लागत खर्च, कीमत और मांग की मात्रा में साम्य हो।

दीर्घकालीन स्वाभाविक मूल्य (Long-run Normal Price)—हम देख चुके हैं कि अल्पकालीन स्वाभाविक मूल्य सीमान्त उत्पादन खर्च के बराबर होता है। इस समय में किसी उद्योग में उत्पादकों की संख्या और कारखानों की उत्पादन शक्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता। वे स्थिर रहते हैं। परन्तु यदि हम काफी लम्बे समय पर विचार करते हैं

तो इस बीच में प्रत्येक व्यापारी को अपने कारखाने और मशीनों में परिवर्त्तन करने का मौका मिल जावेगा। साथ ही उस व्यवसाय में कुछ नये व्यवसायी आ सकते हैं और कुछ उसे छोड कर जा भी सकते हैं। यदि कीमत जो कि सीमान्त उत्पादन खर्च के बराबर है किसी व्यापारी के औसत उत्पादन खर्च से अधिक है, तो उस व्यापारी को उत्पादन बढाने में लाभ है। इसलिये वह अपने कारखाने की उत्पादन शक्ति बढावेगा। जब उत्पादन बढ़ेगा तो उस वस्तु की पूर्त्ति भी बढेगी और कीमत गिरेगी तथा गिरते-गिरते वह दीर्घकालीन औसत उत्पादन खर्च के बराबर आ जायगी। यदि कीमत औसत उत्पादन मूल्य से कम होगी तो कई उत्पादक उस उद्योग को बन्द कर देंगे। तब पूर्त्ति घटेगी और कीमत बढ़ेगी। दीर्घकाल में प्रतियोगिता की परिस्थितियों के प्रभाव से कीमत औसत उत्पादन खर्च के बराबर होगी। इस कीमत पर और इस उत्पादन पर, कीमत दीर्घकालीन औसत खर्च और सीमान्त उत्पादन खर्च दोनों के बराबर होगी।

स्वाभाविक मूल्य वह केन्द्र है जिसके चारों ओर बाजार मूल्य घूमता है

स्वाभाविक मूल्य और बाजार मूल्य (Normal Value and Market Value)—यद्यपि स्थायी कारणो और घटनाओं का बाजार कीमत या बाजार भाव पर बहुत प्रभाव पडता है, परन्तु सामान्यत वह स्वाभाविक मूल्य के आस-पास ही रहती है। आकस्मिक घटनाओं का प्रभाव धीरे-धीरे लुप्त होता जाता है और अन्त में मूल्य उसी सीमा की ओर आता है, जो स्थायी कारणों द्वारा निश्चित होती है। किसी वस्तु की माग और पूर्त्ति घटती-बढ़ती होने के साथ उसके बाजार मूल्य में भी कमी-बेशी होगी। कभी वह स्वाभाविक मूल्य से अधिक होगा और कभी कम। परन्तु स्वाभाविक मूल्य ही केन्द्र रहेगा और उसके चारों ओर बाजार मूल्य घूमेगा। पेन्डुलम के ठहरने का एक केन्द्रीय स्थान होता है, जो गुरुत्वाकर्पण के प्रभाव से निश्चित होता है। अस्थायी कारणो से विचलित होकर वह अपने साम्य बिन्दु से इधर-उधर जायगा, परन्तु वह हमेशा साम्य बिन्दु पर आने का प्रयत्न करेगा।

स्वाभाविक मूल्य बाजार मूल्य का औसत नहीं है

यह ध्यान में रखना चाहिये कि स्वाभाविक मूल्य बाजार मूल्यो की औसत नहीं है। कुछ निश्चित प्रभावो के पूर्णरूप से कार्यशील होने के फलस्वरूप स्वाभाविक मूल्य निश्चित होता है। और आज जो परिस्थितिया कुछ कारणों से स्वाभाविक या साधारण है, कुछ समय बाद वही परिस्थितिया अन्य कारणो से असाधारण बन सकती है। इसलिये साधारणत बाजार भाव की कई दिनों की औसत स्वाभाविक मूल्य नहीं हो सकती। शायद कभी किसी सयोगवश ऐसा हो सकता है।

मूल्य के सिद्धान्त में समय का महत्व (The Element of Time in the Theory of Value)—रिकार्डो जैसे कुछ अर्थशास्त्रियो का विचार था कि मूल्य-निर्धारण

उत्पादन खर्च के आधार पर होता है। यद्यपि उन्होंने मूल्य पर उपयोगिता और मांग के प्रभावों को स्वीकार किया। उन्होंने माना कि मूल्य के लिये उपयोगिता 'नितान्त आवश्यक' थी। परन्तु साथ ही वे यह भी कहते थे कि वह मूल्य का मापक नहीं है। इसके विरुद्ध जेवन्स कहता था कि मूल्य पूर्ण रूप से उपयोगिता पर निर्भर है। यदि हम बहुत थोड़े समय पर विचार करें तो यह कहा जा सकता है कि मूल्य पूर्णरूप से उपयोगिता पर निर्भर है। परन्तु ऐसा कहना भी बिलकुल सही नहीं है। यद्यपि अल्पकाल में मूल्य पर प्रधानतः मांग की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। परन्तु साथ ही उपलब्ध पूर्ति का भी कुछ प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार उत्पादन मूल्य का प्रभाव भी केवल दीर्घकाल में होता है। इसलिये जब हम उन परिस्थितियों और प्रभावों पर विचार करें, जिससे मूल्य निर्धारण होता है, तो हमें यह अवश्य बतलाना चाहिये कि हम अल्पकालीन मूल्य चाहते हैं अथवा दीर्घकालीन। यह बात मूल्य सिद्धान्त में समय का महत्त्व बतलाती है।

समय के महत्त्व पर सबसे पहिले मार्शल ने उचित जोर दिया। उसने समय को चार भागों में बांटा—एक दिन या एक हफ्ते का अल्पकाल, कुछ महीनों या एक वर्ष का अल्पकाल, कई वर्षों का दीर्घकाल और कई पीढ़ियों का दीर्घकाल। प्रत्येक काल में मांग और पूर्ति के प्रभावों की परस्पर क्रियाशीलता के फलस्वरूप मूल्य निश्चित होता है। परन्तु बहुत थोड़े समय में किसी वस्तु की पूर्ति केवल वही मात्रा होगी, जो उस समय उपलब्ध है। कुछ महीनों के अल्पकालमें पूर्ति का अर्थ उत्पादन की उस मात्रा से होगा, जो उपस्थित मशीनों, कारखानों इत्यादि से उत्पन्न किया जा सकता है। कई वर्षों के दीर्घकाल में पूर्ति का अर्थ वह उत्पादन होगा जो नई मशीनों, नये कारीगरों आदि को लगाकर किया जा सकता है। कई पीढ़ियों के दीर्घकाल में पूर्ति का अर्थ वह उत्पादन होगा, जो नये आविष्कारों तथा अन्य नये तरीकों, अधिक पूंजी, अधिक जनसंख्या आदि की सहायता से किया जायगा।

समय जितना कम होगा, मांग का प्रभाव उतना ही अधिक होगा और समय जितना अधिक होगा उतना ही अधिक मूल्य पर उत्पादन खर्च का प्रभाव होगा। उदाहरण के लिये

समय जितना कम होगा मांग का प्रभाव उतना अधिक होगा

किसी एक दिन मछली की कीमत इस बात पर निर्भर होगी कि उस दिन बाजार में मछली कितनी है और उसकी मांग कैसी है। यदि उस दिन मांग बढ़ जाती है तो दाम भी एकदम बढ़ जायगा क्योंकि मांग के अनुसार मछली की मात्रा उस समय नहीं बढ़ाई जा सकती। अर्थात् यहां मूल्य पर मांग का प्रभाव प्रधान है। परन्तु यदि यह अधिक मांग कुछ हफ्तों तक बनी रहती है, तो उसके

समय जितना अधिक होगा पूर्ति का प्रभाव उतना अधिक होगा

फलस्वरूप बढ़े हुए दामों के कारण मछुए अधिक मछली पकड़ कर बाजार में लावेंगे। उनके पास जितने जाल और नौकाएं हैं, उन सबका वे लोग पूरा-पूरा उपयोग करेंगे। अभी भी मांग का प्रभाव प्रधान है, यद्यपि धीरे-धीरे पूर्ति के

प्रभाव का असर हो रहा है। बाजार में अधिक मछली आने से कीमत में कुछ कमी होगी। यदि समय काफी लम्बा मिलता है, तो मछुए नये जाल और नई नावें बनावेंगे। वे प्रत्येक तालाव और नदी से प्रतिदिन अधिक घटो काम करके अधिक मछली पकडने की कोशिश करेंगे। अब पूर्ति बढ जायगी, पर माग वही रहेगी। इसलिये कीमत घटेगी और घटते-घटते वह उत्पादन के खर्च के बराबर आ जायगी। अर्थात् अतिरिक्त या अधिक मछली पकडने का जो खर्च है, उसके बराबर आ जायगी।

समय और मांग

यह ध्यान रखना चाहिये कि माग और पूर्ति के पारस्परिक सबधो द्वारा मूल्य निश्चित होता है, अकेली माग और अकेली पूर्ति के पारस्परिक सम्बन्धो द्वारा नही। इस सम्बन्ध में हम मार्शल के प्रसिद्ध कंची के फलो का उदाहरण दे चुके हैं। जब कंची का एक फल स्थिर रखा जाता है और काटने के लिये केवल दूसरा दबाया जाता है तब हमें यह नही कहना चाहिये कि कटाई केवल दूसरे फल द्वारा होती है। यदि दूसरा फल न हो तो केवल एक फल द्वारा कटाई नही हो सकती। इसी प्रकार मूल्य न केवल उपयोगिता द्वारा निश्चित होता है और न केवल उत्पादन खर्च द्वारा, बल्कि दोनो के द्वारा निश्चित होता है। अल्पकाल में माग की परिस्थितियो का प्रभाव अधिक रहता है। दीर्घकाल में उत्पादन का खर्च अधिक प्रभावशाली हो जाता है।

किसी व्यापारी का कुल खर्च दो भागो में बाटा जा सकता है—एक प्रमुख खर्च (prime costs) और दूसरा पूरक खर्च (supplementary costs)। दीर्घकाल में कीमत द्वारा उसका कुल उत्पादन खर्च वसूल हो जाना चाहिये। परन्तु अल्पकाल में यदि माग कम हो जाती है, तो उत्पादक अपना माल ऐसे मूल्य पर बेच सकता है कि उसका पूरा प्रमुख लागत खर्च और कम से कम कुछ पूरक खर्च वसूल हो जावे, इसलिये गिरती हुई माग के समय जो व्यापारी अपना माल बेचने के लिये चिन्तित रहता है, उसके लिये समय का महत्व काफी होता है। यदि वह समझता है कि माल में जो कमी हुई है, वह अस्थायी है तो वह बिलकुल न बेचने की अपेक्षा कम दाम पर बेचना पसन्द करेगा। परन्तु यदि माग की घटती बहुत दिनो तक चलती है, तो उसे अपना व्यवसाय बन्द कर देना पड़ेगा।

अभी तक हमने समय के महत्त्व का विचार केवल पूर्ति की परिस्थितियो की दृष्टि से किया है। परन्तु माग के सम्बन्ध में भी समय का महत्त्व जानना आवश्यक है। अल्पकालीन बाजार के लिये मांग की कीमत की जो सूची (list of demand prices) ठीक समझी जाती है, सम्भव है, वह दीर्घकालीन बाजार के लिये उपयुक्त न हो। अल्पकाल में किसी वस्तु की माग, विशेषकर नई वस्तु की माग बहुत कम हो सकती है। परन्तु समय बढने से लोग उसके साथ परिचित हो जायगे, उसके नये-नये

उपयोग निकलेंगे और उनके पक्ष में फैशन भी बदल सकता है। तब उसकी माग बढ सकती है। रेडियो और हवाईजहाज द्वारा यात्रा इसके उदाहरण हैं।[1] इसलिये अर्थशास्त्र में ऐसी बहुत कम समस्याए हैं, जिनमें समय के महत्व के कारण तरह-तरह की कठिनाइया उत्पन्न नही होती।

सतरहवां अध्याय

उत्पादन का लागत मूल्य
(Cost of Production)

लागत-मूल्य—उत्पादन का लागत मूल्य क्या है ? लागत मूल्य का अर्थ प्राय यह होता है कि उत्पादन पर कितना रुपया खर्च हुआ अर्थात् उत्पादक को किसी वस्तु के बनाने में क्या खर्च करना पडा। इसलिये उत्पादन खर्च उस रकम के बराबर होता है, जो उत्पादक को उत्पादन के विभिन्न साधनो को सग्रह करने में जुटाना पडता है। इन साधनो में ये खर्च शामिल रहते हैं-(१) कच्चे माल के दाम, (२) मजदूरो की मजदूरी, (३) व्यवसाय में जो पूजी लगी है, उस पर ब्याज, (४) मकान, मशीनों तथा पूजी सम्बन्धी अन्य वस्तुओं पर मूल्य ह्रास पूरक खर्च (depreciation charges), (५) व्यवसाय सम्बन्धी अन्य खर्च (जैसे विज्ञापन, बिक्री इत्यादि सम्बन्धी खर्च)।

उत्पादन का सीमान्त खर्च

यह निश्चय करते समय कि वर्तमान भाव पर किसी वस्तु को बेचना चाहिये अथवा नही, व्यवसायी उत्पादन के कुल खर्च पर विचार नही करता। वह केवल वस्तु के उत्पादन के सीमान्त लागत खर्च (marginal cost of production) का विचार करता है। सीमान्त उत्पादन खर्च का अर्थ वस्तु की एक इकाई अधिक अथवा एक इकाई कम के उत्पादन खर्च से होता है। मान लो किसी वस्तु की १० इकाइया उत्पादित की जाती हैं और उनके उत्पादन का कुल खर्च १०० रुपया होता है। यदि ११ इकाइया उत्पादित की जाती है, तो कुल उत्पादन खर्च १०९ रुपया होता है। इन दो कुल उत्पादन खर्चों में जो अन्तर है, वह ११वीं इकाई का सीमान्त उत्पादन खर्च है। इस

---

१ मार्शल के विचार में इस प्रकार के उदाहरण अपवादस्वरूप थे। उसने लिखा है-'कुछ अपवादो को छोडकर माग के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि उसकी लोच ऊची अथवा नीची है। हम अपना अन्दाज कहा तक बाध रहे हैं, यह नही कह सकते।' (See The Principles of Economics, page 456)

उदाहरण में वह ९ रुपया के बरावर है। जब तक अतिरिक्त इकाई के उत्पादन का खर्च विक्री के मूल्य या दर से कम है, तब तक उत्पादक को अतिरिक्त इकाई उत्पादन करने में लाभ होगा। जब उत्पादन का सीमान्त खर्च विक्री के मूल्य के बरावर हो जायगा, तब वह उत्पादन बन्द कर देगा।

सीमान्त मूल्य और औसत मूल्य में सम्बन्ध

उत्पादन के कुल लागत मूल्य में उत्पादित की हुई कुल इकाइयों का भाग देकर औसत मूल्य (average cost) निश्चित किया जाता है। ऊपर जो उदाहरण दिया है, उसमें १० इकाइयों के उत्पादन पर औसत मूल्य १० रुपया के बरावर होगा और ११ इकाइयों के उत्पादन पर ९ रु० १४ आ० के बरावर। यदि उत्पादन बढ़ाया जाय अर्थात् अधिक इकाइयां उत्पादित की जावें तो औसत मूल्य वही रह सकता है, घट सकता है और बढ़ सकता है। जब सीमान्त मूल्य औसत मूल्य से कम होगा तब उत्पादन बढ़ाने से औसत मूल्य घटेगा। यदि सीमान्त खर्च औसत मूल्य से अधिक है तो औसत मूल्य बढ़ेगा। यदि औसत मूल्य और सीमान्त मूल्य एक बरावर रहें तो औसत मूल्य वही रहेगा। नीचे दिये हुए उदाहरण से यह सफलतापूर्वक समझा जा सकता है।

उत्पादित इकाइयों की संख्या १	कुल खर्च २	औसत खर्च या मूल्य (२÷१)	सीमान्त मूल्य
१०	१०० रु०	१० रु०	
११	१०७ रु०	९ रु० ११ आ० ७ पा०	७ रु०
१२	११४ रु० ८ आ०	९ रु० ८ आ० ८ पा०	७ रु० ८ आ०
१३	१२२ रु० १२ आ०	९ रु० ७ आ०	८ रु० ४ आ०
१४	१३२ रु० ३ आ०	९ रु० ७ आ०	९ रु० ७ आ०
१५	१४३ रु०	९ रु० ८ आ०	१० रु० १३ आ०
१६	१५५ रु०	९ रु० ११ आ०	१२ रु०

ऊपर दिये हुए नक्शे में हम देखते हैं कि १३वीं इकाई तक सीमान्त मूल्य औसत मूल्य

से कम है। इसलिये यद्यपि सीमान्त मूल्य बढ़ता है, परन्तु औसत मूल्य कम होता जाता है। १४वीं इकाई पर सीमान्त मूल्य और औसत मूल्य एक बराबर हैं। इसलिये इस इकाई का औसत मूल्य वही रहता है, जो १३वीं इकाई का है। इसके बाद उत्पादन करने से सीमान्त मूल्य औसत मूल्य से अधिक हो जाता है। इसलिये १५वीं और १६वीं इकाइयों से औसत मूल्य बढ़ने लगता है।

हम देख चुके हैं कि किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन के सीमान्त खर्च के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखलाता है। अब प्रश्न उठता है कि औसत मूल्य और दाम में क्या सम्बन्ध है। यदि दाम, जो कि सीमान्त मूल्य के बराबर है, प्रति इकाई के औसत मूल्य से अधिक
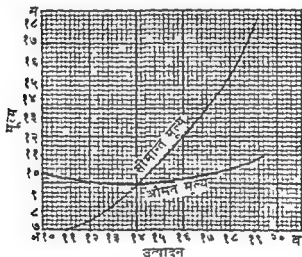
चित्र नं० १०

है (सीमान्त मूल्य का औसत मूल्य से अधिक होना चाहिये) तो उत्पादक औसत में काफी लाभ प्राप्त कर रहा है। इसलिये पूर्ण प्रतियोगिता होने पर वह उस वस्तु का अधिक उत्पादन करेगा, क्योंकि तब तक उसका लाभ बढ़ जायगा। इसलिये उत्पादन बढ़ाने की प्रवृत्ति रखेगा। चूंकि सीमान्त मूल्य औसत मूल्य से अधिक रहेगा, इसलिये अतिरिक्त उत्पादन का औसत मूल्य पहिले की अपेक्षा अधिक रहेगा। यह क्रम तब तक चलेगा जब तक औसत मूल्य दाम के बराबर न आ जायगा। इसके बाद वह उत्पादन बन्द कर देगा, क्योंकि अब औसत मूल्य बिक्री के दाम से अधिक हो जायगा और उसके कुछ लाभ में भी कमी होने लगेगी। यदि बिक्री का भाव औसत मूल्य से कम है, तब उत्पादक

औसत मूल्य और दाम में सम्बन्ध

को हानि होगी और वह उत्पादन कम करेगा। पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति में तथा साम्य की दृष्टि से (in equilibrium) दाम अर्थात् बिक्री का भाव और औसत मूल्य एक बराबर होगा। साथ ही वह उत्पादन के सीमान्त मूल्य के भी बराबर होगा। इसलिये पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति में सीमान्त मूल्य और औसत मूल्य तथा बिक्री के भाव एक बराबर होंगे। यह तब होगा जब प्रत्येक उत्पादक इतने बड़े पैमाने पर उत्पादन करेगा कि उसे वृहत् उत्पादन से होनेवाले लाभ प्राप्त होने की आगे सभावना न रहेगी। अर्थात् बड़े पैमाने के उत्पादन से जो लाभ सभव हो, वे सब प्राप्त हैं। उनके सिवा अब कुछ न मिलेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि औसत मूल्य में घटी न हो सकेगी। साथ ही क्रमागत ह्रास का नियम लागू नही होना चाहिये। अर्थात् औसत मूल्य नही बढना चाहिये। इसलिये प्रत्येक उत्पादक का कार्यक्षेत्र इतना मान लिया जाता है कि उसे बड़े पैमाने के उत्पादन के सब लाभ प्राप्त हो। साथ ही यदि वह उत्पादन अब बढाता है तो उसके उत्पादन का लागत मूल्य भी बढेगा। अर्थात् साम्य और पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति में उत्पादक का कार्यक्षेत्र आदर्श अधिकतम (optimum) होगा और बिक्री मूल्य कम से कम औसत मूल्य के बराबर होगा।[१]

लागत मूल्य और बिक्री मूल्य का समय के साथ सम्बन्ध (Costs and Price in Relation to Time)—उत्पादक जो माल उत्पादन करता है और उस माल की माग में जो परिवर्तन होते हैं तथा उन परिवर्तनो के कारण उसके विचारो में जो परिवर्तन होते हैं। इन विचारो के परिवर्तनो को समझने के लिये हमें कुछ हद तक समय का भी ध्यान रखना पड़ेगा। इसलिये लागत मूल्य और समय के बीच में जो सम्बन्ध होता है, उसे समझना आवश्यक है। मार्शल ने उत्पादक के कुल लागत मूल्य (total costs) को दो भागो में बाटा है। पहला प्रमुख लागत मूल्य (prime cost) और दूसरा पूरक लागत मूल्य (supplementary cost)।

पूरक लागत वे आवश्यक खर्च होते हैं, जो उत्पादक को करने ही पड़ते हैं, चाहे फिलहाल उसका व्यवसाय भले ही स्थगित हो गया हो। व्यवसाय की भाषा में इन्हें ऊपरी खर्च (overhead costs) कहते हैं और इनमें कई खर्च शामिल रहते हैं, जैसे

पूरक लागत — प्रधान अफसरो के वेतन, मशीनो का मूल्य ह्रास पूरक खर्च, उधार ली हुई पूजी पर ब्याज, बिजली पर खर्च, बीमा सम्बन्धी खर्च, मरम्मत सम्बन्धी खर्च इत्यादि।

प्रमुख लागत में वे सब खर्च आते हैं, जो बचे हुए खर्चों को छोड़कर किसी वस्तु के

१ इस विवेचना में यह मान लिया गया है कि पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितिया रहेंगी। अपूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियो में लागत मूल्य और बिक्री मूल्य में सम्बन्ध रहेगा। उसकी विवेचना २१वें अध्याय में की गई है।

उत्पादन पर होते हैं। इनमें कच्चे माल का मूल्य तथा साधारण मजदूरों की मजदूरी शामिल रहती है। प्रमुख लागत वह लागत है, जो उत्पादन कार्य स्थगित होते ही स्वयं स्थगित हो जाती है। मान लो माग की कमी के कारण कुछ समय के लिये उत्पादन कार्य स्थगित हो जाता है, तो उसी समय प्रमुख लागत सम्बन्धी खर्च भी बन्द हो जायगा।

प्रमुख लागत

परन्तु पूरक लागत सम्बन्धी खर्च जारी रहेगा। यह खर्च तभी बन्द होगा, जब उत्पादन व्यवसाय बिलकुल बन्द कर दिया जाय। एक उदाहरण ले लिया जाय। मान लो मन्दी के समय में बम्बई की एक कपड़े की मिल के माल की माग नहीं आती। उसे अपने दफ्तर तथा प्रबन्ध सम्बन्धी खर्च तो करने ही पड़ेंगे। ये पूरक खर्च हुए। लेकिन जब उसके पास माल की माग आती है और एक विशेष प्रकार के कपड़े की माग आती है तब उसे कपास खरीदना पड़ेगा और कुछ अधिक मजदूर काम में लगाने पड़ेंगे, खासकर दिन में काम करनेवाले और ठेके पर काम करने वाले मजदूर। तब उत्पादक मशीनों के मूल्य ह्रास के लिये भी कुछ अधिक अतिरिक्त रकम अलग रखेगा। यह प्रमुख लागत है। यह बात अवश्य है कि वास्तव में ये दोनों प्रकार के खर्च विशेषरूप से अलग-अलग नहीं रखे जाते। प्रत्यक्ष रूप में उनमें बड़ा अन्तर नहीं रहता। मन्दी के समय में उत्पादक अपने प्रबन्ध सम्बन्धी खर्च भी कम कर सकते हैं। वे अयोग्य कार्यकर्ताओं को निकालकर उनके स्थान खाली रख सकते हैं।

परन्तु मूल्य के सिद्धान्त का महत्त्व भली-भांति समझने के लिये इस भेद का व्यावहारिक महत्त्व बहुत है। लम्बे समय में उत्पादक के जो कुल खर्च होते हैं, वे बिक्री मूल्य द्वारा अवश्य पूरे होने चाहिये। कोई भी उत्पादक घाटा सहकर उत्पादन नहीं करता रहेगा। इसलिये लम्बे समय में प्रमुख लागत और पूरक लागत के भेद का विशेष महत्त्व नहीं रह जाता।

दीर्घकाल में दोनों प्रकार की लागत बिक्री मूल्य से पूरी होती है

परन्तु अल्पकाल में उसका महत्त्व रहता है। वैसे तो प्रायः अल्पकालीन बाजार में भी उत्पादक अपने माल को ऐसी दर से बेचने का प्रयत्न करेगा कि उसका कुल लागत खर्च निकल आवे। परन्तु यह हमेशा सम्भव नहीं होता। जब अल्पकाल में किसी वस्तु की माग गिर जाती है, तब उत्पादक के सामने दो मार्ग रहते हैं। या तो वह अपना कारखाना बिलकुल बन्द कर दे। अथवा जिस भाव पर माल बिके उस पर बेच दे। यदि माग की कमी अस्थायी है तो वह कारखाना बन्द नहीं करेगा। क्योंकि एक बार जब कारखाना बन्द हो जायगा और सब कार्यकर्त्ता और श्रमिक बरखास्त कर दिये जायेंगे तब माग आने पर उसे फिर से चालू करना बड़ा मुश्किल होगा। इसलिये वह बेकार रहने के बजाय कम दाम पर बेचना पसन्द करेगा, जिससे उसका कुल खर्च तो नहीं निकलेगा, परन्तु प्रमुख लागत खर्च पूरा निकल आयगा और पूरक खर्च का कुछ अंश आ जायगा। परन्तु यदि उसे यह डर है कि

ऐसा करने से 'बाजार बिगड जायगा', अर्थात् बाद में अच्छे दाम मिलने का अवसर निकल जायगा, अथवा यह डर है कि अन्य उत्पादक नाराज हो जायगे तो वह ऐसा नहीं करेगा। यदि किसी व्यवसाय की पूरक लागत बहुत अधिक है, मान लो उसमें बहुत कीमती मशीनें लगी हैं तो उत्पादक कुछ समय के लिये कम मूल्य पर भी माल बेच सकता है ऐसा मूल्य जिससे कि उसके बधे हुए खर्च का कुछ अश निकल आवे। विशेष परिस्थिति में उत्पादक ऐसा मूल्य स्वीकार करने पर भी बाध्य हो सकता है, जिससे उसकी प्रमुख लागत ही मुश्किल से निकले। परन्तु अल्पकाल में बिक्री मूल्य प्राय प्रमुख लागत से अधिक ही रहता है।

जब माग गिरती है तब उत्पादक ऐसे मूल्य पर बेच सकता है, जिससे कुल प्रमुख लागत और पूरक लागत का अश निकल आवे

प्रमुख लागत और पूरक लागत का भेद सम्मिलित उत्पत्ति (joint products) सम्बन्धी वस्तुओ के सम्बन्ध में भी महत्वपूर्ण है। भेड का गोश्त और ऊन एक सयुक्त उत्पत्ति है। इनके उत्पादन में कुछ पूरक लागत होती है। उनको तैयार करने और अलग-अलग बाजारों में भेजने के सम्बन्ध में कुछ प्रमुख लागत भी होती है। ऊन और गोश्त के दाम से कम से कम प्रमुख लागत अवश्य निकलनी चाहिये। परन्तु विशेष परिस्थितियो को छोडकर ऊन और गोश्त में से प्रत्येक के मूल्य से प्रमुख लागत के सिवा पूरक लागत का भी कुछ अश निकल आवेगा। पूरक लागत का अधिक अश उस वस्तु के मूल्य से निकलेगा जिसकी माग अधिक या कम लोचदार है। दूसरी वस्तु से सयुक्त लागत का कम अश निकलेगा। कभी-कभी एक से दूसरी वस्तु का विज्ञापन किया जाता है और पहिली से सयुक्त लागत का कम अश निकाला जाता है।

संयुक्त उत्पत्ति और पूरक लागत

वास्तविक लागत और अवसर प्राप्त लागत (Real Cost and Opportunity Cost)—अभी तक हमने उत्पादन की लागत का अध्ययन मुद्रा के रूप में किया है। परन्तु अर्थशास्त्रियो ने और गहराई में जाने का प्रयत्न किया है। माग रेखा के पीछे उपयोगिता और उपभोक्ता की रुचि रहती है। परन्तु धन की जो लागत होती है, अर्थात् जो धन खर्च किया जाता है, उसके पीछे क्या रहता है ? दूसरे शब्दो में हम यह सकते हैं कि उत्पादन में जो धन—लागत रहती है उसके पीछे अन्तिम रूप में कौन-सी लागत रहती है ? प्राचीन अंग्रेज अर्थशास्त्रियो की परिपाटी के अनुसार मार्शल का विचार था कि धन की लागत ही उत्पादक की वास्तविक लागत थी। अर्थात् धन का बचत, उसके उपभोग के लिये ठहरना तथा कई प्रकार के श्रम सब धन में आ जाते है। परन्तु उत्पादन की वास्तविक लागत जानने के लिये हमें श्रमिको और व्यवसायियो के परिश्रम और पूजीपतियो के पूजी सग्रह सम्बन्धी

धन-लागत के पीछे अन्तिम लागत क्या है

त्याग और प्रयत्नों का जानना आवश्यक है। यह तो सभी मानते हैं कि काम करने में परिश्रम और कष्ट होता है। यह भी मानते हैं कि बचत का अर्थ वर्तमान उपभोग का त्याग है। परन्तु इनमें और लागत-धन में उचित सम्बन्ध क्या है? यदि काम करना कम कष्टदायक और अधिक आनन्ददायक हो जाय तो क्या मजदूरी की दर गिर जायगी? यह सम्भव नहीं है। फिर सब प्रकार के श्रम में कष्ट नहीं होता, जिस काम में ऊंचा पारिश्रमिक मिलता है, वह प्राय आनन्ददायक होता है। इसलिये यह कहना उचित नहीं है कि परिश्रम के रूप में जो वास्तविक लागत हो, वह मूल्य (value) के रूप में अथवा रूप में चुका दी जाती है। इसके सिवाय हमारे पास ऐसा कोई मापदण्ड नहीं है जिसके द्वारा हम मजदूरी के वास्तविक मूल्य की तुलना बचत के वास्तविक मूल्य से कर सकें। मजदूर के परिश्रम में जो कष्ट होता है और बचत करने वाले को उपभोग का जो त्याग करना पड़ता है, उन दोनों चीजों की तुलना हम इस प्रकार करेंगे कि जिससे हम निश्चयपूर्वक यह कह सकें कि उपभोक्ता को बचत करने के फलस्वरूप जो एक रुपया ब्याज में मिलता है वह वास्तव में उस एक रुपया के बराबर है, जो परिश्रम करने के फलस्वरूप एक मजदूर को मिलता है? हम दोनों चीजों के मूल्य की तुलना किस प्रकार कर सकते हैं? इस प्रकार वास्तविक लागत मूल्य का सिद्धान्त हमें केवल एक भ्रमपूर्ण द्वन्द्व और सन्देहकारक विचारधारा में फंसा देता है।"[1]

तब प्रश्न यह उठता है कि यदि मुद्रा द्वारा हम श्रम का कष्ट और उपभोग का त्याग नहीं माप सकते तो फिर रुपयों की दर में लागत मूल्य किस प्रकार निश्चित किया जाता है?

अवसर प्राप्त लागत का अर्थ

किसी व्यवसाय की लागत वह रकम होती है, जो उत्पादन के साधनों को अन्य उत्पादन व्यवसायों से उस व्यवसाय में खींचने के लिये दी जाती है। हमारे साधन कम और सीमित हैं। इसलिये जब हम किसी एक व्यवसाय में उत्पादन के प्रत्येक साधन की एक निश्चित मात्रा लगा देते हैं, तो उसका अर्थ यह होता है कि अन्य उत्पादन कार्यों में से उतने साधन घट जाते हैं। और जब हम किसी व्यवसाय में उत्पादन खींचना चाहते हैं, तो हमें कम से कम उन्हें उतनी रकम देनी ही पड़ेगी, जितनी उन्हें अन्य व्यवसायों में मिलती। यह रकम ही वर्तमान व्यवसाय की इकाई के उत्पादन की लागत है। संक्षेप में अवसर प्राप्त लागत के सिद्धान्त का सार यही है।

इसलिये मजदूरों को एक स्थान में अथवा एक व्यवसाय में किस दर से मजदूरी मिलेगी, यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर रहेगी कि उन्हें अन्य स्थानों अथवा अन्य व्यवसायों में किस हिसाब से मजदूरी मिलेगी। एक व्यवसाय में पूंजी को किस दर से ब्याज या मुनाफा मिलेगा, यह इस पर निर्भर होगा, कि अन्य व्यवसायों में उसे किस दर से प्राप्त होगा। उत्पादन व्यवसायी को प्रबन्धकर्ता की दृष्टि से क्या मुनाफा मिल

1 Henderson, Supply and Demand, Page 164.

सकता है, यह इस बात पर निर्भर होगा कि यदि वह किसी ज्वॉइंट स्टॉक कम्पनी में वेतन-भोगी प्रवन्धकर्त्ता की तरह काम करता तो उसे क्या वेतन मिलता। इस प्रकार लागत का अर्थ 'निष्कासित चुनाव' (displaced alternative) की लागत होना है। किसी वस्तु को उत्पादन करने की लागत उस वस्तु से निश्चित नहीं होगी, जो अभी बनी ही नहीं, बल्कि जो उत्पादन के कुछ साधन खींचकर या निष्कासित करके बनाई जा सकती है। जो वस्तु उत्पन्न नहीं हुई वह उत्पन्न वस्तु की लागत है।

मुद्रा लागत अन्य व्यवसायों की लागत बतलाती है।

इसी प्रकार किसी व्यक्ति के लिये किसी वस्तु की उपयोगिता अन्य वस्तुओं पर निर्भर होगी, जिनका उपभोग उन्हें छोड़ना पड़ेगा। हमारी इच्छाएं असीम हैं। परन्तु जीवन सीमित है और हमारे साधन भी सीमित हैं। इसलिये जब हम किसी एक वस्तु के उपभोग का आनन्द लेते है तो हमें अन्य कई वस्तुओं के उपभोग का आनन्द त्यागना पड़ता है। इस प्रकार मनुष्य का जीवन एक लगातार दुखमय कहानी है। जब हम एक वस्तु प्राप्त करना चाहते है तो उसके मूल्य में हमें अन्य कई वस्तुएं छोड़नी पड़ती है। जब हम कुछ घंटे काम करते है, तब उसके मूल्य के रूप में कुछ घंटो का आराम छोड़ना पड़ता है। यह अवसर प्राप्त लागत का सिद्धान्त है। 'किसी वस्तु की वास्तविक लागत अन्य कई चीजों की पूर्ति कम करना है। वे चीजें जो वस्तु के उत्पादन में काम आती हैं।' लागत प्रायः उन रकमों के बराबर होती है, जो अन्य व्यवसायों में लगे हुए उत्पादन के साधनों को प्राप्त होती। इसका अर्थ यह होता है कि साधनों की पूर्ति निश्चित अथवा सीमित होती है। यह बात सत्य है, क्योंकि अर्थशास्त्र सीमित साधनों का अध्ययन करता है। कुछ लोगों का मत है कि यदि पूर्ति परिवर्तनशील हो तो वास्तविक लागत का सिद्धान्त लागत के सम्बन्ध में सतोषप्रद उत्तर दे सकता है।[१] लेकिन यदि पूर्ति निश्चित न होकर परिवर्तनशील भी हो तो भी अवसर प्राप्त लागत का सिद्धान्त सत्य रहता है। 'उत्पादन में भूमि की पूर्ति में जो परिवर्तन होते है, उसके साथ-साथ भूमि के उपभोग सम्बन्धी जो उपभोग होते है, उनमें भी परिवर्तन होते रहते है।'[२]

---

१ Edgeworth Papers relating to Political Economy. Vol III, pp 56-64, Also Robertson Economic Fragments, page 21

२ Robins. "Certain aspects of the theory of costs" Economic Journal, March 1934, page 24.

अठारहवां अध्याय

मांग और लागत मूल्य में परिवर्त्तन

(Changes in Demand and Cost)

अब हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि परिस्थितियों के बदलने से वस्तुओं के मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ता है। अभी तक हमने इस आधार पर अध्ययन किया है कि जितने समय को लेकर हम अपना अध्ययन कर रहे थे, उतने समय में किसी वस्तु की माग को परिस्थिति एक-सी रही और उसकी पूर्ति चाहे घटे या बढ़े उसकी उत्पादन की लागत प्रति-इकाई वही रही। अब हमें अपने अध्ययन के ये आधार छोड़ देने पड़ेंगे और यह देखना होगा कि माग में परिवर्तन होने से बिक्री मूल्य (prices) पर क्या प्रभाव पड़ता है और परिवर्तनशील लागत और मूल्य (value) में क्या सम्बन्ध है।

माग में बढ़ती (Increase of Demand)—एक निश्चित काल में किसी वस्तु की माग घट भी सकती है और बढ़ भी सकती है। परन्तु 'माग में घटी या बढ़ी' शब्दों का अर्थ हमें अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिये। 'माग की बढ़ती' शब्द दो विभिन्न अर्थों में उपयोग किये जा सकते हैं। पहिले अर्थ में यह हो सकता है कि किसी वस्तु की माग ऊंचे दामों की अपेक्षा कम दामों पर अधिक है और पुराने दाम पर वही है अर्थात् अपरिवर्तनशील है। यदि पूर्ति की परिस्थितियों में कुछ परिवर्तन होने से कीमत गिरती है तो उस वस्तु की माग अधिक मात्रा में रहती है, इससे माग की सूची (demand schedule) में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। कीमत गिरने के कारण वस्तु की माग अधिक मात्रा में हो गई है। दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि उसी कीमत पर उस वस्तु की मात्रा की माग बढ़ गई है। यह लोगों की रुचि, फैशन या प्रथा में परिवर्तन होने से हो सकता है। इसमें माग की पूरी सूची में ऊपर की ओर परिवर्तन हुआ है। चित्र नम्बर ११ में यह बात ग्राफ की सहायता से समझाई गई है।

अ,स वस्तु की कीमत बतलाती है, अ,ब विभिन्न कीमतों पर मागी हुई मात्रा बतलाती है। पहिली माग की रेखा (original demand curve) ड, ड१ है। यह रेखा वह मात्रा बतलाती है, जो खरीदार विभिन्न दामों पर खरीदेंगे। जब हम कहते हैं कि माग बढ़ गई तो पूरी माग की रेखा ऊपर उठ जाती है और ट, ट१ नई माग की रेखा हो जाती है। क्योंकि अब खरीदार वस्तु की सब मात्राओं पर अधिक कीमत देने को तैयार हैं। (ड ड१ और ट ट१ का जो अन्तर है, वही बढ़े हुए दाम को बतलाता है।)

अल्पकाल में मांग में परिवर्तन (Changes of Demand in the Short Period)—अल्पकाल में किसी वस्तु की पूर्ति उस सीमित समय में

निश्चित होती हैं। यदि अल्पकाल में किसी वस्तु की माग बढती है तो उसका मूल्य अवश्य बढ़ेगा। परन्तु यदि उसकी पूर्ति की मात्रा कुछ हद तक बढाई जा सकती है तो उसका मूल्य बढेगा तो अवश्य, पर उतना अधिक नही जितना कि पहिली परिस्थिति में बढेगा। चूकि हम अल्पकाल का विचार कर रहे हैं, इसलिये यह ध्यान रखना चाहिये कि उस वस्तु के उत्पादन के लिये जो साधन आवश्यक हैं, वे अल्पकाल में उस व्यवसाय में नहीं खींचे जा सकते। यद्यपि विक्रेता व्यवसायी कई तरह से पूर्ति की मात्रा बढाने का प्रयत्न करेंगे। उनके गोदामो में हमेशा जो माल रहता है, उसे सबका सब बेचने का प्रयत्न करेंगे। अपनी उत्पादक मशीनों से अधिक उत्पादन बढाने का प्रयत्न करेंगे तथा उत्पादन सगठन की गति
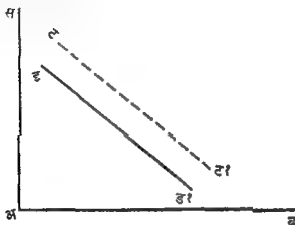
चित्र न० ११

तेज करने की कोशिश करेंगे। इन प्रयत्नो से उस वस्तु की पूर्ति की मात्रा कुछ हद तक बढ सकती है। परन्तु माग में जो बढ़ती होगी, उसे यह थोडी बढ़ी हुई पूर्ति पूरा नहीं कर सकेगी। इसलिये अल्पकाल में उस वस्तु के दाम अवश्य बढेंगे। इसके विरुद्ध यदि अल्पकाल में माग घट जाती है, तो दाम भी अवश्य गिरेंगे।

यदि समय काफी लम्बा है तो उस वस्तु की मात्रा बढ़ने की प्रवृत्ति दिखलावेगी। अपने वर्तमान उत्पादन सगठन से शक्ति भर काम लेने के बाद व्यवसायी अपने व्यवसाय का विस्तार बढाने का प्रयत्न करेंगे। उस व्यवसाय में अन्य व्यवसायो से उत्पादन के अधिक साधन खीचे जावेंगे। पूजी की मात्रा बढाई जायगी। अधिक अच्छे किस्म की मशीनें लगाई जावेंगी। फल यह होगा कि उत्पादन बढेगा। यदि वह वस्तु ऐसी है कि उसका उत्पादन क्रमागत ह्रास या घटती उपज (diminishing returns) के नियम के

अनुसार होता है, तो उत्पादन जैसे बढ़ेगा, वैसे उसका प्रति इकाई लागत मूल्य भी बढ़ेगा। इसलिये दीर्घकाल में उसके दाम बढ़ेंगे। परन्तु यदि उस वस्तु का उत्पादन क्रमागत वृद्धि या बढ़ती उपज (increasing returns) के नियम के अनुसार होता है, तो उसके अधिक उत्पादन का लागत मूल्य प्रति इकाई कम होगा और दीर्घकाल में उसके दाम घटेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि दीर्घकाल में वस्तु की माग बढ़ी हुई बनी रहती है, तो उस वस्तु की कीमत बढ़ेगी, यदि उसका उत्पादन क्रमागत ह्रास के नियम के अनुसार होता है। लेकिन यदि उसका उत्पादन क्रमागत वृद्धि के नियम के अनुसार होता है तो कीमत घटेगी। यदि दीर्घकाल में माग घटती है, तो उसकी ठीक उल्टी क्रिया होगी। जिस वस्तु का उत्पादन क्रमागत ह्रास नियम के अनुसार होता है, उसकी कीमत गिरेगी। परन्तु जिस वस्तु का उत्पादन क्रमागत वृद्धि के नियम के अनुसार होता है, उसकी कीमत बढ़ेगी, परन्तु पहिले की सतह के बराबर नहीं बढ़ेगी। क्योंकि उपज अधिक होने के समय जो बाहरी बचत (external economics) प्राप्त थी, वह उपज घटने पर एकदम लोप नहीं होगी। साथ ही उत्पादन की लागत प्रति इकाई पुराने सतह तक नहीं बढ़ेगी। उसमें कुछ कम ही रहेगी।

इसलिये हम यह कह सकते हैं कि यदि गेहूं की खपत बढ़ती है, तो अल्पकाल में गेहूं का भाव बढ़ जायगा। दीर्घकाल में भी गेहूं का भाव ऊंचा रहेगा, क्योंकि उसकी उत्पत्ति क्रमागत ह्रास के नियम के अनुसार होती है। परन्तु पक्के लोहे के सामानों के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। उनके दाम अल्पकाल में बढ़ेंगे, पर दीर्घकाल में गिर जावेंगे, क्योंकि उनका उत्पादन क्रमागत वृद्धि के नियम के अनुसार होता है।

पूर्ति और लागत में परिवर्तन (Changes in Supply and Cost)—मूल्य पर जिन बातों का प्रभाव पड़ता है, उनमें से एक उत्पादन की लागत है। उत्पादन की लागत प्रति एक इकाई सदा एक-सी रह सकती है, चाहे जितनी मात्रा में उत्पादन किया जाय। अथवा उत्पादन की मात्रा में कमी या वृद्धि होने से उसमें परिवर्तन भी हो सकता है। उत्पादन की मात्रा बढ़ाने पर प्रत्येक बार प्रति इकाई लागत बढ़ भी सकती है। साथ ही उत्पादन बढ़ने पर वह घट भी सकती है। जब लागत प्रति इकाई एक-सी रहती है, तब उत्पादन स्थिर उत्पत्ति के नियम (the law of constant returns) के अनुसार होता है। दूसरी परिस्थिति में उत्पादन क्रमागत ह्रास के नियम के अनुसार होता है, और तीसरी परिस्थिति में उत्पादन क्रमागत वृद्धि के नियम के अनुसार होता है। अब प्रश्न यह होता है कि उत्पादन के इन नियमों का मूल्य के सिद्धान्त के साथ क्या सम्बन्ध है? ध्यान रहे इस अध्याय में हम केवल उन बातों पर विचार करेंगे जिनका प्रभाव दीर्घकाल में मूल्य पर पड़ता है।

मूल्य और स्थिर उत्पत्ति का नियम (Value and the Law of Constant Returns)—जिस वस्तु के मूल्य का हम विचार कर रहे हैं

यदि उसका उत्पादन स्थिर उत्पत्ति नियम के अनुसार होता है, तो उसके उत्पादन की मात्रा कितनी ही हो उसकी प्रति इकाई लागत वही रहेगी। तब उस वस्तु का दाम उत्पादन की किसी भी इकाई के लागत मूल्य के बराबर रहेगा और वास्तविक उत्पादन माग के प्रभावो पर निर्भर होगा। माग बढने पर पहिले दाम बढेगा। फिर पूर्ति की मात्रा बढेगी और दाम लागत के मूल्य के बराबर हो जायगा। यदि माग घटती है तो पूर्ति भी घट जायगी। इस प्रकार साम्य उस सतह पर स्थिर होगा, जहा मूल्य या दाम लागत मूल्य के

मूल्य लागत के बराबर होता है और उत्पादन माँग पर निर्भर होता है
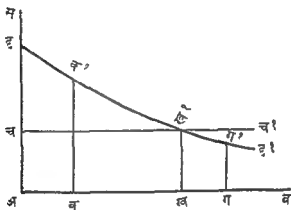
चित्र नं १२

बराबर होगा और जहा सतह पर माग उस दाम पर पूरी की जा सकती है। इस नियम का उदाहरण चित्र न० १२ में दिया गया है। द द१ किसी भी वस्तु की माग रेखा है। च च१ पूर्ति रेखा है। चूकि प्रति इकाई लागत वही है, चाहे उत्पादन की मात्रा क क१ ख ख१ अथवा ग ग१ हो, इसलिये पूर्ति रेखा सीधी और अ, ब के समानान्तर है। उत्पादन की मात्रा की रेखाओ में जो अन्तर है, वह लागत की मात्रा पर निर्भर है। माग और पूर्ति की रेखाए एक दूसरे को ख१ बिन्दु पर काटती है। तब दाम ख ख१ के बराबर होगा और उत्पादन की मात्रा अ, ख के बराबर रहेगी। यदि वास्तविक मूल्य (मान लो) क क१ के बराबर है, तब बचनेवाला को बहुत अधिक लाभ होगा। उत्पादन बढने पर दाम गिरेंगे। इसके विरुद्ध यदि वास्तविक दाम ख ख१ से कम है। (मान लो) ग ग१ के बराबर है, तब लागत मूल्य बिक्री दाम से अधिक रहेगा और व्यवसायी लाभ पर नही बेच सकेगा। इस हालत में उत्पादन तब तक कमता जायगा जब तक बिक्री दाम ख ख१ के बराबर न हो जायगा।

मूल्य और क्रमागत ह्रास का नियम (Value and the Law of Diminishing Returns)—जब किसी वस्तु का उत्पादन क्रमागत ह्रास के नियम के अनुसार होता है, तब उत्पादन की मात्रा बढ़ने के साथ-साथ उसकी प्रति इकाई लागत भी बढ़ती जाती है। कीमत ऐसी होनी चाहिये, जिससे माग होने पर कीमती से कीमती इकाई उत्पन्न की जा सके। हम एक उदाहरण ले लें।

जब उत्पादन बढ़ने से लागत बढ़ती है तब सीमान्त लागत सबसे अधिक लागत होती है

सब लोग जानते हैं कि विभिन्न खदानों में कोयले की उत्पादन लागत में बड़ा अन्तर होता है। जिन खदानों में कोयला अधिक होता है और जिनकी स्थिति अच्छी होती है उनमें लागत कम होती है। पर जिन खदानों में कोयला अच्छा नहीं होता और जिनकी स्थिति अच्छी नहीं होती, उनमें लागत कम होती है। सिद्धान्त के अनुसार अल्पकाल में मूल्य उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर होता है। अब प्रश्न यह है कि उत्पादन की सीमान्त लागत का अर्थ क्या होता है? क्या वह अच्छी खदानों में कोयला खोदने की लागत है? अथवा घटिया खदानों में कोयला खोदने की लागत है, अथवा सब खदानों की लागत की औसत है? यह बात साफ जाहिर है कि यदि मूल्य अच्छी खदानों में लागत के बराबर होता है तो घटिया खदानों में काम नहीं हो सकता। क्योंकि किसी भी व्यवसाय में घाटा देकर उत्पादन अधिक समय तक नहीं किया जा सकता। यदि घटिया खदानों से भी कोयला खोदना है, तो उसके मूल्य में इन खदानों की लागत भी पूरी होनी चाहिये। इसलिये दीर्घकाल में मूल्य 'सीमान्त खदानों' (वे खदानें जिनमें रुपया लगाने से थोड़ा-सा लाभ होता है। उनके बाद की खदानों पर लाभ नहीं होगा) में उत्पादन की लागत द्वारा निश्चित होगा। माग जैसी घटेगी या बढ़ेगी उसी के अनुसार यह सीमा भी आगे और पीछे चलेगी। जो खदानें सीमा के ऊपर रहेंगी, उन्हें उस समय के बाजार भाव पर दाम मिलेंगे। और चूंकि उनकी लागत (अनुमान के अनुसार) कम है, इसलिये उन्हें कुछ अधिक लाभ होगा जो कि लगान (rent) के समान होगा। प्रत्येक खदान में जिस प्रकार एक विस्तृत सीमा (extensive margin) होती है, उसी प्रकार एक गहरी सीमा (intensive margin) भी होती है। एक अच्छे कोयले की खदान में श्रम और पूंजी की प्रारम्भ की कुछ मात्राए लगाने से जो कोयला प्राप्त होगा, उसकी लागत कीमत से कम होगी। इस प्रकार के लाभ से ललचाकर उत्पादक उनमें श्रम और पूंजी की अधिक मात्राए लगाते चले जावेंगे। उत्पादन बढ़ता है और साथ-साथ लागत मूल्य भी बढ़ती है। और एक स्थिति में कोयले की उत्पादन की अन्तिम इकाई की लागत और कीमत बराबर हो जाती है। प्रत्येक जमीन और खदान इत्यादि में एक गहरी सीमा रहती है और उसमें भी उत्पादन की अन्तिम इकाई की लागत उसकी कीमत के बराबर होती है। इसलिये जब किसी उद्योग में क्रमागत ह्रास का नियम लागू होता है, तब प्रत्येक उत्पादक की उत्पादन

की सीमान्त लागत अन्तिम इकाई अथवा सबसे कीमती इकाई उत्पादन करने की लागत होती है और दीर्घकाल में मूल्य इसके बराबर पहुचने की चेष्टा करेगा।

अ, ब उत्पादन की मात्रा बतलाती है। अ, स प्रति इकाई की लागत बतलाती है। च च१ क्रमागत ह्रास बतलाता है। यह रेखा माग रेखा द द१ को ड १ बिन्दु पर काटती है। ड१ ख साम्य मूल्य (equilibrium price) होगा। यदि मूल्य किसी अन्य स्थान पर स्थिर होता है, मान लो क क१ पर स्थिर होता है तो माग-मूल्य (demand price) पूर्ति-मूल्य (supply price) से अधिक होगा। अर्थात् जिस भाव
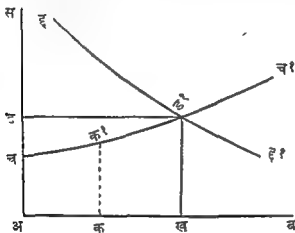
चित्र न १३

पर वस्तु मिलती है, उससे अधिक भाव पर उसकी माग होगी। इसलिये उत्पादन बढने की प्रवृत्ति होगी। ड च ड१ क्षेत्र लगान की मात्रा बतलाता है (लगान सम्बन्धी अध्याय देखो)।

मूल्य और क्रमागत वृद्धि का नियम(Value and the Law of Increasing Returns)—यदि किसी वस्तु का उत्पादन क्रमागत वृद्धि के अनुसार हो तो उसके उत्पादन की सीमान्त लागत किस प्रकार निश्चित की जावे ? क्या वह सबसे अधिक कुशल उत्पादक-फर्म की लागत है, अथवा पूरे व्यवसाय की लागत का औसत ? वह सबसे अधिक कुशल-उत्पादक फर्म की लागत नही हो सकती, क्योंकि उसके उत्पादन सम्बन्धी खर्च सबसे कम होते है और यदि कीमत इतने कम खर्च के बराबर होगी, तो जो उत्पादक फर्म कम योग्य अथवा कम कुशल है, उन्हें अपना उत्पादन कार्य बन्द कर देना पडेगा। और सबसे अधिक कुशल फर्म सारे

क्रमागत वृद्धि में मूल्य निश्चित करने की कठिनाइयां

बाजार पर एकाधिकार कर लेगा। वास्तविक जीवन में ऐसी घटनाएं बहुधा होती रहती हैं। जब कभी ऐसी बात होती है, तब वह एकाधिकार का एक उदाहरण होता है और उस परिस्थिति में मूल्य अन्य सिद्धान्तों के अनुसार निश्चित किया जायगा। परन्तु चूंकि हम पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति मान लेते हैं, इसलिये मूल्य सबसे अधिक कुशल फर्म की लागत अधिक होनी ही चाहिये। सीमान्त लागत सबसे अधिक अयोग्य फर्म की लागत भी नहीं हो सकती, जिसकी लागत सबसे अधिक हो, क्योंकि सम्भव है कि सीमान्त फर्म को कोई लाभ न होता हो। परन्तु दीर्घकाल में मूल्य से सामान्य लाभ (normal profit) की पूर्ति होनी ही चाहिये। इसलिये उत्पादन की सीमान्त लागत, जो दीर्घकाल में मूल्य के बराबर होती है, सबसे अधिक अयोग्य फर्म की लागत नहीं हो सकती। वह व्यवसाय में विभिन्न उत्पादकों की लागत के औसत के बराबर भी नहीं हो सकती क्योंकि बहुत से फर्मों की औसत लागत जानना भी बड़ा कठिन है। उन सबका उत्पादन कार्य भी विभिन्न परिस्थितियों में होता है। एक बात और है। उत्पादन की सीमान्त लागत का अर्थ हम उत्पादित वस्तु की अन्तिम इकाई के उत्पादन की लागत भी लगा सकते हैं। परन्तु जाहिर है कि मूल्य इस लागत के बराबर नहीं हो सकता। क्योंकि क्रमागत वृद्धि नियम के क्रियाशील होने के कारण उत्पादन बढ़ने पर लागत घटती है, इसलिये अन्तिम इकाई की लागत सबसे कम होगी। अन्य इकाइयों का उत्पादन अधिक लागत पर होगा। और यदि दीर्घकाल में मूल्य सबसे कम लागत के बराबर होता है तो अन्य इकाइयां हानि सहकर बेचनी होंगी। परन्तु दीर्घकाल में ऐसा हो नहीं सकता। अन्त में यह ध्यान रखना चाहिये कि पीछे हम कह चुके हैं कि जब किसी वस्तु का उत्पादन क्रमागत ह्रास-नियम की परिस्थितियों में होता है, तब प्रत्येक फर्म में उसके उत्पादन की सीमान्त लागत अन्तिम इकाई अथवा सबसे महंगी इकाई के उत्पादन की लागत के बराबर होती है। प्रत्येक फर्म में या तो एक विस्तृत (extensive) या गहरी (intensive) सीमा होती है, जिस पर अन्तिम इकाई के उत्पादन की लागत मूल्य के बराबर होती है। इसलिये हम किसी भी फर्म को ले सकते हैं और उसकी प्रति इकाई उत्पादन की लागत का अध्ययन करके उत्पादन की सीमान्त लागत जान सकते हैं। परन्तु यदि उस फर्म अथवा व्यवसाय का उत्पादन कार्य क्रमागत वृद्धि नियम के अन्तर्गत चलता हो तो यह सम्भव नहीं है। क्योंकि यह सम्भव है कि सारे उद्योग का मांग के साथ साम्य हो, परन्तु उस उद्योग में जो विभिन्न फर्में हैं, उनका साम्य न हो। कुछ फर्में, विशेषकर नये, निरन्तर उन्नति करेंगे। कुछ फर्में जो पुराने हैं, अवनति की ओर जावेंगे। जब कोई नया व्यवसायी एक फर्म स्थापित करता है, तो आरम्भ में उसे हानि होने की सम्भावना रहती है। परन्तु नुकसान होते हुए भी वह अपने व्यवसाय में इस आशा से जी-जान से लगा रहता है कि उसका व्यवसाय जम रहा है। यदि वह योग्य है तो कर्ज लेने का प्रबन्ध करेगा, अपना व्यवसाय विस्तृत करेगा और धीरे-धीरे अपनी शक्ति भर उन्नति

करेगा। जब वह वृद्ध होगा, तब पहिले की शक्ति के अभाव में उसका व्यवसाय भी कुछ गिरेगा। इस प्रकार यह हो सकता है कि जब कोई उद्योग उन्नति कर रहा हो, तब उसके अन्तर्गत विभिन्न फर्में एक ही समय गिर रहे हो और उठ रहे हो। मार्शल ने इस क्रिया की उपमा वृक्ष के साथ बडे सुन्दर ढग से दी है। उसने कहा है कि यह क्रिया इसी प्रकार होती है 'जिस प्रकार कोई वृक्ष तो बराबर बढता रहता है, पर उसके पत्ते बार-बार उगते है, बढकर एक साम्य अवस्था, परिपक्वता प्राप्त करते है और फिर पककर गिर जाते है।'[1] इस लिये हम किसी भी फर्म को चुनकर हमेशा उस व्यवसाय की उत्पादन की सामान्य लागत नही जान सकते।

एक और कारण है, जिससे 'किसी एक व्यवसायी की पूर्ति की स्थिति को देखकर सारे बाजार की पूर्ति-स्थिति उसी प्रकार की मान लेना उपयोगी न होगा।'[2] जो उद्योग क्रमागत वृद्धि नियम के अनुकूल चलते है, उनमें पूरक लागत कुल लागत का अपेक्षाकृत काफी बडा अश होती है। उनके उत्पादन कार्य में मशीन मकानो इत्यादि के रूप में काफी बडी पूजी लगती है। पूरक लागत इतनी बडी मात्रा में रहने से व्यवसाय का माग के परिवर्तनो से साम्य करना कठिन हो जाता है। जब व्यवसाय में मदी रहती है, तब व्यवसायियो को यह डर लगा रहता है कि कही बाजार न बिगड जावे और वे बहुत समझ-बूझकर काम करते है। साम्य स्थापित करने की उन्हें जल्दी नही रहती। इसके विरुद्ध जब माग बढती है, तब अधिक पूजी की आवश्यकता नये फर्मों की स्थापना रोक देती है अथवा स्थापना में देर लगा देती है। इसलिये उत्पादको को आभास भाटक या बतौर लगान (quasi rent) प्रचुर मात्रा में मिल जाता है। विभिन्न फर्मों के उत्पादन की लागतो में हमेशा बहुत अन्तर रहता है। 'इसलिये हम किसी एक फर्म की कहानी को किसी उद्योग की कहानी नही मान सकते।' इसलिये किसी व्यवसाय में उत्पादन की सीमान्त लागत जानने के लिये, जिसका सम्बन्ध कुल उत्पादन की मात्रा से हो, हमें किसी प्रतिनिधि फर्म (representative firm) की सहायता लेनी चाहिये। प्रतिनिधि फर्म में उत्पादन की जो सीमान्त लागत होती है, दीर्घकाल में मूल्य उसी के बराबर होने की चेष्टा करता है।

एक फर्म पूरे व्यापार का सूचक नहीं बन सकता

प्रतिनिधि-फर्म (Representative firm)—प्रतिनिधि फर्म शब्द तथा तत्सम्बन्धी सिद्धान्त का उपयोग अर्थशास्त्र में पहिले-पहल मार्शल ने उपयोग किया। जिन वस्तुओं का उत्पादन क्रमागत वृद्धि के नियम के अनुसार होता है, उनका सामान्य मूल्य निश्चित करने के लिये मार्शल ने प्रतिनिधि फर्म के तरीके से कोशिश की। मूल्य का

---

१ Marshall, Principles of Economics, page 457.

२ Ibid, page 459.

निर्धारण सीमान्त उपयोगिता और उत्पादन की सीमान्त लागत के साम्य से होता है।

प्रतिनिधि फर्म के सिद्धान्त की उपयोगिता

'परन्तु दीर्घकाल में जिन वस्तुओं के उत्पादन की लागत उत्पादन की क्रमशः वृद्धि के साथ कम होती जाती है, उनके लिये उत्पादन की सीमान्त लागत कोई महत्व नहीं रखती।' वह सर्वश्रेष्ठ फर्म की लागत नहीं है और न सबसे कम कुशल फर्म की लागत है। साथ ही वह उत्पादन की अन्तिम इकाई के उत्पादन की लागत भी नहीं है। इसके सिवा जिन उद्योगों में क्रमागत ह्रास का नियम लागू होता है, उनमें हम उत्पादन की सीमा किसी भी फर्म के काम का अध्ययन करके जान सकते हैं। परन्तु जिन उद्योगों में क्रमागत वृद्धि का नियम लागू होता है उनमें हम चाहे जिस फर्म को अपने अध्ययन के लिये नहीं चुन सकते। उन उद्योगों में हमें प्रतिनिधि फर्म का अध्ययन करना पड़ेगा। ऐसे फर्म जिसमें कुल उत्पादन का मूल्य दीर्घकाल के प्रभावों द्वारा निश्चित होता हो। 'प्रतिनिधि फर्म वह है, जो काफी समय से चालू हो, जिसे व्यवसाय में अच्छी सफलता मिली हो। जिसके प्रबन्धकर्ता साधारणतः कुशल हों और जिसे वे सब बाहरी और आन्तरिक बचत की सामान्य सुविधाएं प्राप्त हों, जो कुल उत्पादन की मात्रा पर प्राप्त होती हैं।'[1] ऐसे फर्म में दीर्घकाल में मूल्य उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर होने की चेष्टा करेगा। यदि किसी भाव इससे अधिक बढ़ा तो फर्म और उसके उत्पादन का विस्तार होगा और यदि किसी भाव इससे कम हुआ तो फर्म और उसके उत्पादन का विस्तार घटेगा। जब मूल्य उस संख्या पर स्थिर हो जायगा, तब साम्य स्थापित हो जायगा और उस पूरे उद्योग में उत्पादन की प्रकृति न घटने की ओर होगी, न बढ़ने की ओर।

प्रतिनिधि फर्म क्या है?

क्या प्रतिनिधि फर्म औसत फर्म होता है? वह उपस्थित फर्मों का औसत नहीं होता। वह दीर्घकालीन औसत फर्म होता है, जब सब परिस्थितियां साम्य की स्थिति पर पहुंच जाती हैं। कभी-कभी यह प्रश्न किया जाता है कि 'क्या वह कोई प्रतिनिधि मशीन है, अथवा मशीन द्वारा उत्पादन की कोई प्रतिनिधि इकाई है अथवा कोई प्रतिनिधि व्यावसायिक संगठन है?'[2] परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि व्यवसाय शरीर के समान एक सावयविक व्यवस्था है और हमें उसका उसी प्रकार विचार करना चाहिये। इसलिये उत्पादन जब एक निश्चित मात्रा में होता है, तब प्रतिनिधि फर्म उस व्यवसाय का सब फर्मों के सब अंगों का प्रतिनिधि होता है। मार्शल ने जब यह कहा कि

क्या वह औसत फर्म है?

---

१. Marshall. Principles of Economics, page 318.

२. Robbins "The Representative Firm" Economic Journal, Sept. 1928.

उत्पादन की कुल मात्रा पर जो बाहरी और आन्तरिक बचत होती है, वह सब साधारणत उन प्राप्त होती है, तब उसका अभिप्राय इसी बात से था। कभी-कभी यह प्रश्न किया जाता है कि प्रतिनिधि फर्म विस्तार (size) बतलाता है कि लागत (cost) ? इन दो में से वह किसका प्रतिनिधित्व करता है ? यद्यपि कहीं-कहीं मार्शल ने विस्तार को महत्व देने का प्रयत्न किया है परन्तु अच्छी तरह विचार करने से पता चल जाता है कि उसके दिमाग में बराबर यही विचार था कि प्रतिनिधि फर्म उद्योग की सामान्य (normal) लागत का द्योतक है। राबर्टसन की राय भी यही है। उसने लिखा है कि 'मेरे विचार से उसे पूरे उद्योग की पूर्ति रेखा के एक छोटे प्रतिबिम्ब से अधिक मानने की आवश्यकता नहीं है।'[1]

पिगू का विचार भी इसी प्रकार का है। उसकी राय में पूरे उद्योग के साम्य की स्थिति में होने पर भी, अर्थात् जब उद्योग एक निश्चित माग होने पर और सामान्य मूल्य पर एक निश्चित मात्रा का उत्पादन करता है, यह सभव है कि उस उद्योग के सब फर्म साम्य की स्थिति में न हो। सम्भव है, कुछ की उन्नति हो रही है और कुछ फर्मों की अवनति। परन्तु फिर भी एक ऐसा फर्म हो सकता है, जो उद्योग के साम्य की स्थिति में होने पर स्वय भी साम्य की स्थिति में हो सकता है, जो सामान्य पूर्ति के दामो पर (normal supply price) लगातार उत्पादन करता रहता है। ऐसे फर्म को वह साम्य फर्म कहता है।[2]

साम्य फर्म

प्रतिनिधि फर्म का तात्पर्य इस प्रकार है। परन्तु इधर हाल में इस सिद्धान्त की बडी कडी आलोचना हुई है। इनमें से कुछ आलोचनाओ पर हम विचार कर चुके हैं और देख चुके है कि प्रतिनिधि फर्म एक विशेष प्रकार का औसत फर्म होता है। वह दीर्घकालीन औसत फर्म होता है। वह व्यवसाय के किसी विशेष अग का प्रतिनिधित्व नही करता। व्यवसाय के सब अगो को एक शरीर के समान मानकर उस शरीर का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु इस सम्बन्ध में जो वास्तविक कठिनाई है वह दूसरी तरह की है। क्या यह सभव है कि दीर्घकाल में जब उद्योग साम्य की स्थिति में है, तब भी कुछ फर्म ऐसे भी हो, जो वास्तव में हानि सहकर उत्पादन कर रहे हो ? यदि ऐसे फर्म है तो उनकी लागत उस उद्योग की दीर्घकालीन पूर्ति की कीमत (supply price) का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती, क्योकि दीर्घकालीन पूर्ति की कीमत में सामान्य लाभ भी शामिल रहता है। परन्तु रॉबिन्स इससे सहमत नही है। उसका मत है कि जिस प्रकार

आलोचना

१ Robertson. 'Increasing Returns and Representative Firm' Economic Journal, March 1930. p 89.

२ Pigou. Economic of Welfare 3rd Edition, page 788

एक प्रतिनिधि भूमिखण्ड अथवा प्रतिनिधि मशीन या प्रतिनिधि मजदूर के मानने की आवश्यकता नहीं है, उसी प्रकार एक प्रतिनिधि फर्म अथवा प्रतिनिधि उत्पादक के मानने की आवश्यकता नहीं है।[1] दीर्घकाल में उत्पादन के सब साधनों को सामान्य मुनाफा देना चाहिये, नहीं तो साम्य गड़बड़ हो जायगा। परन्तु मार्शल और पिगू इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि दीर्घकाल में भी जब पूरे उद्योग में साम्य हो तब भी सामान्य योग्यता या कुशलता के कुछ फर्म हो सकते हैं, जिनका उत्पादन हानि देकर होता हो। साम्य स्थिर होने के लिये केवल इसकी आवश्यकता है कि जहाँ एक तरफ नये फर्मों में विस्तृत होने की प्रवृत्ति होगी, वहाँ पुराने फर्मों में संकुचित होने की प्रवृत्ति दिखाई देगी। मार्शल ने वृक्षों का जो उदाहरण दिया है, उसका वास्तविक ध्येय यही है। किसी व्यक्ति की तरह एक फर्म का भी निश्चित जीवनकाल रहता है। व्यक्ति की तरह फर्म के जीवन की भी कई अवस्थाएं रहती हैं। इसलिये साम्य होने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उद्योग में साम्य होने पर किसी फर्म के उत्पादन में भी साम्य हो। इसलिये किसी उद्योग में दीर्घकालीन पूर्ति का मूल्य अध्ययन करने के लिये प्रतिनिधि फर्म का सिद्धान्त उचित है।

सिद्धान्त की व्यावहारिक उपयोगिता

कुछ लोगों ने इस सिद्धान्त की प्रत्यक्ष उपयोगिता पर सन्देह किया है। प्रतिनिधि फर्म किसी भी उद्योग में स्थित फर्मों की वास्तविक संख्या का औसत नहीं होता है। राबर्टसन का कहना है कि व्यवसाय-सूचिका (business directory) में जितने फर्मों के नाम रहते हैं, उनमें से कोई भी फर्म प्रतिनिधि फर्म का उदाहरण नहीं बन सकता। जब दीर्घकाल में दी हुई आर्थिक परिस्थितियां साम्य की अवस्था में पहुँच जाती हैं, तब एक औसत फर्म को प्रतिनिधि फर्म कह सकते हैं। यह एक 'स्थिर स्थिति' ('stationary state') का सिद्धान्त या अनुमान है। इसलिये इस सिद्धान्त की व्यावहारिक उपयोगिता सीमित है। लेकिन लंकाशायर की सूती मिलों की व्यावसायिक इकाइयों के विस्तार और कार्यक्षेत्रों के सम्बन्ध में चैपमैन (Chapman) और एशटन (Ashton) ने जो अनुसन्धान किये हैं, उनसे सिद्ध होता है कि वास्तविक परिस्थितियों में भी यह सिद्धान्त उपयुक्त है।[2] अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में प्रथम महायुद्ध में मूल्य निर्धारण कमेटी (price fixing committee) के कार्य के सम्बन्ध में टाउसिग

---

१ Robbins "The Representative Firm" Economic Journal, Sept. 1928, page 393

२. *Journal of the Royal Statistical Society. June 1914.*

(Taussig) के जो अनुभव हुए थे, उनसे भी इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है।[1]

परन्तु एक महत्त्वपूर्ण आलोचना जो इस सिद्धान्त की जड़ही काट देती है वह यह है कि जहा क्रमागत वृद्धि की परिस्थितिया उपस्थित होती है, वहा दीर्घकाल में एकाधिकार अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति आ जाती है। जब हम प्रतिनिधि फर्म का अध्ययन करते है, तब यह मान लेते हैं कि दीर्घकाल में प्रतियोगिता की परिस्थिति रहेगी। व्यवसाय में अनेक फर्म रहते हैं, जिनके उत्पादन की लागत में बड़ा अन्तर होता है। और केवल प्रतिनिधि फर्म की लागत सामान्य पूर्ति मूल्य के बराबर होती है और सामान्य पूर्ति मूल्य का निर्धारण कुल उत्पादन को ध्यान में रखकर करना

प्रतियोगिता की परिस्थितियों का क्रमागत वृद्धि से मेल या साम्य नहीं होता, इसलिये यह सिद्धान्त बेकार है

पड़ता है। लेकिन यदि दीर्घकाल में लागत में क्रमागत ह्रास (decreasing costs) की प्रवृत्ति रहती है, तो उस व्यवसाय में अधिक फर्म नहीं रह सकते। केवल एक अथवा थोड़े-से फर्म रह जावेंगे। अपना विस्तार करने में जब तक कोई फर्म खर्च घटा सकता है, तब तक वह अपना उत्पादन बढ़ाता जावेगा, जिससे कि उसका लागत कम होता जावे अथवा उसे कम लागत का लाभ मिलता जावे। यदि फर्म जल्दी शुरू होता है अथवा यदि उसका मालिक साहसी है तो वह अपने उत्पादन के दाम घटाकर सब प्रतियोगियों को मात दे देगा और अन्त में सारे बाजार पर अपना अधिकार जमा लेगा। इसका परिणाम एकाधिकार होगा। अथवा वृहत् उत्पादन से जो किफायत होती है, उसे प्राप्त करने के लिये जब कोई फर्म अपना कार्यक्षेत्र विस्तृत करेगा, तब यह संभव है कि उस उद्योग में जो कुछ उत्पादन होता है, उसका बहुत बड़ा अंश इसी फर्म द्वारा होगा। तब मूल्य निर्धारण अपूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियों के अनुसार होगा।[2] मूल्य के सिद्धान्त के अन्तर्गत किसी भी परिस्थिति में प्रतिनिधि फर्म के सिद्धान्त के लिये स्थान नहीं है। यदि दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है, तो इसका मतलब यह है कि क्रमागत वृद्धि की प्रवृत्ति खतम हो चुकी है। तब प्रत्येक फर्म का रूप आदर्श अधिकतम (optimum size) होगा। उनमें सबसे कम औसत लागत पर उत्पादन होगा और उस लागत के बराबर मूल्य भी होगा।

लेकिन यह आलोचना इस बात को मान लेती है कि प्रत्येक फर्म पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत साम्य की स्थिति पर पहुँच चुका है। संभव है ऐसा न हो। मार्शल के मन में एक काल्पनिक परिस्थिति थी जिसमें बाजार परिपूर्ण (perfect) हो परन्तु विभिन्न फर्मों

१. "Price fixing as seen by a price-fixer" Quarterly Journal of Economics, Nov. 1919.

२. Sraffa Economic Journal, 1928, p. 336

को आदर्श अधिकतम रूप प्राप्त करने में समर्थ करें। दीर्घकाल में अथवा आभास (quasi) दीर्घकाल में सब फर्मों को चाहे साम्य प्राप्त करने के व्यापक रूप न मिल सकें, पर सम्भव है कि इस उद्योग को साम्य प्राप्त हो सके। सीमान्त विवेचना द्वारा हम इस परिस्थिति को अच्छी तरह नहीं समझ सकते, क्योंकि सम्भव है कि सीमान्त फर्में (सामान्य योग्यता की) हानि सहकर उत्पादन करती हों। इस प्रकार यह एक तर्कपूर्ण आधार है, 'जिसकी सहायता से पूर्ति रेखा उचित प्रकार समझ में आ सकता है।"

उन्नीसवां अध्याय

परस्पर-निर्भर मूल्य

(Interdependent Prices)

अभी तक हमने अपना अध्ययन इस अनुमान के आधार पर किया है कि किसी वस्तु की कीमत अन्य वस्तुओं की कीमतपर विचार किये बिना स्वतन्त्रतापूर्वक निर्धारित हो सकती है। अर्थात् उसकी कीमत निर्धारित करने में अन्य वस्तुओं की कीमत का कुछ प्रभाव नहीं पड़ेगा। परन्तु दो अथवा अधिक वस्तुओं की कीमतें इस प्रकार परस्पर सम्बन्धित हो सकती हैं कि एक वस्तु की माग या पूर्ति में परिवर्तन होने से दूसरी वस्तुओं की माग अथवा पूर्ति अथवा कीमत पर असर पड़ेगा। अब हम कीमतों के इस प्रकार के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन करेंगे।

पूरक वस्तुएं

संयुक्त माग (Joint demand)—जब किसी आवश्यकता विशेष की पूर्ति के लिये अथवा किसी वस्तु विशेष के उत्पादन के लिये कई वस्तुओं की मांग एक साथ की जाती है, तब उस माग को संयुक्त माग कहते हैं। मोटरकार की सवारी के लिये मोटरकार और पेट्रोल की एक साथ आवश्यकता होती है। लिखने के लिये कलम और स्याही तथा चाय बनाने के लिये दूध, चाय और चीनी की संयुक्त माग होती है। इसी प्रकार अन्य कई मांगें संयुक्त रूप में होती हैं। परन्तु संयुक्त माग का सबसे अच्छा उदाहरण उत्पादन के उन साधनों में पाया जाता है, जो किसी वस्तु के बनाने के लिये आवश्यक होते हैं। उदाहरण के लिये मकान बनाने के लिये मिस्त्री, राज, बढ़ई इत्यादि कई प्रकार के मजदूर तथा ईंट, चूना, सीमेंट, लकड़ी, लोहा इत्यादि कई प्रकार के सामानों की एक साथ आवश्यकता पड़ती है। इन वस्तुओं की

---

1. Kaldor 'The Equilibrium of the firm' Economic Journal, March 1934.

पूरक वस्तुएं (complementary goods) भी कहते हैं। उत्पादन के साधनो से जो वस्तु बनती है, उसकी माग को प्रत्यक्ष माग (direct demand) कहते हैं। परन्तु उत्पादन के साधनो की माग मूल्य वस्तु की माग के कारण होती है, इसलिये उसे परोक्ष माग (indirect or derived demand) कहते हैं।

इन बातो का मूल्य के सिद्धान्त पर क्या प्रभाव पडता है? जिन वस्तुओ की माग सयुक्त रूप से होती है उनकी अलग से माग रेखा निश्चित करनी कठिन है। कच्चे कपास, मशीनो वगैरह की उपयोगिता कमीज से जानी जाती है। लेकिन कमीज की उपयोगिता का कितना अश कपास में और कितना मशीन में बाटा जायगा? यह जानने का कोई उपाय नही है। अब प्रश्न यह उठता है कि जिन वस्तुओ की सयुक्त माग होती है, उनकी उपयोगिता किस प्रकार जानी जाय?

इस प्रश्न का हल हम सीमान्त व्याख्या द्वारा जान सकते हैं। जिन वस्तुओ की माग सयुक्त होती है, उनकी सीमान्त उपयोगिता निश्चित करने के लिये हम एक वस्तु की मात्रा बदलते रहते हैं और अन्य वस्तुओ की पूर्ति स्थिर रखते हैं। किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता जानने के लिये अन्य वस्तुओ को स्थिर रखकर किसी एक वस्तु की मात्रा में घटी-बढी करते रहते हैं कि उस वस्तु की मात्रा थोडी कम लेंगे अथवा अधिक। रोटी और मक्खन की माग सयुक्त होती है। मान लो रोटी की मात्रा वही रहती है, पर मक्खन की मात्रा कुछ बढा दी जाती है। इससे उपभोक्ता की उपयोगिता में कितनी बढती होगी? इस बढती से उपभोक्ता की मक्खन की सीमान्त उपयोगिता जानी जा सकती है। एक दूसरा उदाहरण ले लिया जाय। मान लो सूती कपडा दो तरीको से बनाया जा सकता है। एक में प्रति मजदूर पीछे तीन करघे और दूसरे में प्रति मजदूर पीछे चार करघे काम करेंगे। दूसरे तरीके से जो अधिक कपडा बनेगा वह चौथे करघे के कारण होगा। अर्थात् पूजी की एक अधिक इकाई के कारण। इस अधिक उत्पादन को हम सीमान्त उत्पादन अथवा पूजी की एक इकाई की सीमान्त उपयोगिता कह सकते हैं। इस प्रकार सयुक्त माग के विभिन्न साधनो के अनुपात में परिवर्तन करके हम प्रत्येक की सीमान्त उपयोगिता जान सकते हैं। जिस स्थान पर उत्पादन की सीमान्त लागत और सीमान्त उपयोगिता एक बराबर होगी उसी स्थान पर मूल्य स्थिर होगा।

अब प्रश्न यह होता है कि जब उत्पादन के कई साधनो की उपभोग की कोई वस्तु बनाने के लिये सयुक्त माग होती है, तब उनमें से एक साधन अपनी उपयोगिता के लिये अधिक मूल्य किन परिस्थितियो में प्राप्त कर सकता है? मान लो मकानो में तथा उनके बनाने में जो सामान लगते है, उनमें साम्य है। अब मान लो गारा बनानेवालो ने हडताल कर दी है। वे अधिक मजदूरी मागते हैं। अब उन्हें किन परिस्थितियो में अधिक मजदूरी मिल सकती है?

ट्रेड यूनियन सदस्यों की मजदूरी कब बढ़ सकता है?

पहली शर्त तो यह है कि गारेवालों का काम इतना आवश्यक हो कि उसके बिना काम न चल सके और उनके बदले में दूसरे लोग प्राप्त न हो सकें। अर्थशास्त्र की भाषा में हम यह कहेंगे कि उनके श्रम की माँग अर्थात् उस साधन की माँग बेलोचदार हो। इस शर्त की आवश्यकता साफ़ ज़ाहिर है। यदि उपर्युक्त बाधा को आसानी से हटाया जा सकता है तो उन्हें अधिक वेतन नहीं मिलेगा। दूसरी शर्त यह है कि उस वस्तु की माँग भी बेलोचदार हो, जिसके लिये वह साधन आवश्यक है। जैसे, यदि मकानों की पूर्ति बेलोचदार है, तो उनकी पूर्ति में कमी होने पर उनकी कीमत बहुत बढ़ जायेगी। यदि गारेवाले हड़ताल कर देते हैं तो मकानों का बनना बन्द हो जायगा तथा उनकी पूर्ति और कम हो जायगी जिससे मकानों के दाम और अधिक बढ़ जायगे। इस ऊँची कीमत के लालच में तथा भविष्य में अधिक मुनाफे की लालच में मकान बनवानेवाले उनकी मजदूरी बढ़ा देंगे। तीसरी शर्त यह है कि उस साधन की कीमत उत्पादन की कुल लागत का बहुत थोड़ा भाग हो। हमने जो उदाहरण लिया है उसमें गारेवालों की मजदूरी मकान बनाने की कुल कीमत का बहुत थोड़ा अंश होना चाहिये। हेंडरसन के शब्दों में 'उनमें विशेष न होने की विशेषता होनी चाहिये।' चूंकि उनकी मजदूरी की लागत कुल लागत का बहुत थोड़ा-सा हिस्सा है, इसलिये कुल लागत थोड़ी-सी बढ़ जाने से विशेष अन्तर नहीं पड़ता। चौथी शर्त यह है कि जो दूसरे सहयोगी साधन हैं, वे ऐसे हों, जो 'दबाये' (squeezable) जा सकें। अन्य साधनों की माँग में थोड़ी-सी कमी होने पर उनकी कीमत में काफी कमी होनी चाहिये, जिससे पहिले साधन को अधिक कीमत देने के लिये काफी गुंजाइश रहे। हमने जो उदाहरण लिया है, उसमें यदि गारा बनानेवालों की हड़ताल के कारण मकान बनना बन्द हो जाता है, तो राज, बढ़ई इत्यादि सब बेकार हो जायेंगे और वे कम मजदूरी स्वीकार करने को तैयार होंगे, तो इधर जो बचत होगी, उससे गारा बनानेवालों को अधिक मजदूरी दी जा सकती है।

यदि इनमें से कोई भी शर्त पूरी होती है, तो वह साधन विशेष अपनी उपयोगिता के लिये अधिक कीमत प्राप्त कर सकता है।

संयुक्त पूर्ति (Joint Supply)—जब दो अथवा अधिक वस्तुओं का उत्पादन संयुक्त लागत पर इस प्रकार होता है कि एक के उत्पादन से दूसरी वस्तुओं का उत्पादन अपने आप होता है, तब यह कहते हैं कि उनकी पूर्ति संयुक्त होती है। उनके उत्पादन को 'संयुक्त उत्पादन' अथवा 'संयुक्त लागत' का उत्पादन कहते हैं। कपास और बिनौला, ऊन और गोश्त तथा गैस और जलाऊ कोयला इसके अच्छे उदाहरण हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि एक के उत्पादन में जो पूंजी और श्रम लगता है, उससे दूसरे का उत्पादन अपने आप हो जाता है। संयुक्त उत्पादन में जो वस्तुएं कम महत्व की होती हैं, अर्थात् जिनके दाम कम होते हैं, उन्हें उपोत्पाद (by-products) कहते हैं।

संयुक्त पूर्ति का अर्थ

संयुक्त उत्पादन की वस्तुओं का मूल्य निर्धारण किस प्रकार होता है ? हम ऊन और गोश्त के उत्पादन की कुल लागत जानते हैं। दोनों वस्तुओं के उत्पादन का अलग-अलग खर्च हम नहीं जान सकते। जब उनका खर्च अलग-अलग नहीं जाना जा सकता, तो उनका मूल्य किस प्रकार निर्धारित किया जाय ?

विश्लेषण के लिये हम संयुक्त उत्पादन की वस्तुओं को दो विभागों में बाटेंगे। संयुक्त उत्पादन की कुछ ऐसी वस्तुएं होती है, जिनके पारस्परिक अनुपात बदले जा सकते हैं। ऊन और गोश्त इस विभाग में आते हैं। नसल में परिवर्तन करके मान लो एक ऐसी भेड़ पैदा की जाती है जो गोश्त अधिक और ऊन कम देती है। इस प्रकार भेड़ से प्राप्त होनेवाले ऊन और गोश्त के उत्पादन का अनुपात बदला जा सकता है। कुछ वस्तुएं ऐसी होती हैं, जिनका पारस्परिक अनुपात मनुष्य नहीं बदल सकता। कपास की एक निश्चित फसल में जितना बिनौला और कपास उत्पन्न होगा, उसका अनुपात प्रकृति ने बांध दिया है।

संयुक्त उत्पादन के दो विभाग

यदि संयुक्त उत्पादन की वस्तुएं पहिले वर्ग में आती है, अर्थात् यदि उनका पारस्परिक अनुपात बदला जा सकता है, तो सीमान्त विश्लेषण द्वारा प्रत्येक की कीमत जानी जा सकती है। हमें ऊन अथवा गोश्त के उत्पादन की कुल लागत जानने की आवश्यकता नहीं है। यदि हम दो में से किसी एक की सीमान्त लागत निश्चित कर सकते हैं। अर्थात् यदि हम अतिरिक्त इकाइयों की, अथवा एक इकाई अधिक या एक इकाई कम की उत्पादन की लागत जान सकते हैं, तो हम ऊन और गोश्त प्रत्येक का मूल्य निश्चित कर सकते है, क्योंकि हम जानते है, कि मूल्य प्रायः सीमान्त उत्पादन की लागत के बराबर होता है। अब हम एक भेड़ों के झुंड के पालने की लागत पर विचार करेंगे, जो एक निश्चित मात्रा में ऊन और गोश्त देंगी। एक दूसरे झुंड की लागत पर भी विचार करेंगे, जो ऊन तो पहिले के बराबर देता है, परन्तु गोश्त की मात्रा भिन्न है। अब पहिले और दूसरे झुंड की लागत में जो अन्तर होगा, उसे हम दूसरे झुंड से प्राप्त होनेवाले गोश्त के कारण कह सकते हैं। यह अतिरिक्त लागत गोश्त की सीमान्त लागत है। और दीर्घकाल में गोश्त की कीमत इसी के बराबर होने की प्रवृत्ति रहेगी। एक उदाहरण द्वारा इसे अच्छी तरह समझा जा सकता है।

मान लो भेड़ की एक नसल है जिसमें प्रत्येक भेड़ की कीमत १२ रुपया है। प्रत्येक भेड़ ९ इकाई ऊन और ११ इकाई गोश्त देती है। एक दूसरी नसल की भी भेड़ है, जिसमें प्रत्येक भेड़ का दाम १० रुपया है। इस नसल की प्रत्येक भेड़ ८ इकाई ऊन और ८ इकाई गोश्त देती है। पहिली नसल की ८ भेड़ें ७२ इकाई ऊन और ८८ इकाई गोश्त देंगी। इन भेड़ों की कीमत ९६ रुपया हुई। दूसरी नसल की ९ भेड़ों से हमें ७२ इकाई ऊन

और ८१ इकाई गोश्त मिलता है। इन ९ भेड़ों का दाम ९० रुपया हुआ। इसलिये ६ रुपया अधिक खर्च करने से हमें ७ इकाई गोश्त अधिक मिल जाता है। गोश्त की एक इकाई की सीमान्त कीमत १३ आ० ९ पाई हुई। इसी प्रकार पहिली नसल की ९ भेड़ों से हमें ऊन की ८१ इकाई गोश्त की ९९ इकाई मिलती है। भेड़ों के दाम १०८ रुपये हुए। दूसरी नसल की ११ भेड़ों से हमें ८८ इकाई ऊन और ९९ इकाई गोश्त मिलता है, जब कि उनकी कीमत ११० रुपया है। इसलिये एक इकाई ऊन की सीमान्त कीमत ४ आना ७ पाई हुई।

प्रश्न हो सकता है कि क्या इस प्रकार की नसल में परिवर्तन सम्भव है? उत्तर में कहा जा सकता है कि सम्भव है और इसके उदाहरण मिलते हैं। जब आस्ट्रेलिया के ऊन की इंग्लैण्ड में अच्छी माग हुई, तब आस्ट्रेलियावालों ने एक ऐसी नसल की भेड़ें तैयार की जो ऊन अधिक और गोश्त कम देती थी। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब गोश्त को सड़ने से बचाकर निर्यात करना सुगम हो गया तब एक ऐसी नसल की भेड़ पाली गई जो गोश्त अधिक और ऊन कम देती थी।

जिनका अनुपात नहीं बदला जा सकता

परन्तु यदि संयुक्त उत्पादन की वस्तुएं दूसरे वर्ग की होती हैं अर्थात् उनके अनुपात नहीं बदले जा सकते, तब उनके उत्पादन की सीमान्त लागत अलग-अलग नहीं जानी जा सकती। तब उनका मूल्य दो सिद्धान्तों द्वारा निश्चित होगा। पहिला यह कि कपास और उसके बीज उत्पादन करने का कुल खर्च उन दोनों के बिक्री मूल्य द्वारा पूरा होना चाहिये। दोनों वस्तुओं में से एक का मूल्य ऐसा हो कि जब उनकी पूरी मात्रा बिक जावे तो कुल का बिक्री मूल्य कुल लागत खर्च के बराबर हो। दूसरा सिद्धान्त यह है कि कपास और बीज में से प्रत्येक का मूल्य उपभोक्ता के लिये उसकी सीमान्त उपयोगिता द्वारा निश्चित होगा। मूल्य इस आधार पर निश्चित होगा कि बाजार में उस वस्तु की क्या कीमत लगेगी। परन्तु उन दोनों वस्तुओं की अलग-अलग कीमत भी ऐसी होनी चाहिये कि उससे कुल उत्पादन की लागत वसूल हो जाय। अगले पृष्ठ के चित्र नं० १४ में यह समझाया गया है।

इ इ१ पूर्ति रेखा कपास और उसके बीज उपजाने की कुल लागत बतलाती है। म म१ बीज की माग बतलाती है। इसलिये ग क वह कीमत बतलाती है, जिस पर बीजों की अ, क इकाइयां बिकेंगी। अब ग से ग ग१ रेखा खींचो जो कपास की अ, म इकाइयों की माग की कीमत बतलाती है। ग१ का स्थान ड, ड रेखा पर होगा, जो पूर्ति रेखा को ख१ बिन्दु पर काटती है। साम्य की स्थिति में बीजों का दाम च, ख होगा और कपास का दाम च, ग १ होगा।

परन्तु एक दूसरी परिस्थिति भी हो सकती है। बाजार के लिये तैयार करने में प्रत्येक वस्तु में कुछ प्रमुख लागत (prime costs) लग सकती है। ये प्रमुख खर्च वे

सीमा होते हैं, जिनके नीचे कीमत नहीं गिर सकती। जैसे, कपास के मूल्य में उसे बेचने का प्रमुख खर्च अवश्य शामिल रहेगा। प्रत्येक वस्तु पर कितना पूरक या सयुक्त खर्च लगेगा, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि प्रत्येक वस्तु कितना खर्च सह सकती है, अर्थात् प्रत्येक की माग की लोच पर निर्भर होगा।

सयुक्त उत्पादन में यदि एक वस्तु की माग घटती या बढ़ती है तो दूसरी वस्तु पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है? जैसा हम कह चुके हैं गैस और कोयला सयुक्त उत्पादन हैं। जब गैस की माग बढ़ती है तो कोयले की माग पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है? यह तो जाहिर है कि माग बढ़ने से गैस की कीमत बढ जायगी और उसके उत्पादन से उत्पादकों को कुछ अधिक
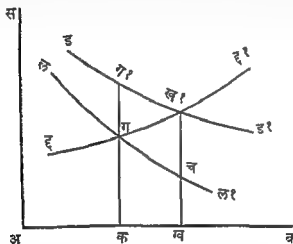
चित्र न १४

लाभ होगा। परन्तु अधिक गैस उत्पादन करने से जलाऊ कोयले का भी उत्पादन अधिक होगा। परन्तु उनकी माग वही है, इसलिये कोयले के दाम गिरेंगे।

रेलों में संयुक्त लागत (Element of Joint Cost in Railways)—क्या रेलवे यातायात को हम सयुक्त लागत का उदाहरण मान सकते हैं? टाउसिग (Taussig) के मतानुसार है। परन्तु पिगू के मत में कुछ अपवादो को छोडकर वह सयुक्त लागत का उदाहरण नहीं हो सकता। टाउसिग का मत है कि जब एक बडी मशीन का उपयोग कई कामों के लिये होता है, तब हम उसे सयुक्त लागत पर उत्पादन कह सकते हैं।[1]

---

1. Taussig. Principle of Economics, Vol. II, page 423.

लगाते हैं, तो उसमें वापिसी यात्रा का भी खर्च शामिल रहता हैं। इसलिये रेलवे यातायात के उद्योग में संयुक्त लागत द्वारा उत्पादन सिद्ध नहीं होता।

रेलों का किराया कैसे निश्चित होता है ? (How are Railway Rates Determined)—रेलों का किराया दो सिद्धान्तो के आधार पर निश्चित किया जाता है—पहिला कार्य की लागत का सिद्धान्त (cost of service principle) और दूसरा कार्य के मूल्य का सिद्धान्त (vaule of service principle) कार्य की लागत के सिद्धान्त के अनुसार एक टन माल ढोने का प्रति मील का वही किराया होना चाहिये। यह प्रतियोगिता का सिद्धान्त हैं। यदि रेलें यातायात के साथ-साथ कुछ अन्य सुविधाएं भी देती है, तो किराया प्रति मील कुछ भिन्न हो सकता है। जैसे, यदि माल जल्दी ले जाना है और गाडी की रफ्तार तेज है तो किराया कुछ अधिक हो सकता है। माल को सावधानी से उतारना-चढाना इत्यादि सुविधाएं होती हैं। कार्य के मूल्य के सिद्धान्त का अर्थ यह लगाया जाता है कि यातायात कितना सह सकता है ('what the traffic will bear') अर्थात् किराया उतना वसूल करना चाहिये, जितना वस्तुएं सह सकती हैं। उदाहरण के लिये हीरे बहुत मूल्यवान वस्तुएं हैं, इसलिये वे अधिक किराया सह सकते हैं बनिस्बत कोयले के, जिसका मूल्य कम होता है। कुछ वस्तुएं अधिक किराया सह सकती हैं, कुछ बहुत कम। कोयला लकड़ी इत्यादि कम कीमत की वस्तुएं हैं। इसलिये इनका किराया कम होता है। परन्तु कपड़े, धातुएं इत्यादि अधिक कीमती वस्तुएं होती हैं, इससे इनका किराया अधिक होता है। किराया इस प्रकार बांधा जाता है कि रेलों को अधिक से अधिक मुनाफ़ा हो। इस दूसरे सिद्धान्त के अन्तर्गत कई प्रकार के किराये आते है, जो पहिले सिद्धान्त में नहीं आते।

कार्य की लागत का सिद्धान्त

यातायात कितना सह सकता है

सम्मिलित अथवा प्रतिद्वन्द्वी मांग (Composite of Rival Demand)—जब एक वस्तु की मांग कई विभिन्न उपयोगों के लिये की जाती है, तब उसे सम्मिलित मांग (composite demand) कहते हैं। जैसे कि लोहे की मांग मकान, पुल और मशीनें बनाने के लिये हो सकती है। ये विभिन्न उपयोग लोहे की मांग को सम्मिलित मांग कर देते हैं। प्रायः सब कच्चे माल का तथा उत्पादन के प्रायः प्रत्येक साधन का उपयोग कई प्रकार के सामान बनाने में हो सकता है। श्रम का उपयोग उत्पादक के सामान बनाने में हो सकता है और उपभोक्ता के सामान बनाने में भी हो सकता है। भूमि का उपयोग कृषि में हो सकता है और मकान बनाने में भी। उपभोग की दृष्टि से वस्तु के विभिन्न उपयोग एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी (rival) होते हैं। एक साथ मिलकर वे बाजार से उस वस्तु की कुल मात्रा को ले जाते हैं। जब उत्पादन के किसी एक साधन में उपयोग के लिये

कई वस्तुएं प्राप्त रहती हैं, तब उन्हें प्रतिद्वन्द्वी लागत की वस्तुएं (competing cost goods) कहते हैं।

हम देख चुके हैं कि प्रतिस्थापन अथवा बदलने के सिद्धान्त (अथवा सम-सीमान्त उत्पत्ति के नियम) की सहायता से एक वस्तु के विभिन्न उपभोग इस प्रकार किये जा सकते हैं कि प्रत्येक में उसकी सीमान्त उपयोगिता एक बराबर रहेगी। यदि किसी उपयोग में उसकी सीमान्त उपयोगिता औसत से अधिक होती है तो उस वस्तु की उस उपयोग में अन्य उपयोगों से अधिक मात्रा खिंच आवेगी। इसलिये अन्य उपयोगों में सीमान्त उपयोगिता बढ़ेगी और उस उपयोग में घटेगी और अन्त में दोनों फिर बराबर हो जावेंगी और इस स्थान पर मूल्य स्थिर होगा। इसलिये जिन वस्तुओं की संयुक्त मांग होती है, उनका वितरण विभिन्न उपयोगों में इस प्रकार होता है कि हर जगह उनकी सीमान्त उपयोगिता बराबर रहती है। फिर उन वस्तुओं की कीमत भी ऐसी होगी कि प्रत्येक उपयोग में उनकी सीमान्त उपयोगिताएं बराबर रहेंगी।

सम्मिलित अथवा प्रतिद्वन्द्वी पूर्ति (Composite or Rival Supply)—जब किसी वस्तु की मांग कई वस्तुओं अथवा जरियों द्वारा पूरी की जा सकती है, तब उन्हें उस वस्तु की पूर्ति के संयुक्त जरिये कहते हैं। गोश्त की मांग हरिण, सूअर अथवा चिड़िया के गोश्त से पूरी की जा सकती है। जब कुछ पीने की इच्छा होती है, तब चाय काफी या कोको पी सकते हैं। जो वस्तुएं उपयोग में एक दूसरे के बदले में काम आ सकती हैं, वे संयुक्त पूर्ति के अच्छे उदाहरण हैं। इसी प्रकार जिस हद तक श्रम और पूंजी एक दूसरे को बदल सकते हैं, उस हद तक वे संयुक्त पूर्ति के उदाहरण हैं। यद्यपि पूर्ति के विभिन्न जरिये एक दूसरे के साथ प्रतिद्वन्द्विता करते हैं, उन सब की कुल मात्रा उस वस्तु की कुल मांग पूर्ति करती है। इन वस्तुओं को प्रतियोगी वस्तुएं (competing goods) भी कहते हैं, क्योंकि वे एक आवश्यकता विशेष की पूर्ति के लिये आपस में प्रतियोगिता करते हैं।

प्रतियोगी वस्तुएं

प्रतिस्थापन सिद्धान्त की क्रिया के कारण प्रतियोगी पूर्तियों का उपभोग उस हद तक होगा, जहां तक सीमान्त उपयोगिताएं अथवा वास्तविक सीमान्त उत्पादन उनके मूल्य के बराबर हैं। इसलिये प्रत्येक का मूल्य प्रत्येक की सीमान्त उपयोगिता अथवा वास्तविक उत्पादन के बराबर होगा। इसलिये जिन वस्तुओं की पूर्ति संयुक्त है, उनका मूल्य उनके उत्पादन की लागत तथा उनकी सीमान्त उपयोगिता अथवा वास्तविक सीमान्त उत्पादन द्वारा निश्चित होगा।

वीसवां अध्याय

एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य

(Value Under Monopoly)

पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियों के अन्तर्गत एक वस्तु के बहुत से विक्रेता होंगे और सब विक्रेता एक-सी वस्तु बेचेंगे। फल यह होगा कि कोई विक्रेता मूल्य या कीमत पर प्रभाव नही डाल सकेगा और प्रत्येक विक्रेता उस वस्तु के अतिरिक्त उत्पादन को बाजार भाव पर बेच सकेगा। एकाधिकार में परिस्थितियां बिलकुल बदल जाती हैं। वे पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियो से बिलकुल उलटी हो जाती हैं। एकाधिकार तब होता है, जब किसी वस्तु का केवल एक उत्पादक होता है। अन्य नये फर्मों का उस उद्योग में प्रवेश करना असम्भव होता है और एकाधिकारी जिस वस्तु का उत्पादन करता है, उस वस्तु के बदले में अन्य किसी वस्तु का उपयोग नही हो सकता।

किसी प्रतियोगी उत्पादक की तरह एकाधिकारी उत्पादक अपना लाभ अधिक से अधिक करना चाहेगा। जिन परिस्थितियो से वह उत्पादन कार्य करेगा, वे पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियो से भिन्न नहीं होगी। इसलिये एकाधिकारी की लागत मूल्य की रेखाएं एक प्रतियोगी उत्पादक की रेखाओ से मूलत भिन्न नही होंगी। परन्तु उनमें एक महत्वपूर्ण अन्तर होता है, जिसे ध्यान में रखना चाहिये। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत जो उत्पादक उत्पादन कार्य करता है, वह कुल उत्पादन का बहुत थोडा अश उत्पादन करता है और यदि वह उस वस्तु की अतिरिक्त इकाइयो का उत्पादन करता है तो वह उन्हें बाजार में पहिले से चालू भाव पर ही बेच सकता है। दूसरे शब्दो में प्रतियोगी विक्रेताओं के सामने जो माग रेखा होती है, वह आडी अथवा क्षैतिज (horizontal) होती है। लेकिन एकाधिकारी तो अकेला उत्पादक होता है और यदि वह उत्पादन बढाता है, तो वह उसके कुल उत्पादन का अच्छा अश होगा, इसलिये भाव कुछ गिरेगा। अतः एकाधिकारी की अतिरिक्त उत्पादन को केवल कम भाव पर बेच सकेगा। दूसरे शब्दो में एकाधिकारी के सामने जो माग रेखा होती है, उसमें ऐसी लोच होती है, जो इकाई (unity) से कम है।

सीमान्त आय (Marginal Revenue)—एक साधारण सिद्धान्त है, जिसके अनुसार एकाधिकार अपना लाभ अधिक से अधिक कर सकता है, वह यह है कि उत्पादन की सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर होनी चाहियें। जैसा हम देख चुके हैं, सीमान्त लागत वस्तु की अतिरिक्त इकाई उत्पादन करने की अतिरिक्त लागत है। सीमान्त आय "कुल आय के अतिरिक्त वह आय है, जो उत्पादन की अतिरिक्त या अधिक इकाइयों के

बेचने से प्राप्त होती है।"[1] मान लो एक एकाधिकारी किसी वस्तु की १० इकाइयां २ रु० प्रति इकाई के हिसाब से बेचता है और ११ इकाइयां १ रु० १५ आ० प्रति इकाई के हिसाब से बेच सकता है। पहिली बिक्री में उसे २० रु० प्राप्त होते हैं और दूसरी में २१ रु० ५ आ०। इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि एकाधिकारी एक इकाई अधिक बेचता है तो उसकी कुल प्राप्ति में १ रु० ५ आ० बढ़ जाता है। यह अतिरिक्त इकाई की सीमान्त आय है। हमने यह मान लिया है कि उत्पादक अतिरिक्त इकाइयां पहिली कीमत पर नहीं बेच सकेगा। एकाधिकारी का यही हाल होता है। किसी भी बाजार के व्यवसाय का बहुत बड़ा अंश उसके हाथ में रहता है। इसलिये बिक्री बढ़ाने के लिये उसे दाम भी घटाने पड़ेंगे। भाव घटाने से उसकी आय भी कम हो जायगी, जो उसे कुल इकाइयों की बिक्री से प्राप्त होती है। इस प्रकार एक अतिरिक्त इकाई बेचने से एकाधिकारी की कुल आय में वह रकम बढ़ जावेगी, जो उस अतिरिक्त इकाई के मूल्य के बराबर है। साथ ही जो इकाइयां वह पहिले बेच रहा था, उनका मूल्य कुछ घट जावेगा और उतनी रकम उसकी कुल आय में से कम हो जायगी। यही कारण है कि उसकी सीमान्त आय अतिरिक्त इकाई के बिक्री मूल्य से कम रहती है। एक अधिक इकाई बेचने से एकाधिकारी की आय में जो वृद्धि होती है, वह जब तक उत्पादन की लागत में होनेवाली वृद्धि से अधिक रहती है, तब तब वह इस प्रकार की बिक्री से अपनी आय बढ़ाता रहेगा। अर्थात् जब तक सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक रहती है, तब तक एकाधिकारी अपना उत्पादन बढ़ाता रहेगा। लेकिन जैसे-जैसे वह उत्पादन बढ़ाता है, वैसे-वैसे सीमान्त आय कम होती जाती है और सीमान्त लागत बढ़ती जाती है। जब सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर होती है तब उसको अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। इससे आगे उत्पादन बढ़ाने से सीमान्त लागत अतिरिक्त आय अथवा सीमान्त आय से बढ़ जायगी। तब अतिरिक्त बिक्री पर उसे हानि होगी। एकाधिकार के अन्तर्गत आय अधिक से अधिक तभी हो सकती है, जब सीमान्त आय और सीमान्त लागत मूल्य एक बराबर होते हैं।

यद्यपि एकाधिकारी अकेला उत्पादक होता है, तथापि इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह हमेशा अपनी वस्तु बहुत ऊंचे दाम पर बेचेगा। ऊंचे दाम से हमेशा अधिकतम लाभ नहीं प्राप्त होता। ऊंचे दामों से बिक्री कम होने का डर रहता है, जिससे कुल आय में कमी हो जायगी। इसलिये एक हद के बाद दाम बढ़ाना लाभदायक नहीं होता।

एकाधिकारी की शक्ति की सीमा (Limits to the Power of a Monopolist)—प्रायः लोगों का ऐसा खयाल रहता है कि एकाधिकारी का न केवल बाजार पर पूरा कब्जा रहता है, बल्कि उसके कार्यों पर भी किसी प्रकार का बंधन नहीं रहता। परन्तु वास्त-

---

१. Joan Robinson Economics of Imperfect Competition page 51.

विक जीवन म एकाधिकारी के कार्यों पर हमेशा कुछ न कुछ बन्धन रहते ही हैं। कुछ ऐसे बन्धन रहते हैं, जिनके कारण एकाधिकारी वस्तुओं का बहुत अधिक मूल्य नही ले सकता। उसे हमेशा यह डर लगा रहता है कि शायद कोई शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी खड़ा हो जाय। उसे हमेशा नये प्रतिद्वन्द्वियों से सतर्क रहना पड़ता है। अथवा यह हो सकता है कि अधिक मूल्य के कारण नय आविष्कार होंगे और उसकी वस्तुओं के बदले उपयोग में आनेवाली कोई दूसरी वस्तु आ जावे। नकली नील के रंग के आविष्कार ने असली स्वाभाविक नील को खतम कर दिया। अब जूट भी सुरक्षित नहीं माना जाता। संसार के कई देशों में उसके बदले में कोई दूसरी उपयोगी वस्तु प्राप्त करने के लिये वैज्ञानिक खोज हो रही है। तीसरे यह खतरा तो हमेशा ही बना रहता है कि कोई विदेशी प्रतिद्वन्द्वी आकर एकाधिकारी का व्यवसाय छीन ले। चौथे यह खतरा बना रहता है कि सरकार दखल देकर उस व्यवसाय में राज्य का नियंत्रण लगा दे। यदि एकाधिकारी बहुत अधिक दाम लेगा तो जनता में असतोष फैलेगा और वह सरकार को बाध्य करेगी कि या सरकार उस एकाधिकार पर नियंत्रण लगावे या उसे अपने हाथ में ले ले।

विवेचनात्मक या भेदपूर्ण एकाधिकार (Discriminating Monopoly)– एकाधिकारी को सब ग्राहकों से एक-सा मूल्य लेने की आवश्यकता नहीं है। चूंकि पूर्ति के ऊपर उसका अधिकार रहता है, इसलिये वह विभिन्न खरीदारों से विभिन्न दाम ले सकता है अथवा विभिन्न बाजारों में विभिन्न भाव रख सकता है। वास्तव में एकाधिकार के अन्तर्गत प्राय ऐसा ही होता है। जब एकाधिकारी एक वस्तु को कई भावों पर बेचता है तब उसे विवेचनात्मक या भेद-भाव पूर्ण एकाधिकार कहते हैं।

एकाधिकारी कई भाव रख सकता है

परन्तु दामों में इस प्रकार का भेद-भाव हमेशा सभव नहीं होता। इसमें यह सम्भावना रहती है कि जिस ग्राहक को वस्तु कम दाम पर मिली है, वह कुछ अधिक दाम मिलने पर उसे फिर बेच देगा। इसलिये एकाधिकारी के लिये विभिन्न ग्राहकों से विभिन्न मूल्य लेने के लिये यह आवश्यक है कि कुछ कारण होना चाहिये, जिससे कम दाम पर पानेवाला ग्राहक उस वस्तु को फिर न बेच सकेगा। अथवा ऐसा समझौता होना चाहिये कि वह उस वस्तु को दुबारा नहीं बेचेगा। मूल्य में भेद-भाव करना इन दो शर्तों पर सभव है। किसी वस्तु की मात्रा या इकाई को कम भाव के बाजार से खरीदकर ऊंचे भाव के बाजार में ले जाना सभव न होना चाहिये। *जो लोग अपनी सेवाएं दूसरे मनुष्यों को बेचते हैं, उनमें ऐसा ही* होना है। एक डॉक्टर गरीब रोगियों से कम और धनी रोगियों से अधिक फीस ले सकता है। एक धनी आदमी किसी गरीब आदमी से यह नहीं कह सकता कि हमारे रोग की दवा तुम अपने नाम से ले आओ। रोग की सही परीक्षा डॉक्टर रोगी को देखकर

भेद-भाव कब सम्भव है

ही कर सकता है। रेलों में कई प्रकार के माल अलग-अलग भाव पर ढोना इसका दूसरा उदाहरण है। रेलें कोयला ढोने का किराया कम लेती हैं, पर तांबा ढोने का किराया अधिक लेती हैं। परन्तु उनमें तांबे के बदले कोयला का उपयोग नहीं किया जा सकता। दूसरी शर्त यह है कि मूल्य में भेद-भाव तब सम्भव हो सकता है, जब माल को इकाई ऊंचे भाव के बाजार से कम भाव के बाजार में न ले जाई जा सके। जिन दो बाजारों में मूल्य का भेद-भाव किया जाता है, जब उनके उपभोक्ताओं में धन का भेद रहता है, तब इस प्रकार के मूल्य का भेद करना आसान हो जाता है। जैसे डॉक्टर को गरीब आदमी के बराबर कम फीस देने के लिये कोई भी धनी मनुष्य गरीब न होना चाहेगा। जब एकाधिकारी वस्तु के फिर से बेचे जाने की सम्भावना देखता है, तो वह कम भाव पर खरीदनेवाले ग्राहक से यह शर्त कर लेता है कि वह उस वस्तु को नहीं बेचेगा।

भेद-भाव या तो व्यक्तिगत हो सकता है या स्थानीय अथवा व्यावसायिक। जब विभिन्न ग्राहकों से उनकी आवश्यकता की तीव्रता के अनुसार अथवा उनके धन के अनुसार विभिन्न दाम लिये जाते हैं, तब उसे व्यक्तिगत भेद-भाव (personal discrimination) कहते हैं। जो लोग खरीदने के लिये अधिक उत्सुक हैं, उनसे ऊंचे दाम वसूले जा सकते हैं। गरीबों की अपेक्षा धनियों से उसी वस्तु के अधिक दाम लिये जाते हैं। जो लोग रईसी या फैशनेबुल मुहल्लों में रहते हैं, उनसे बड़ी दूकानें अधिक दाम लेती हैं। इस प्रकार का भेद-भाव हमेशा सफल नहीं होता, इसमें खरीदारों में तीव्र असन्तोष फैलने का डर रहता है।

व्यक्तिगत भेद-भाव

जब एकाधिकारी एक स्थान में कम भाव पर बेचता है और अन्य स्थानों में अधिक भाव पर, तब उसे स्थानीय भेद-भाव (local discrimination) कहते हैं। स्थानीय भेद-भाव का सबसे अच्छा उदाहरण विदेशों में कम भाव पर माल 'पटकना' (dumping) है। इसमें एकाधिकारी विदेशी बाजार में अपना माल देशी बाजार की अपेक्षा बहुत सस्ता बेचता है।

स्थानीय भेद-भाव

जब एकाधिकारी एक व्यवसायी को अपना माल अधिक दर पर बेचता है और दूसरे को कम दर पर तो उसे व्यावसायिक भेद-भाव कहते हैं। इसका उदाहरण यह है कि बिजली का बड़ी फर्म कारखानों को बिजली बहुत सस्ती दर पर देता है, घरों में मोटर चलाने के लिये उससे अधिक महँगे दर पर और घरों में प्रकाश के लिये इससे भी अधिक महँगे दर पर देता है।

व्यावसायिक भेद-भाव

जब कीमत में विवेचनात्मक भेद-भाव किया जाता है, तब मूल्य (value)

प्रत्येक बाजारों में उन्ही सिद्धान्तों के अनुसार निश्चित होगा, जिन सिद्धान्तों के अनुसार एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य निश्चित होता है। यदि एकाधिकारी दो विभिन्न बाजारों में अलग-अलग भाव पर बेचता है, तो प्रत्येक में वह वही कीमत लेगा, जिससे सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर हो। बाजारों की संख्या चाहे जितनी हो, पर सीमान्त लागत एक बराबर रहेगी। इसलिये प्रत्येक बाजार में सीमान्त आय भी वही रहेगी। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि प्रत्येक बाजार में कीमत भी एक-सी रहेगी। कीमत प्रत्येक बाजार में माग की लोच पर निर्भर रहेगी। यदि खरीदारों के एक समूह के लिये माग लोचदार है तो एकाधिकारी उस समूह से अपेक्षाकृत कम कीमत लेगा। परन्तु यदि किसी बाजार विशेष में माग बेलोचदार है, तो खरीदारों के उस समूह के लिये कीमत अपेक्षाकृत ऊची होगी।

क्या विवेचनात्मक कीमत से ग्राहकों को लाभ होता है

विवेचनात्मक एकाधिकार से कभी-कभी ग्राहकों तथा समाज को महत्वपूर्ण लाभ हो सकते हैं। यह संभव हो सकता है कि खरीदारों के दो वर्ग हों। एक वर्ग धनी हो और उससे अधिक कीमत वसूल की जा सकती है। पर दूसरे वर्ग की आमदनी कम हो और वह तभी खरीदेगा जब कीमत कम हो। जब ऊची कीमत वसूल की जायगी, तब केवल धनी लोग उस वस्तु को खरीदेंगे। परन्तु उसमें बिक्री अधिक न होगी और कुल बिक्री से जो रकम आयेगी संभव है, इससे उत्पादन की लागत पूरी-पूरी न निकले। परन्तु यदि गरीबों में बिक्री करने के लिये कम कीमत रखी जावे तो बिक्री अधिक होगी, परन्तु संभव है कि कम दाम पर बिक्री उत्पादन के लिये लाभदायक न हो। इसलिये इन परिस्थितियों में उत्पादन ही न हो सकेगा। परन्तु कीमत में विवेचनात्मक भेद-भाव करने से उत्पादक धनी वर्ग से अधिक दाम ले सकेगा और गरीब ग्राहकों से कम दाम। तब कुल बिक्री से उसके उत्पादन के कुल खर्च निकल आवेंगे। यह तब विशेषरूप से संभव हो सकता है, जब वृहत् उत्पादन के कारण औसत लागत कम होती जायगी। इससे ग्राहकों तथा समाज दोनों को लाभ होगा।

मूल्य में विवेचनात्मक भेद भाव के अन्तर्गत एकाधिकारी एक वर्ग से अधिक दाम लेता है और दूसरे वर्ग से कम दाम। इससे एक वर्ग को लाभ होगा और दूसरे वर्ग की हानि। यदि अधिक कीमत देनेवाला धनी वर्ग है और कम कीमत देनेवाला गरीब वर्ग तो हम कह सकते हैं गरीब का लाभ धनियों के नुकसान से कहीं अच्छा और वाछनीय है। इस परिस्थिति में विवेचनात्मक एकाधिकार से पूरे समाज को लाभ होगा।

राशिपातन (Dumping)—इसका अर्थ विभिन्न बाजारों में कीमत या विवेचनात्मक भेद भाव है। जब कोई एकाधिकारी अपने उत्पादन का एक अश विदेशी बाजार में घर के बाजार की अपेक्षा कम कीमत पर बेचता है तो कहा जाता है कि वह विदेशी बाजार में

राशिपातन कर रहा है अथवा माल पटक रहा है, विदेशी बाजार में वह चाहे तो लागत मूल्य से कम में भी बेच सकता है और चाहे तो न बेचे । क्योंकि एकाधिकार के कारण वह प्रायः इस स्थिति में रहता है कि अपने देशी बाजार में वह ऐसी कीमत वसूल करता है, जो प्रति इकाई की लागत से ऊंची हो । इस स्थिति में वह विदेशी बाजार में ऐसी कीमत ले सकता है, जो देशी बाजार की कीमत से कम हो, पर उत्पादन की औसत कीमत से अधिक हो।

राशिपातन के उद्देश्य

एकाधिकारी कई उद्देश्यों से राशिपातन कर सकता है । एक कारण यह हो सकता है कि भविष्य में मांग का उसने गलत अन्दाज लगाया हो, इससे उसके पास माल अधिक जमा हो गया हो । अथवा नये व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये वह ऐसा कर सकता है, अथवा किसी नये बाजार में ग्राहकों की सदिच्छा प्राप्त करने के लिये राशिपातन कर सकता है, अथवा किसी बाजार से प्रतिद्वन्द्वियों को भगाकर एकाधिकार प्राप्त करने के उद्देश्य से वह राशिपातन कर सकता है । एक उद्देश्य अपनी मशीनों का अधिकतम उपयोग करके बड़े पैमाने के उत्पादन के बचत सबंधी लाभ प्राप्त करना हो भी सकता है । यदि घर के बाजार में मांग बेलोचदार है, तो उत्पादन बढ़ने से दाम गिर जायगें। तब दाम ऊंचे रखने के लिये देशी बाजार में कम माल बेचेगा और विदेशी बाजार में राशिपातन करेगा ।

चूंकि राशिपातन विदेशी उत्पादकों के हितों के विरुद्ध होता है, इसलिये कई देशों में इसकी मनाही है । राशिपातन के विरुद्ध कानून बनाये गये है, जो राशिपातन के माल पर ऊंचा आयात कर लगाते हैं । जापानी प्रतिद्वन्द्विता का सामना करने के लिये सन् १९३३ में भारत में ऐसे कानून बने थे ।

इक्कीसवां अध्याय

मूल्य और अपूर्ण प्रतियोगिता

(Value and Imperfect Competition)

अभी तक हमने उन साधकों का अध्ययन किया है, जो मूल्य-निर्धारण ऐसी परिस्थितियों में करते हैं, जब किसी वस्तु के बहुत से विक्रेता रहते हैं (अर्थात् जब पूर्ण प्रतियोगिता रहती है) अथवा जब केवल एक विक्रेता होता है । (अर्थात् एकाधिकार होता है) । परन्तु वास्तविक जीवन में देखने में आता है कि किसी वस्तु के विक्रेता कदाचित् ही बहुत बड़ी संख्या में रहते हैं । इसी प्रकार केवल एक विक्रेता शायद ही मिले ।

अधिकतर यह देखने में आता है कि न तो एक व्यक्ति ऐसा होता है, जो किसी वस्तु की कुल पूर्ति पर अधिकार रखता हो और न इतनी बड़ी संख्या में विक्रेता और ग्राहक

मिलते हैं कि कुल पूर्ति के अनुपात में उनका हिस्सा नगण्य हो। इन दोनो बातो के मध्य के उदाहरण जिनमें न पूर्ण प्रतियोगिता होती है और न पूर्ण एकाधिकार 'अपूर्ण प्रतियोगिता' के उदाहरण कहलाते हैं। किन परिस्थितियों में प्रतियोगिता अपूर्ण हो सकती है ? *एक तो तब जब किसी वस्तु की पूर्ति करनेवालो की सख्या कम हो, जिनमें से प्रत्येक* का उसकी पूर्ति पर काफी अधिकार हो। दूसरे जिस बाजार में उस वस्तु की बिक्री होती है, उसका बाजार अच्छे प्रकार सगठित न हो। जिस बाजार में यातायात की कठिनाई होगी अथवा जिसमें ग्राहको को यह पता न हो कि कौन विक्रेता अपना माल किस भाव पर बेच रहा है और सब ग्राहक सबसे कम दर पर बेचने वाले विक्रेता से न खरीदें, उस बाजार में प्रतियोगिता अपूर्ण होगी। जब उपभोक्ता के मन में यह विचार जम जाता है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु से प्रकार और गुण में भिन्न है, चाहे वह भिन्नता काल्पनिक हो अथवा वास्तविक तब प्रतियोगिता अपूर्ण हो जाती है। अन्तिम उस वस्तु के कुछ ऐसे ग्राहक हो, जिनमें से प्रत्येक उसकी पूर्ति का बहुत बडा अश खरीदता हो।

जब किसी वस्तु के बहुत कम विक्रेता होते हैं, तब उनमें से प्रत्येक उसकी कीमत पर प्रभाव डाल सकता है। मान लो किसी वस्तु के केवल चार विक्रेता हैं और उनमें से प्रत्येक उसकी ५००० इकाइया बेचता है। यदि उनमें से एक अपना उत्पादन केवल ५ प्रतिशत बढाने का निश्चय कर ले तो उसकी पूर्ति की मात्रा ५२५० इकाई हो जावेगी। इसका प्रभाव उसकी बिक्री की दर पर अवश्य पडेगा। विक्रेताओं की सख्या एक तो इस कारण कम हो सकती है कि सरकार ऐसे नियम बना दे, जिससे उत्पादको की सख्या सीमित हो जाय (जैसा रेलों, बिजली इत्यादि के सम्बन्ध में होता है), अथवा उस वस्तु की पूर्ति के साधन बहुत कम हों *(जैसा कि पेट्रोलियम में होता है) अथवा किसी उद्योग के प्रारम्भ में* ही मशीनो इत्यादि पर इतनी अधिक पूजी लगती हो कि बहुत कम लोग उस उद्योग में आने का साहस करेंगे। जिन उद्योगों में बडे पैमाने के उत्पादन से विशेष कुशलता सम्बन्धी बचत (technical economies) काफी बडी मात्रा में होती है, उनमें कोई भी उत्पादक उत्पादन बढाकर लागत-मूल्य कम कर सकता है। तब वह बिक्री मूल्य कम करके कुछ प्रतियोगियो को बाजार से भगा सकता है। इससे उनमें भीषण प्रतियोगिता ('cut throat' competition) होगी और अन्त में, बाजार में बहुत कम उत्पादक रह जावेंगे। इनमें से प्रत्येक का पूर्ति पर काफी अधिकार होगा और वह अपनी बिक्री पर लागत मूल्य से अधिक कीमत पर बेचेगा। फिर कम कीमत पर बेचने के लिये वे लोग अधिक मात्रा में उत्पादन करेंगे। इससे कुल उत्पादन की मात्रा काफी बढ जावेगी और मूल्य गिरेगा, यहा तक कि शायद वे अपनी लागत भी पूरी न कर पावें।[1]

---

१ इस क्रिया की चरम सीमा में केवल दो विक्रेता रह जा सकते हैं और ग्राहक बहुत से रहेंगे। इस परिस्थिति को द्वयाधिकार (duopoly) कहते हैं।

किसी वस्तु के बहुत से विक्रेता होने पर भी प्रतियोगिता अपूर्ण हो सकती है। यह तब हो सकता है जब ग्राहकों को बाजार का पूर्ण ज्ञान न हो। अथवा यातायात की कठिनाई हो। अथवा उपभोक्ता यह सोचते हों कि विभिन्न विक्रेता जो माल बेचते हैं, उनके गुण और प्रकार में भेद है। बाजार की इन अपूर्णताओं का परिणाम यह होगा कि ग्राहक नियम के तौर पर उस विक्रेता से

अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण

माल न खरीदेंगे जो उसे सबसे कम मूल्य पर देगा। उदाहरण के लिए ग्राहक यह न जाने कि कौन विक्रेता किस भाव पर अपना माल बेच रहा है। यदि एक विक्रेता दूसरों की अपेक्षा अधिक दाम ले रहा है और ग्राहक इसको न जानें तो वे उस विक्रेता के प्रतिद्वन्द्वियों के पास न जायगे। इसी प्रकार यदि यातायात का खर्च उसके मूल्य का काफी भाग होता है, तो प्रत्येक विक्रेता के पास एक अद्धस्वतन्त्र बाजार रहेगा और इस बाजार के ग्राहक वे लोग होंगे, जो उसके कारखाने या दूकान के पास रहते हैं। छोटे दूकानदार प्रायः ऐसा ही करते हैं। वे मुनाफा थोड़ा अधिक लेते हैं। पर उनके ग्राहक उसे खुशी से दे देते हैं, क्योंकि दूर के बाजार में जाने में उन्हें खर्च और तकलीफ उठानी पड़ेगी। इन दोनों बातों से बचने के लिये ग्राहक पास के विक्रेता को थोड़ा अधिक दाम देना स्वीकार करते हैं। एक बात यह भी है कि यदि कोई विक्रेता अपनी बिक्री काफी बढ़ाना चाहता है, तो उसे अपनी बिक्री दर कुछ कम करनी पड़ेगी। जिससे उसके वर्तमान ग्राहक थोड़ा अधिक खरीदेंगे और जो ग्राहक कुछ दूर रहते हैं, वे भी उसकी दूकान पर आवें।

अपूर्ण प्रतियोगिता का दूसरा महत्वपूर्ण कारण प्रत्येक उत्पादक की वस्तुओं में गुण सम्बन्धी वास्तविक अथवा काल्पनिक भेद का होना है। व्यापार विज्ञापन द्वारा अथवा एक छाप (brand) निर्धारित कर प्रत्येक उत्पादक अपने ग्राहकों को यह विश्वास दिलाना चाहता है कि दूसरे उत्पादकों की अपेक्षा उसका माल श्रेष्ठ है। यह श्रेष्ठता चाहे वास्तविक हो अथवा काल्पनिक, पर यदि ग्राहक उसमें विश्वास कर लेता है तो प्रत्येक उत्पादक का अपने माल के लिये कुछ हद तक स्वतन्त्र बाजार हो जायगा। वह चाहे तो थोड़ी अधिक कीमत वसूल सकता है। और यदि वह बिक्री बढ़ाना चाहता है तो उसे अपने माल की कीमत काफी कम करनी पड़ेगी। पुराने ग्राहकों को अधिक खरीदने का लालच देने के लिये तथा उन ग्राहकों को खींचने के लिये जो उसके प्रतिद्वन्द्वियों का माल अच्छा समझते हैं, कीमत घटाना आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब प्रतियोगिता अपूर्ण होती है, तब प्रत्येक उत्पादक को अपने उत्पादन की कीमत निर्धारित करने की कुछ हद तक स्वतन्त्रता रहती है। पूर्ण प्रतियोगिता में तो उसे वही कीमत स्वीकार करनी पड़ेगी, जो उसके सब प्रतियोगियों के आपस की प्रतियोगिता के कारण बाजार में प्रचलित होगी। यदि वह अपने माल की कीमत थोड़ी-सी घटा देता है, तो वह सब ग्राहकों को खींच सकता है। परन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता

में वह अपने प्रतियोगियों की अपेक्षा कीमत कुछ अधिक ले सकता है। उसके ग्राहक उसे छोडकर अन्य विक्रेताओ के पास न जावेंगे, चाहे इस कारण से कि वे उसके प्रतियोगियो की बिक्री दर नही जानते, अथवा यातायात के खर्च के कारण अथवा यह हो सकता है कि अन्य विक्रेताओ की अपेक्षा वे उसके माल को अधिक पसद करते है। अधिक से अधिक यह हो सकता है *कि कीमत अधिक होने से वह पहिले की अपेक्षा अपनी खरीद की मात्रा कुछ घटा देंगे।* इसी प्रकार यह भी सभव है कि मूल्य मे थोडी-सी कमी होने के कारण बिक्री की मात्रा न बढ़े। दाम घटने मे उसके पुराने ग्राहक अपनी खरीद की मात्रा थोडी बढा सकते है। परन्तु यदि उसे अधिक ग्राहक खीचना है, तो उसे अपनी बिक्री की दर या कीमत में काफी कमी करनी पडेगी, जिसमें कि प्रतियोगियों के ग्राहकों की उनके माल के लिये जो रुचि है, उसे त्यागकर वे लोग इसके ग्राहक बन जावें। अथवा उनका यातायात में जो खर्च होता है, वह पूरा हो जावे। इस प्रकार प्रत्येक उत्पादक अपने माल को कम या अधिक मात्रा मे बाजार में बेचकर उसकी कीमत पर काफी प्रभाव डाल सकता है। अर्थशास्त्र की भाषा में हम यह कहेंगे कि उसके उत्पादन की माग की लोच इकाई (unity) से कम है।

अपूर्ण प्रतियोगिता में कीमत उस बिन्दु पर स्थिर होगी, जहा सीमान्त लागत और सीमान्त *आय बराबर है। अपना लाभ अधिकतम करने के लिये प्रत्येक उत्पादक तब* तक उत्पादन करता रहेगा और बेचता रहेगा, जब तक कि अतिरिक्त इकाई के उत्पादन की अतिरिक्त लागत उसकी बिक्री से प्राप्त कीमत (जो कुल बिक्री की रकम में जुडती जाती है) से कम है। पूर्ण प्रतियोगिता में सीमान्त आय वस्तु की कीमत के बराबर होती है। परन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता में सीमान्त आय वस्तु की कीमत से कम होती है। क्योंकि हम जानते है कि अपनी बिक्री बढाने के लिये उत्पादक को कीमत घटानी पडेगी। तब उसे अपनी सब इकाइया या मात्राए (केवल अतिरिक्त इकाइया नही) कम कीमत पर बेचनी पडेंगी। इसलिये अतिरिक्त इकाइया बेचने मे उसे वास्तव में जो रकम प्राप्त होगी, वह तब मालूम होगी, जब अतिरिक्त इकाइयो का कुल मूल्य जोडकर उसमें से वह रकम घटा देंगे, जो पहिले से बिकनेवाली इकाइयो के मूल्य में घटी होनेवाली रकम के बराबर है। मान लो एक उत्पादक १० इकाइया २रु० प्रति इकाई के भाव पर बेच सकता है। यदि वह अपना उत्पादन १० प्रतिशत बढा देता है और ११ इकाइया बेचना चाहता है, तो उसे कीमत घटाकर १ रु० १५ आ० करनी पडेगी। इसे हम इस प्रकार रख सकते है।

अपूर्ण प्रतियोगिता में सीमान्त आय कीमत से कम होती है

कुल उत्पादन	कीमत प्रति इकाई	कुल प्राप्ति
११ इकाइया	१ रु० १५ आ०	२१ रु० ५ आ०
१० इकाइया	२ रु०	२० रु०
१ इकाई		१ रु० ५ आ०

यदि वह एक इकाई अधिक बेचता है तो उसकी कुल आय में १ रु० ५ आ० की वृद्धि हो जायगी। इसलिये प्रत्येक इकाई की सीमान्त आय १ रु० ५ आ० है। जब तक उत्पादन की सीमान्त लागत सीमान्त आय से कम रहेगी, तब तक उत्पादक अधिक उत्पादन करेगा और बेचेगा, क्योंकि इससे उसकी आय में वृद्धि होती है। जब सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर होगी, तब वह उत्पादन बन्द कर देगा। परन्तु सीमान्त आय कीमत से कम होती है। इसलिये वह अपनी वस्तु की कीमत सीमान्त लागत की सतह पर आने के पहिले ही किसी स्थान पर उत्पादन और बिक्री बन्द कर देगा। पूर्ण प्रतियोगिता में सीमान्त लागत कीमत के बराबर होती है और सीमान्त आय के बराबर भी (क्योंकि सीमान्त आय कीमत के बराबर होती है।) परन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता में सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर तो होती है, पर कीमत के बराबर नहीं। सीमान्त लागत मूल्य के बराबर होने के पहिले ही उत्पादन बन्द हो जायगा। अपूर्ण प्रतियोगिता में प्रत्येक विक्रेता का उत्पादन पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा कम होगा और वस्तु की कीमत उत्पादन की सीमान्त लागत की अपेक्षा अधिक होगी।

अपूर्ण प्रतियोगिता में सम्भव है कि फर्म आदर्श अधिकतम ढग के न हों।

हम देख चुके हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता में फर्मों की संख्या इस प्रकार संगठित हो जाती है कि साम्य की अवस्था में सब फर्म आकार और प्रकार में आदर्श अधिकतम ढग के होंगे। वे श्रेष्ठ कुशलता या दक्षता के ढग पर संगठित होंगे। परन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता में ऐसा होना आवश्यक नहीं है। जब पूर्ण प्रतियोगिता होगी, तब जो फर्म आदर्श अधिकतम ढग के नहीं हैं, वह विस्तृत होने की प्रवृत्ति दिखलायेंगे। जैसे-जैसे उनका विस्तार होगा, वैसे-वैसे उसकी लागत कम होती जायगी। साथ ही अतिरिक्त उत्पादन के लिये उसे जो कीमत मिलेगी वह पहिले की ही रहेगी। परन्तु यदि प्रतियोगिता अपूर्ण है, तो सम्भव है वह फर्म नहीं बढ़े। हा, यह बात अवश्य है कि यदि उसने विस्तार बढ़ाया, तो उत्पादन की औसत लागत में कमी होगी। परन्तु अपना अतिरिक्त उत्पादन बेचने के लिये उसे अपने माल की कीमत घटानी पड़ेगी। यह सम्भव है कि कम कीमत पर बेचने से जो घाटा होगा, वह उस लाभ से अधिक हो या उसके ठीक बराबर हो, जो प्रति इकाई उत्पादन की औसत लागत में कमी होने से होगा। इस प्रकार हो सकता है कि फर्म के सामने विस्तार करने और अधिक उत्पादन करने का कोई प्रलोभन न हो। यदि अकुशल फर्म के ग्राहकों का वहम दूर करने के लिये और उन्हें ललचाने के लिये किसी कुशल फर्म को अपने माल की कीमत काफी घटाने की आवश्यकता पड़े, तो शायद वह ऐसा करना पसन्द न करे। वह शायद उस अकुशल फर्म को बाजार से भगाना पसन्द न करे। परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियों में कुशल फर्म कीमत में काफी घटी किये बिना भी अधिक उत्पादन और अधिक बिक्री कर सकते हैं। जब उनका उत्पादन

बढेगा, तब कुल उत्पादन की मात्रा भी बढेगी, जिसमे कीमतें गिरेंगी। फल यह होगा कि अकुशल फर्मे अपना लागत भी पूरा न कर पावेंगे। इस प्रकार अपूर्ण प्रतियोगिता में पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा किसी भी उद्योग मे फर्मों की सख्या अधिक हो सकती है। इनमें से प्रत्येक फर्म का उत्पादन आदर्श अधिकतम मात्रा से कम हो सकता है। प्रत्येक फर्म के प्रबन्धकर्त्ता या मालिक को जो लाभ या पारिश्रमिक मिलता है, वह अन्य धन्धो से अधिक न होगा। उदाहरण के लिये किसी शहर में छोटे फुटकर दूकानदारो की दूकानें अथवा हलवाइयो की दूकानें काफी बडी सख्या में होती है। इनमें से प्रत्येक दूकान की बिक्री की मात्रा थोडी होती है और प्रत्येक दूकान का रूप आदर्श अधिकतम से कम होता है। इनमे से किसी भी दूकान की कमाई अन्य धन्धो में इसी प्रकार की दूकानो की कमाई से अधिक न होगी। फिर भी प्रत्येक दूकान एक प्रकार से एकाधिकारी होती है, क्योकि उसका एक प्रकार का अर्द्ध स्वतन्त्र बाजार होता है। यह बाजार या तो यातायात के खर्च के कारण, या ग्राहको के अज्ञान अथवा उनकी मदिच्छा से बनता है। और यदि किसी उद्योग का पूरा आधार इसी प्रकार की दूकानें हो, तो उससे समाज का भला होने की सभावना है।[1] यह बात विरोधात्मक लग सकती है। क्योकि इससे ऐसा लगता है कि अपूर्ण प्रतियोगिता की दवा अधिक अपूर्ण प्रतियोगिता है। परन्तु जब फर्मो की सख्या कम हो जायगी, तो प्रत्येक फर्म आदर्श अधिकतम आकार के होंगे। प्रत्येक फर्म का उत्पादन अधिक होगा और औसत लागत तथा फी इकाई कीमत उत्पादन सम्बन्धी ज्ञान की मौजूदा परिस्थितियों में कम से कम रहेंगी।

जब किसी वस्तु के बहुत कम खरीदार रहेंगे, तब प्रतियोगिता अपूर्ण होगी।[2] तब उनमें से प्रत्येक उस वस्तु की काफी मात्रा खरीदेगा और अपनी खरीद कम या अधिक करके उसकी कीमत पर प्रभाव डाल सकता है। प्राय उपभोग के लिये बिलकुल तैयार माल में ऐसी परिस्थिति बहुत कम आती है। प्राय ऐसी वस्तुओ के बहुत अधिक खरीदार रहते है। परन्तु उत्पादन के साधनो की खरीद में (जैसे श्रम या कच्चे माल) बाजार अपूर्ण हो सकता है। उदाहरण के लिये चीनी के धन्धे में किसान अपना गन्ना सबसे पास के कारखाने में बेचेंगे, क्योकि दूसरा कारखाना अधिक दूर हो सकता है। दूर ले जाने में एक तो यातायात का खर्च अधिक होगा और दूसरे गन्ने की किस्म में खराबी आ जायगी। दूर

Monopsony

---

१ ध्यान रहे कि यह बात हमेशा सच नही होती। उदाहरण के लिये यदि अपूर्ण बाजार और बहुत से फर्म वस्तुओ के गुणो और बनावट में वास्तविक भेद के कारण है तो फर्मों की सख्या कम करने से कोई लाभ न होगा।

२ इस परिस्थिति को श्रीमती रॉबिन्सन ने Monopsony कहा है। उनकी पुस्तक Economics of Imperfect Competition देखिये।

ले जाने में अधिक समय लगेगा, इससे उनको कम सुविधा। इन कारणों से वे सदैव पास के कारखाने में बेचने को बाध्य हो सकते हैं और कारखाने का मालिक कच्चा माल एक बाजार में खरीदेगा। इसी प्रकार श्रम का बाजार भी अपूर्ण हो सकता है, क्योंकि किसी एक स्थान में किसी एक प्रकार के श्रम के खरीदार बहुत थोड़े होते हैं। जब कोई उत्पादक या उद्योगपति श्रम की दर घटा देता है, तब उनमें बहुत से श्रमिक उसका काम न छोड़ेंगे, इसलिये कि उन्हें पता नहीं है कि अन्य स्थानों में अधिक मजदूरी मिल सकती है अथवा अन्य स्थानों में जाने में खर्च अधिक हो सकता है। दूर से मजदूर बुलाने के लिये उद्योगपति को भी श्रम की दर अधिक करनी पड़ेगी। इसलिये अधिक श्रमिक लगाने के लिये उद्योगपति को श्रम की दर बढ़ानी पड़ेगी और कम मजदूर लगाने के लिये श्रम की दर कम करनी पड़ेगी। जब अधिक मजदूर लगाने के लिये वह श्रम की दर बढ़ाता है तब उसे सब मजदूरों को अधिक दर से मजदूरी देनी पड़ेगी। इसलिये जब कोई उत्पादक एक नया मजदूर रखता है, तब उसकी लागत में न केवल उस मजदूर की मजदूरी बढ़ती है बल्कि सब मजदूरों की मजदूरी में जो बढ़ती होती है, वह भी जुड़ती है। इस प्रकार एक मजदूर अधिक लगाने में जो अधिक खर्च होता है (श्रम का सीमान्त मूल्य) वह उस मजदूर को दी जानेवाली मजदूरी (मजदूरी की सीमान्त लागत) से अधिक है। जब यह अधिक लागत खर्च, अधिक उत्पादन से प्राप्त आय के बराबर हो जायगा तब वह अधिक मजदूर लगाना बन्द कर देगा। इस प्रकार जब वह अधिक मजदूर लेना बन्द कर देगा तब भी मजदूरी की दर मजदूरी के असल सीमान्त उत्पादन से कम रहेगी। दूसरे शब्दों में जब श्रम के बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता होगी, तब मजदूरी की दर मजदूरी की वास्तविक सीमान्त उत्पादन से कम रहेगी। यदि उत्पादित वस्तु की बिक्री भी अपूर्ण प्रतियोगिता में होती है, तब सीमान्त आय वस्तु की कीमत से कम होगी और मजदूरी की दर उसके असल सीमान्त उत्पादन से और कम होगी।

पूर्ण और अपूर्ण प्रतियोगिता पर टिप्पणी
(Supplementary Notes on Perfect and Imperfect Competition)

हम देख चुके हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता में यह मान लिया जाता है कि बाजार में विक्रेता बड़ी संख्या में होंगे। लेकिन अपूर्ण प्रतियोगिता में भी बाजार में विक्रेताओं की संख्या बड़ी हो सकती है। इस सम्बन्ध में मिठाई की दुकानों के उदाहरण से हम परिचित हैं। यद्यपि बाजार में मिठाई की दुकानों की संख्या काफी होती है, परन्तु ग्राहकों के आलस्य अथवा दूर जाने में यातायात के खर्च के कारण अथवा मिठाइयों की किस्म में भेद होने के कारण उन दुकानों में प्रतियोगिता अपूर्ण होती है।

सामान्यत वास्तविक जीवन में साधारण बाजारो में प्रतियोगिता प्राय अपूर्ण हुआ करती है। प्रत्येक विक्रेता देखता है कि उसकी वस्तु की माग रेखा अपेक्षाकृत बेलोच हुआ करती है। यदि उसे अपनी बिक्री बढानी है, तो उसे अधिक ग्राहक खीचना पडेगा, क्योकि चालू भाव पर उसके मौजूदा ग्राहक जितना अधिक से अधिक खरीद सकते थे वह खरीद लेते है। यदि मौजूदा ग्राहको को वह अधिक बेचना चाहता है तो उसे अपने भाव कम करने पडेगे। यदि उसे नये ग्राहक खीचना है तो भी उसे भाव कम करना पडेगा, जिससे वे लोग जिस छाप की वस्तु पसन्द करते है, उसे छोड दें अथवा जिस दूकान से लगे है, उसे छोड दें अथवा उसकी दूकान तक आने में उनका जो खर्च होता है वह पूरा हो जाय। कुछ भी हो, वह अपनी बिक्री पुराने भाव पर नही बढा सकता। उसे भाव कम करना ही पडेगा। चूंकि उसे अपने माल की अधिक मात्राए बेचने के लिये भाव कम करना पडता है, इसलिये उसकी सीमान्त आय बिक्री के भाव से कम रहेगी। वह उस कीमत पर बेचेगा जिस पर सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर होती है।

पूर्ण प्रतियोगिता में प्रत्येक विक्रेता के माल की माग-रेखा पूरी तरह से लोचदार होती है। चूंकि वह किसी वस्तु के कुल उत्पादन का एक बहुत छोटा अंश बेचता है, इसलिये उसके व्यवसाय का प्रभाव कीमत पर बिलकुल नही पडेगा। न वह बाजार भाव बढा सकता है न घटा सकता है। यदि वह कुछ अधिक उत्पादन करता है, तो वह उस अतिरिक्त माल को पहिले के भाव पर ही बेच सकता है। इसलिये सीमान्त आय कीमत के बराबर होती है। वह उसी हद तक उत्पादन भी करेगा, जिस हद तक सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर होती है अथवा कीमत के बराबर होती है (क्योकि यहा सीमान्त आय और कीमत बराबर होती है।) इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता और अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकार में अन्तर साफ जाहिर हो जाता है। सब प्रकार की परिस्थितियों में प्रत्येक विक्रेता उसी हद तक बेचेगा, जिस हद तक सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर होती है। प्रतियोगिता पूर्णता के जितने निकट होगी सीमान्त आय भी कीमत के उतने ही निकट होगी। जब प्रतियोगिता पूर्ण हो जाती है, तब सीमान्त आय भी कीमत के बराबर हो जाती है। इसलिये यह भेद करना कि सीमान्त लागत कीमत के बराबर है अथवा सीमान्त आय के बराबर निरर्थक है। इसके विरुद्ध किसी बाजार में जितनी अधिक अपूर्णता होगी, अथवा किसी विक्रेता की एकाधिकारी शक्ति जितनी अधिक होगी, सीमान्त आय और कीमत में अथवा कीमत और सीमान्त लागत में उतना ही अन्तर अधिक होगा।

बाईसवां अध्याय

सट्टा या फाटका
(Speculation)

सट्टा क्या है ? (What is Speculation ?)—सट्टा[1] में वे सब घटनाएं शामिल हैं, जिन्हें मनुष्य भविष्य में होनेवाली घटनाओं के आधार पर सोच-विचार कर करते हैं। इसका अर्थ यह है कि किसी वस्तु की बिक्री या खरीद इस विचार से की जाती है कि भविष्य में जब कभी उसकी कीमत में परिवर्तन होगा तो उससे लाभ उठाया जायगा। जब कोई सट्टा करनेवाला यह सोचता है कि भविष्य में वस्तुओं की कीमत बढ़ेगी, तो वह खरीद करता है, जिससे भाव बढ़ने पर वह उससे लाभ उठा कर बेच सके। इसी प्रकार जब वह सोचता है कि भाव गिरेगा, तब वह फौरन इस विचार से बेच देगा कि भविष्य में कम दाम पर खरीद करेगा। इस प्रकार वह कीमतों के भविष्य में होनेवाले परिवर्तनों को जानने की और उनसे लाभ उठाने की कोशिश करता है। ध्यान रहे कि वह न तो उत्पादन करता है और न माल अपने पास रखता है। वह माल का व्यवसायी नहीं है। वह खतरों का व्यवसायी है।

सट्टा व्यवसाय के खतरे का भार उन्हीं लोगों पर डालता है, जो उसे सह सकते हैं

आधुनिक उत्पादन का संगठन इस प्रकार होता है कि उसमें खतरे लगे ही रहते हैं। मनुष्य समाज के प्रारंभिक काल में खतरे प्रायः नहीं के बराबर थे। प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकतानुसार उत्पादन करता था और अपने उत्पादन का वह स्वयं उपभोग करता था। लेकिन समाज की उन्नति के साथ-साथ उत्पादन अधिक पेचीला हो गया है और भविष्य की मांग के आधार पर होता है। व्यवसाय सम्बन्धी खतरे या जोखिम भी बहुत बढ़ गये हैं। जिस वस्तु का उत्पादन हो रहा है, उसके बाजार में आने के पहिले ही उसकी मांग गिर सकती है। अथवा उसकी पूर्ति में ऐसा परिवर्तन हो जाय कि व्यवसायों का अंदाज ही गलत निकल जाय। इसलिये उत्पादन कार्य में कदम-कदम पर खतरों का सामना करना पड़ता है और उन्हें झेलना पड़ता है। सट्टा इन खतरों का बोझ उन लोगों पर डालता है, जो उन्हें सहने के लिये सबसे अधिक समर्थ हैं। इस प्रकार सट्टा समाज की बहुत उपयोगी सेवाएं करता है।

---

[1] आचार्य रघुवीर ने speculation के लिये 'परिकल्पना' लिया है।

सट्टा और जुआ में अन्तर है। जुआ खेलनेवाले अनावश्यक खतरे अपने सिर पर लेकर लाभ प्राप्त करना चाहते हैं। वह या वे स्वय जान-बूझकर खतरे पैदा करते है और उन्हें सहते है। उदाहरण के लिये मान लो आस्ट्रेलिया और इग्लैण्ड की क्रिकेट टीमो में टेस्ट मैच हो रहा है, कोई नही कह सकता कि कौन टीम जीतेगी। फल अनिश्चित है, पर इस अनिश्चितता को अपने सिर पर लेना किसी के लिये आवश्यक है। उत्पादन कार्यों के लिये इस प्रकार के खतरे अपने सिर लेना बिल्कुल अनावश्यक है। परन्तु जुआडी लोग टेस्ट मैचो के फल पर अक्सर जुआ खेला करते है। वे प्राय इसी बात पर शर्त लगा देते हैं कि अमुक दिन दो इच पानी बरसा था अथवा तीन इच। इसमें स्वय कुछ खतरा नही है। खतरा तो जुआडी पैदा करता है, जिससे वह रुपया कमाता है अथवा गँवाता है। इसके विरुद्ध एक सट्टेबाज आवश्यक और स्वाभाविक खतरा उठाता है। उदाहरण के लिये छ महीने बाद जूट का भाव कम भी हो सकता है और बढ भी सकता है। अर्थात् एक खतरा है और यदि उत्पादन को ठीक ढग पर चलाना है तो किसी न किसी को यह खतरा उठाना ही पड़ेगा। अन्त में, ध्यान रहे कि जुआडी उत्पादन कार्य में किसी प्रकार की सहायता नही पहुचाता, परन्तु सट्टा महत्त्वपूर्ण और आवश्यक आर्थिक कार्य करता है।

सट्टा और जुआ

सट्टा बाजार की उन्नति के लिये उपयुक्त वातावरण (Conditions Favourable to the Growth of a Speculative Market)—सट्टा या फाटका करनेवाले या तो वस्तुओ का सट्टा करते हैं या ऋण-पत्रो अथवा शेयरो का। कोई वस्तु जिसका भविष्य अनिश्चित है, सट्टे की वस्तु बन सकती है। परन्तु कुछ ऐसी परिस्थितिया होती है, जिनमें सट्टा बाजार की उन्नति विशेषरूप से होती है। पहिली परिस्थिति अथवा शर्त यह है कि वस्तु से लोग सुपरिचित हो और उसकी माग काफी बडी और नियमित हो। दूसरी शर्त यह है कि गुणो के भेद के अनुसार उसका वर्गीकरण हो सके। तीसरी शर्त है कि उसकी माप-तौल और पहिचान आसानी से हो सके। बहुत-सी वस्तुए इन शर्तों को पूरी करती है। कम्पनियो के शेयर और ऋण-पत्र इन शर्तों को विशेषरूप से पूरा करते है। यही कारण है कि स्टॉक एक्सचेंज अथवा शेयर बाजार लगभग ससार भर में पाये जाते है। कुछ अन्य कारण भी है जिनसे कुछ वस्तुओ में सट्टा होने लगता है। चौथी शर्त यह है कि जब किसी वस्तु की पूर्ति बहुत अनिश्चित होती है और मनुष्य के वश के बाहर होती है, उसकी मात्रा बाजार में नियमित रूप से नही आती बल्कि अनियमित रूप से किसी विशेष मौसिम में आती है, तब उसके भाव में काफी परिवर्तन होने की सभावना रहती है। अन्तिम, कुछ वस्तुओ की माग नियमित और लगातार हो सकती है। उद्योग में आवश्यक कच्चे माल, जैसे कपास और ऊन और खाने की महत्त्वपूर्ण वस्तुए, जैसे गेहू इसके उदाहरण है। इनकी पूर्ति पर मनुष्य का वश नही होता। मनुष्य चाहे जितनी जमीन बो दे, परन्तु फसल वर्षा इत्यादि मौसिम की परिस्थितियो पर ही निर्भर रहेगी। इतना

ही नहीं, ऐसी वस्तुओं की कुल मात्रा फसल के बाद बाजार में आ जाती है, परन्तु उनकी माँग साल भर लगभग एक-सी बनी रहती है। इसलिये उनके भाव में काफी परिवर्तन होने की सम्भावना रहती है। यदि गेहूँ की फसल कम आवे तो भाव काफी चढ़ सकता है और यदि फसल बहुत अच्छी आ जाय तो भाव बहुत अधिक गिर भी सकता है। भाव परिवर्तन के खतरे या जोखिम को कम करने के लिये सट्टे की मंडियाँ स्थापित की गई हैं।

सट्टा बाजार का संगठन (Organisation of Speculative Market)— सट्टा बाजार या स्टॉक एक्सचेंज (stock-exchanges) वह स्थान होता है, जहाँ हिस्से (shares) और ऋण-पत्र (securities) बेचे और खरीदे जाते हैं। हिस्से एक पूर्ण बाजार की सब शर्तें पूरी करते हैं। उन्हें आसानी से पहिचाना जा सकता है और एक शेयर दूसरे के ठीक एक समान होता है। शेयर बाजार में दो प्रकार के व्यवसायी रहते हैं—एक आढ़तिया (jobbers) और दूसरे दलाल (brokers)। वास्तव में आढ़तिया ही शेयरों का सट्टा करते हैं और कोई भी दलाल कभी भी किसी शेयर का खरीद या बिक्री का भाव देने को तैयार रहता है कि अमुक शेयर वह इस भाव पर खरीदेगा और इस भाव पर बेचेगा। दलाल जनता के उन लोगों से अपना सम्बन्ध रखते हैं, जो शेयर खरीदना या बेचना चाहते हैं। वे आढ़तियों से खरीद और बिक्री के भाव को लेकर अपने ग्राहकों को बतलाते हैं। दलाल अपनी दलाली या कमीशन पैदा करनेवाले बीच के व्यवसायी हैं। आढ़तिया वास्तविक सट्टेबाज होते हैं। शेयर बाजार में काम जिस तरह होता है, उसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है।

सट्टा बाजार का संगठन

यदि कोई सटोरिया यह सोचता है कि किसी वस्तु का भाव अभी ऊँचा है और शीघ्र ही उसके गिरने की सम्भावना है, तो वह हल्का बिक्री सौदा ('sell short') करेगा। अर्थात् भविष्य में वह माल देने की जिम्मेदारी लेगा, जो अभी उसके पास नहीं है। अब इस सौदे से वह दो तरह से लाभ उठा सकता है। जिस भाव पर उसने सौदा किया है या तो उससे कम भाव पर माल खरीदेगा जो उसे भविष्य में देना है। अथवा वह उसी समय 'कवरिंग' कॉन्ट्रेक्ट' (covering contract) अथवा हैज कॉन्ट्रेक्ट (hedge contract) करेगा। अर्थात् वह किसी दूसरे व्यवसायी से कुछ कम भाव पर माल खरीदने का सौदा करेगा। जिस भाव पर उसे भविष्य में माल देना है, उससे यह खरीद का भाव कुछ कम रहेगा। इसके विरुद्ध यदि सटोरिया सोचता है कि अभी भाव गिरा है और भविष्य में कीमत बढ़ने की सम्भावना है तो वह 'बढ़ी खरीद का सौदा' (buy long) करेगा। अर्थात् जितने माल की अभी आवश्यकता है, उससे अधिक खरीदेगा और जब माल देने का समय आयेगा, तब वह लाभ उठाकर बेचेगा। यदि कुछ ऊँचे भाव पर बेचकर वह उसी समय माल दे सकता है, तो भी उसे लाभ होगा,

संगठन की इन अनिश्चित परिस्थितियों को अपने ऊपर लेकर सटोरिया उत्पादन बढ़ाने में सहायता करता है।

सट्टे का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ता है कि माग और पूर्ति में एक साम्य स्थापित होने की प्रवृत्ति बढ़ती है। जब सटोरिये सोचते हैं कि भविष्य में किसी वस्तु की कमी होनेवाली है, इससे कीमत बढ़ेगी तो वे तुरन्त उसे खरीदते हैं। उनकी खरीद से भाव बढ़ता है। कीमत बढ़ने से बिक्री कम होती है और उपभोग घटता है। वर्तमान उपभोग कम हो जाता है और कुछ माल बाजार में जाने से रुक जाता है।

सटोरिये माग और पूर्ति में साम्य स्थापित करते हैं।

चूंकि यह माल भविष्य में पूर्ति की मात्रा में जुड़ जायगा इसलिये भविष्य में कीमतें उतनी अधिक नहीं बढ़ेंगी जितनी अन्यथा बढ़ती। इसी प्रकार जब कोई सटोरिया भाव गिरने की संभावना देखता है, तो वह तुरन्त बेचेगा। वर्त्तमान भाव गिरता है और उपभोग कुछ बढ़ जाता है। इसका फल यह होगा कि बाद में कीमतें बहुत अधिक नहीं गिरेंगी। इस प्रकार सट्टा भाव में एकाएक परिवर्तनों को रोकता है और भाव के चढ़ाव-उतार को काफी समतल बनाता है। सामयिक अस्थायी घटनाओं का कीमतों पर अनुचित प्रभाव नहीं पड़ने पाता और मूल्य दीर्घकालीन मौलिक कारणों के आधार पर निश्चित होता है। इस प्रकार सट्टे की सहायता से माग और पूर्ति में एक उचित सतुलन या सम्बन्ध स्थापित होता है। बाजार का दैनिक भाव मौसिमी भावों के अनुसार चलता है और मौसिमी भाव इस प्रकार बंध जाता है कि उसमें मौसिम की पूर्ति की कुल मात्रा खप जाती है।

चूंकि सट्टा भाव परिवर्तन में कमी करता है, इसलिये वह विनिमय और उपभोग में सहायता करता है। उपभोक्ताओं को माल स्थिर मूल्य पर मिलता जाता है। इसलिये उपभोग भी स्थिर रहता है। उसमें एकाएकी परिवर्तन नहीं होते।

जैसा कह चुके हैं, सट्टा उद्योगपतियों को भाव-परिवर्तन सम्बन्धी चिन्ताओं से मुक्त रखता है, क्योंकि उनके खतरे वह सटोरियों के ऊपर डाल देता है। एक अन्य तरीका भी है, जिसके द्वारा सट्टा उत्पादन में सहायता करता है। सटोरिया देखता है कि भविष्य में किसी वस्तु की माग होगी और वह उसे एकदम खरीदना आरम्भ कर देता है। इससे उस वस्तु की माग बढ़ जाती है और उत्पादक उसका उत्पादन बढ़ा देते हैं। सटोरिया सस्ता खरीदकर और महगा बेचकर उत्पादन के साधनों के उचित वितरण में सहायता करते हैं।

इसी प्रकार व्यवसाय और शेयरों या ऋणपत्रों में पूंजी लगाने में भी सट्टा सहायता करता है। शेयर बाजार में जो सट्टा होता है, उससे व्यवसाय में पूंजी मिलती है। सटोरिये विभिन्न उद्योगों और कम्पनियों के बारे में काफी छानबीन करते हैं, जो थोड़ी पूंजीवाले नहीं कर सकते। जब किसी शेयर का दाम स्टॉक एक्सचेंज

पर स्थिर रहता है, तो उसका अर्थ यह होता है कि उस कम्पनी की स्थिति मजबूत है। सट्टा करनेवाले आढतिया और दलाल बहुत पहिले जान लेते हैं कि अमुक उद्योग के लिये अच्छे दिन आनेवाले हैं और उस उद्योग-सम्बन्धी कम्पनियो के शेयरो के पहिले से अच्छे दाम देने लगते हैं। इसलिये साधारण परिस्थितियो में शेयर बाजार के भाव रुपया लगानेवालो के लिये उपयुक्त मार्ग प्रदर्शक होते हैं।

स्टॉक एक्सचेंज रुपया लगाने में सहायक होते हैं

अनाज और माल के सट्टे बाजार (produce exchange) भी उन वस्तुओ के पैदा करनेवालो को कई प्रकार से सहायक होते हैं। मान लो, भारत में गेहू बाजार में, जो भाव है, उस भाव पर ब्रिटेन के एक आटा मिल-मालिक ने कुछ सौदा किया। जितना माल उसने भारत में खरीदा उतना ही उसने अपने देश के बाजार में बेच दिया। माल देने का वादा वह उस समय के लिये करता है, जब उसके माल की भारत से आने की आशा है। यदि इसी बीच में गेहू का भाव गिर जाता है, तो महगी खरीद के गेहू का आटा उसे कम भाव पर बेचना पड़ेगा और उसे नुकसान सहना पड़ेगा। परन्तु जब मुद्दती सौदे का गेहू देने का समय आता है, तो वह सस्ता गेहू खरीद कर उस व्यापारी को दे देगा, जिससे उसने ऊचे भाव पर सौदा किया था। इस प्रकार उसका पहिला नुकसान इस मुद्दती सौदा से पूरा हो जाता है।

अनाज के सट्टा बाजार और उनके लाभ

पूर्ण सट्टा (perfect speculation) स्वय अपने को खतम कर देता है। यदि सटोरिये अपने काम में पूर्णरूप से कुशल है, तो वे भाव में होनेवाले भविष्य के परिवर्तनो का बिलकुल सही अदाज लगावेंगे। फल यह होगा कि भविष्य में परिवर्तन होना बन्द हो जायगा। अन्त में कीमतो में कोई परिवर्तन न होगा। जब कीमतो में परिवर्तन न होगे, तो सट्टे की भी आवश्यकता न रहेगी।

गैर कानूनी या बेईमानी का सट्टा (Illegitimate of Speculation)—सट्टे के जो फायदे बतलाये गये हैं, उनके लिये दो बातें आवश्यक है, एक तो उस सम्बन्ध में अच्छी तरह जानकारी और दूसरी ईमानदारी। जब किसी वस्तु का प्रामाणिक रूप या स्टेन्डर्ड बध जाता है, तो उसमें कोई भी मनुष्य व्यवसाय कर सकता है। सट्टे में भी यही होता है। बाहरी लोग जिन्हें सट्टा बाजार का पूरा-पूरा ज्ञान नही रहता, सटोरियों के मुनाफे देखकर ललचा जाते हैं और सट्टा बाजार में लाभ उठाने की कोशिश करते हैं। अन्त में ये बाहरी लोग प्राय. सबके सब हानि ही उठाते हैं, क्योकि उनमें न तो सटोरियों का विशेष ज्ञान रहता है और न उनकी तरह भविष्य का सही अन्दाज। सटोरियो का एक बेईमान वर्ग भी रहता है। ये बेईमान सटोरिये माग और पूर्ति की परिस्थितियो के बारे में एक झूठा वातावरण और झूठा मत फैलाने का प्रयत्न करते हैं। जैसे सटोरियो

का एक गुट मिलकर बाजार में यह विश्वास जमा देता है कि वे भाव गिराने का प्रयत्न कर रहे हैं और इसी ध्येय से बहुत बड़ी मात्रा में माल बेच रहे हैं। परन्तु साथ ही चुपचाप अन्य तरीका से वे बिक्री से कहीं ज्यादा खरीद भी करते जा रहे हैं। अन्त में माल की पूरी या बहुत बड़ी मात्रा उनके हाथ में आ जायगी और वे उसके लिये एकाधिकारी की तरह कीमत ले सकते हैं। ये बाजार को मुट्ठी में करने (corner) के उदाहरण हैं। इस तरह के कार्यों से बाजार में मूल्य में एकदम से बड़े-बड़े परिवर्तन होने लगते हैं, जो पहिले नहीं होते थे।

सट्टा का नियन्त्रण (Regulation of Speculation)—सट्टे की जिन बुराइयों का ऊपर वर्णन कर चुके हैं, उनके कारण यह विवाद उठ खड़ा हुआ है कि सट्टा का नियन्त्रण होना चाहिए अथवा नहीं। प्रत्येक देश की सरकार नियन्त्रण की आवश्यकता स्वीकार करती है। परन्तु नियन्त्रण करने के लिये जो आवश्यक बातें बतलाई गई हैं, वे पर्याप्त नहीं हैं। एक तो जुआ के रूप में जो सट्टा होता है, वह कानून द्वारा रोका जा सकता है। परन्तु प्रत्येक कानून में कुछ-न-कुछ कमी या त्रुटि तो रहती ही है, फिर वकीलों की विशाल बुद्धि की सहायता से सहायता प्राप्त कर सकते हैं। कई देशों में कानून बनाये गये हैं,जो ऐसे सौदों को अमान्य समझते हैं,जो केवल दिखाने के लिये बिक्री के सौदे होते हैं। अधिकतर मुद्दती सौदे के रूप में जुआ होता है। यदि मुद्दती सौदा बन्द कर दिया जाय तो शायद जुआ रोका जा सके। परन्तु मुद्दती सौदे के लाभ भी महत्वपूर्ण होते हैं और हम उन्हें एकाएक ठुकरा नहीं सकते। इसलिये टॉजिग कहता है कि सबसे अच्छा उपाय यही होगा कि पूरे उद्योग का नैतिक स्तर उठाया जाय और सब प्रकार के जुआ के विरुद्ध जनमत तैयार किया जाय।

स्टॉक एक्सचेंजों में सट्टे सम्बन्धी जो बुराइयां आ जाती हैं, उन्हें दूर करने का तरीका यह है कि वे जो व्यवसाय सम्बन्धी नियम बनाते हैं, उनका सख्ती के साथ पालन किया जाय और आवश्यकता पड़ने पर और कड़े नियम बनाये जाय। यदि उत्पादन निर्यमित समय और निर्यमित ढंग पर करके उद्योग-धन्धों में होनेवाले परिवर्तनों को कम कर दें तो सट्टा कम हो जायगा। साथ ही जनमत बाहरी लोगों को, जो उसका विशेष ज्ञान नहीं रखते, सट्टा करना बन्द कर सकता है। परन्तु ये परोक्ष उपाय हैं और कार्यान्वित होने में काफी समय लगेंगे।

लर्नर[1] का कहना है कि बेईमानी का जो सट्टा होता है, उसे मिटाने के लिये एक मुकाबिला या सामना करनेवाला सट्टा (counter speculation) होना चाहिये। सरकार को एक एजेंसी स्थापित करनी चाहिये, जो उचित मूल्यों की एक सूची बनावे और सब प्रकार से प्रयत्न करे कि वास्तविक मूल्य उसी सूची मूल्य के बराबर रहें।

---

१ The Economics of Control, pp 96-7

तेईसवां अध्याय

मूल्य सम्बन्धी पुराने सिद्धान्त

(Older Theories of Value)

मूल्य का श्रम सम्बन्धी सिद्धान्त (Labour Theory of Value)—मूल्य सम्बन्धी जितने सिद्धान्त हैं, उन सबमें श्रम-सम्बन्धी सिद्धान्त सबसे पुराना है। इस सिद्धान्त के प्रधान प्रतिपादक आडम स्मिथ, रिकार्डो और कार्ल मार्क्स थे। पहिले हम आडम स्मिथ और रिकार्डो के विचारों का अध्ययन करेंगे, फिर कार्ल मार्क्स के।

संक्षेप में इस सिद्धान्त का आशय यह है कि किसी वस्तु का मूल्य दीर्घकाल में उसमें लगे हुए श्रम की मात्रा के अनुसार निर्धारित होता है। स्मिथ और रिकार्डो दोनों का कहना था कि किसी भी वस्तु में उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य (value-in-use) होना चाहिये—अर्थात् उसमें उपयोगिता होनी चाहिये। परन्तु उपयोगिता मूल्य का कारण नहीं होती। वस्तुओं के मूल्य में जो अन्तर होता है, वह उनकी उपयोगिता में अन्तर के कारण नहीं होता, बल्कि उनमें जो श्रम की विभिन्न मात्राएं लगी हुई हैं, उनके कारण होता है। उसने इस सम्बन्ध में एक बड़ा अच्छा उदाहरण दिया, जो विरोधात्मक होते हुए भी सही है। उसने कहा कि कई वस्तुओं का उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य बहुत अधिक होता है (जैसे पानी का) परन्तु उनका विनिमय मूल्य बहुत कम होता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि आडम स्मिथ मूल्य के श्रम-सिद्धान्त का पक्का समर्थक नहीं था। उसका मत था कि यह सिद्धान्त इतिहास के आदिकाल में उपयोगी था और लागू होता था। फिर भी उसका मत था कि कुशल और दक्ष श्रम (highly esteemed labour) को अधिक मूल्य प्राप्त होगा। परन्तु आधुनिक काल में भूमि और अन्य साधनों के अलग कर देने पर यह सिद्धान्त लागू नहीं होता। इस सिद्धान्त के बदले में उसने उत्पादन के लागत मूल्य के सिद्धान्त को अधिक उपयोगी समझा। इसके विरुद्ध रिकार्डो का विश्वास था कि आधुनिक काल में भी किसी वस्तु का मूल्य उसमें लगे हुए श्रम की मात्रा के आधार पर निश्चित होता है।

कई कारणों से यह सिद्धान्त सतोषजनक नहीं है। पहिले तो यह प्रश्न उठता है कि श्रम के यथार्थ माने क्या हैं? श्रम कई प्रकार का और कई वर्ग का होता है। जैसे शारीरिक, मानसिक, दक्ष और अदक्ष। हम दक्ष और अदक्ष श्रम की तुलना किस प्रकार करेंगे। यदि विभिन्न प्रकार के श्रम को हम एक मापदण्ड से नहीं माप सकते, तो हम उनकी आनुपातिक तुलना किस प्रकार करेंगे और उनका आनुपातिक मूल्य किस प्रकार निर्धारित

करेंगे। इसके सिवा श्रम की मात्रा कार्य की कुशलता या दक्षता और गहनता के अनुसार बदलती रहती है। इसलिये उनके लिये हम एक मापदण्ड कैसे पा सकते हैं? दूसरे, मान लो जूते का एक जोड़ा और कपड़े का एक टुकड़ा एक ही कीमत पर बेचा जाता है। क्या हम कह सकते हैं कि उनमें श्रम की मात्रा एक बराबर लगी? कभी नहीं। तीसरे, जो श्रम व्यर्थ जाता है, उसके सम्बन्ध में हम क्या कहेंगे? जो वस्तुएं बिकती नहीं हैं, उनके उत्पादन में लगे हुए श्रम का क्या होगा? मान लो एक दर्जी एक सूट बनाता है। जब वह तैयार हो जाता है, तो पता चलता है कि जिसके लिये वह सूट बना है, उसको वह फिट ही नहीं होता। तब तो उस सूट का मूल्य शून्य होता है, यद्यपि उसके बनाने में श्रम लगा है। चौथे, इस सिद्धान्त के अनुसार श्रम की कुछ मात्रा लगने के बाद जब वस्तु तैयार हो जाती है तब उसका मूल्य निश्चित हो जाता है। वह बदल नहीं सकता, क्योंकि उसमें लगे हुए श्रम की मात्रा निश्चित है। परन्तु वास्तव में हम देखते हैं कि मूल्य में हमेशा परिवर्तन होते रहते हैं। इसलिये श्रम मूल्य निर्धारण नहीं कर सकता। अन्त में यह सिद्धान्त यह नहीं बतलाता कि जिन वस्तुओं का उत्पादन दुबारा नहीं हो सकता, उनका मूल्य किस प्रकार निश्चित होगा। जैसे, कोई कलाकार बड़ी सुन्दर मूर्ति बनाता है, कोई चित्रकार सुन्दर चित्र बनाता है, इन वस्तुओं का पुनः निर्माण नहीं हो सकता। इनका मूल्य हम कैसे निश्चित करेंगे। सच यह है कि जो वस्तुएं पूर्ति और पूर्ति के कारण किसी वस्तु के मूल्य पर प्रभाव डालती हैं, उनमें से श्रम केवल एक है। अन्य बातों के समान रहते हुए भी जिस वस्तु के उत्पादन में श्रम की मात्रा अधिक लगी है, उसका मूल्य उस वस्तु से कम हो सकता है, जिसके उत्पादन में कम श्रम लगा है। यही बात वास्तव में सच है। लेकिन वास्तविक जीवन में अन्य बातें कभी समान नहीं रहतीं। इसलिये इस सिद्धान्त को बिल्कुल त्याग देना ही अच्छा है।

मार्क्स का मूल्य सम्बन्धी सिद्धान्त (Marxian Theory of Value)— आधुनिक समाजवादी सिद्धान्त का कार्ल मार्क्स जनक था और उसने मूल्य के श्रम-सिद्धान्त का पूंजीवादी प्रणाली पर आक्रमण करने का उपयोग किया। उसने इंग्लैण्ड के विशाल पुस्तकालय 'ब्रिटिश म्यूजियम' में बैठकर बहुत दिनों तक अध्ययन किया, इसलिये ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों का विशेषकर रिकार्डो का उस पर काफी प्रभाव पड़ा।

मार्क्स का कहना है कि किसी वस्तु के उत्पादन काल में जो श्रम की मात्रा खर्च होती है, उसके अनुसार उस वस्तु का मूल्य निर्धारण होता है (the value of a commodity is determined by the quantity of labour expended during its production)। उसने इस बात को अस्वीकार नहीं किया कि उस वस्तु में उपयोगिता भी होनी चाहिये। इस बात का सामना उसने आडम स्मिथ के विरोधात्मक उदाहरण से किया कि कुछ वस्तुओं की उपयोगिता बहुत अधिक होती है, पर उनका मूल्य बहुत कम होता है। मार्क्स का मत था कि

मूल्य न केवल श्रम द्वारा निर्धारित होता है, बल्कि पूर्णतया श्रम पर निर्भर होता है।

'समाज के लिये आवश्यक श्रम' द्वारा मूल्य निश्चित होता है।

परन्तु मूल्य का कुछ भाग पूँजीपति हमेशा ब्याज, किराया, मुनाफा इत्यादि के रूप में ले लेता है। इसीलिये मार्क्स ने पूंजीवादी प्रथा की तीव्र निन्दा की है। जिस उद्देश्य के लिये उसने इस सिद्धान्त का उपयोग किया, उस पर हमें विश्वास नही होता, परन्तु इस बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि व्यवसाय के सगठनकर्त्ता और वैज्ञानिक आविष्कर्त्ता मूल्य में जो महत्वपूर्ण योग देते हैं, मार्क्स ने उसको बिलकुल स्वीकार नही किया है।

मार्क्स के सिद्धान्त में वही सब दोष हैं, जो मूल्य सम्बन्धी श्रम सिद्धान्त में हैं। क्या विभिन्न प्रकार के श्रमो में कोई ऐसी समानता है, जिसे हम मूल्य निर्धारण का मापदण्ड मान सकें। पहिले तो मार्क्स 'श्रम सम्बन्धी समय' (labour time) और 'साधारण अदक्ष श्रम' (unskilled simple labour) का अध्ययन करता है। फिर अन्त में 'साधारण भाववाचक' 'मानुषिक श्रम' (simple abstract human labour) अथवा 'समाज के लिये आवश्यक श्रम' (socially necessary labour) को अपना मापदण्ड मान लेता है। परन्तु इससे हम किसी तात्पर्य पर नही पहुंच पाते। सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम क्या है ? इसे जानने के लिये हमें बाजार जाना चाहिये और देखना चाहिये कि उसके बदले में अन्य कितनी वस्तुएं प्राप्त हो सकती हैं। परन्तु ऐसा करने से हमें उपयोगिता का प्रभाव स्वीकार करना पड़ेगा। यदि एक जुलाहे को एक कोयला खान के मजदूर से दुगुनी मजदूरी मिलती है, तो क्या हम यह कह सकते है कि सामाजिक आवश्यकता की दृष्टि से कोयला खान के मजदूर की और जुलाहे की मजदूरी में १ और २ का अनुपात है ? इस प्रकार 'सामाजिक दृष्टि से आवश्यक' शब्दो का कुछ अर्थ नही लगता। परन्तु श्रम के गलत उपयोग के प्रश्न का समाधान मार्क्स ने बड़े साहसपूर्वक किया है। उसने साफ कह दिया कि इस प्रकार के श्रम का कोई मूल्य न होगा। ऐसा कहना बिलकुल उचित है। परन्तु मजदूरी बांटते समय यदि किसी मजदूर से कहा जाय कि उसके श्रम का गलत उपयोग हुआ है, इसलिये उसे कोई मजदूरी नही मिलेगी, तो क्या वह मान जायगा ? इन कारणो से समाजवादियो ने भी इस सिद्धान्त को त्याग दिया है।

उत्पादन के लागत मूल्य का सिद्धान्त (Cost of Production Theory)–इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु के उत्पादन के लागत मूल्य के आधार पर उसका मूल्य निश्चित होता है। इस सिद्धान्त और श्रम सिद्धान्त में यह अन्तर है कि यह सिद्धान्त किसी वस्तु के उत्पादन की लागत में श्रम के सिवा अन्य बातों को भी स्वीकार करता है, जैसे ब्याज और साधारण मुनाफा। कुछ समय बाद मूल्य का श्रम-सिद्धान्त अपूर्ण समझा जाने लगा। श्रम-सिद्धान्त को पूर्ण बनाने या सन्तोषजनक बनाने के प्रयत्न में सीनियर

नामक विद्वान ने श्रम की लागत में उत्पादन के एक अन्य साधन की भी लागत जोड़ दी। इस साधन को उसने निरोध (abstinence) के नाम से सम्बोधित किया। बाद में मिल ने जोखिम या खतरे (risk) को भी लागत का एक अंग मान लिया और मिल द्वारा लागत मूल्य के सिद्धान्त का पूर्ण विकास हुआ।

मिल के मतानुसार दीर्घकाल में मूल्य उत्पादन की लागत द्वारा निश्चित होता है और उत्पादन की लागत में मजदूरों की मजदूरी, पूंजी पर ब्याज और उत्पादक का साधारण मुनाफा शामिल रहता है। बाजार भाव इस लागत मूल्य के आसपास या ऊपर-नीचे घूमा करता है। यदि किसी समय बाजार भाव एक इकाई के उत्पादन के मूल्य से बढ़ गया तो उससे उत्पादन बढ़ने की प्रवृत्ति होगी, जिससे माल की मात्रा बढ़ेगी और अन्त में कीमत गिरेगी। फल यह होगा कि भाव फिर से उत्पादन के लागत मूल्य के बराबर हो जायगा। इसके विरुद्ध यदि बाजार भाव लागत मूल्य से कम हुआ तो उत्पादन घटेगा और कीमत फिर बढ़ जायगी। इस प्रकार दीर्घकाल में प्रतियोगिता वस्तु की कीमत को उसके उत्पादन के मूल्य के बराबर रखेगी। लगान या किराया (rent) लागत का अंग नहीं माना जाता था, क्योंकि वह भेदात्मक अतिरिक्त मुनाफा (differential surplus) समझा जाता था।

यह सिद्धान्त भी अधूर्ण है, क्योंकि इसमें भी मूल्य का सिद्धान्त उचित रूप से नहीं समझा जा सकता। एक तो यह उपयोगिता के महत्त्वपूर्ण प्रभाव का विचार नहीं करता। केवल उत्पादन की लागत किसी वस्तु को मूल्य नहीं दे देती। मूल्य होने के लिये उपयोगिता का होना आवश्यक है। जिस वस्तु की आवश्यकता नहीं थी, उसके बनाने में यदि कोई मनुष्य काफी खर्च करे तो इससे उसे रुपया तो न मिल जायगा।

यह सिद्धान्त उपयोगिता का महत्त्व नहीं समझता

"जिस देश में, हमेशा लागत मूल्य के आधार पर किसी वस्तु का मूल्य निश्चित होगा, वह देश व्यवसायियों के लिये स्वर्ग हो जायगा, क्योंकि उसे अपनी गलतियों के लिये कभी सजा नहीं मिलेगी। यदि हम उपयोगिता पर विचार नहीं करते तो हम अपनी समस्या को अधूरी छोड़ देते हैं।"[1] दूसरे, इस सिद्धान्त से उन वस्तुओं का मूल्य निश्चित नहीं हो सकता, जिनका पुनरुत्पादन नहीं हो सकता। तीसरे, जब किसी वस्तु का उत्पादन हो चुकेगा, तब उसका लागत मूल्य निश्चित और अपरिवर्तनशील रहेगा। परन्तु मूल्य में हमेशा परिवर्तन होते रहते हैं। लागत मूल्य में परिवर्तन हो या न हो, वस्तु की कीमत गिर सकती है और उठ सकती है। इसलिये इस सिद्धान्त से मूल्य की सन्तोष-जनक व्याख्या नहीं होती। चौथे, इस सिद्धान्त द्वारा उन और गोश्त जैसी संयुक्त उत्पादन की वस्तुओं का मूल्य निर्धारित नहीं हो सकता, क्योंकि इन वस्तुओं का उत्पादन

१. Clay. Economics for the General Reader, Page 268.

लागत स्वयं मूल्य द्वारा निश्चित होती है।

मूल्य अलग-अलग पक्की तरह नहीं जाना जा सकता। पाचवें, जिसे हम उत्पादन का लागत खर्च कहते हैं और जो मूल्य के बराबर है, सम्भव है कि वह केवल प्रमुख लागत (prime cost) हो। अन्त में उत्पादन का लागत खर्च स्वयं मूल्य पर निर्भर रहता है। कीमत जितनी अधिक रहेगी, पूर्ति भी उतनी अधिक होगी। पूर्ति जितनी अधिक होगी, प्रति इकाई उत्पादन का लागत खर्च भी उसी के अनुसार कम या अधिक होगा। लागत खर्च, मूल्य और माग का पारस्परिक सम्बन्ध है। इसलिये यह कहना गलत है कि उत्पादन के लागत खर्च द्वारा मूल्य निश्चित होता है।

उपयोगिता सिद्धान्त (Utility Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु की उपयोगिता के आधार पर उसका मूल्य निश्चित होता है। जिन वस्तुओं की उपयोगिता अधिक है, उन्हें कम उपयोगितावाली वस्तुओं की अपेक्षा अधिक मूल्य प्राप्त होगा। इसी सिद्धान्त का अधिक सुधरा हुआ रूप सीमान्त उपयोगिता का सिद्धात (marginal utility theory) है। इस मत के अनुसार मूल्य उपयोगिता के आधार पर नहीं, बल्कि सीमान्त उपयोगिता के आधार पर निश्चित होता है। सीमान्त उपयोगिता का आशय उस उपयोगिता से है, जिसे उपभोक्ता खरीदने के लिये किसी तरह राजी हो जाता है। इग्लैंड में जेवन्स इस सिद्धात का बड़ा भारी प्रतिपादक था।

केवल उपयोगिता होने से मूल्य उत्पन्न नहीं हो सकता। पूर्ति की मात्रा में भी कुछ सीमा होनी चाहिये। नहीं तो उपयोगिता होते हुए भी उस वस्तु के लिये कोई कुछ दाम न देगा। इसी प्रकार कुछ ऐसी वस्तुएं होती हैं, जिनकी उपयोगिता बहुत अधिक होती है, पर उनका मूल्य बहुत कम होता है। पानी इसका उदाहरण है। सीमान्त उपयोगिता के सिद्धान्त में ये दोष नहीं आ पाते।

उपयोगिता स्वयं मूल्य पर निर्भर है

अर्थशास्त्रियों ने गलती यह की कि उन्होंने उपयोगिता अथवा सीमान्त उपयोगिता को मूल्य का कारण बना दिया। लेकिन सीमान्त उपयोगिता मूल्य निश्चित नहीं करती। वह खुद भी मूल्य द्वारा निश्चित होती है। जितनी अधिक पूर्ति होगी, उतनी कम सीमान्त उपयोगिता होगी। लेकिन किसी वस्तु की पूर्ति उसकी कीमत पर निर्भर होती है। सच तो यह है कि मूल्य, पूर्ति और माग में से किसी एक को दूसरे का कारण नहीं कह सकते। एक का प्रभाव बाकी दो पर पड़ता है और उन दो का प्रभाव उस एक पर पड़ता है। इसी प्रकार वे परस्पर प्रभाव डालते हैं और प्रभावित होते हैं।

जहा तक यह सिद्धान्त मूल्य को मनुष्य की आवश्यकताओं पर आधारित करता है, वहा तक यह सही है। सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त अर्थशास्त्र के लिये एक बड़ा

उपयोगी काम करता है, वह मूल्य पर पड़ने वाले दो उपयोगी प्रभावों को—अर्थात् उपयोगिता और दुर्लभता (scarcity) को एक साथ निश्चित कर देता है। लेकिन इस सिद्धान्त के आधार पर यह कहना कि मूल्य सीमान्त उपयोगिता द्वारा निश्चित होता है सही नहीं है। मूल्य सीमान्त उपयोगिता को केवल मापता है। बस, यही सच है।

परिशिष्ट

उदासीनता वक्र रेखाओं पर एक टिप्पणी

(A Note on Indifference Curves)

उपयोगिता के आधार पर मूल्य का जो सिद्धान्त बना है, उसकी इधर हाल में आलोचना हुई है। कहा जाता है कि मार्शल ने उपयोगिता की जो व्याख्या की है, उसका मूल आधार यह है कि एक उपभोक्ता एक समय केवल एक वस्तु खरीदेगा और हमारा काम इस वस्तु की विभिन्न इकाइयों की उपयोगिता मापना है। उपभोग के सिद्धान्त में यह अनुमान यथार्थवादी नहीं सिद्ध होता, क्योंकि उपभोक्ता एक ही समय परस्पर सम्बन्धी कई वस्तुओं को चाहते हैं। फिर यह व्याख्या मान लेती है कि विभिन्न प्रकार की उपयोगिताएं मापी जा सकती हैं। यदि असम्भव नहीं तो ऐसा करना बहुत कठिन है। इसलिये ऐसी व्याख्या करना अच्छा होगा, जिसमें ये सब कठिनाइयां न हों। उदासीनता वक्र रेखाएं इसी प्रकार की व्याख्या करने का प्रयत्न करती हैं। यह एक रेखागणित की रीति है। सबसे पहिले इस प्रयोग को एजवर्थ (Edgeworth) ने अपनी पुस्तक 'मैथेमैटिकल साइकिक्स' ('Mathematical Psychics') में किया था और बाद में पारेटो (Pareto) ने इस रीति में अधिक उन्नति की।

यह व्याख्या इस अनुमान से प्रारम्भ होती है कि एक उपभोक्ता एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु का उपभोग कर सकता है। यह बात अधिकांश वस्तुओं पर लागू होती है। यदि वह एक वस्तु क (मान लो एक जोड़ी धोती) के बदले दूसरी वस्तु ख (मान लो एक कमीज) का उपभोग कर सकता है, तो उसे ऐसी कई वस्तुएं मिल सकती हैं, जिन्हें वह आराम से बदल सकता है। उदाहरण के लिये वह १० इकाइयां धोतियों की और ८ इकाइयां कमीजों की, ११ इकाइयां धोतियों की और ३ इकाइयां कमीजों के बदले में ले सकता है। इस प्रकार बदले की एक सूची तैयार की जा सकती है। जैसे—

१२ इकाइया धोतियो की और २ इकाइयां कमीजो की ।
११ इकाइया धोतियो की और ३ इकाइया कमीजो की ।
१० इकाइया धोतियो की और ५ इकाइया कमीजो की ।
९ इकाइया धोतियो की और ८ इकाइया कमीजो की ।
इत्यादि, इत्यादि ।

हम अ, व रेखा पर धोतियो की इकाइया मापेंगे और अ, स रेखा पर कमीजो की इकाइया । अब हम एक ऐसी वक्र रेखा खींच सकते हैं, जो इन इकाइयो के बिन्दुओं को जोड़ेगी ।
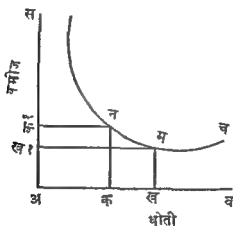
चित्र न० १५

च वक्र रेखा उपभोक्ता की पसन्दगी बतलाती है कि वह कितनी धोतियों और कमीजो की इकाइयो का जोड़ा पसन्द करेगा । वक्र रेखा पर न और म दो बिन्दु ले लो । उपभोक्ता अ, ख धोतियो और अ, ख१ कमीजो का जोड़ा पसन्द करेगा । उसके बदले में वह अ, क धोतिया और अ, क१ कमीजो का जोड़ा भी ले सकता है । ये दो प्रकार के जोड़े उसे समान रूप से पसन्द हैं और वह इस सम्बन्ध में उदासीन है कि उसे कौन-सा जोड़ा मिलता है । शर्त केवल यह है कि दोनो बिन्दु उसी वक्र रेखा पर होने चाहिये । इस वक्र रेखा को उदासीनता की वक्र रेखा कहते हैं । यह रेखा घुमावदार (negative slope) होती है, क्योंकि जैसे-जैसे एक वस्तु की मात्रा बढ़ती है, वैसे-वैसे दूसरी वस्तु की मात्रा कम होती है । यदि ऐसा न हो तो दो जोड़े उसे एक समान पसन्द न होंगे । उपभोक्ता को १० इकाई धोतियो और ५ इकाई कमीजो का जोड़ा उतना ही पसन्द है जितना ९ इकाई धोती और ८ इकाई कमीजो का जोड़ा । लेकिन १० इकाई धोती और

५ इकाई कमीज के जोड़ की अपेक्षा १० इकाई धोती और ६ इकाई कमीज का जोड़ा उसे कहीं अधिक पसन्द आयेगा। वक्र रेखा का ढाल एक वस्तु को दूसरी से बदलने की सीमान्त दर (marginal rate of substitution) द्वारा निश्चित होगा। धोती को कमीज से बदलने की सीमान्त दर कमीज की उन इकाइयों के बराबर है, जो कि धोती की सीमान्त इकाई से अधिक हो। उपभोक्ता के पास जैसे-जैसे कमीजों की संख्या बढ़ती है, वैसे-वैसे यह दर भी बढ़ती जाती है। ऊपर हमने जो उदाहरण लिया है, उसमें उपभोक्ता के पास धोतियों की १२ इकाइयां होती हैं और कमीजों की २ इकाइयां। तब कमीज की एक इकाई धोती की एक इकाई से बदली जा सकती है। लेकिन जब
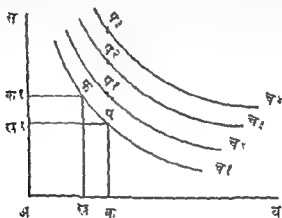
चित्र नं० १६

उसके पास धोतियों की ११ इकाइयां और कमीजों की ३ इकाइयां होती है, तब वह धोती की एक अतिरिक्त इकाई खोने के लिये बदले में कमीजों की ३ इकाइयां मांगेगा। अर्थात् किसी उपभोक्ता के पास जितनी अधिक कमीजें और जितनी कम धोतियां होंगी, उतना कम वह धोतियों के बदले में कमीजें लेना पसन्द करेगा। इसका कारण घटती उपयोगिता का नियम है, जिसे इस नयी व्याख्या के अनुसार हम घटती हुई सीमान्त का नियम (law of diminishing marginal substitutability) कहते हैं।

इसलिये प्रत्येक उदासीनता वक्र रेखा जो वस्तुओं का एक जोड़ा बतलाती है और उपभोक्ता उस जोड़े की दोनों वस्तुओं को एक समान पसन्द करता है। यदि हमें उपभोक्ता की पसन्दगी और दर मालूम हो जाय, तो हम चाहे जितनी उदासीनता वक्र रेखाएं खींच सकते हैं।

यदि ग और प दो बिन्दु एक ही उदासीनता वक्र रेखा पर हैं, तो इससे मालूम होता

है कि उपभोक्ता को अ, क इकाइया धोती+अ क१ इकाइया कमीज का जोडा उतना ही पसन्द रहेगा, जितना अ,ख इकाइया धोती+अ ख१ इकाइया कमीज का जोडा। अर्थात् इन दोनो प्रकार के जोडो में से उसे कोई भी मिल जाय उसकी पसन्दगी एक-सी रहेगी। परन्तु यदि प और प१ बिन्दु दो वक्र रेखाओ पर होते हैं,तो उपभोक्ता च१ वक्र रेखा की अपेक्षा च२ वक्र रेखा पर कोई भी जोडा पसन्द करेगा। इसी प्रकार च३ वक्र रेखा पर वह च२ वक्र रेखा की अपेक्षा कोई भी जोडा पसन्द करेगा। इसी प्रकार यह क्रम बढता जायगा।

उदासीनता वक्र रेखाओ की व्याख्या एक बडा शक्तिशाली और उपयोगी औजार है। इस व्याख्या का एक बडा अच्छा गुण यह है कि उसे यह नही मानना पडता कि उपयोगिता को हम वजन या मात्रा के रूप में माप सकते हैं। केवल यह मान लेना आवश्यक
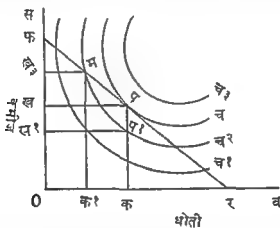
चित्र न० १७

होना है कि दो वस्तुओ के दो जोडो की कुल उपयोगिता उसकी वक्र रेखा पर वही रहती है। इसलिये इस व्याख्या की सहायता से हम कई कठिनाइयां हल कर सकते हैं। मान लो एक व्यक्ति की कुछ आमदनी है (मान लो ५० रु०) जो वह दो वस्तुओं पर खर्च करेगा। ये दो वस्तुए धोती और कमीजें हैं। उपभोक्ता के लिये कीमतें निश्चित हैं। उसके खरीदने से उनमें कोई परिवर्तन नही होगा (बाजार में प्राय ऐसा ही होता है।) चित्र न० १७में अ,ब रेखा धोतियो की इकाइया बतलाती है और अ,स रेखा कमीजो की इकाइया बतलाती है। यदि उपभोक्ता अपनी कुल आमदनी धोतियो पर खर्च करता है, तो वह धोतियो की अ, र इकाइया खरीदेगा। कुल आमदनी (५० रु०) में धोतियों की कीमत प) का भाग देने से यह मालूम हो जायगा। यदि वह कुल आमदनी कमीजों पर खर्च

करता है तो वह कमीजा की अ, फ इकाइयां खरीदेगा। यदि फ और र को एक सीधी रेखा से जोड़ दें तो फ, र रेखा धोतियों और कमीजों के वे सब जोड़े बतलाती है, जो उपभोक्ता विभिन्न कीमतों पर ५० रुपया से खरीदेगा। इस रेखा को कीमत रेखा (price line) कहते हैं। कीमत रेखा का ढालू $\frac{अ,फ}{अ,र}$ है। अब

$$\frac{अ,फ}{अ,र} = \frac{\frac{आमदनी}{कमीजा\ की\ कीमत\ प_1}}{\frac{आमदनी}{धोतिया\ की\ कीमत\ प}} = \frac{प}{प_1}$$

इसी प्रकार इस रेखा का ढालू धोतियां और कमीजा की पारस्परिक कीमतें बतलाता है।

इसके बाद अब हम च१, च२ और च३ उदासीन वक्र रेखाएं खींचते हैं, जो उपभोक्ता की विभिन्न जोड़ों के लिये पसन्दगी बतलाती हैं। इनमें से दो रेखाएं कीमत रेखा को दो बिन्दुओं पर काटती हैं। तीसरी वक्र रेखा च कीमत रेखा को प बिन्दु पर छूती है और चौथी वक्र रेखा च३ कीमत रेखा से बहुत ऊपर है। प बिन्दु जहां च वक्र रेखा कीमत रेखा को छूती है, उसकी पसन्दगी का सबसे अच्छा जोड़ा बतलाती है। अर्थात् यह जोड़ा उपभोक्ता को सबसे अधिक पसन्द आवेगा। चित्र सं० १७ से यह साफ जाहिर हो जाता है। नीचे की च१ और च२ वक्र रेखाओं पर के कोई भी जोड़े ऊपर की वक्र रेखा च के जोड़ों की अपेक्षा कम पसन्द आवेंगे। च२ वक्र रेखा से हम समझ सकते हैं कि उपभोक्ता को अ, क इकाई धोती + प१ क इकाई कमीजों का जोड़ा उतना ही पसन्द होगा, जितना अ, ट१ धोती + म ट१ कमीजों का जोड़ा। ये दोनों जोड़े उसे एक समान पसन्द होंगे। परन्तु अ, क इकाई धोती + प क इकाई कमीजों का जोड़ा उसे अ, क इकाई धोती + प१ क इकाई कमीजों के जोड़े की अपेक्षा अधिक पसन्द होगा। अर्थात् वह दूसरे की अपेक्षा पहिला जोड़ा ही चाहेगा। इसलिये ऊपर की वक्र रेखा च पर उसे कोई भी जोड़ा नीचे की वक्र रेखाओं च१ और च२ के जोड़ों से अधिक पसन्द होगा। हां, यह बात अवश्य है कि सबसे ऊपर की उदासीनता वक्र रेखा च३ पर कोई भी बिन्दु च वक्र रेखा के किसी जोड़े से अधिक पसन्द का जोड़ा बतलावेगा। लेकिन चूंकि उपभोक्ता की आमदनी ५० रुपये पर बंधी है, इसलिये च३ वक्र रेखा के किसी भी जोड़े को खरीदने के लिये वह काफी न होगी। इसलिये जब उपभोक्ता की आमदनी बंधी हुई है, तब च वक्र रेखा पर प बिन्दु उसको सबसे अच्छा जोड़ा बतलाता है। अपने ५० रुपये की आमदनी से वह अ, क इकाइयां धोतियों की और प, क इकाइयां कमीजों की खरीदेगा।

जब धोतियों की कीमत बढ़ेगी, तो उसी आमदनी से उपभोक्ता धोतियों की कम मात्रा खरीदेगा। चूंकि कमीजा की कीमत अ, फ अर्थात् वही रहती है, इसलिये पूरी आमदनी से खरीदी जानेवाली कमीजों की इकाइयां भी वही रहेंगी। परन्तु धोतियां

14

की इकाइया अ, र से घटकर अ, र१ हो जायगी। अब फ, र१ नई कीमत रेखा हो जायगी जैसा कि चित्र न० १८ से मालूम होता है, इस रेखा को एक दूसरी वक्र रेखा प१ बिन्दु पर छुएगी और अब उपभोक्ता अ, क१ इकाई धोती+प१ क१ इकाई कमीजें, अ, क इकाई धोती+प, क इकाई कमीजो के बदले में खरीदेगा। यदि धोतियो के दाम गिरते हैं तो उपभोक्ता धोतियो की अधिक इकाइया खरीद सकता है (अर्थात् अ, र से अधिक) और फ र२ नई कीमत रेखा हो जायगी। यह रेखा ऊपर की उदासीनता वक्र रेखा से प२ बिन्दु पर मिलती है। इसलिये अब उपभोक्ता अ, क२ इकाई धोती+प२ क२ इकाई कमीजें
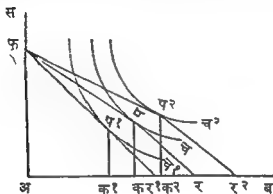
चित्र न० १८

खरीदेगा। धोतियो की कीमत में परिवर्तन होने के कारण यदि कीमत रेखा की सब स्थितिया अंकित की जाय, तो इन स्थितियो के बिन्दुओ को जोडने से जो रेखा बनेगी, वह धोतियो की माग रेखा होगी और उसका पारस्परिक सम्बन्ध कमीजो की कीमत से होगा।

चित्र न० १९ में यह बतलाया गया है कि आमदनी में परिवर्तन होने से उपभोक्ता दो वस्तुओ के जोडे किस किस अनुपात में खरीदेगा।

अब उसकी आमदनी ५० रुपया है, तो कीमत रेखा पहिले की तरह फ, र है। प बिन्दु जिस पर च उदासीनता वक्र रेखा फ, र को छूती है धोतियो और कमीजो का सबसे अच्छा जोडा या अनुपात बतलाता है। इसमें शर्त यही है कि आमदनी वही रहे और दोनो वस्तुओं की कीमतें वही रहें। अब मान लो आमदनी बढकर ७५ रुपया हो जाती है और कीमत वही रहती है, जो पहिले थी तो अब उपभोक्ता अ, र१ इकाइया धोती की (अ, र की जगह) अथवा अ, फ१ इकाइया कमीज की (अ, फ की अपेक्षा) खरीद सकता है। अब नई कीमत रेखा फ१, र१ ऊपर की उदासीनता रेखा च१ से प१ बिन्दु पर मिलती है। अब उपभोक्ता के लिये नई साम्य स्थिति प१ बिन्दु है। इस बिन्दु पर वह अ. फ१ इकाई धोती+प१. क१

इकाई कमीजा की खरीद सकता है। प और प१ बिन्दुओं को जोड़नेवाली रेखा बतलावेगी कि यदि कीमत वही रहती है और आय बदलती है तो उपभोग में किस प्रकार परिवर्तन होता है। इस वक्र रेखा की चित्र नं० १८ की वक्र रेखाओं से तुलना करने से यह पता चलेगा कि बिक्री होने पर किसी वस्तु की कीमत पर परिवर्तनों का क्या प्रभाव पड़ता है। जब धोतियों की कीमत अपने पहिले स्थान से गिरती है तो उपभोक्ता प्रायः अधिक मात्रा में धोतियां खरीदेगा। यह दो प्रकार से होता है। किसी वस्तु की कीमत गिरना एक आदमी के लिये आमदनी बढ़ने के बराबर है। इसलिये नई कीमत रेखा अब फ, र चलकर

चित्र नं० १९
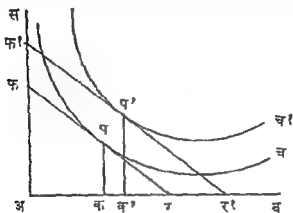
फ१, र१ हो जाती है। और उपभोक्ता भी एक ऊंची उदासीनता वक्र रेखा च१ पर पहुंचता है। यह रेखा फ१ र१ कीमत रेखा को प१ बिन्दु पर छूती है। इसे 'आय का प्रभाव' ('income effect') कहते हैं। दूसरे जब कमीजों की अपेक्षा धोतियों की कीमत गिरती है, तो उपभोक्ता कमीजों के बदले धोतियां खरीदेगा। इसे 'प्रतिस्थापन प्रभाव' ('substitutional effect') कहते हैं। तब उपभोक्ता प१ से प २ पर आ जायगा, जिस पर वक्र रेखा फ र२ कीमत रेखा को छूती है।

हम कह चुके हैं कि जब आय बढ़ती है, तब उपभोक्ता दोनों वस्तुओं को अधिक मात्रा में खरीदता है। लेकिन कुछ उदाहरण ऐसे भी हो सकते हैं, जब उपभोक्ता आय बढ़ने पर किसी वस्तु को कम मात्रा में खरीदेगा। अर्थात् अपनी खरीद घटा देगा। इन्हें घटिया किस्म की वस्तुएं कहते हैं। इनका उपयोग कम आयवाले मनुष्य करते हैं। जब किसी आदमी की आमदनी बढ़ जाती है, तो वह उनके बदले बढ़िया किस्म की वस्तुओं का उपयोग करने लगता है।

अभी तक हमने उदासीनता वक्र रेखाओं का अध्ययन दो वस्तुओं का आधार लेकर किया है। यदि उपभोक्ता तीन वस्तुएं खरीदता है, तो भी हम आसानी से इस आधार पर अध्ययन कर सकते हैं और इस रीति का उपयोग कर सकते हैं। तब हमें विभिन्न पसन्दगी के पारस्परिक जोड़े दिखाने के लिये ऐसे चित्र या पदार्थ चाहिये, जिनमें तीन दिशाएं हों। तब हम जो वक्र रेखाएं खींचेंगे उनका आकार कुछ ऐसा होगा 'जैसे सन्दूक के कोने की तीन बाजुओं पर तश्तरियां रखी हों।'[1] परन्तु यदि कई वस्तुओं की कीमतों में एक ही अनुपात में परिवर्तन होता है, तो हम उन सब वस्तुओं को एक वस्तु मान सकते हैं। तब हम किसी वस्तु की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं कि कोई वस्तु वस्तुओं का वह वर्ग है, जिसमें उन वस्तुओं की कीमतों में आनुपातिक परिवर्तन होते हैं।[1] इसलिये यदि श्रम के विभिन्न
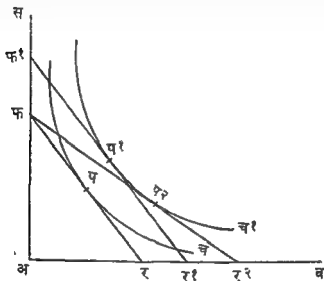
चित्र न० २०

समूहों में मजदूरी की दर में आनुपातिक परिवर्तन होते हैं, तो हम श्रम को एक वस्तु की तरह मान सकते हैं।

हम बाजार माग की वक्र रेखा भी खींच सकते हैं। बाजार में किसी वस्तु की जो माग होती है, वह कुछ व्यक्तियों के समूह की कुल माग होती है। इसलिये उसमें लगभग वही विशेषताएं रहती हैं, जो कि प्रत्येक व्यक्ति की माग रेखा में रहती है। इनमें से कुछ

1 Hicks. Value and Capital, pp 33-4

विशेषकर ध्यान देने योग्य है। यदि किसी वस्तु की कीमत में परिवर्तन होता है, तो उसकी माग पर दो प्रकार के असर पड़ेंगे : एक आय का प्रभाव और दूसरा बदलने का या प्रतिस्थापन का प्रभाव। धोतियों की कीमत गिरने पर प्रत्येक व्यक्ति कमीजों के बदले धोतियां खरीदने का प्रयत्न करेगा। यह प्रतिस्थापन प्रभाव सब व्यक्तियों पर प्रभाव डालेगा। अर्थात् सब लोग उसका अनुसरण करेंगे। इसलिये समूह की प्रतिस्थापन क्रिया भी उसी प्रकार की होगी जैसी व्यक्तियों की होती है। लेकिन आय प्रभाव में हम इस प्रकार का अनुमान नहीं लगा सकते। बाजार में कुछ व्यक्ति एक वस्तु को घटिया समझ सकते हैं और दूसरे उसे साधारण किस्म की समझ सकते हैं। अर्थात् पहिला समूह उस वस्तु को कम मात्रा में खरीदेगा और दूसरा समूह साधारणतः अधिक मात्रा में खरीदेगा। इसलिये बाजार में हम आय प्रभाव के बारे में निश्चित नहीं रह सकते। परन्तु जो लोग किसी वस्तु को बाजार में खरीदते हैं यदि वे अपनी आय का बहुत कम अंश उस पर खर्च करते हैं तो आय प्रभाव नगण्य हो जाता है। इसलिये यदि बाजार में कोई वस्तु अधिकांश लोगों के लिये घटिया किस्म की नहीं है, तो उसकी बाजार माग की रेखा हमेशा नीचे की ओर झुकेगी। *साधारणतः प्रतिस्थापन प्रभाव ही प्रधान रहेगा और यदि थोड़ा-सा ऋणात्मक आय प्रभाव* होता है (जैसे कि घटिया माल के सम्बन्ध में) तो वह बड़े प्रतिस्थापन प्रभाव द्वारा हटाया जा सकता है।

चौबीसवां अध्याय

वितरण की प्रकृति

(The Nature of Distribution)

वितरण की प्रकृति ? (What is Distribution ?)—वितरण का सम्बन्ध किसी देश के कुल उत्पादन का वितरण उत्पादन के विभिन्न साधनों में करने से है। श्रम, पूंजी और संगठन एक साथ मिलकर देश के प्राकृतिक साधनों का उपयोग करते हैं और प्रति वर्ष एक निश्चित मात्रा में सामान और सेवाओं का उत्पादन करते हैं। तब ये दोनों वस्तुएं उन साधनों में पारिश्रमिक की भांति वितरित की जाती हैं। इसलिये उत्पादन के जितने साधन हैं, उतने ही भाग वितरण के होते हैं। श्रम के भाग को मजदूरी कहते हैं। पूंजी के भाग को ब्याज कहते हैं। भूमि के भाग को लगान कहते हैं और संगठन के भाग को मुनाफा या लाभ कहते हैं। ध्यान रहे कि अर्थशास्त्र में वितरण का अर्थ व्यक्तिगत आय के वितरण से नहीं है कि किसी व्यक्ति की आय किस प्रकार निश्चित होती है।

वितरण के सिद्धान्त में दो प्रकार के प्रश्न रहते हैं। एक तो यह कि किस वस्तु का वितरण होना है ? और दूसरा यह कि उसका वितरण किस प्रकार होगा ?

राष्ट्रीय आय (National Income)—एक निश्चित काल में उत्पादन के साधनों में जो मात्रा बांटी जाती है उसमें उस काल में देश में उत्पादित कुल सामान और उपयोग की हुई कुल सेवाएं शामिल रहती हैं। हां, इसमें से मशीनो आदि उत्पादन के साधनो के टूटने-फूटने और मूल्य ह्रास का खर्च पहिले काट लिया जाता है। राष्ट्रीय आय का अध्ययन या तो विस्तृत दृष्टिकोण से किया जा सकता है या संकीर्ण दृष्टिकोण से। विस्तृत रूप में लेने से उसमें एक वर्ष में उत्पादित कुल वस्तुएं और सेवाएं शामिल हो जाती है। संकीर्ण रूप में विचार करने से उसमें केवल वस्तुएं और सेवाएं शामिल होती हैं, जिनका विनिमय मुद्रा में होता है। पिगू के मतानुसार "राष्ट्रीय आय किसी देश की वास्तविक आय (objective income) का, इसमें विदेशों से प्राप्त आय भी शामिल रहती है, वह भाग है, जो मुद्रा द्वारा मापी जा सकती है।"[1] लार्ड स्टाम्प ने भी इस प्रकार की परिभाषा दी है।

राष्ट्रीय आय की परिभाषा

दूसरी परिभाषा पर ध्यान देने से हम देखते हैं कि हम केवल उन्ही वस्तुओ और सेवाओं पर विचार कर सकते हैं, जो वास्तविक (objective) है और मुद्रा से बदली जा सकती है। इस प्रकार कोई मनुष्य अपने लिये जो काम करता है अथवा कुटुम्ब के लोगो और मित्रो के लिये जो काम मुफ्त में करता है, स्वयं अपनी वस्तुओ से जो लाभ उठाता है अथवा सार्वजनिक सम्पत्ति से जो लाभ पाता है, जैसे कर-रहित पुलों, सड़कें इत्यादि वे सब राष्ट्रीय आय के अंश नही कहे जा सकते। ध्यान रहे कि इस प्रकार की परिभाषा से विरोधात्मक बातें पैदा होती है। जिन वस्तुओ का मुद्रा से विनिमय होता है और जिनका विनिमय नही होता, उनके बीच में एक दीवाल-सी खड़ी हो जाती है, जो उन दोनो को अलग-अलग रखती है। वास्तव में ऐसा कोई अन्तर होता नही है। इस सम्बन्ध में प्रोफेसर पिगू ने एक बड़ा मजेदार उदाहरण दिया है, जो इस प्रकार की परिभाषा की विरोधी भावनाएं बतलाता है। यदि कोई मनुष्य अपनी नौकरानी से शादी कर लेता है, तो राष्ट्रीय आय घट जाती है। शादी के पहिले नौकरानी सेवा-कार्य करती थी, जिसके लिये उसे मजदूरी मिलती थी। यह मजदूरी राष्ट्रीय आय का अंश थी। शादी के बाद वह सेवा-कार्य तो उसी प्रकार करती है, पर उसे मजदूरी नही मिलती। इसलिये उसका सेवा-कार्य उसी प्रकार रहते हुए भी राष्ट्रीय आय में कमी हो गई, क्योंकि अब उसकी सेवाओं का मुद्रा में विनिमय नही होता। परन्तु इन विरोधो और सीमाओ के रहते हुए भी

इस व्याख्या की सीमाएं

१. Pigou. Economics of welfare.

अर्थशास्त्री प्राय राष्ट्रीय आय की परिभाषा मुद्रा के रूप में स्वीकार कर लेते हैं।

राष्ट्रीय आय दो प्रकार से मापी जा सकती है। एक तो हम उसे उन सब वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य के बराबर कर सकते हैं, जो एक वर्ष में उत्पादित होते हैं। अथवा उन सब वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य को राष्ट्रीय आय में गिन सकते हैं, जिनका वर्ष भर में अन्तिम रूप में उपभोग होता है। मार्शल ने राष्ट्रीय आय की परिभाषा पहिले प्रकार से की है। "किसी देश की पूंजी और श्रम उसके प्राकृतिक साधनों का उपयोग करके प्रति वर्ष वस्तुओं का एक निश्चित या नगद समूह (net aggregate) उत्पन्न करते हैं। इस समूह में जड़ और भाववाचक वस्तुएं तथा सब प्रकार की सेवाएं शामिल रहती हैं।" कुल वार्षिक उत्पादन से हमें उत्पादन साधनों जैसे मशीनों इत्यादि के टूटने-फूटने और घिसने तथा मूल्य ह्रास के लिये एक निश्चित रकम अवश्य घटानी चाहिये तथा विदेशों में लगी हुई पूंजी से जो नगद आय होती है, वह अवश्य जोड़नी चाहिये। मार्शल के मतानुसार यह वर्ष भर की वास्तविक राष्ट्रीय आय होती है। परन्तु फिशर के मतानुसार मार्शल की व्याख्या में कई ऐसी बातें शामिल हैं, जो उसमें नहीं होनी चाहिये। सच्ची राष्ट्रीय आय एक वर्ष के नगद उत्पादन का वह अंश है, जो उस वर्ष में प्रत्यक्ष रूप से (उत्पादन नहीं) उपभोग की जाती है। एक उदाहरण से इन दोनों परिभाषाओं का अन्तर समझ में आ जायगा। मान लो, एक वर्ष में एक मशीन बनाई गई। मार्शल की राय में उस मशीन का मूल्य, ह्रास का खर्च काटकर, उस वर्ष की राष्ट्रीय आय में शामिल होनी चाहिये। परन्तु फिशर के मत में कुल मूल्य नहीं, बल्कि कुल मूल्य का वह अंश जिसका उस वर्ष में उपभोग किया गया है, शामिल किया जाना चाहिये। यदि यथार्थ की दृष्टि से देखा जाय तो फिशर की परिभाषा अधिक तर्कपूर्ण और दुरुस्त है। परन्तु इस परिभाषा के अनुसार राष्ट्रीय आय का वास्तविक हिसाब लगाने में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। क्योंकि एक वर्ष में जितनी वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन होता है, उनकी सूची तैयार करना वास्तव में उपभोग की गई वस्तुओं और सेवाओं की सूची बनाने से कहीं अधिक सरल है। इसलिये मार्शल की परिभाषा सिद्धान्त की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण रहते हुए भी उपयोग की दृष्टि से अधिक अच्छी नहीं है।

आय गिनने की रीतियां

राष्ट्रीय आय का हिसाब तीन रीतियों से लगाया गया है। पहिली रीति यह है कि एक वर्ष में कृषि तथा कारखानों इत्यादि में उत्पादित होनेवाले माल का मूल्य आंका जाय और उसमें कुछ रकम उत्पादन साधनों के मूल्य ह्रास के रूप में घटा दी जाय। दूसरी रीति यह है कि जो लोग आय कर देते हैं, उनकी आय एक साथ जोड़ी जाय और जो आय कर नहीं देते, उनकी आय एक साथ जोड़ी जाय। तीसरी रीति यह है कि लोगों की उनके पेशों के अनुसार गणना की जाय, जिससे विभिन्न प्रकार के उत्पादक कार्यों में लगे हुए लोगों की आय मालूम हो जायगी। लोगों की कुल आय का जोड़ राष्ट्रीय आय

के बराबर होनी चाहिये। आय के इस जोड में हमें वह रकम नही शामिल करनी चाहिये, जिसके लिये कोई श्रम या सेवा नही की गई जैसे कि देश के अनुत्पादक कर्जो पर ब्याज, वृद्धावस्था सबधी पेंशन, बेईमानी और धोखेबाजी से कमाया

दुबारा गिनने की सभावना

हुआ धन इत्यादि। इसके सिवा यह भी ध्यान रहे कि एक वस्तु या आय दो बार न गिनी जाय। इस सम्बन्ध में बडी कठिनाइयो का सामना करना पडता है। लार्ड स्टाम्प ने इस प्रकार का एक उदाहरण दिया है। मान लो एक बैरिस्टर अपने एक क्लर्क की सहायता से २०,००० रुपया कमाता है और क्लर्क को वह १२०० रुपया प्रति वर्ष देता है। अब प्रश्न यह है कि राष्ट्रीय आय मे हम केवल २०,००० रुपया गिनें या २१,२०० रुपया? यदि हम २१,२०० रुपया अपनी गिनती में शामिल करते है तो यह कहा जा सकता है कि हमने उन्ही सेवाओं को दुबारा गिन लिया है और इससे राष्ट्रीय आय अनावश्यक रूप में बढ गई है। क्योकि यदि हम यह मानते है कि बैरिस्टर अपने क्लर्क की सहायता से २०,००० रुपया महीना कमाता है, तो क्लर्क की सेवाओ का मूल्य २०,००० रु० में शामिल हो जाता है। अब क्लर्क की आमदनी फिर से गिनने से दुहरी गिनती हो जायगी। इसलिये हमें अपने हिसाब मे केवल २०,००० रु० गिनना चाहिये। परन्तु यह निश्चय करना वास्तव में बहुत कठिन है कि क्लर्क की सेवाए बैरिस्टर के सहायक के रूप में थी, इसलिये उसकी गणना अलग होनी चाहिये।

राष्ट्रीय आय अथवा राष्ट्रीय लाभ के सिद्धान्त का सार सक्षेप में इस प्रकार है। राष्ट्रीय आय एक साथ दो वस्तुए होती है। एक तो वह उत्पादन के साधनो की नकद या वास्तविक उपज होती है और साथ ही वह उन साधनों के

आलोचना

पारिश्रमिक प्राप्ति का जरिया भी है। कनान राष्ट्रीय आय के सिद्धान्त को बिलकुल स्वीकार नही करता। उसकी राय मे किसी देश के लोगों की आय बहुधा काफी हद तक अमेरिका में होनेवाले उत्पादन और चीन में होनेवाली माग पर निर्भर होती है।[1] इस प्रकार की कठिनाइयो को दूर करने के लिये हम ससार के विभिन्न देशों की राष्ट्रीय आय का हिसाब एक साथ कर सकते है। परन्तु ऐसा करना सभव नही है। यदि हम मध्य अफ्रिका में बटन और साइकिलें भेजते है और बदले म हाथी दात और रबर लेते है तो क्या हम अपनी आय नही जान सकते? यह तो कोई मुश्किल बात नही है। हममे प्रत्येक आदमी दूर के बाजार के लिये उत्पादन करता है। परन्तु क्या इस कारण से हम अपनी आय नही जान सकते? हा, यह बात अवश्य है कि इससे हमारी आय-गणना सम्बन्धी कठिनाइया बढ जाती है। परन्तु केवल इसी बुनियाद पर राष्ट्रीय आय का उपयोगी सिद्धान्त नही त्याग देना

१. Cannan A Review of Economic Theory, p. 331.

चाहिये कि हमारी आय का काफी बड़ा भाग विदेशी व्यवसाय से प्राप्त होता है।

उसका वितरण किस प्रकार होता है ? सीमान्त उत्पादन का सिद्धान्त (How is it Distributed ? The Theory of Marginal Productivity)—राष्ट्रीय आय उत्पादन के विभिन्न साधनों में पारिश्रमिक के रूप में बांटी जाती है। प्रत्येक साधन का हिस्सा मूल्य सिद्धान्त के नियमों के आधार पर निश्चित होता है। जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसकी सीमान्त उपयोगिता के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखलाता है उसी प्रकार उत्पादन के प्रत्येक साधन का मूल्य व्यवसायी की दृष्टि से सीमान्त उत्पादन (marginal productivity) के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखलाता है। इसलिये वितरण के सम्बन्ध में सीमान्त उत्पादन का सिद्धान्त प्रधान तत्व या सिद्धान्त है।

सीमान्त-उत्पादन शक्ति किस प्रकार निश्चित होती है

जिस प्रकार किसी व्यक्ति के लिये किसी वस्तु की उपयोगिता उस इकाई की उपयोगिता के बराबर होती है जिसे वह किसी प्रकार बाजार भाव पर खरीदने के लिये राजी हो जाता है उसी प्रकार किसी साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति उत्पत्ति की उस इकाई के मूल्य के बराबर होती है, जिसे उत्पादक किसी प्रकार बाजार भाव पर उत्पादन कार्य में लगाने को राजी हो जाता है। अन्य सब साधनों की पूर्ति स्थिर रहते हुए जब उत्पादक किसी साधन की एक अतिरिक्त मात्रा लगाकर अतिरिक्त उत्पत्ति प्राप्त करता है तो उस अतिरिक्त उत्पत्ति के मूल्य के बराबर सीमान्त उत्पादन शक्ति होती है। इस प्रकार वास्तविक या नकद सीमान्त उत्पत्ति किसी फर्म के कुल उत्पादन के मूल्य में वृद्धि या घटी बतलाती है, जब कि उत्पादन के किसी साधन में बहुत छोटी मात्रा जोड़ी जाती है, या घटाई जाती है। इसमें शर्त यह है कि उस फर्म के संगठन में भी पूर्ति में होनेवाले परिवर्तन के अनुसार रद्दोबदल होना चाहिये। अर्थात् उसको अधिक से अधिक किफायत के आधार पर संगठित होना चाहिये जिससे कि यदि किसी साधन की (मानलो) १०० इकाइयां है तो ९९ या १०१ इकाइयां होने पर अन्तर मालूम हो जाय। इस तरीके से अन्य साधनों की पूर्ति यथावत् रखते हुए एक साधन की कुल पूर्ति में एक मात्रा जोड़कर या एक मात्रा घटाकर हम प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति निश्चित कर सकते हैं। और चूंकि कम से कम सिद्धान्त के रूप में एक साधन की सब इकाइयां एक दूसरे से आपस में बदली जा सकती है, इसलिये इस अतिरिक्त इकाई की उत्पादन शक्ति उस साधन की अन्य सब इकाइयों को प्राप्त होने वाले पारिश्रमिक की दर निश्चित कर देती है।

जिस प्रकार सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त घटती हुई उपयोगिता से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार सीमान्त उत्पादन का सिद्धान्त घटती हुई उत्पत्ति के नियम से उत्पन्न होता है, जब कि उस नियम का उपयोग किसी व्यवसाय-संगठन के सम्बन्ध में किया जाता है। अन्य सहयोगी साधनों के यथावत् रहते हुए किसी व्यवसाय में जब एक साधन की मात्राएं

अधिकाधिक सख्या में उपयोग में लाई जाती है तब कुछ समय के लिये उत्पत्ति अनुपात से अधिक मात्रा में बढ सकती है। परन्तु जल्दी एक स्थिति ऐसी आ जायगी, जब उस साधन की एक अधिक मात्रा का उपयोग करने से उत्पत्ति अनुपात से कम होगी। यदि हम किसी कारखाने में श्रमिकों की सख्या बढाते जाय तो एक स्थिति ऐसी आयगी जब मनुष्यों की सख्या बढाने से उत्पत्ति उस अनुपात में नही बढेगी। जब कोई उत्पादक अपने व्यवसाय में किसी साधन की इकाइया बढाता है, तब उस साधन से होनेवाली अतिरिक्त उत्पत्ति घटने लगती है। फिर एक समय ऐसा आता है जब कि अतिरिक्त इकाई की उत्पादन शक्ति ठीक उसकी कीमत के बराबर होती है। यह इकाई उस साधन की सीमान्त इकाई होती है और उसकी उत्पादन शक्ति का मूल्य उस साधन की सब इकाइयो का मूल्य निश्चित करता है। उसके बाद वह अन्य इकाई का उपयोग नही करेगा, क्योंकि इस इकाई की उत्पत्ति का मूल्य इकाई के मूल्य से कम होगा।

प्रतिस्थापन का सिद्धान्त

एक ऐसे बाजार में जहा पूर्ण प्रतियोगिता स्वतन्त्र रूप से चलती है और जहा कई फर्म उत्पादन कार्य करते है, हम यह मान सकते है कि उत्पत्ति के अथवा उत्पादन के साधनो की कीमतो पर किसी एक फर्म का प्रभाव इतना कम पडेगा कि हम उसे नगण्य कह सकते है। उस फर्म के मालिक को अपनी उत्पत्ति के लिये बाजार भाव स्वीकार करना पडेगा। इसी प्रकार साधनो की किसी इकाई के लिये उसे जो कीमत देनी पडेगी, वह भी उस दर के द्वारा निश्चित हो सकती है, जो उन साधनो के लिये कोई अन्य व्यवसायी या उद्योग देता हो। जब साधनो की कीमतें इस प्रकार निश्चित होती है, तब उत्पादक हमेशा विभिन्न साधनों को इस तरह मिलावेगा कि उसका उत्पादन का लागत खर्च कम से कम हो। वह अपने साधनो का अनुपात लगातार तब तक बदलता रहेगा, जब तक साधनो की प्रत्येक इकाई के लिये वह जो कीमत देता है, वह उस इकाई की नक्द सीमान्त उत्पत्ति के बराबर न हो जायगी। यदि वह सोचता है कि अधिक मजदूर लगाने से वह जो उत्पत्ति प्राप्त करेगा, वह मजदूरी के खर्च से अधिक होगी तो उत्पादक अधिक मजदूर लगावेगा। यदि अधिक पूजी लगाने से जो उत्पत्ति होगी, वह पूजी के ब्याज से अधिक होगी तो अधिक पूजी लगाई जावेगी। जिसमें वह लागत कम करने की गुजाइश देखेगा, उस हिसाब से वह अधिक श्रम और कम भूमि और पूजी अथवा अधिक पूजी और कम भूमि तथा श्रम, अथवा अधिक भूमि और कम श्रम और पूजी का उपयोग करेगा। इस प्रकार वह हमेशा प्रतिस्थापन के सिद्धान्त पर अमल करता रहता है। वह भूमि, श्रम और पूजी के अनुपात को इस प्रकार बदलता रहता है, जिससे उत्पादन में होनेवाली बढती साधनों की उन अतिरिक्त इकाइयो के मूल्य के बिल्कुल बराबर होगी, जिनका वह उपयोग करता है। यदि किसी साधन की नक्द उत्पत्ति कीमत से अधिक या कम होगी तो उसी के अनुसार वह उत्पादन बढाने या घटाने की बात सोचेगा। इसलिये किसी

फर्म के विस्तार और उत्पादन के तरीकों में साम्य रखने के लिये यह आवश्यक है कि उत्पादन के प्रत्येक साधन का मूल्य उसकी सीमान्त उत्पत्ति के बराबर हो। इसलिये साम्य की स्थिति में प्रत्येक साधन का भाग उसकी सीमान्त उत्पत्ति के द्वारा निश्चित होगा।

इस सिद्धान्त के अनुमान

संक्षेप में यही सीमान्त उत्पादन का सार है। जैसा कि हम देख चुके हैं, यह सिद्धान्त निम्नलिखित अनुमानों पर आधारित है। पहिला अनुमान यह है कि किसी साधन की सब इकाइयां एक-सी होती हैं और हम एक इकाई के बदले किसी भी अन्य इकाई का उपयोग कर सकते हैं। दूसरा अनुमान यह है कि यद्यपि विभिन्न साधन किसी वस्तु के उत्पादन-कार्य में एक दूसरे के साथ सहयोग करते हैं तो भी वे एक दूसरे से बदले जा सकते हैं। यह बदला इस तरह का होता है कि सीमा तक हम भूमि और श्रम का अधिक उपयोग कर सकते हैं अथवा श्रम का अधिक तथा भूमि और पूंजी का उपयोग कम कर सकते हैं। तीसरा अनुमान यह है कि उपरोक्त कारणों से साधनों के अनुपात में सदा परिवर्तन की संभावना रहती है। अंतिम अनुमान यह है कि यह सिद्धान्त व्यवसाय संगठन में संगठित उद्योग का सिद्धान्त लागू करने के आधार पर बना हुआ है।

इस सिद्धान्त की सहायता से लगान, ब्याज, श्रम की दर और लाभ समझाये जा सकते हैं। यदि कोई उत्पादक भूमि के अधिकाधिक भाग बचे हुए श्रम और पूंजी की मात्रा से करता है अर्थात् भूमि की मात्रा बढ़ाता जाता है पर श्रम और पूंजी की मात्रा नहीं बढ़ाता तो उसके उत्पादन की बढ़ती घटती हुई दर से होगी। यदि मान लें कि भूमि के सब भाग एक समान उपजाऊ हैं तो एक भूमिखंड का लगान उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखलायेगा। एक मात्रा जोड़ने से कुल उद्योग का जो उत्पादन होगा और एक मात्रा घटाने से कुल उद्योग का जो उत्पादन होगा, इन दोनों का अन्तर पूंजी का नकद सीमान्त उत्पादन होगा। इसमें शर्त यह होगी कि एक मात्रा जोड़ने अथवा घटाने समय अन्य साधनों की पूर्ति यथावत् रहे और व्यवसाय का संगठन उत्तम हो; पूंजी का ब्याज इस नकद उत्पत्ति के बराबर होगा। अन्य वस्तुओं के यथास्थित रहते हुए एक मजदूर अधिक लगाने से उत्पादन में जो बढ़ती होगी, उसके बराबर होने की प्रवृत्ति मजदूरी की दर दिखलायेगी। अन्त में उत्पादक की सहायता से जो उत्पादन होता है और उसकी सहायता के बिना जो उत्पादन होता है, उसके अन्तर की मात्रा उत्पादक का लाभ होगा।

इस सिद्धान्त की काफी आलोचना हुई है। टॉसिग, डेवनपोर्ट, और एडिंगटन की आलोचनाएं ध्यान देने योग्य हैं। इनके मत में प्रत्येक उत्पत्ति सम्मिलित उत्पत्ति होती है। उसके सम्बन्ध में हम यह नहीं कह सकते कि इतना अंश पूंजी द्वारा उत्पादित है, इतना श्रम द्वारा और इतना भूमि द्वारा। प्रत्येक साधन विशेष की उत्पत्ति हम अलग से नहीं बता सकते। जैसा कि कारवर ने कहा है 'तुम अंडों का विश्लेषण

नहीं कर सकते।' कोई भी उत्पत्ति विभिन्न साधनों का ऐसा सम्मिश्रण होता है कि तुम उसे अलग-अलग नहीं कर सकते। परन्तु यह आलोचना

उत्पादन संयुक्त होता है। किसी साधन का अलग उत्पादन नहीं होता

सीमान्त उत्पादन के सिद्धान्त का गलत अर्थ लगाती है। जब हम यह कहते हैं कि किसी साधन की नक्द सीमान्त उत्पत्ति इतनी है तो हमारा मतलब यह नहीं रहता कि यह नक्द उत्पत्ति केवल उस साधन के कारण है। हम केवल उसे साधन के हिस्से में लगा देते (impute) हैं। इसके सिवा उत्पादन में संयुक्त रूप में लगे हुए साधनों की सेवाएं मापने का अन्य कोई तरीका नहीं है। यह केवल संयुक्त माग का एक उदाहरण है और इसमें वही परिस्थिति उत्पन्न होती है जैसी कि मक्खन और रोटी के समान उपभोक्ताओं की वस्तुओं में होती है। मक्खन की माग अन्य वस्तुओं के साथ होने के कारण जितनी कठिनाई उसकी उपयोगिता निश्चित करने में होती है, उतनी ही और उसी प्रकार की कठिनाई श्रम अथवा पूजी की उत्पादन-शक्ति अलग से जानने में होती है। क्योंकि वे सदा अन्य साधनों के साथ मिले रहते हैं।

दूसरी आलोचना वीजर ने की है और उसी से मिलती-जुलती हावसन की आलोचना है। नक्द सीमान्त उत्पत्ति किसी साधन की सेवाओं का सही द्योतक नहीं है, क्योंकि जब उत्पादन से एक इकाई घटा दी जाती है, तो उससे पूरा व्यवसाय अस्त-व्यस्त हो जाता है और उसके कारण अन्य साधनों की उत्पादन-शक्ति भी काफी कम हो जाती है। इसलिये एक मात्रा घटाने से एक साधन के उत्पादन में जितनी कमी हम सोचते हैं, उससे कहीं अधिक कमी कुल उत्पादन की मात्रा में होती है। इसलिये जाहिर है कि यह विचार गलत है कि सब साधनों की सीमान्त नक्द उत्पत्ति का जोड़, जो कि सिद्धान्त के अनुसार अलग अलग निश्चित होगा, उत्पत्ति की वास्तविक मात्रा या जोड़ से अधिक होगा। इस आलोचना की गलती यह है कि इसका ध्यान व्यवसाय के छोटे संगठन और साधनों की बड़ी इकाइयों पर रहता है। परन्तु प्रायः व्यवसाय का विस्तार इतना बड़ा रहता है और साधनों की साधारण इकाइया इतनी छोटी होती है कि किसी साधन की एक इकाई घटा देने से दूसरे साधनों के उत्पादन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। हा, यह बात अवश्य है कि सिद्धान्त की दृष्टि से इकाइया बहुत ही छोटी होनी चाहिये। इस प्रकार की गलती या इससे उत्पन्न होनेवाली कठिनाई का मार्जिन बहुत मामूली बात समझना है और हम उसे छोड़ सकते हैं।

तीसरी प्रकार की आलोचना नकारात्मक रूप में है और वह विक्स्टीड के द्वारा की गई है। सब साधनों की नक्द सीमान्त उत्पत्तियां कुल उत्पादन से कम रहेंगी, इसलिये कुछ भाग बचा रहेगा। विकस्टीड इस आलोचना को गलत सिद्ध करता है। वह यह अनुमान कर लेता है या मान लेता है कि साधनों में जो आनुपातिक बढ़ती होगी उससे उत्पत्ति भी उसी अनुपात में बढ़ेगी। अर्थात् वह स्थिर उत्पत्ति (constant

returns) मान लेता है। परन्तु यह अनुमान हमेशा सच नही होता और इससे भी कठिनाइयां उत्पन्न होती है।

आलोचना की चौथी दलील नकद सीमान्त उत्पत्ति मापने के सम्बन्ध में है और यह एक बड़ी कठिनाई मानी जाती है। वह कठिनाई यह है कि किसी साधन की एक इकाई की सीमान्त उत्पत्ति किसी फर्म के लिये पूरे उद्योग की अपेक्षा काफी कम होगी, जब कि उद्योग को वृहत उत्पादन या लाभ सम्बन्धी लाभ या बचत उपलब्ध हो। क्योंकि उद्योग को जब एक अतिरिक्त इकाई प्राप्त हो जाती है तो उसमें श्रम का विभाजन और अधिक हो जाता है। जब बढ़ती का पूरा प्रभाव मालूम हो जाता है अर्थात् जब पूरा उद्योग अपने को नयी पूर्ति के अनुसार संगठित कर लेता है, तब यह बिलकुल सम्भव है कि किसी साधन की सीमांत उत्पत्ति अलग-अलग फर्मो के लिये पूरे उद्योग की अपेक्षा कम हो। इसलिये जब तक उत्पादन बढ़ती उत्पत्ति की परिस्थितियों में होता है तब तक नकद सीमान्त उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ सन्देह बना रहता है।[1]

पांचवी आलोचना यह है कि हाबसन के मतानुसार विभिन्न साधनो का उपयोग करने में उनके अनुपातो में रद्दोबदल नहीं की जा सकती। उसका कहना है कि किसी व्यवसायमें वास्तविक रूप से जो विशेष कुशलता सम्बन्धी परिस्थितियां (technical conditions) रहती हैं, तथा मशीनो इत्यादि के रूप में जो अचल पूंजी रहती है, उनके द्वारा साधनो का अनुपात निश्चित होता है। कई ऐसी मशीनें रहती है, जिन्हें केवल एक मजदूर चला सकता है। उनके लिये दो मजदूर लगाना व्यर्थ है। जिस प्रकार केक बनाने के लिये विभिन्न वस्तुओ का अनुपात एक नुस्खे के रूप में बंधा रहता है, उसी प्रकार किसी व्यवसाय में भी उत्पादन के तरीको और कुशलता की परिस्थितियों के द्वारा साधनो का मिश्रण अनुपात भी पहिले से निश्चित रहता है। इसलिये जब तक हम किसी साधन का उपयोग न बदल सकें, तब तक हम उसकी नकद उत्पत्ति भी निश्चित नहीं कर सकते। वैसे साधारणत साधनो के परस्पर अनुपात बदलने की बेहद गुंजाइश रहती है। वास्तव में व्यवसाय में उन्नति की सम्भावना तभी होती है जब इस प्रकार का रद्दोबदल करना सम्भव होता है। इसके सिवा एक बात यह भी है कि यदि हम दीर्घकाल की दृष्टि से देखें तो अचल पूंजी के कारण साधनो के उपयोग में आनुपातिक रद्दोबदल करने मे कोई बडी कठिनाई नही दिखाई देती। क्योंकि दीर्घकाल में पूरक लागत सम्बन्धी खर्च नही होते। या तो पुरानी मशीनो की जगह नई मशीनें लगानी पड़ती हैं अथवा उनकी जगह अन्य साधनो का उपयोग होता है। इसलिये आनुपातिक रद्दोबदल की सम्भावना को स्वीकार नहीं करना चाहिये।

---

१. Joan Robinson 'Economics of Imperfect competition P. 327, Also Pigou 'Economics of welfare.' Hicks, 'The Theory of Wages' Appendix.

अन्त में इस सिद्धान्त की एक बडी कडी आलोचना यह है कि यह सिद्धान्त मान लेता है कि साधनो की पूर्ति दी हुई है। यह मान कर, तब यह समझाता है कि उनकी मागें क्यो होती हैं। साधनो की माग इसलिये होती है कि वे उत्पादको को सीमान्त उत्पत्ति देते है। परन्तु केवल माग किसी वस्तु का मूल्य नही बतला सकती, विशेषकर उत्पादन के किसी साधन का। किसी साधन की पूर्ति निश्चित या बधी हुई नही रहती। वह काफी हद तक लोचदार होती है, क्योकि वह कई बातो पर निर्भर रहती है। उदाहरण के लिये साधनो की पूर्ति कीमत पर निर्भर रहती है। हम यह नही कह सकते कि ब्याज की दर का असर पूजी पर नही पडेगा। चूकि उसका असर पडेगा, इसलिये ब्याज की दर का असर पूजी की वास्तविक उत्पत्ति पर भी पडेगा। इस प्रकार नकद सीमान्त उत्पत्ति स्वय भी एक परिवर्तनशील मात्रा है और वह कई बातो पर निर्भर रहती है। इस कारण से मार्शल स्वीकार करता है कि "यह सिद्धान्त मजदूरी को प्रभावित करनेवाले कई कारणो में से एक कारण की क्रिया या गति पर पूर्ण प्रकाश डालता है।"

यह सिद्ध पूर्ति सम्बन्धी प्रभावों पर ध्यान नहीं देता

इस प्रकार उत्पादन के साधनो की कीमत निश्चित करने में सीमान्त उत्पत्ति का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि यह सिद्धान्त केवल यह बतलाता है कि उत्पादक साधनो की क्या कीमत दे सकता है। परन्तु वास्तविक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता नही पाई जाती, जैसा कि इस सिद्धान्त में मान लिया गया है। आर्थिक सगठन में निरन्तर एक सघर्ष चला करता है जिसके कारण ब्याज, लगान, श्रम की दर और सीमान्त नकद उत्पत्तियो में उचित सम्बन्ध नही हो पाता। लेकिन जब उचित सम्बन्ध की कमी बहुत दिनो तक रहेगी, तब कुछ ऐसी प्रवृत्तिया उठेंगी, जिनसे त्रुटिया दूर होने की सभावना बढेगी।

वास्तविक जीवन में नकद उत्पत्ति और मूल्य में अन्तर हो सकता है

अन्त में ध्यान रहे कि वितरण के सिद्धान्त में, कोई नैतिक औचित्य या न्याय का प्रश्न नही रहता। सीमान्त उत्पत्ति के सिद्धान्त से ऐसा लगता है कि चूकि साधनो को वही मिलता है, जो वे उत्पादन करते है, इसलिये आय का वितरण उचित होता है। परन्तु यह नही भूलना चाहिये कि बाजार का मूल्य, जो कि सीमान्त नकद उत्पति के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखलाता है, समाज-सेवा के साथ कोई आवश्यक सम्बन्ध नही होता। इसलिये इस सिद्धान्त का उपयोग वर्तमान वितरण प्रथा को न्यायोचित ठहराने के लिये नहीं करना चाहिये।

पचीसवां अध्याय

लगान या किराया

(Rent)

लगान का अर्थ (The Meaning of Rent)—लगान या किराये का साधारण अर्थ किसी वस्तु के उपयोग के लिये एक निश्चित समय पर कुछ धन देना है। जैसे हम मकान, गाड़ी या बाजा इत्यादि किराये पर लेते हैं। परन्तु अर्थशास्त्र में किराया या लगान शब्द इस अर्थ में उपयोग नहीं किया जाता। प्रचलित अर्थ में लगान शब्द का अर्थ वह रकम है, जो किसान किसी खेत के मालिक को देता है या कोई किरायेदार किसी मकान-मालिक को देता है। हिन्दी में 'रेन्ट' शब्द के लिये लगान, किराया या भाड़ा शब्द प्रचलित है। भूमि के उपयोग से जो आय होती है और भूमि में पूंजी लगाने से जो आय होती है, इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। पर अर्थशास्त्र में पहिले को अर्थात् भूमि के उपयोग से प्राप्त होनेवाली आय को लगान (rent) कहते हैं और दूसरे को अर्थात् भूमि में पूंजी लगाने से प्राप्त आय को व्याज (interest) कहते हैं। जो भूमि उत्पादन के काम में आती है, उसके उपयोग के लिये दी जानेवाली रकम को अर्थशास्त्र में लगान कहते हैं। सुविधा के लिये हम उसे आर्थिक लगान कहेंगे।

आर्थिक लगान और वास्तविक लगान (Grass rent & rent proper)

आर्थिक लगान में अर्थात् साधारणतः जो लगान किसान देता है, उसमें तीन चीजें शामिल रहती हैं : (अ) आर्थिक लगान अर्थात् भूमि के उपयोग के लिये दी जानेवाली रकम। (ब) व्याज अर्थात् मकान तथा भूमि के उन्नति के लिये जो पूंजी लगाई जाती है, उससे होनेवाली आय। (स) मकान तथा भूमि की उन्नति के लिये जो पूंजी लगाई जाती है, उसकी देख-रेख करने के लिये भूमिपति या उसके गुमाश्ता का पारिश्रमिक (wages)। इस पारिश्रमिक में वह रकम भी जोड़ी जाती है, जो भूमिपति को भूमि की उन्नति करने के लिये रकम लगाने के खतरे के लिये मिलनी चाहिये, क्योंकि यह रकम लगाने में वह कुछ खतरा तो उठाता ही है।

रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त (Recardian Theory of Rent)—ब्रिटेन के जिन पुराने (classical) अर्थशास्त्रियों ने लगान के सिद्धान्तों का अध्ययन, व्याख्या और परिभाषा की है, उनमें डेविड रिकार्डो (David Ricardo) का नाम सबसे अधिक उल्लेखनीय है, यद्यपि लगान सिद्धान्त का अध्ययन

उसके पहिले भी कुछ अर्थशास्त्रियो ने मोटे तौर से किया था। रिकार्डो के मतानुसार "लगान भूमि की उपज का वह अश है, जो भूमि के मालिक को भूमि की मूल और अविनाशी शक्तियों के लिये दिया जाता है।" सब भूमिखड एक समान उपजाऊ नही होते। विभिन्न भूमिखडो में उपजाऊ शक्ति सम्बन्धी मौलिक अन्तर रहते हैं। कुछ भूमिखड अधिक उपजाऊ होते हैं और कुछ कम उपजाऊ होते हैं। अधिक उपजाऊ भूमिखड उत्पादन की दृष्टि से अधिक लाभकारी होते हैं। उपजाऊपन के इसी अन्तर के कारण लगान उत्पन्न होता है।

रिकार्डो की विचारधारा का अनुसरण करते हुए हम एक उदाहरण ले सकते हैं। मान लो कुछ नये लोग एक देश में जाकर बसते हैं और वहा खेती आरम्भ करते है। शुरू में वे केवल उत्तम भूमि में खेती करेंगे। जब तक उत्तम भूमिखड या खेत प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो सकते है, तब तक भूमि के उपयोग के लिये कोई कुछ न देगा। उत्तम भूमि से जो उपज होती है, वही वहा के निवासियो की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये काफी है। किसानो को भूमि के लगान के रूप में कुछ नही देना पडेगा, क्योंकि वह प्रचुर मात्रा में प्राप्य है। जिस वस्तु की पूर्त्ति असीम होती है, उसके लिये कोई कुछ नहीं देता। अब मान लो, उस देश में बसने के लिये लोगो का नया जत्था आता है। अब जो बची हुई उत्तम भूमि थी, उसमें भी कृषि होने लगेगी। परन्तु अब उत्तम भूमि से जो कुल उपज होती है, उससे लोगो की अन्न सम्बन्धी आवश्यकताए पूरी नही होती। इसलिये नये बसनेवालों को अब दूसरे दर्जे के भूमिखडो पर खेती करनी पडेगी। इन खेतों की उपज उत्तम खेतों से अर्थात् पहिले दर्जे के खेतो से कम होती है। दूसरे दर्जे के खेतो में पहिले दर्जे के खेतों की अपेक्षा उपज कम होगी। उतनी ही पूजी और श्रम लगाने से (मान लो) उत्तम खेत में ३५ बुशल उपज होती है; पर, मध्यम दर्जे के खेत में ३० बुशल उपज होती है। गेहू का भाव ऐसा होना चाहिये कि ३० बुशल अनाज बेचने से उतनी पूजी और श्रम का खर्च (जिसमें कृषि का सामान्य लाभ भी शामिल है) निकल आवे। नही तो लोग दूसरे दर्जे के खेतों को जोतेंगे नही। जब दूसरे दर्जे के खेत जोते जाते हैं तब उत्तम दर्जे के खेतो में ५ बुशल उपज अधिक होती है, यद्यपि दोनो प्रकार के खेतों पर उत्पादन खर्च एक प्रकार लगता है। यह अधिक मात्रा अर्थात् ५ बुशल लगान है। अब चाहे इसे किसान ले या भूमिपति ले। इसी प्रकार यदि दूसरे दर्जे के सब खेत जोतने पर भी अन्न की आवश्यकता पूरी नहीं होती, तो लोगों को तीसरे दर्जे के खेत जोतने पडेंगे। इनकी उपज दूसरे दर्जे के खेतो से भी कम रहेगी। दूसरे दर्जे के खेतो की उपज इनसे अधिक होगी और पहिले दर्जे के खेतों की तो इनसे और अधिक रहेगी। तब दूसरे दर्जे के खेत कुछ लगान देने लगेंगे और पहिले दर्जे के खेतो का लगान बढ जायगा। इस प्रकार अच्छी भूमि की अधिक उपज के कारण उपज का अन्तर या लगान उत्पन्न होता है।

मान लो, एक एकड उत्तम श्रेणी की भूमि में जो पूजी और श्रम लगेंगे उनकी रकम

(जिसमें किसान का लाभ भी शामिल है) सब निकल आवेगी, अब कुल उपज ७० रुपये में बिक जाती है (अर्थात् २ रु० प्रति बुशल के भाव से)। मान लो गेहूं का बाजार भाव भी २ रुपया प्रति बुशल है। बिक्री से प्राप्त रुपया श्रम और पूंजी का पारिश्रमिक देने में चुक जाता है और शेष कुछ नहीं बचता। अब जनसंख्या बढ़ने के कारण अनाज की माग भी बढ़ती है और गेहूं का भाव २ रु० से २ १/३ प्रति बुशल हो जाता है। अब पूंजी और श्रम की उसी मात्रा से दूसरे दर्जे की भूमि जोतनी भी लाभदायक हो जाती है। इस भूमि की कुल उपज ३० बुशल प्रति एकड़ है और उसकी कीमत ७० रु० है, जिसमें केवल पूंजी और श्रम का पारिश्रमिक दिया जा सकता है। चूंकि बाजार में केवल एक भाव रह सकता है, इसलिये पहिले दर्जे की भूमि की उपज का दाम ८१ १/३ रुपया होगा। इसमें से भूमि और श्रम सम्बन्धी खर्च ७० रु० है। इसलिये पहिले दर्जे की भूमि से ११ १/३ रुपया लगान या किराया प्राप्त होगा।

लगान और घटती उपज का नियम

फिर जैसे-जैसे अनाज की माग बढ़ेगी, वैसे-वैसे उत्तम भूमि की अधिक गहरी खेती की जावेगी। परन्तु जब श्रम और पूंजी की अधिकाधिक इकाइयां लगाई जावेंगी, तब घटती उपज का नियम भी क्रियाशील हो जावेगा। पूंजी और श्रम की दूसरी मात्रा पहिली मात्रा की अपेक्षा कम उपज देगी। इसलिये पूंजी और श्रम की प्रारम्भ की मात्राओं पर सीमान्त मात्रा की अपेक्षा अधिक उपज होगी। इस प्रकार उत्तम भूमि की गहरी कृषि होने पर लगान बढ़ेगा।

स्थिति और लगान

लगान निश्चित करने में स्थिति का भी काफी बड़ा हाथ रहता है। मान लो सब भूमिखण्ड एक समान उपजाऊ हैं। पर कुछ बाजार के पास स्थित हैं, और कुछ बाजार से दूर हैं। प्रत्येक एकड़ की उपज २५ बुशल है। यदि गेहूं का भाव २ रुपया प्रति बुशल है, तो दूर स्थित भूमिखण्ड नहीं जोते जावेंगे। क्योंकि खेती के श्रम और पूंजी के खर्च के अलावा, जो सब खेतों पर एक से हैं, दूर स्थित खेतों पर यातायात सम्बन्धी खर्च भी होगा। दूर के खेतों की उपज बाजार तक भेजने में कुछ खर्च अवश्य होगा।

लगान और कीमत

लगान के अपने सिद्धान्त के आधार पर रिकार्डो इस नतीजे पर पहुंचा। लगान कीमत का परिणाम था, इसलिये वह कीमत का अंश नहीं हो सकता। उपज की कीमत सीमान्त भूमि के उत्पादन खर्च के बराबर होने की प्रवृत्ति रखती है। सीमान्त भूमि पर जो उपज होती है, यदि उसकी कीमत से उत्पादन का खर्च पूरा नहीं होता, तो स्वाभाविक है कि उस भूमि पर उस फसल की खेती नहीं की जावेगी। फल यह होगा कि फसल की मात्रा कम हो जावेगी। परन्तु यदि अनाज की माग पहिले की तरह बनी रहती है, तो कीमत बढ़ेगी और यहां तक बढ़ेगी कि उस भूमिखण्ड में उस फसल का बोना फिर से लाभदायक हो

जायगा। इस प्रकार उस फसल का दाम सीमान्त भूमि पर खेती करने के उत्पादन खर्च के बराबर होगा। परन्तु सीमान्त भूमि अनुमान के अनुसार (ex-hypothesis) लगान न देनेवाली भूमि है। इसलिये लगान उत्पादन खर्च का अंश नहीं है। इसीलिये वह कीमत का भी अंश नहीं है। इस प्रकार रिकार्डो का मत है कि कीमत बढ़ने से लगान बढ़ता है। लगान बढ़ने के कारण कीमत नहीं बढ़ती।

रिकार्डो के लगान सम्बन्धी सिद्धान्त की काफी आलोचना हुई है। सबसे पहिले तो यह कहा जाता है कि भूमि में कोई मूल और अविनाशी शक्तियां नहीं हैं। कुछ दिनों की कृषि के बाद उत्तम भूमि का भी उपजाऊपन कम हो जाता है। क्योंकि जिन रासायनिक द्रव्यों के ऊपर उपजाऊपन निर्भर रहता है, वे कुछ वर्षों की लगातार खेती के कारण क्षीण हो जाते हैं। यह बात सच है। परन्तु साथ ही यह भी सच है कि भूमि में मिट्टी, नमी, जलवायु इत्यादि सम्बन्धी कुछ ऐसे गुण होते हैं, जो अविनाशी होते हैं।

दूसरी आलोचना कारे (Carey) और राशर (Roscher) की है, जो रिकार्डो के कृषि-सम्बन्धी विचारों पर है। उनका कहना है कि नये देशों में हमेशा पहिले उत्तम भूमि पर खेती नहीं की जाती है। लोगों की आबादी के पास जो भूमि होती है, उस पर पहिले कृषि की जाती है, चाहे वह अच्छी हो या नहीं। इसलिये रिकार्डो ने कृषि का जो क्रम बतलाया है, वह गलत है। इस आलोचना का उत्तर वाकर (Walker) ने दिया है। उसने कहा है कि जब रिकार्डो ने उत्तम भूमिखंडों की चर्चा की तो उसने उपजाऊपन और स्थिति दोनों बातों पर विचार करने की थी।

तीसरी आलोचना यह है कि रिकार्डो का यह कहना गलत है कि किराया कीमत का अंश नहीं है। लगान और कीमत में जो सम्बन्ध है, उसका अध्ययन हम इसी अध्याय में आगे चलकर करेंगे।

भूमि से जो सेवाएं ली जाती हैं, उनकी कीमत के रूप में लगान दिया जाता है। इसलिये जैसे अन्य सब कीमतें माग और पूर्ति के नियम के आधार पर निश्चित की जाती हैं, उसी प्रकार यह कीमत भी उसी आधार पर समझाई जा सकती है। लगान भूमि की माग पर और किसी देश में भूमि की पूर्ति की मात्रा पर निर्भर होता है। उपज की मात्रा तथा माग के अनुसार कृषि की सीमा जनसंख्या पर निर्भर होती है। पूर्ति के अनुसार अथवा पूर्ति की दृष्टि से उपज की मात्रा और कृषि की सीमा भूमि की प्राप्य मात्रा और उपजाऊपन पर निर्भर होती है। इसलिये लगान का सिद्धान्त मूल्य के साधारण सिद्धान्त के आधार पर समझाया जा सकता है। दोनों में कोई विरोध नहीं है। लगान का सिद्धान्त केवल कुछ आगे बढ़ जाता है और यह समझाने की कोशिश करता है कि लगान किस क्रम से उत्पन्न होता है।

सीमान्त उत्पादन के सिद्धान्त के आधार पर भी लगान का सिद्धान्त समझाया जा सकता है। मान लो श्रम के समान सब भूमि एक समान उपजाऊ है और सब खेत बाजार

से एक बराबर दूरी पर स्थित हैं। अर्थात् भूमि में स्थिति और उपजाऊपन सम्बन्धी भिन्नता नहीं है। मान लो एक किसान १०० एकड़ भूमि जोतता है और (मान लो) उसमें वह श्रम और पूंजी की १०० मात्राएं लगाता है। उससे उसको उपज की एक निश्चित

लगान और सीमान्त उत्पादन

मात्रा मिलती है। अन्य वस्तुओं के यथास्थित रहते हुए अब वह अपनी कृषि में एक एकड़ भूमि अधिक जोड़ देता है। अब वह पूंजी और श्रम की १०० इकाइयां भूमि के १०१ एकड़ में लगावेगा। अब प्रत्येक एकड़ भूमि की कृषि पहिले की अपेक्षा अधिक विस्तृत रूप से होगी। अब कुल उपज की मात्रा बढ़ जावेगी, लेकिन घटती दर से बढ़ेगी। यह जो बढ़ी हुई मात्रा है, वह एक एकड़ भूमि की सीमान्त उपज कहलावेगी। लगान सीमान्त उपज के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखलावेगा और प्रत्येक एकड़ से भूमि के स्वामी को उपज की यह मात्रा मिलेगी।

परन्तु भूमि के विभिन्न भागों का उपजाऊपन एक-सा नहीं होता। इसलिये उपजाऊपन की भिन्नता के अनुसार लगान में भी अन्तर रहेगा। इस अन्तर के कारण लगान समझाने में कठिनाई पड़ती है। परन्तु इससे कोई नया सिद्धान्त उत्पन्न नहीं होता। लगान की मात्रा निश्चित करने में उपजाऊपन और स्थिति का अन्तर दो महत्वपूर्ण बातें होती हैं। किसी निश्चित भूमि क्षेत्र का लगान, बेलगान भूमि अथवा सीमान्त भूमि की अपेक्षा उसकी उत्तमता पर निर्भर होता है। अर्थात् वह भूमि लगान न देनेवाली भूमि की अपेक्षा कितनी उत्तम है। लेकिन यह कहना सच नहीं है कि यदि भूमि में उपजाऊपन या स्थिति सम्बन्धी अन्तर न रहे तो लगान भी न रहेगा। मान लो किसी देश में केवल १०,००० एकड़ भूमि है। सब भूमि के उपजाऊपन इत्यादि गुण एक से हैं। प्रत्येक एकड़ में ३० बुसल गेहूं पैदा होता है और उसमें उचित मात्रा में पूंजी और श्रम लगाये जाते हैं। इस प्रकार उसकी कुल उपज ३००,००० बुसल है। फिर मान लो कि पूंजी, श्रम, किसान का मुनाफा इत्यादि मिलाकर उत्पादन की लागत ६० रुपये प्रति एकड़ होती है। इस प्रकार ३,००,००० बुसल गेहूं पैदा करने की कुल उत्पादन लागत ६,००,००० रु० होती है। यह भी मान लो कि २ रुपया प्रति बुसल के भाव से केवल ३,००,००० बुसल की मांग है। इस परिस्थिति में बिक्री से जो रकम प्राप्त होगी, वह उत्पादन की लागत के ठीक बराबर है और भूमि के किराये के रूप में कुछ नहीं दिया जायगा। अब फिर मान लो कि गेहूं की मांग बढ़ती है। उपज बढ़ाने के लिये प्रत्येक एकड़ की पहिले की अपेक्षा अधिक गहरी कृषि की जाती है। उत्पादन के खर्च बढ़ जाते हैं और इन खर्चों को पूरा करने के लिये कीमत का बढ़ाना आवश्यक है। पूंजी और श्रम की पहिली मात्रा लगाने पर किसानों को अधिक उपज मिलती है। इसलिये जब तक भूमि से प्राप्त होने वाली उपज इतनी रहेगी कि उससे मांग पूरी नहीं हो सकती और जबतक उपज की कीमत उत्पादन की लागत से अधिक रहेगी तब तक लगान भी रहेगा।

'भूमि के लगान का सिद्धान्त कोई स्वतन्त्र और अलग आर्थिक सिद्धान्त नहीं है। माग और पूर्ति का जो व्यापक और सामान्य सिद्धान्त है, उसी के एक अनुमान का प्रमुख उपयोग है।' लगान उत्पन्न होने का कारण यह है कि भूमि की पूर्ति बेलोचदार है। परन्तु इसमें एक विशेषता यह है कि भूमि की बेलोचदार पूर्ति लगभग स्थायी है, जब कि अन्य वस्तुओ की बेलोचदार पूर्ति अस्थायी रहती है। इस कारण से लगान के सिद्धान्त में कुछ विशेष बातें आ जाती हैं, परन्तु उससे वह मूल्य सिद्धान्त से भिन्न नहीं हो जाता। जब किसी साधन की पूर्ति पूर्ण रूप से लोचदार नहीं होती, तब उस साधन की अधिक मात्रा प्राप्त करने के लिये अधिक मूल्य देना आवश्यक होगा। जो लोग बेचने के लिये उत्सुक हैं, उन्हें इस ऊचे भाव पर वह रकम मिल जावेगी, जो उन्हें बेचने को उतावला और उत्सुक के लिये आवश्यक रकम से भी अधिक है। इस अधिक रकम को आर्थिक लगान कहते है।'[1]

लगान और कीमत (Rent and Price)—रिकार्डो के मतानुसार लगान कीमत का परिणाम है। इसलिये लगान कृषि की उपज की कीमत निश्चित नहीं करता। उत्तम भूमि में जो उपज होती है और बेलगान अर्थात् सीमान्त भूमि में जो उपज होती है, उनके अन्तर को लगान कहते हैं। अनुमान के आधार पर सीमान्त भूमि कोई लगान नहीं देती। और चूकि कृषि के उपज के दाम सीमान्त भूमि के उत्पादन खर्च के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखलाते हैं, इसलिये लगान मूल्य या कीमत निश्चित नहीं करता। यह कहना सही नहीं है कि लगान ऊचा है, इसलिये अन्न का भाव ऊचा है। कहने का सही तरीका यह है कि अनाज का भाव ऊचा है, इसलिये लगान ऊचा है। जब अन्न का भाव बढ़ जाता है, तब घटिया दर्जे की भूमि जोती जाती है और अच्छे दर्जे की भूमि उत्पादन खर्च से अधिक उपज देती है।

इस बात से बहुधा लोग भ्रम में पड जाते है। यह बात अवश्य है कि कोई व्यवसायी अपने कारखाने की भूमि के लिये जो किराया देता है, वह उसके उत्पादन खर्च का अश है और उसे वह अवश्य पूरा करेगा। उस व्यवसायी की दृष्टि से लगान उत्पादन खर्च का अश है। परन्तु अर्थशास्त्र का सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष के दृष्टिकोण से नहीं है। सामाजिक दृष्टिकोण से भूमि की पूरी मात्रा को ध्यान में रखते हुए जमीन के लिये जो दाम दिये जाते हैं, वे उस मूल्य का अश नहीं हैं, जो किसी वस्तु की कीमत कहलाती है। हम देख चुके हैं कि उत्पादन सम्बन्धी सब खर्च उत्पादन की वास्तविक लागत बतलाते हैं। श्रम और पूजी की पूर्ति में उपयोगिता की बरबादी (dis-utility) लगी रहती है। इस बरबादी से बचने के लिये उनका मूल्य देना पड़ता है। इसलिये मजदूरी और ब्याज आवश्यक लागत खर्च के अश हैं। परन्तु भूमि की पूर्ति

भूमि में बरबादी सम्बन्धी खर्च नहीं होता

---

[1] K Boulding Economic Analysis, pp. 229–232

की कुल मात्रा में उपयोगिता की बरबादी नहीं होती। वह प्रकृति की देन है, जो मनुष्य को मुफ्त में मिलती है। भूमि की पूर्ति में वास्तविक खर्च का अंश नहीं है। इसलिये भूमि की सेवाओं के लिये जो मूल्य दिया जाता है, वह आवश्यक उत्पादन खर्च का अंश नहीं है, वह खर्च जो बरबादी बचाने के लिये आवश्यक होता है।

यह बात भली-भांति समझ में आ जायगी, यदि हम यह सोचें कि मजदूरी न देने पर क्या होगा। फल यह होगा कि श्रम की पूर्ति बहुत कम हो जायगी, क्योंकि बिना मजदूरी पाये बहुत कम लोग मुफ्त में काम करने को तैयार होंगे। फिर मजदूर अपना भरण-पोषण न कर पायेंगे तो जनसंख्या कम हो जायगी। इसलिये मजदूरी की पूर्ति की मात्रा पर्याप्त रखने के लिये उसका पारिश्रमिक देना आवश्यक है। परन्तु भूमि से सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। यदि लगान न दिया जावे तो भूमि की कुल मात्रा क्षतिरहित नहीं होगी। भूमि की पूर्ति को बार-बार नया नहीं करना पड़ता। उसको बनाये रखने के लिये खर्च नहीं करना पड़ता। यदि लगान काफी कम कर दिया जाय अथवा बिलकुल न दिया जाय तो भी कृषि के लिये भूमि प्राप्य रहेगी। इसलिये इस दृष्टि से लगान किसी वस्तु की पूर्ति सम्बन्धी कीमत का अंश नहीं है।

इस प्रकार यदि हम भूमि की पूर्ति की कुल मात्रा का विचार करें तो जो कुल लगान दिया जाता है, वह उपज के मूल्य का अंश नहीं होता। परन्तु किसी फसल विशेष के लिये भूमि की पूर्ति सीमित नहीं है। एक भूमिखंड का कई प्रकार से उपयोग हो सकता है। अधिक धान उत्पन्न करने के लिये कई खेतों का जोतना आवश्यक है। धान बोने के लिये अधिक खेत प्राप्त करने के लिये लोगों को कम से कम उतनी रकम देनी पड़ेगी, जितनी उन खेतों से जूट बोने पर मिलती। इसे भूमि का परिवर्तन खर्च कहते हैं और यह धान के उत्पादन खर्च का अंश होगा। यदि खर्च न किया जाय तो वे खेत धान की खेती के लिये न मिलेंगे। भूमि की कुल पूर्ति की दृष्टि से लगान लागत के सिवा अतिरिक्त बचत कही जा सकती है। परन्तु जब किसी विशेष उपयोग के लिये भूमि की आवश्यकता हो तो जो लगान दिया जायगा, वह अतिरिक्त बचत नहीं होगी, वह उस उपज को पैदा करने के खर्च का अंश होगा।

शहरों में भूमि का किराया (Urban Site Rent)—शहरों में भूमि का किराया उन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार होता है, जिनके अनुसार कृषि की भूमि का होता है। परन्तु शहरों की भूमि के सम्बन्ध में उपजाऊपन का कोई महत्व नहीं होता। उनका लगान इस बात के आधार पर होता है कि उनकी स्थिति किन महत्वपूर्ण और लाभदायक स्थानों पर है।

जो मकान रहने के लिये बनाये जाते हैं, उनका लाभ यह होता है कि वे किसी प्रधान सड़क पर हों, किसी पार्क के सामने हों, इत्यादि। कुछ कारण ऐसे होते हैं, जिनके लिये लोग अन्य किसी बात का खयाल नहीं करते। यदि किसी स्थान में अपने तरह के लोग

रहते हों, तो वहां रहने का यह बड़ा कारण हो जाता है। मजदूर पेशा लोग शहरों की गंदी घनी और कोलाहलपूर्ण गलियां, पास के शान्त ग्रामीण वातावरण की अपेक्षा अधिक पसन्द करते हैं।' धनी लोग उस मुहल्ले में रहना चाहते हैं, जहां उनके वर्ग के फैशनवाले लोग रहते हों। कुछ मुहल्ले ऐसे होते हैं, जहां रहना सामाजिक बड़प्पन का चिह्न समझा जाता है।

स्थिति सम्बन्धी लाभ के सिवा यदि किसी भूमिखंड पर बने हुए मकान पर कुछ अधिक मंजिल या खंड उठाये जा सकते हैं, तो उससे भी किराया बढ़ जाता है। घटती उपज का नियम कृषि की भूमि और शहरों की भूमि दोनों पर लागू होता है। किसी मकान में कुछ खंड जोड़ने के बाद एक सीमान्त खंड आ जाता है, जिसका मरम्मत और प्रबन्ध सम्बन्धी खर्च उसके किराये के बराबर होता है। कई कारणों से नीचे के भागों का किराया बढ़ता जाता है, विशेषकर जब वे व्यावसायिक कार्यों के लिये किराये पर उठाये जाते हैं। नीचे के भागों और सीमान्त भागों से जो आय होती है, उसके अन्तर को किराया कहते हैं।

किराये में अनुपार्जित बढ़ती

मकान संबंधी सब भूमिखंडों से अनुपार्जित बढ़ती या बेमेहनत बढ़ती (unearned increment) की समस्या उत्पन्न होती है। किसी शहर के बाहरी भागों या मुहल्लों से पहिले कम किराया मिलता है। परन्तु जब शहर का विस्तार बढ़ने लगता है, तो उन्हीं बाहर के मुहल्लों की भूमि का किराया भी बढ़ने लगता है। इसी प्रकार जब किसी स्थान या मुहल्ले में कोई नया पार्क या नई सड़क बन जाती है तो वहां के मकानों का किराया बढ़ जाता है, यद्यपि उन मकानों के मालिकों ने स्थान की उन्नति करने में उसका मूल्य बढ़ाने के लिये कुछ भी नहीं किया है। कभी-कभी कृषि की भूमि के किराये में भी अनुपार्जित वृद्धि हो जाती है। यह तब होता है जब कृषि की भूमि के पास कोई शहर बस जाता है और कृषि की भूमि उस शहर के बाहरी मुहल्लों की तरह हो जाती है। अथवा तब भी हो सकता है, जब नई रेल की लाइन बनती है और कृषि की भूमि का सम्बन्ध बाजार से जुड़ जाता है। शहरों में स्थानों के मूल्य और किराये में वृद्धि कई देशों में सामान्य अनुभव है। इन स्थानों और मकानों के मालिकों को किराये में जो अनुपार्जित वृद्धि प्राप्त होती है, उससे कई प्रकार की सामाजिक और राजनैतिक समस्याएं उत्पन्न होती हैं। समाजवादी लोग कहते हैं कि यह अनुपार्जित वृद्धि सरकार को मिलनी चाहिये और कई देशों में सरकार ने किराये की अनुपार्जित वृद्धि पर ऊंचे कर लगाये हैं।

खानों, मछलीगाहों इत्यादि का लगान (The Rent of Mines, Quarries and Fisheries)—खानों और कृषि की भूमि में यह फरक है कि कुछ समय बाद खानों की सम्पत्ति खतम हो जाती है, परन्तु भूमि की उपजाऊ शक्ति कभी खतम नहीं

होती। वह हमेशा आय का एक ज़रिया रहता है। खानों के ठेकेदार दो प्रकार के

खानों का लगान

लगान देते हैं। एक मालकाना या रायल्टी (royalty) कहलाता है। यह खानों से खनिज पदार्थ खोदने के लिये दिया जाता है। दूसरा लगान उस खान के लिये दिया जाता है, जो किसी खान या सीमान्त खान से ऊपर रहता है। यह दूसरा लगान आर्थिक लगान कहलाता है, क्योंकि यह सीमान्त इकाई के आधार पर निश्चित किया जाता है। खानों में विस्तृत (extensive) और गहरी (intensive) दोनों प्रकार की सीमाएं (margins) काम करती हैं। विस्तृत सीमा विभिन्न खानों की तुलना करके निश्चित की जाती है और गहरी सीमा एक ही खान अधिकाधिक पूंजी लगाकर निश्चित की जाती है।

किसी खान का ठेकेदार प्रायः दो प्रकार के लगान देता है। एक स्थायी लगान होता है। इसे स्थायी कर या लगान (dead rent) कहते हैं। खान का ठेकेदार माल निकाले या न निकाले उसे यह लगान देना ही पड़ता है। दूसरे को मालकाना या रायल्टी कहते हैं। यह प्रति टन निकाले हुए माल पर एक निश्चित दर से दिया जाता है। अब प्रश्न यह है कि क्या रायल्टी को लगान कहना उचित है। मार्शल कहता है कि रायल्टी खनिज ले जाने का मुआवज़ा (compensation) है। इस-लिये वह लगान से भिन्न है। परन्तु टॉसिग का मत अलग है। उसको संदेह यह है कि क्या सबसे रद्दी खान का मालिक किसी भी प्रकार का लगान प्राप्त कर सकता है, चाहे वह रायल्टी हो या और कुछ ? इस प्रकार के खनिज उपयोगिता की सीमा पर रहते हैं और सीमा पर किसी भी प्रकार की बचत या अवशेष नहीं रहता। उनका मत है कि जब अच्छी काटी जाती हुई खानों पर रायल्टी दी जाती है, तो वह स्पष्ट रूप से लगान है। क्योंकि सबसे रद्दी खानों पर किसी प्रकार का लगान नहीं मिलता। न रायल्टी न स्थायी लगान।

अब मछलीगाहों को लीजिये। जिन स्थानों में हमेशा मछली मिलती रहती है, उनका लगान वास्तव में लगान कहा जा सकता है। यह लगान सीमान्त मछलीगाहों के आधार पर निश्चित किया जाता है। सीमान्त मछलीगाह या तो उनकी कम उपज से जाने जाते हैं या अपनी पहुंच की कठिनाई के कारण। अर्थात् उन तक पहुंचना कठिन होता है।

आर्थिक प्रगति और लगान (Economic Progress and Rent)— रिकार्डो की विचारधारा के अनुसार हम यह मान लेते हैं कि मशीनों की सहायता से अथवा

कृषि की उन्नति

उत्तम खाद के आविष्कार और उपयोग के कारण कृषि में उन्नति होती है और अन्न की उपज प्रति एकड़ बहुत बढ़ जाती है। तब प्रति श्रमिक पीछे उपज भी अधिक बढ़ जावेगी। परन्तु इसके साथ ही यदि अन्न की मांग न बढ़ी तो उसके दाम गिर जावेंगे। तब

सीमान्त भूमिखंडों पर (जिन पर ऊंचे अन्न के भाव के समय खेती होती थी) खेती होना बन्द हो जायगा। इससे कुल लगान में कमी हो जायगी। परन्तु उन्नत स्थानों का प्रभाव विभिन्न प्रकार की जमीनों के लगान पर विभिन्न प्रकार से पड सकता है। उन्नत साधनों का प्रभाव उत्तम भूमि पर मामूली भूमि की अपेक्षा अधिक अच्छा पड सकता है। ऐसी स्थिति में उत्तम भूमि का लगान गिरने की अपेक्षा बढ सकता है। परन्तु यदि उन्नत साधनों का प्रभाव केवल नीचे दर्जे की भूमि पर पडता है, तो वे उतनी उपजाऊ हो सकती है, जितनी उत्तम भूमि है। ऐसी परिस्थिति में उत्तम भूमि का लगान गिर सकता है, यहा तक कि शून्य तक आ सकता है।

अब हम दूसरे प्रकार के उन्नत साधन का विचार करेंगे। यातायात के साधनों में उन्नति होने से लगान पर क्या प्रभाव पडता है? यदि किसी आविष्कार के कारण किसी देश में यातायात अथवा आवागमन सस्ता हो जाता है, तो लगान का स्थिति सम्बन्धी लाभ धीरे-धीरे कम हो जाता है। बाजार में दूर के जिलों से माल आ जाया करेगा। तब बाजार के पास के जिलों में लगान गिर जावेगा और बाजार से दूर के जिलो में लगान बढ जावेगा। जब किसी पुराने देश में किसी नये देश के उपजाऊ क्षेत्रों की उपज आने लगती है तब भी ऐसा होता है। नये उपजाऊ क्षेत्रों का लगान बढने लगता है और पुराने देश की घटिया दर्जे की जमीन में कृषि बन्द होने लगती है। इसलिये पुराने देश में कुल लगान घटने लगता है और नये देश में बढने लगता है।

यातायात में उन्नति

लगान का जनसंख्या की बढती के साथ सीधा अनुपात रहता है। जब जनसंख्या बढती है, तो अन्न की माग भी बढती है। यह बढी हुई माग या तो अच्छी भूमि की गहरी कृषि द्वारा पूरी की जाती है या घटिया भूमि में कृषि आरम्भ कर के की जाती है। इससे सीमा नीची या कम हो जाती है और लगान बढने लगता है। फिर जब नये शहर बसते हैं, तब भूमि का उपयोग कृषि को छोडकर अन्य कामो के लिये होने लगता है। इसमें पहिले की अपेक्षा कृषि के लिये भूमि की अधिक कमी हो जाती है। इससे लगान और बढ जाता है।

जनसंख्या में वृद्धि

अन्त में यह देखने में आता है कि जैसे जैसे लोगों की आय और रहन-सहन का दर्जा बढता है, वैसे-वैसे खाने के अनाजों पर उनका खर्च कम हो जाता है। मनुष्य की खाने की शक्ति सीमित होती है। इसलिये जब किसी मनुष्य की आय दुगुनी हो जाती है तो वह अन्य वस्तुओं का उपयोग दुगुना कर सकता है, परन्तु भोजन की मात्रा दुगुनी नहीं कर सकता। इसलिये आय का भोजन पर खर्च होनेवाला अंश आनुपातिक रूप से घटता जाता है। इसलिये रहन-सहन का दर्जा बढने के साथ-साथ अन्य उद्योगों की वस्तुओं की अपेक्षा कृषि की उपज के दाम अधिक गिरते हैं, अथवा यों कह सकते हैं कि अन्न के दाम

उतने नहीं बढ़ते, जितने अन्य उद्योगों की उत्पत्ति के बढ़ते हैं। इसलिये लगान उतनी जल्दी नहीं बढ़ता, जितनी जल्दी अन्य उद्योगों के वस्तुओं के दाम बढ़ते हैं।

आभास लगान

आभास लगान या बतौर लगान (Quasi-rent) आभास लगान का विचार अर्थशास्त्र में मार्शल ने उत्पन्न किया। 'मशीनों अथवा इस प्रकार के अन्य साधनों द्वारा मनुष्य उत्पादन में जो आय प्राप्त करता है' उसे मार्शल आभास लगान कहता है। मार्शल का कहना है कि भूमि अथवा प्रकृति की मुफ्त दी हुई अन्य वस्तुएं हमेशा के लिये निश्चित या बंधी हुई हैं। अल्पकाल में मनुष्य द्वारा बनाई हुई मशीनें इत्यादि जैसे साधनों का संग्रह चाहे सीमित रहे, परन्तु समय पाकर यह संग्रह बढ़ाया जा सकता है। हम देख चुके हैं कि यदि उत्पादन के किसी साधन की पूर्ति हमेशा के लिये बंधी हो तो उससे होनेवाली आय लगान कहलावेगी। यदि पूर्ति के सीमित होने के कारण लगान उत्पन्न होता है, तो किसी भी सम्पत्ति से होनेवाली आय, चाहे वह सम्पत्ति अल्पकाल के लिये सीमित हो अथवा हमेशा के लिये, एक प्रकार का लगान कही जा सकती है। मार्शल का कहना है कि जिन वस्तुओं की पूर्ति हमेशा के लिये सीमित या स्थायी है, उनसे होनेवाली आय को लगान मानना चाहिये और जिन वस्तुओं की पूर्ति थोड़े समय अर्थात् अस्थायी रूप से सीमित हो, उनसे होनेवाली आय को आभास लगान या बतौर लगान मानना चाहिये। 'लगान' इसलिये मानना चाहिये, क्योंकि उसकी पूर्ति सीमित होने के कारण उसमें लगान के गुण आ जाते हैं और साथ ही 'आभास' इसलिये क्योंकि उसकी पूर्ति स्थायी रूप से सीमित नहीं है, बल्कि लगभग अस्थायी रूप से। एक उदाहरण ले लिया जाय। मान लो, किसी समय मछली की मांग एकाएक बढ़ जाती है। चूंकि पूर्ति मांग के बराबर नहीं है, इसलिये मछली के दाम एकाएक बढ़ जायगें। तब ऊंचे दामों से ललचाकर मछुए अधिक समय तक काम करके अधिक मछली पकड़ने का प्रयत्न करेंगे। जो नौकाएं और जाल बहुत दिनों से बेकार पड़े थे, उन्हें उपयोग में लावेंगे। यदि मछली की बढ़ी हुई मांग काफी समय तक रहती है तो नई नौकाएं और जाल बनाये जावेंगे तथा अन्य लोग भी इस व्यवसाय की ओर आकर्षित होंगे। तब संभव है कि पूर्ति का भाव अर्थात् बिक्री की दर अपनी पुरानी सतह पर आ जावे। नौकाओं और जाल से होनेवाली आय को आभास लगान कहेंगे। मार्शल ने यह उदाहरण यह दिखाने के लिये चुना था कि मनुष्य के बनाये हुए साधनों की पूर्ति कुछ समय के लिये कम पड़ सकती है। परन्तु आगे चलकर वह बढ़ाई जा सकती है। इससे यह समझना चाहिये कि मनुष्य के बनाये हुए साधनों से जो आय होती है, यदि वह बढ़ जाय तो वह बढ़ी हुई आय आभास लगान हो जावेगी, चाहे वह दीर्घकाल में हो अथवा अल्पकाल में। फ्लक्स (Flux) तथा अन्य कुछ विद्वानों का मत है कि सम्पत्ति से होनेवाली सब आय आभास लगान नहीं है। सामान्य आय से अधिक जो आय होती है, वही आभास लगान है। इस प्रकार की आय और सामान्य आय में यदि कोई कमी

रहे तो पलक्स के मत में वह 'ऋणात्मक आभास लगान' (negative quasi rent) होगी। परन्तु ये विचार आम तौर से स्वीकृत नही है। किसी भी काल में मनुष्य के बनाये हुए साधनों द्वारा होनेवाली पूरी आय को आभास लगान मानना चाहिये, केवल सामान्य आय से अधिक या कम आय को नही।

लगान और आभास लगान में समानता और असमानता

लगान और आभास लगान में एक बात में समानता होती है। अल्पकाल में साधनो की पूर्ति की मात्रा निश्चित या बधी हुई रहती है, जिस प्रकार भूमि की मात्रा निश्चित रहती है। अल्पकाल में इन साधनो से होनेवाली आय का कीमत के साथ वही सम्बन्ध होता है, जो लगान का भूमि के साथ होता है। परन्तु लगान और आभास लगान में असमानता भी होती है। पुराने देशो में भूमि की मात्रा करीब करीब स्थायीरूप से सीमित रहती है। परन्तु मनुष्य द्वारा बनाये हुए साधन उसकी इच्छा पर निर्भर रहते है। वे माग के अनुसार घटाये और बढ़ाये जा सकते है। भूमि की स्थायी कमी के कारण लगान उत्पन्न होता है और जैसा हम देख चुके है कि लगान कीमत का अश नहीं होता। अल्पकाल में मनुष्य के बनाये हुए साधनो की कमी के कारण सभव है कि इन साधनो से होनेवाली आय का उत्पादन खर्च के साथ हमेशा सम्बन्ध न हो। परन्तु दीर्घकाल में आभास लगान वास्तविक अतिरिक्त बचत (real surplus) नही होता। आभास लगानो के कुल जोड की पूजी से होनेवाले सामान्य लाभ को अवश्य पूरा करना चाहिये। इसलिये दीर्घकाल में आभास लगान वास्तविक बचत नही होता, परन्तु वह उत्पादन खर्च का अश हो जाता है। इसलिये अल्पकाल में वह अनावश्यक लाभ होता है। परन्तु दीर्घकाल में सामान्य लाभ का आवश्यक अश होता है।

आभास लगान लाभ और मजदूरी का अंश है

मार्शल ने आभास लगान का उपयोग दूसरे अर्थ में भी किया है। उसका कहना है कि आभास लगान मजदूरी[1] और लाभ का अश होता है। किसी व्यक्ति की जो आय उसके प्राप्त किये हुए या सीखे हुए गुणो के कारण होती है, वह आभास लगान की तरह होती है। 'एक व्यक्ति कोई गुण सीखने में या लाभदायक पेशा सीखने में कुछ पूजी लगाता है और इन गुणों के सीखने से उसे जो आय होती है, उसे हम आभास लगान कह सकते है। इसे हम पूजी के सम्बन्ध मे नही सोचते, बल्कि लगान की तरह सोचते हैं।' यह लगान असाधारण स्वाभाविक योग्यता के लगान से भिन्न होता है, क्योंकि असाधारण स्वाभाविक योग्यताए तो भूमि की तरह प्रकृति की देन होती है।

इस प्रकार मार्शल स्वय अपनी परिभाषा से विचल जाता है कि आभास लगान मनुष्य

---

१ Marshall. Principles of Economics, page 504

के बनाये हुए साधनों से होनेवाली आय है। मार्शल ने दूसरे अर्थ में आभास लगान का जो उपयोग किया है, उस पर कनान[1] की आलोचना उचित है। मनुष्य के बनाये हुए साधनों और व्यक्ति के गुणों में काफी फर्क होता है। यह कहना बड़ा कठिन है कि किसी मनुष्य की आय का कितना भाग उसके धन से प्राप्त हुआ है और कितना उसके गुणों से। मार्शल स्वयं कहता है कि 'मनुष्य उसी सिद्धान्त के अनुसार काम नहीं करते या काम में नहीं लाये जाते जैसे कि कोई मशीन या घोड़ा या गुलाम काम में लाया जाता है।'

इसलिये अच्छा यह होगा कि सब प्रकार के धन से प्राप्त हुई पूरी आय का विचार करना चाहिये। व्यक्तियों की आय में जो हिस्सा हो, उसे स्वाभाविक और सीखे हुए गुणों के आधार पर समझना चाहिये। यह उतना अच्छा होगा, बनिस्बत इसके कि धन से प्राप्त आय का वर्गीकरण इस आधार पर किया जाय कि इतनी आय व्यक्तिगत धन से प्राप्त हुई है और इतनी स्वाभाविक अथवा सीखे हुए गुणों से प्राप्त हुई है। आभास लगान और ब्याज के भाव के सम्बन्ध का अध्ययन अगले अध्याय में किया गया है।

छब्बीसवां अध्याय

ब्याज

(Interest)

अर्थशास्त्र में ब्याज का अर्थ वह धन होता है, जो पूंजी के उपयोग करने के लिये दिया जाता है। इसमें इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि पूंजी वापिस न मिलने का डर न होना चाहिये, किसी प्रकार की असुविधा न हो और कर्ज के साथ अन्य कोई कार्य न लगा हो। इसे विशुद्ध (pure) अथवा असल, वास्तविक (net) अथवा आर्थिक (economic) ब्याज भी कहते है। परन्तु उधार लेनेवाला जो धन वापिस करता है, उसमें विशुद्ध ब्याज के सिवा अन्य कई बातों के लिये लिया जानेवाला धन भी शामिल रहता है, जैसे उधार देने में जो खतरा रहता है, उसका ब्याज, उधार देने में साहूकार को जो कष्ट और असुविधाएं होती हैं, उनका ब्याज और साहूकार को इस सम्बन्ध में जो काम करना पड़ता है, उसका ब्याज। इस प्रकार कुल ब्याज (gross interest) में तीन बातें शामिल होती हैं।—(क) केवल पूंजी का उपयोग करने के लिये दिया जानेवाला ब्याज, (ख) खतरा लेने के लिये दिया

कुल ब्याज और वास्तविक ब्याज

---

1 A Review of Economic Theory; Pages 327-29.

जानेवाला ब्याज, (ग) कष्ट और असुविधाओं के लिये दिया जानेवाला ब्याज। उधार देनेवाला साहूकार ये तीन प्रकार के खतरे उठाता है। मार्शल ने इन खतरों को दो वर्गों में विभाजित किया है, एक व्यक्तिगत खतरे और दूसरे व्यावसायिक खतरे। व्यावसायिक खतरा इसलिये होता है कि उत्पादन पूरा होने के पहिले माग बदल सकती है, अथवा कच्चे माल की कीमत गिर सकती है अथवा नये आविष्कार के कारण उत्पादन खर्च कम हो सकता है और इनके परिणामस्वरूप वस्तु की कीमत गिर सकती है। व्यावसायिक खतरा इसलिये उत्पन्न होता है कि उधार लेनेवाला बेईमान या निकम्मा हो सकता है। इन खतरों को अपने सिर पर लेने के लिये साहूकार को कुछ अतिरिक्त धन अवश्य मिलना चाहिये। जहां कर्ज देने में खतरा रहता है, वहां साहूकार को कम से कम सीमा तक घटाने के लिये भारी परेशानी उठानी पड़ती है। फिर यह भी सभव है कि कर्जदार ऐसे समय कर्ज अदा करे जो साहूकार के लिये बहुत असुविधापूर्ण हो। सभव है, उस समय वह अपनी पूंजी कहीं लगाने की गुंजाइश नहीं देखता। अथवा साहूकार जो समय उचित और सुरक्षित समझता है, उससे अधिक समय के लिये उसे अपनी पूंजी लगानी पड़े। साहूकार की असुविधा जितनी अधिक होगी, कुल ब्याज भी उतना ही अधिक होगा। (घ) अन्त में कुल ब्याज में उस काम के लिये भी पारिश्रमिक शामिल रहता है, जो साहूकार कर्ज के सम्बन्ध में करता है। प्रत्येक कर्ज के सम्बन्ध में साहूकार को कुछ काम करना पड़ता है। उसे बही-खाता रखना पड़ता है, ब्याज की जो छोटी-छोटी किस्तें आती हैं, उन्हें लिखना पड़ता है, इत्यादि। इस अतिरिक्त कार्य के लिये भी साहूकार कुछ पारिश्रमिक चाहता है।

इसलिये यह सभव है कि प्रायः कुल ब्याज बहुत अधिक हो और असल ब्याज कम हो। फिर असल या विशुद्ध ब्याज देश भर में एक समान होने की प्रवृत्ति दिखलाता है। प्रतियोगिता के कारण देश भर में ब्याज की एक दर स्थिर हो जाती है। परन्तु एक ही देश के विभिन्न भागों में कुल ब्याज की एक दर होने की प्रवृत्ति नहीं दिखती।

ब्याज के सिद्धान्त

(Theories of Interest)

ब्याज का उत्पादन सिद्धान्त (Productivity Theory of Interest)—इस सिद्धान्त का कहना है कि पूंजी में उत्पादन शक्ति होती है, इसलिये ब्याज उत्पन्न होता है। जब मजदूर मशीनों की सहायता से उत्पादन करते हैं, तो उत्पादन की मात्रा बहुत होती है। यदि वे बिना मशीनों के उत्पादन करें तो मात्रा उतनी अधिक नहीं होगी। जो श्रमिक मशीनों और औजारों का उपयोग करते हैं, उनकी आय हमेशा बढ़ जाती है। इसलिये उत्पादक उनकी माग करते रहते हैं।

पूंजी के उत्पादक होने के कारण उस पर ब्याज दिया जाता है

हम देख चुके हैं कि जब उत्पादन में पूंजी का उपयोग किया जाता है, तब उत्पादन ज्यादा

निरा कर होता है। पहिले मशीन और औजार बनाने में श्रम का उपयोग किया जाता है। उसके बाद यातायात के साधन उन्नत किये जाते हैं। तब कुछ समय बाद अन्तिम उत्पादन होता है। इस तरह ज्यों-ज्यों अधिक पूंजी का उपयोग होता है, त्यों-त्यों उत्पादन के तरीके अधिक टेढ़े-मेढ़े होते जाते हैं। और यद्यपि हमेशा नहीं, पर प्राय: ऐसा होता है कि उत्पादन के तरीके जितने टेढ़े-मेढ़े होते हैं, उत्पादन की मात्रा उतनी ही अधिक होती है।

जब उत्पादन में पूंजी का उपयोग होता है, तब पूंजी पर भी घटती उपज का नियम लागू होने लगता है। जैसे-जैसे पूंजी की अधिक इकाइयों का उपयोग होता है और उत्पादन के तरीके अधिक घुमावदार होते जाते हैं, अर्थात् पूंजीवादी होते जाते हैं, वैसे-वैसे (अन्य साधनों की पूर्ति वही रहते हुए) उत्पत्ति बढ़ती तो है, पर घटती हुई दर से बढ़ती है। कोई उत्पादक पूंजी की इकाइयां बढ़ाता जायगा और तब रुकेगा जब एक इकाई का खर्च उत्पादित वस्तु के मूल्य के बराबर हो जायगा। इसी प्रकार अपने लाभ बढ़ाने की फिक्र में पूंजी की इकाइयों के बदले में वह श्रम और भूमि की इकाइयां उपयोग में लावेगा। यदि वह सोचता है कि लागत खर्च की अपेक्षा उत्पादन की मात्रा बढ़ सकती है। अर्थात् खर्च की अपेक्षा उत्पादन का अनुपात अधिक होगा। अन्त में वह उदासीनता की उस सीमा पर पहुंच जायगा, जहां चाहे वह अधिक पूंजी लगावे, चाहे श्रम और चाहे भूमि, उत्पादन उसी अनुपात में बढ़ेगा। जो बात एक उत्पादक के सम्बन्ध में लागू होती है, वही पूरे समाज के लिये लागू होती है। इसलिये ब्याज की दर पूंजी की इकाई की सीमान्त उत्पादन शक्ति के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखायेगी।

इधर कुछ दिनों से इस सिद्धान्त की काफी आलोचना हुई है। 'पूंजी उत्पादक है' इस सिद्धान्त के दो में से एक कोई अर्थ हो सकता है। वह यह कि या तो पूंजी अधिक वस्तुएं उत्पादित करती है अथवा अधिक मूल्य उत्पादित करती है। भौतिक वस्तुओं के अधिक उत्पादन की बात तो आसानी से समझ में आ जाती है। परन्तु इससे हम यह नहीं कह सकते कि पूंजी अधिक मूल्य उत्पन्न करती है। इसको जानने के लिये पहिले हमें पूंजी के उन औजारों और साधनों का मूल्य जानना चाहिये, जिनका सबसे पहिले उपयोग किया गया था। पूंजी के साधनों और औजारों का वर्तमान मूल्य उनकी भविष्य की आय पर निर्भर है और 'इस निर्भरता में ब्याज की दर छिपी रहती है।' मशीनों का मूल्य उनकी भविष्य की आय के आधार पर निश्चित किया जाता है और इस प्रकार का निश्चय निर्धारित करने के लिये हमें ब्याज की एक दर मान लेनी पड़ती है। यदि २०,००० रुपये की एक मशीन से हमें प्रति वर्ष १,००० रु० आय होती है, तो हम एकदम यह नहीं कह सकते कि ब्याज की दर ५ रु० प्रति सैकड़ा है। हम केवल इतना जान सकते हैं कि मशीन से हमें १,००० रु० वार्षिक आय होती है। इस रकम को ५ रु० सैकड़ा के हिसाब से पूंजीकरण करने या पूंजी में परिवर्तन करके हम निश्चय करते हैं कि मशीन का मूल्य २०,०००

रु० है। इसलिये जब हम कहते हैं कि मशीन का मूल्य २०,००० रु० है, तब हम इस बात को पहिले मान चुके हैं कि ब्याज की दर ५ रु० सैकड़ा है। इसलिये जिस बात को हमने एक सत्य के रूप में मान लिया है, उसे हम निश्चित किस प्रकार कर सकते हैं? इसलिये पूंजी की उत्पादन शक्ति का सिद्धान्त हमें एक टेढ़े-मेढ़े तर्क में फंसा देता है।

फिर भी इसमें कुछ सन्देह नहीं कि ब्याज की दर निश्चय करने में उत्पादन शक्ति का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा आलोचक फिशर (Fisher) भी इस बात को अपनी पुस्तक के नाम से ही स्वीकार कर लेता है। उसकी पुस्तक का नाम है—'आय खर्च करने के उतावलेपन तथा लाभ के लिये पूंजी लगाने के मौके के आधार पर निश्चित होनेवाले ब्याज का सिद्धान्त' (The theory of interest, as determined by the impatience to spend income and the opportunity to invest it") लाभ के लिये पूंजी लगाने का मौका और कुछ नहीं विभिन्न उद्योगों में पूंजी की उत्पादन शक्ति है। यदि हम यह सिद्धान्त स्वीकार कर लें कि ब्याज की दर कर्ज में प्राप्त हो सकनेवाली रकम की माग और पूर्ति पर निर्भर होती है, तो व्यवसायी वर्ग की कर्ज की माग निश्चित करने में पूंजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति का महत्वपूर्ण स्थान रहेगा। अन्य वस्तुओं के यथास्थित रहते हुए आविष्कारों, शक्ति के नए साधनों तथा इस प्रकार के अन्य परिवर्तनों के कारण पूंजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति में अपने आप जो परिवर्तन होंगे, उनके कारण उत्पादन के लिये पूंजी की माग बढ़ सकती है। इसलिये ब्याज की दर भी बढ़ेगी। कीन्स (Keynes) के सिद्धान्त के अनुसार पूंजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति में परिवर्तन होने से उसका प्रभाव मुद्रा या द्रव्य की माग पर पड़ता है, इसलिये ब्याज की दर पर भी पड़ता है। जब पूंजी लगाने का मौका अधिक अच्छा दिखता है अर्थात् जब पूंजी की सीमान्त उपयोगिता या योग्यता बढ़ती है, तब नये कारखाने खड़े करने के लिये व्यवसायी अधिक पूंजी की माग करते हैं। अन्य वस्तुओं के यथास्थित रहते हुए इस माग के कारण ब्याज की दर बढ़ जायगी।

उत्पादन शक्ति का ब्याज पर प्रभाव

त्याग और ब्याज (Abstinence or Waiting and Interest)—उत्पादन शक्ति का सिद्धान्त यह बतलाता है कि पूंजी की माग क्यों होती है। अब यह देखना चाहिये कि किन कारणों से पूंजी की पूर्ति सीमित हो जाती है। सीनियर पहिला अर्थशास्त्री था, जिसने बचत, जो बाद में मशीनों इत्यादि उत्पादन के साधनों में सम्मिलित हो जाती है, त्याग से उत्पन्न होती है। इस त्याग को वह निग्रह या निरोध (abstinence) के नाम से कहता था। लोग अपनी सब आय उपभोग की वर्तमान वस्तुओं पर खर्च कर सकते हैं। परन्तु जब वे आय में से कुछ बचाते हैं, तो वे वर्तमान उपभोग में से कुछ उपभोग का त्याग करते हैं। परन्तु प्रायः त्याग करना लोगों को अच्छा नहीं लगता। इसलिये त्याग के लिये तैयार करने के लिये लोगों को कुछ लाभ

देनी चाहिये। त्याग के बदले उन्हें कुछ इनाम या मुआवजा मिलना चाहिये। ब्याज उसी त्याग का इनाम या मुआवजा है।

त्याग या निरोध शब्द पर काफी आलोचना हुई, क्योंकि उससे कष्ट की भावना प्रकट होती है। ऐसा लगता है कि जो पुरुष त्याग करता है, वह कष्ट सहता है। परन्तु सब बचत में कष्ट या तकलीफ नहीं होती। जब मोर्गन के समान धनी व्यक्ति बचत करता है, तो उसमें कष्ट का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये इस आलोचना को शान्त करने के लिये मार्शल ने त्याग शब्द के बदले 'ठहरना' (waiting) शब्द का उपयोग किया।

बचत शब्द ठहरने या प्रतीक्षा करने का द्योतक है। जब कोई व्यक्ति अपनी आय का कुछ अंश बचाता है, तब वह तुरन्त के लिये उपभोग नहीं होने देता। वह केवल कुछ समय के लिये अपना उपभोग टाल देता है। अर्थात् वह अपना उपभोग तब तक के लिये टाल देता है, जब कि उसकी बचत का फल उसको अधिकाधिक मात्रा में मिलता। तब तक उसे ठहरना पड़ेगा और प्रायः लोग ठहरना पसन्द नहीं करते। केवल बचत में ही नहीं, सब तरह के उत्पादक कार्यों में कुछ न कुछ ठहरने की आवश्यकता पड़ती है। जो किसान फसल बोता है, उसे काटने और बेचने के समय तक ठहरना पड़ता है। जब कोई मनुष्य एक वृक्ष लगाता है, तो उसे तब तक ठहरना पड़ता है जब तक वह बड़ा होकर फल नहीं देने लगता। किसी वस्तु के उत्पादन कार्य में पहिले श्रम लगता है, तब कहीं वस्तु अपने अंतिम रूप में तैयार होती है। तब तक मजदूर और पूँजीपति दोनों को ठहरना पड़ता है। इसलिये प्रतीक्षा या ठहरना उत्पादन की एक आवश्यक शर्त है। यह उत्पादन का एक अलग अंग या साधन है और यह उत्पादन के अन्य अंगों द्वारा बदला जा सकता है।

चूंकि प्रतीक्षा उत्पादन का एक अंग है, इसलिये उसकी कीमत सीमान्त विश्लेषण द्वारा निश्चित होगी। अर्थात् ब्याज की दर उस इनाम के बराबर होगी, जो बचत कराने की सीमान्त मात्रा के लिये आवश्यक है। प्रतीक्षा की कुछ मात्राएं ऐसी हो सकती हैं, जो ब्याज की दर शून्य होने पर भी प्राप्त होंगी। कुछ व्यक्ति स्वभाव से ही इतने होशियार या सावधान हो सकते हैं अथवा भविष्य के लिये प्रबन्ध करने के लिये इतने चिन्तित हो सकते हैं कि चाहे भविष्य में उन्हें थोड़ा ही रुपया मिले, पर वे बचत अवश्य करेंगे। पर यह ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रकार के उदाहरण सिद्धान्त के आधार पर सम्भव भले ही हों, पर वास्तविक जीवन में कदाचित् ही मिलें। इसी प्रकार चाहे ब्याज न मिले, पर लोग बचत अवश्य करेंगे। इसके उदाहरण बहुत मिलेंगे। धनी व्यक्ति तो बचत करने के लिये बाध्य होते हैं। उनके लिये अपनी बड़ी आय में से सबका सब खर्च करना असम्भव होता है। इसलिये उनके सम्बन्ध में प्रतीक्षा अपने आप हो जाती है। कुछ ऐसे सावधान व्यक्ति भी हो सकते हैं, जो इस आश्वासन पर बचत करेंगे कि भविष्य में उन्हें बचायी हुई पूरी रकम मिल जायगी। इस प्रकार प्रतीक्षा की काफी बड़ी मात्रा बहुत कम ब्याज की दर पर मिल जावेगी। परन्तु इस तरह बचत की

जो कुछ मात्रा प्राप्त होगी, वह प्राय माग को पूरा नहीं करती। जब तक सीमान्त बचत करनेवाले अपना हिस्सा नही देते, तब तक ब्याज की दर बढती जावेगी। इस स्थान पर प्रतीक्षा की मात्रा उसकी माग के बराबर हो जाती है। यदि बारीकी से देखा जावे तो 'सीमान्त बचत करनेवाला' शब्द उपयुक्त नही है। 'प्रतीक्षा की सीमान्त बढती' जो उत्पादन के लिये आवश्यक होती है, उपयुक्त शब्द होंगे। बचत की इस बढती को आकर्षित करने के लिये ब्याज की दर काफी ऊची होनी चाहिये।

इस सिद्धान्त से यह पता चल जाता है कि बचत इतनी कम मात्रा में क्यो होती है। अथवा कर्ज में जानेवाली रकम, जो स्वेच्छापूर्वक बचत पर निर्भर रहती है, वह कम मात्रा म प्राप्य क्यो होती है। परन्तु जो शर्तें ब्याज की दर निश्चित करती हैं, उन सबका पूर्ण स्पष्टीकरण इस सिद्धान्त से नही होता। कर्ज की रकम की कम मात्रा के लिये तो यह कहा जा सकता है कि एक तो लोग प्रतीक्षा करना पसन्द नही करते और दूसरे वे इस समय नकद रुपया रखना चाहते हैं।

समय का महत्व और ब्याज ((Time Preference or Agio and Interest)—इस सम्बन्ध में एक सिद्धान्त है और उसके अनुसार ब्याज एक प्रकार का मुनाफा या इनाम (premium) की किस्त है, जो वर्तमान वस्तुओ में उसी प्रकार और उसी कीमत की भविष्य की वस्तुओं पर होता है। यह इनाम इसलिये उत्पन्न होता है कि मनुष्य भविष्य की अपेक्षा वर्तमान अधिक पसन्द करता है। जिस प्रकार हमें दूर की वस्तुए उनके वास्तविक आकार से छोटी दिखती हैं, उसी प्रकार अपनी मनोवृत्ति के कारण हमें भविष्य की वस्तुए और भविष्य का उपभोग उनके वास्तविक आकार से छोटे दिखते है। कहने का तात्पर्य यह है कि तुलना करने में वर्तमान की अपेक्षा भविष्य कुछ छोटा दिखने लगता है। उसमें कुछ बट्टा लग जाता है। वही बट्टा ब्याज है।

इस सिद्धान्त को सन् १८३४ में जान रे (John Rae) ने सबसे पहिले अच्छी तरह प्रतिपादित किया था। बाद में आस्ट्रिया के प्रमुख अर्थशास्त्री बाम-बावर्क (Bohm-Bawerk) और फिशर (Fisher) ने इस सिद्धान्त को पुष्ट किया। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में बाम-बावर्क और फिशर में कुछ मतभेद है।

बाम-बावर्क के मतानुसार वर्तमान वस्तुओ में उसी मात्रा और उसी कीमत की भविष्य की वस्तुओं की अपेक्षा जो थोडी अधिक कीमत या मूल्य रहता है, उसका कारण यह है कि लोग भविष्य उपभोग की अपेक्षा वर्तमान उपभोग को अधिक पसन्द करते हैं। यह पसन्दगी तीन कारणो से होती है। पहिला यह है कि लोग भविष्य की अपेक्षा वर्तमान को अधिक साफ-साफ देख पाते हैं। अथवा यो कहें कि भविष्य का अन्दाज लोग जरा कम करके लगाते है। दूसरा कारण यह है कि भविष्य की जरूरतों की अपेक्षा लोग वर्तमान आवश्यकताओं को जोर से महसूस करते हैं। इसलिये वर्तमान वस्तुओ की माग भविष्य

बाम बावर्क का सिद्धान्त

की वस्तुओ की अपेक्षा जोरदार होती है। इसलिये भविष्य की वस्तुओ की अपेक्षा वर्तमान वस्तुओ की कमी माग के अनुसार ज्यादा रहती है। तीसरा कारण यह है कि उत्पादन की क्रिया जितनी टेढी मेढी होती है उतनी ही अधिक उत्पादन की मात्रा होती है। इसलिये अधिक घुमावदार और अधिक समय लेनेवाले अधिक उत्पादन के तरीको के कारण वर्तमान वस्तुओ की भविष्य की वस्तुओ पर एक प्रकार की विशेष श्रेष्ठता होती है।

पहिले दो कारणो को तो फिशर स्वीकार कर लेता है। परन्तु तीसरे सिद्धान्त के बारे में वह कहता है कि बाम-बावर्क अनुचित तरीके से उत्पादन के सिद्धान्त को घसीट लाता है। टेढे-मेढे तरीका द्वारा उत्पादन शक्ति बढ जाती है, इसको सिद्ध करने के लिये अधिक प्रमाणो की आवश्यकता है। जो प्रमाण बाम-बावर्क ने दिये है, वे यथेष्ठ नही है। यदि हम तीसरे सिद्धान्त को स्वीकार कर ले, तो वह केवल उत्पादन शक्ति का सिद्धान्त है जिसका कि बाम-बावर्क कट्टर आलोचक था। फिर फिशर का कहना है कि यदि तीसरा कारण ब्याज पर अपना प्रभाव डालता है तो उससे पहिले दो कारणो का प्रभाव कम या धीमा पड जाता है। पूजीवाद की जो उत्पादन क्रिया है उसकी उत्पादन शक्ति अधिक होने के कारण भविष्य में वस्तुओ की प्रचुर मात्रा रहेगी। इसलिये वर्तमान की अपेक्षा भविष्य की वस्तुओ की माग कम होनी चाहिये। इस कारण से तथा वर्तमान आवश्यकताओ के अधिक जोरदार होने से लोग भविष्य की अपेक्षा वर्तमान वस्तुओ को अधिक पसन्द करते है। इसलिये उनमें भविष्य की वस्तुओ की अपेक्षा अधिक विशेष श्रेष्ठता होती है। इसलिये तीसरा कारण स्वतन्त्ररूप से ब्याज निश्चित नही करता, बल्कि पहिले दो कारणो के जरिये अपना प्रभाव डालता है।

बाम बावर्क के मत की फिशर द्वारा आलोचना

फिशर का कहना है कि 'समय की पसन्दगी' (time preference) ब्याज के सिद्धान्त का मूल तत्व है। समय की पसन्दगी से उसका वही तात्पर्य था, जो बाम-बावर्क का तात्पर्य 'भविष्य का कम अन्दाज' लगाने से था। किसी व्यक्ति की पसन्दगी ही मुख्य वस्तु है—वह पसन्दगी जो भविष्य की उसी मात्रा की और उसी अनुपात की आय और उपभोग की अपेक्षा मनुष्य वर्तमान आय और उपभोग के लिये रखता है। अपनी आय को खर्च करने की मनुष्य की जो व्याकुलता या आतुरता है, उसकी दर के द्वारा वह पसन्दगी निश्चित होगी। मनुष्य की आतुरता की दर या गहराई निम्नलिखित बातों पर निर्भर होती है। पहिली, उसकी आय। दूसरी, समय की लम्बाई पर उस आय का वितरण। तीसरी, वह आय कैसे होती है। चौथी, भविष्य में उस आय के उपभोग करने का पक्का भरोसा। अन्तिम, मनुष्य के अपने स्वभाव और गुणो पर, जैसे दूरदर्शिता, आत्मसयम इत्यादि। जितनी अधिक आय होगी, वर्तमान आवश्यकताओ के पूरे होने की उतनी ही आशा है। इसलिये भविष्य का निरादर वह कम दर से करेगा।

फिशर की व्याख्या

लेकिन गरीब लोगों के सम्बन्ध में इसका उलटा होता है। आय के वितरण का विचार तीन प्रकार से किया जा सकता है। एक तो आय हमेशा एक-सी बनी रहे। दूसरे, भविष्य में धीरे-धीरे आय बढती चले और तीसरे भविष्य में आय कम होती जाय। यदि आय हमेशा एक-सी रहे तो व्याकुलता की दर आय की मात्रा और मनुष्य के गुणों पर निर्भर होगी। यदि आयु या उम्र के साथ-साथ आमदनी भी बढती है तो उसका अर्थ यह है कि भविष्य के लिये प्रबन्ध अच्छा है, पर वर्तमान आय अपेक्षाकृत कम है। चूकि *वर्तमान आय तुलनात्मक रूप से कम है, इसलिये बट्टे की दर (rate of discount)* ऊची रहेगी। जब किसी काल में आय घटती चलती है, तब यह क्रम उलटा हो जाता है और बट्टे की दर कम हो जाती है। इसी प्रकार आय की मात्रा की बनावट (the composition of income) का प्रभाव इस प्रकार होता है। मनुष्यो की आय विभिन्न प्रकार की वस्तुओ और सेवाओ पर खर्च होती है। यदि वस्तुओ अथवा सेवाओ के समूह में कुछ कमी हो जाय तो उसका प्रभाव समय की पसन्दगी अर्थात् समयानुकूलता की दर पर उसी प्रकार पडेगा, जिस प्रकार की व्यक्तियो की आय में कमी होने पर पडेगा। अन्तिम, यदि भविष्य अनिश्चित है, तो समय की पसन्दगी अर्थात् समयानुकूलता की दर ऊची रहेगी। परन्तु खतरा और अनिश्चितता के प्रभावो का वाद-विवाद लाभ के सिद्धान्त के सम्बन्ध में उचित होगा, ब्याज के सिद्धान्त के सम्बन्ध में नही। यदि कोई मनुष्य बहुत खर्चीले स्वभाव का है, तो उसकी खर्च करने की अधीरता की मात्रा या दर बहुत ऊची होगी।

जब व्यक्तियो की समय की पसन्दगी या समयानुकूलता की दरें इस प्रकार निश्चित हो जाती है, तब वे ब्याज की दर के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखलाती है। जब किसी व्यक्ति की समयानुकूलता की दर बाजार की ब्याज दर से ऊची होगी, तब वह रकम उधार लेगा और उसे अधिक जरूरी आवश्यकताओ की पूर्ति में लगावेगा। यह काम वह उसी प्रकार करेगा जिस प्रकार वह किसी वस्तु की अधिक इकाइया खरीदेगा, क्योंकि उसके लिये इन अधिक इकाइयों की सीमान्त उपयोगिता कीमत से अधिक है। इसी तरह जब उसकी समयानुकूलता की दर ब्याज की दर से कम होगी, तब वह बाजार में अपनी रकम उधार देगा और उससे लाभ उठावेगा। इस प्रकार उधार देकर अथवा लेकर एक व्यक्ति अपनी आय नियमित करेगा, जब तक कि उसकी समयानुकूलता की दर ब्याज की दर के बराबर न हो जायगी।

लार्ड कीन्स द्वारा पुराने सिद्धान्तो की आलोचना

द्रवता पसन्दगी और ब्याज की दर (Liquidity-Preference and the Rate of Interest)—कुछ समय पहिले लार्ड कीन्स (Lord Keynes) ने ब्याज के एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उसका मत है कि सीमान्त उत्पादन का सिद्धान्त तथा प्रतीक्षा का सिद्धान्त, ये दोनो ब्याज की दर सब परिस्थितियो में

अच्छी तरह से नहीं समझाते। यह बात अवश्य सत्य है कि पूंजी की असल सीमान्त उत्पत्ति ब्याज की चालू दर के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखलाती है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि पूंजी की असल सीमान्त उत्पत्ति ही ब्याज की दर निश्चित करती है। पूंजी की असल सीमान्त उत्पत्ति दो तरह से निश्चित होती है। एक तो व्यवसाय के भविष्य की आशाओं पर और दूसरे पूंजी-उत्पादक सामानों की उत्पादन लागत पर। इन दोनों के प्रभाव ब्याज की दर निश्चित नहीं कर सकते। ब्याज की दर बचत का इनाम भी नहीं हो सकती। "क्योंकि यदि कोई व्यक्ति नकद रुपयों में बचत जमा करता है तो वह ब्याज नहीं प्राप्त करता, चाहे वह पहिले के बराबर भले ही बचत करता हो।" यह कहना भी सही नहीं है कि ब्याज की दर ऐसी होनी चाहिये, जिससे पूंजी की मांग बचत के बराबर हो सके। अर्थात् पूंजी की जितनी मांग हो, उसकी पूर्ति बचत से हो सके। हां, यह बात अवश्य है कि किसी भी देश में बचत की मात्रा व्यवसाय में लगाये गये माल और पूंजी (investment goods) के मूल्य के बराबर होती है। परन्तु यह क्रिया उस तरह नहीं होती, जिस तरह पुराने सिद्धान्त में मान लिया गया है। जब कोई व्यक्ति अपनी आय में से पहिले की अपेक्षा अधिक अंश की बचत करता है, तो केवल इस कार्य से बचत की कुल मात्रा तथा उसकी पूर्ति नहीं बढ़ जाती। चूंकि अब वह व्यक्ति चालू अथवा वर्तमान उपभोग की वस्तुओं पर कम खर्च कर रहा है, इसलिये उपभोग की वस्तुओं के बनानेवाले उत्पादकों की आय कम हो जायगी। "एक आदमी का खर्च दूसरे आदमी की आय होती है। और जब एक आदमी कम खर्च करता है, तो दूसरे कम पैदा करते हैं।"[1] इसलिये जब एक व्यक्ति अपनी बचत बढ़ाता है, तो उसका तत्काल फल यह होता है कि कुछ दूसरे आदमियों की आय कम हो जाती है। अन्त में दूसरे व्यक्ति कम बचा पावेंगे। इसलिये संभव है कि बचत की कुल मात्रा न बढ़े। यदि उत्पादक वस्तुओं में पूंजी इत्यादि की नई लागत नहीं होती है, तो केवल एक व्यक्ति के *अधिक बचत करने से दूसरों की आय कम हो जायगी।* परन्तु जब व्यवसायी उत्पादक वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने का निश्चय करते हैं, तब वे उत्पादन के साधनों पर अथवा कच्चे सामानों इत्यादि पर अधिक रुपया खर्च करते हैं। इससे उत्पादन के साधनों की आय बढ़ जाती है। और यदि बचत करने की इच्छा पहिले की तरह बनी रही, तो बचत की कुल मात्रा भी बढ़ जावेगी। इसलिये बचत की मात्रा उत्पादन में लगाई गई पूंजी के बराबर तो हो जाती है, परन्तु ब्याज की दर के जरिये नहीं, बल्कि आय की सतह के जरिये होती है।

ब्याज की दर वह कीमत है, जो रुपया उधार लेने के लिये दी जाती है। कर्ज देने

---

१ Keynes the General Theory of Employment Interest and Money, page 167.

हफ्ता बाद प्राप्त करते हैं, परन्तु खर्च हमें लगभग रोज करना पड़ता है। इसलिये कुछ नकद रकम हमें अपने हाथ में रखनी पड़ती है, जिससे हम दैनिक खर्च करने में समर्थ रहें। इस दैनिक खर्च के लिये कितनी नकद रकम की आवश्यकता होगी यह इस बात पर निर्भर होगी कि आय की सतह या मात्रा क्या है, कितने समय बाद आय प्राप्त होती है और किसी स्थान में खर्च करने के अथवा मूल्य चुकाने के तरीके क्या और कैसे हैं। दूसरे, व्यवसायियों को अपने हाथ में कुछ नकद रकम रखनी ही पड़ती है, क्योंकि उन्हें ग्राहकों को देने की आवश्यकता होती है तथा कुछ नकद रकम वस्तुओं इत्यादि का मूल्य चुकाने के लिये आवश्यक होती है। तीसरे, यदि अकस्मात् कोई खर्च आ पड़े तो उसे पूरा करने के लिये नकद रुपये की आवश्यकता पड़ती है। जब एकाएक नकद रुपये की जरूरत आ पड़ती है तो कर्ज दिया हुआ रुपया वापिस पाना अथवा लाभ सहित ऋण-पत्र (securities) बेचना सम्भव नहीं होता। अन्त में कुछ व्यक्ति सट्टे की मनोवृत्ति से प्रेरित होकर भी नकद रकम अपने हाथ में रख सकते हैं। एक व्यक्ति यह सोचता है कि भविष्य में ब्याज की दर बढ़ेगी। इसलिये वह अपने साधनों को द्रव्य के रूप में अपने पास रख सकता है, जिससे मौका आने पर वह उसे ऊंची ब्याज की दर पर उधार दे सके। इसके विरुद्ध यदि लोग यह सोचते हैं कि भविष्य में ब्याज की दर गिर जायगी तो वे तुरन्त चालू ऊंची दर पर अपना रुपया लगा देंगे और इस प्रकार अपनी नकद रकम घटा देंगे। जब तक ब्याज की दर के भविष्य के बारे में मत-भिन्नता रहेगी, तब तक कुछ लोग तो भविष्य में ऊंची दर पर रुपया लगाने की नीयत से नकदी अपने हाथों में रखेंगे और कुछ लोग भविष्य में दर गिरने के डर से अपना रुपया लगाते जायंगे। साधारण परिस्थितियों में पहिले तीन कारणों को पूरा करने के लिये जो नकद रकम हाथ में रखी जायगी, उस पर ब्याज की दर में परिवर्तन होने से अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। यह विभिन्न आयों की सतह और समाज के आर्थिक जीवन पर निर्भर होगी। इन कारणों से जो रकम हाथ में रखी जायगी, उसे हम 'क्रियाशील रकम' (active balances) कह सकते हैं। परन्तु जो रकम सट्टे की नीयत से हाथ में रखी जाती है, उस पर ब्याज की दर का बड़ा जल्दी प्रभाव पड़ता है। इस कारण से जो रकम हाथ में रखी जाती है उसे हम 'अक्रियाशील रकम' (inactive balances) कह सकते हैं।

प्रायः ऐसा होता है कि ब्याज की दर जितनी ऊंची होती है, साधारणतः अपनी आय में से उतनी कम रकम लोग नकदी के रूप में अपने हाथ में रखते हैं। क्योंकि रुपया बेकार रखने से अधिक ब्याज मारा जाता। परन्तु यदि उसे कर्ज में दिया जाय अथवा उससे ऋण-पत्र (securities) खरीदे जाय तो ब्याज के रूप में अधिक लाभ होगा। ऐसी परिस्थिति में लोग रुपया लगाने के लिये उत्सुक रहेंगे। कुछ लोग यह सोचकर रुपया लगाने के लिये उत्सुक होंगे कि भविष्य में ब्याज की दर गिर जायगी। अन्तिम, ब्याज की ऊंची दर व्यावसायिक कार्यों को रोकेगी, नये उपाय अनेवाले रुपयों की रकम कम

हो जायगी अर्थात् लोग कम रकम ब्याज पर लगावेंगे, लोगों की आय की मतह कम हो जायगी और दैनिक व्यावसायिक लेन-देन के लिये आवश्यक नक्द रकम की मात्रा कम हो जायगी। इसी प्रकार ब्याज की दर कम होने से लोग अधिक रकम हाथ में रखना चाहेंगे, क्योंकि अब ब्याज के रूप मे अधिक रुपयो का नुकसान न होगा। कुछ लोग यह आशा करेंगे कि भविष्य में ब्याज की दर बढेगी इससे वे नक्द रकम तब तक के लिये रोके रहेंगे अर्थात् वह रकम बेकार पड़ी रहेगी। ब्याज की दर कम होने से लोगो की आय की मतह भी बढ जावेगी। इस प्रकार हम द्रवता-पसन्दगी की एक मूची तैयार कर सकते हैं और उसमें यह दिखा सकते हैं कि ब्याज की विभिन्न दरो पर लोग कितनी नक्द रकम अपने हाथ मे रखना पसन्द करेंगे।

द्रवता की पसन्दगी की यह मूची तैयार हो जाने पर ब्याज की दर किसी एक समय प्राप्त द्रव्य या रुपयों की मात्रा द्वारा निश्चित होगी। "इस प्रकार और यहा द्रव्य की मात्रा आर्थिक योजना में प्रवेश करती है।"[1] ब्याज की दर ऐसी होनी चाहिये, जिसमे द्रव कार्यों के लिये धन की माग उसकी पूर्ति के बराबर होगी। किसी भी समय धन या मुद्रा की जो रकम प्राप्त होगी, वह कुछ व्यक्तियो के हाथ में अवश्य होनी चाहिये। अब ब्याज की दर ऐसी होनी चाहिये, जिससे ये व्यक्ति सब रकम अपने हाथ में रखे रहें। यदि ब्याज की दर इस एकमात्र दर (unique rate) से कम हुई तो रकम की कुल मात्रा जो लोग अपने पास रखना चाहेंगे उसकी पूर्ति से अधिक होगी। इससे ब्याज की दर बढ जायगी। इसके विरुद्ध यदि ब्याज की दर इस तरह से ऊंची हुई तो जितनी रकम लोग अपने पास रखना चाहेंगे, उससे अधिक प्राप्त रहेगी। इसलिये किसी दिये हुए समय में द्रवता-पसन्दगी की मूची और प्राप्त रकम की मात्रा ब्याज की दर निश्चित करते हैं।

ब्याज की दर और मुद्रा की मात्रा

कीन्स के इस सम्बन्ध में एक कठिनाई यह है कि वह मुद्रा (money) का अर्थ साफ-साफ नही बतलाता। वह कहता है कि मुद्रा का अर्थ बैंक में जमा की हुई रकम से है। (Money is co-extensive with bank-deposits) लेकिन जब राबर्टसन के साथ उसका विवाद हुआ तो उसने कहा कि उसका सिद्धान्त उधारी (credit) की माग और पूर्ति का द्योतक नही है। फिर ब्याज पर लगाने के लिये रुपये की जो माग होती है वह ब्याज की दर से स्वतन्त्र नहीं होती। परन्तु कीन्स का मत है कि वह स्वतन्त्र होती है। व्यवसायी जो नक्द रकम अपने पास रखते हैं, उस पर पूजी की माग का काफी हद तक प्रभाव पडता है। यह पूजी ब्याज के लिये लगाई

---

[1] Keynes The General Theory of Employment Interest and Money, p. 168.

जाती है और व्यवसायी इससे काफी प्रभावित होते हैं। इसलिये ब्याज की दर पूंजी की सीमान्त योग्यता से स्वतन्त्रतापूर्वक निश्चित नहीं होती। फिर भी जैसा प्रो० रॉबर्टसन ने बतलाया है कि कीन्स के विचार पुराने सिद्धान्त (neo-classical theory) से बिल्कुल बेमेल नहीं हैं। ब्याज की दर जमा करके न रखने (जैसा कीन्स ने कहा है) तथा उपभोग पर खर्च न करने के लिये इनाम कही जा सकती है।[1]

ब्याज की दर कैसे निश्चित होती है? (What Determines the Rate of Interest?)—ऊपर जिन सिद्धान्तों की विवेचना की गई है—उन्हें हम दो वर्गों में बांट सकते हैं। पहिला, प्राचीन सिद्धान्त की नयी व्याख्या (neo-classical theory) और दूसरा कीन्स का सिद्धान्त। पहिले के मतानुसार ब्याज पर उठनेवाली रकम की मांग और पूर्ति के आधार पर ब्याज की दर निश्चित होती है। ब्याज पर उठनेवाली रकम की मांग कई कारणों से होती है। ये रकमें जब उत्पादन के टेढ़े मेढ़े तरीकों में लगाई जाती हैं तो उत्पादकों की आय अधिक बड़े अनुपात में बढ़ती है, जिससे वे अधिक पूंजी की मांग करें। अथवा सरकार उस रकम या पूंजी पर सूद देने को तैयार हो जाती है, जिससे उसे प्राप्त करके वह युद्ध इत्यादि अपने विभिन्न कार्य पूरे कर सके।

कर्ज के रूप में प्राप्त होनेवाली पूंजी की पूर्ति दो बातों पर निर्भर होती है, पहिली, इच्छापूर्वक की गई बचत की मात्रा और दूसरी बैंकों से प्राप्त होनेवाले कर्ज। कुल बचत की माग और पूर्ति की मात्रा ब्याज की दर निश्चित करने

पूर्ति पर पड़नेवाले प्रभाव हैं। यह दर उस बिन्दु पर स्थिर या निश्चित होगी, जहां कर्ज पर उठनेवाली रकम की मांग और पूर्ति एक बराबर होगी। यदि बचत की मात्रा में बढ़ती हुई तो रकम की पूर्ति बढ़ जायगी, साथ ही उसकी मांग भी घटेगी, क्योंकि बचत बढ़ने से उपभोग घटेगा। इससे ब्याज की दर गिरेगी।

कीन्स के सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर मुद्रा की मांग और पूर्ति के अनुसार निश्चित होती है। मुद्रा की पूर्ति बैंकों की व्यवस्था पर निर्भर होती है। मुद्रा की मांग लोगों की इच्छा पसन्दगी पर निर्भर होती है। एक निश्चित ब्याज की दर पर मुद्रा की

[1] Economic Journal 1937 page 431 Mr. Hicks in Ch. XII of the value and Capital and Mr. Lerner in two articles, 'Alternate Formulations of the Theory of Interest', Economic Journal, June 1938, and 'Interest Theory; Supply and Demand for loans or Supply and Demand for Cash', Review of Economic Statistics, 1944, have tried to reconcile keynesian theory with neo-classical theories

माग ऐसी नही होनी चाहिए, जिसमें मुद्रा की सब पूर्ति खप जाय। यदि मुद्रा-स्फीति के कारण किसी देश में मुद्रा की पूर्ति बढ जाती है तो ब्याज की दर गिरेगी। इसमे शर्त यह है कि मुद्रा-स्फीति के कारण लोगो की द्रवता पसन्दगी में परिवर्तन नही होना चाहिये।

इन दोनो वर्गों के सिद्धान्तो में ऐसा सघर्ष नही है, जैसा सरसरी तौर से देखने मे लगता है। मुद्रा-स्फीति से देश में कर्ज पर उठनेवाली रकम की मात्रा भी बढेगी और इसस ब्याज की दर गिरेगी। द्रवता पसन्दगी में परिवर्तन होने से लोग बाजार मे कर्ज के रूप में कम अथवा अधिक रकम भजेंगे और हम यह कह सकते हैं कि इस रकम की पूर्ति पर प्रभाव पडने से उस परिवर्तन का प्रभाव ब्याज की दर पर भी पडेगा।

तब यह पूछा जा सकता है कि बचत की मात्रा और ब्याज की दर में क्या सम्बन्ध है? बचत की मात्रा एक तो रुपयो के रूप म आय पर निर्भर होती है और दूसरे बचत करने की इच्छा पर। अर्थात् आय की विभिन्न सतहो पर लोग किस अनुपात में बचत करना चाहेंगे। परन्तु द्रवता-पसन्दगी की स्थिति निश्चित रहने से बचत की मात्रा बढने से बाजार में कर्ज के लिये प्राप्य पूजी भी बढ जायगी। इसलिये बचत की मात्रा ब्याज की दर निश्चित करनेवाले साधनो पर प्रभाव डालकर ब्याज की दर पर प्रभाव डालती है।

ब्याज का भविष्य—आविष्कारो का प्रभाव (The Future of Interest—Effect of Invention) ब्याज की दर का भविष्य क्या है? समाज की उन्नति का इस पर क्या प्रभाव पडेगा? हम जानते है कि ब्याज दो बाता पर निर्भर होता है—कर्ज के लिये प्राप्य पूजी की माग और पूर्ति। इसलिये भविष्य में ब्याज की दर इस बात पर निर्भर करेगी कि आविष्कारो और प्रगति के कारण कर्ज की माग बराबर बढती रहेगी अथवा समाज की उन्नति के साथ-साथ पूजी भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त रहेगी। *टौसिग के शब्दो में ब्याज की दर 'सग्रह और उन्नति के बीच एक दौड पर निर्भर होती है।'*

यह पूजी की माग और पूर्ति पर निर्भर है

प्राय आशा यह की जाती है कि कर्ज पर उठनेवाली पूजी की मात्रा भविष्य में बढेगी। क्योकि मनुष्य सभ्यता की सीढी पर जैसे-जैसे चढता है, वह साधारणत अधिक दूरदर्शी हो जाता है। आदिम मनुष्य भविष्य के बारे में कभी नही सोचता था। परन्तु मनुष्य ने जैसे-जैसे उन्नति की, वैसे-वैसे वह भविष्य के लिये कुछ बचाने को चिन्तित होता गया। कीन्स के शब्दो में उसकी द्रवता की पसन्दगी घटती गई। इसके सिवा उद्योगो वा उत्पादन बढने के साथ-साथ लोगो की आय की सतह भी बढती जाती है। इसलिये उनकी बचत करने की शक्ति भी काफी बढ जाती है। अत बचत की मात्रा बढने की प्रवृत्ति दिखावेगी। इसलिये अन्य वस्तुओं के यथास्थित रहते हुए इससे कर्ज के लिये प्राप्य पूजी की मात्रा बढेगी, जिससे कि ब्याज की दर घटेगी।

आविष्कारो का ब्याज पर प्रभाव

लेकिन उसका गिरना या न गिरना भविष्य में पूंजी की माँग पर निर्भर रहेगा। और यह माँग आविष्कार तथा उन्नति पर निर्भर होगी। आविष्कारों के कारण कर्ज के लिये पूंजी की हमेशा माँग रहेगी। नये-नये तरह की मशीनें बनेंगी और उन्हें कारखानों में लगाया जायगा। इससे आगे चलकर और बड़ी मशीनों की आवश्यकता पड़ सकती है, जिससे उत्पादन का क्रम अधिक लम्बा हो जायगा। ऐसी परिस्थिति में पूंजी की माँग बढ़ेगी। परन्तु इस परिस्थिति के विरुद्ध भी एक परिस्थिति हो सकती है। बहुत पहिले जैसा रे (Rea) ने बतलाया था कि श्रम-विभाजन के कारण ठहरने अथवा प्रतीक्षा करने की प्रवृत्ति कम हो जाती है। जब उत्पादन मशीनों द्वारा होता है तो उसकी क्रिया सरल और सीधी भी हो सकती है और साथ ही उत्पादन का समय भी कम किया जा सकता है। इसलिए आविष्कारों का अन्तिम परिणाम इन दो प्रकार की परिस्थितियों के प्रभावों द्वारा जाना जायगा।

इन बातों का ध्यान रखते हुए सम्भावना यह है कि भविष्य में ब्याज की दर गिरेगी। दो अन्य कारण हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भविष्य में ब्याज की दर गिरेगी। एक तो विशेषकर पश्चिमी देशों में यह
क्या ब्याज की दर कभी देखने में आया है कि जनसंख्या साधारणतः स्थिर होने और
शून्य पर आ जायगी। कहीं-कहीं कम होने की प्रवृत्ति दिखला रही है। इससे कर्ज के लिये पूंजी की माँग कम होने की सम्भावना है। क्योंकि उत्पादन का ढंग वही रहने से प्रति व्यक्ति पीछे वस्तुओं की वही मात्रा उत्पादन करने के लिये कम पूंजी की आवश्यकता पड़ेगी। दूसरे, जैसे-जैसे कोई समाज अधिक धनी होता जाता है, उसकी उपभोग की प्रवृत्ति कम होती जाती है। जैसे-जैसे आय बढ़ती है उपभोग पर खर्च होनेवाला उत्पादन कम होता जाता है और बचत का अनुपात बढ़ता जाता है। इससे उपभोग की वस्तुओं की माँग और उत्पादक वस्तुओं की माँग कम होने की सम्भावना है। फल यह होगा कि ब्याज की दर घटेगी। तो क्या कभी यह शून्य पर आ सकती है? कर्ज की माँग की दृष्टि से शून्य ब्याज-दर का अर्थ यह होगा कि पूंजी का वास्तविक सीमान्त उत्पादन शून्य है। जब वास्तविक सीमान्त उत्पादन शून्य है तो उसका अर्थ यह हुआ कि हम अधिक पूंजी लगाकर उत्पादन अधिक नहीं बढ़ा सकते। यहाँ हम ऐसी स्थिति में आ जाते हैं, जब हमारी उत्पादन शक्ति अपनी पराकाष्ठा या चरम सीमा पर पहुंच चुकी है। अर्थात् हमारी सब आवश्यकताएं पूरी हो चुकी हैं। परन्तु हम समाज की ऐसी स्थिति की कल्पना नहीं कर सकते, जहाँ मनुष्यों की सब आवश्यकताएं और इच्छाएं पूरी हो चुकी हों। और जब तक मनुष्य की आवश्यकताएं और इच्छाएं रहेंगी, तब तक पूंजी लगाने की अर्थात गुणोत्पादन रहेगी। इसलिये ब्याज की दर शून्य पर नहीं आ सकती।

इसी प्रकार पूर्ति की दृष्टि से शून्य ब्याज-दर का अर्थ यह होगा कि लोग बिना ब्याज के

अर्थात् बिना किसी इनाम के मुफ्त में कर्ज देने जायगे। लोगों में कोई द्रवता-पसन्दगी नहीं होगी। परन्तु कुछ ऐसे कारण हैं, जिनसे द्रवता-पसन्दगी शून्य पर नहीं आयगी। ब्याज-दर गिरने पर द्रवता-पसन्दगी अर्थात् नकद पूंजी में ज्यादा रुपया आ जायगा और इसका उपयोग दैनिक व्यवसाय में होगा। साथ ही ब्याज-दर गिरने से वह नुकसान कम हो जायगा जो ज्यादा नकदी हाथ में रखने से होता। इसलिये "संस्थाओं तथा मनोविज्ञान के कुछ ऐसे प्रभाव मौजूद रहते हैं, जो कि ब्याज-दर की सीमा शून्य के बहुत ऊपर बांध देते हैं।" अर्थात् ब्याज-दर शून्य पर कभी नहीं आने पाती। इसलिये ब्याज-दर की शून्य पर आने की सम्भावना कभी नहीं हो सकती।[1]

ब्याज की विभिन्न दरें (Different Rates of Interest)—अभी तक हमने आर्थिक ब्याज की विवेचना की है। यदि पूर्ण प्रतियोगिता का वातावरण हो तो शुद्ध ब्याज की सब जगह वही दर होनी चाहिये। परन्तु वास्तव में भिन्न-भिन्न देशों में ब्याज की दर भिन्न-भिन्न होती है। एक ही देश में अलग-अलग साहूकार अलग-अलग दर से ब्याज लेते हैं और उन दरों में काफी अन्तर रहता है। ब्याज की दरों में यह अन्तर क्यों होता है?

ब्याज की दर में अन्तर का प्रधान कारण यह है कि कर्ज लेनेवाले सब लोग एक-सी अच्छी जमानत या धरोहर नहीं दे सकते। जब साहूकार यह जानता है कि कर्ज लेनेवाला ईमानदार है, उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी है और वह कर्ज वापिस देने में समर्थ होगा तो वह खुशी से कम दर पर कर्ज दे देगा, जैसा कि लोग सरकार के लिये करते हैं। लेकिन यदि उसे इन सब बातों के बारे में सन्देह हुआ तो वह ऊंची ब्याज-दर पर कर्ज देगा, जैसा कि लोग किसानों से लेते हैं। ब्याज-दर में फर्क का दूसरा कारण यह है कि कर्ज अलग-अलग समय के लिये लिये जाते हैं। यदि कर्ज लम्बे समय के लिये चाहता है तो साहूकार को अपनी रकम का काफी दिनों के लिये त्याग करना पड़ेगा। उसकी द्रवता कम हो जायगी और वह ऊंची ब्याज-दर की आशा करेगा। यदि थोड़े समय के लिये चाहता होता तो शायद वह इतनी ऊंची ब्याज-दर की आशा न

---

१ प्रोफेसर शुमपीटर (Schumpeter) के मतानुसार एक प्रगतिहीन समाज (static state) में ब्याज दर शून्य हो सकती है। ब्याज इसलिये उत्पन्न होता है कि अस्थायी मुनाफे से ललचा कर उत्पादक पूंजी मांगते हैं। लेकिन प्रगतिहीन समाज में मुनाफा भी रुक जाता है। इसलिये ब्याज-दर शून्य पर आ जायगी। लेकिन यह विचार गलत है। प्रगतिहीन समाज में भी जमा न करने की प्रवृत्ति एक प्रकार का आत्म-त्याग या निरोध हो जायगा और इस प्रवृत्ति में ब्याज निहित या व्याप्त रहेगा। इस सम्बन्ध में देखो L. Robins. 'On some ambiguity in the conception of the stationary equilibrium', Economic Journal, June 1930.

करना। अन्तिम कारण यह है कि कर्ज के बाजार में प्राय अपूर्ण प्रतियोगिता रहती है। एक बाजार में कई छोटे-छोटे बाजार होते हैं और उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के ऋण दिये जाते हैं। जो बैंक लिमिटेड कम्पनियों के रूप में चलते हैं, वे एक वर्ग के लोगों को कर्ज देते हैं और साहूकार दूसरे वर्ग के लोगों को। ग्रामों में जो साहूकार होते हैं उन्हें प्राय कोई बड़ी प्रतियोगिता का सामना नहीं करना पड़ता। इस तरह अलग-अलग बाजारों में अलग-अलग ब्याज दर हो सकती हैं और उनमें साम्यता की प्रवृत्ति होनी आवश्यक नहीं है। ग्राम के लोग ऊची दर पर बड़े बैंकों में रुपया रखने की अपेक्षा पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक म कम दर पर रुपया रखना अधिक पसन्द कर सकते हैं।

अन्तिम कारण अर्थात् बाजार की अपूर्ण प्रतियोगिता यह भी बतलाती है कि अलग-अलग देशों मे ब्याज-दर अलग-अलग हो सकती है। ऊची ब्याज-दर मिलने पर भी एक देश के लोग दूसरे देश में रुपया लगाना पसन्द न करें, क्योंकि उन्हें उस देश के ऋण-पत्र पसन्द नहीं हैं, अथवा उन्हें उस देश के राजनैतिक भविष्य और आर्थिक शक्ति का पर्याप्त ज्ञान नहीं है।

ब्याज की आवश्यकता और औचित्य (Necessity and Justification of Interest)—ब्याज लेना केवल आधुनिक काल में उचित माना जाने लगा है। प्राचीन काल में ब्याज लेना अनुचित समझा जाता था और ब्याज के सिद्धान्त को निन्दनीय समझा जाता था। प्राचीन काल में लोग इस बात को नहीं समझते थे कि पूजी से क्या-क्या सेवाए प्राप्त होती हैं। इसलिये आरिस्टॉटल (Aristotle) ने ब्याज प्रथा की घोर निन्दा की है। आरिस्टॉटल के बाद के लेखकों का मत था कि ऋण देकर न तो साहूकार कोई त्याग करता है और न कर्जदार को उससे कोई लाभ होता है। इसलिये ब्याज लेना धन का अस्वाभाविक उपयोग करना था। प्राचीन काल में पूजी से लाभ उठाने के मौके अधिक नहीं थे। अधिकांश ऋण उपभोग सम्बन्धी रहते थे, जिन्हें ऐसे धनी लोग देते थे, जिनके पास काफी रुपया रहता था और प्राय ऐसे गरीब लोग लेते थे जिन्हें रुपये की बड़ी आवश्यकता होती थी। इसलिये ब्याज लेना निन्दनीय समझा जाता था।

आधुनिक काल में कार्ल मार्क्स तथा अन्य समाजवादियों की आलोचना के कारण ब्याज के औचित्य का प्रश्न फिर उठ खड़ा हुआ है। मार्क्स का मत है कि उत्पादन में

ब्याज की समाजवादी आलोचना

जितनी श्रम की मात्रा लगती है, उसी के आधार पर मूल्य निश्चित होता है। इसलिये मूल्य पर केवल श्रम का अधिकार होना चाहिये। परन्तु मजदूरों को केवल इतना दिया जाता है, जिससे वे किसी प्रकार जीवित रह सकें। बाकी जो आय बचती है, उसे पूजीपति हड़प जाते हैं। इसलिये मार्क्स के मतानुसार ब्याज एक प्रकार की चोरी अथवा ठगी है। समाजवादी व्यवस्था में ब्याज का अस्तित्व नहीं रहेगा।

यदि निजी सम्पत्ति की नैतिकता की विवेचना करना असगत होगा। केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि जब तक निजी सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता प्राप्त रहेगी, तब तक लोगो की समय की पसन्दगी और द्रवता-पसन्दगी पर विजय पाने के लिये ब्याज देना आवश्यक रहेगा। लेकिन निजी सम्पत्ति के अधिकार के सिवा भी ब्याज को एक स्वतन्त्र आधार पर भी उचित ठहराया जा सकता है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि एक समाजवादी सरकार को भी कम से कम हिसाब-किताब रखने की दृष्टि से दो कारणों से ब्याज-दर का सहारा लेना पडेगा। सरकार के पूजी सम्बन्धी साधन सीमित रहेंगे और उन साधनो को विभिन्न उद्योगो में लगाना पडेगा। परन्तु विभिन्न उद्योगो की उत्पादन-शक्ति एक-सी नही हो सकती। यदि कुछ उद्योगों के उत्पादन से १० प्रतिशत लाभ होगा तो कुछ से केवल ३ प्रतिशत होगा। चूकि समाजवादी सरकार भी अपनी पूजी पर अधिक से अधिक लाभ चाहेगी, इसलिये वह भी अपनी एक सतह (standard) निश्चित कर लेगी और जिन उद्योगो में उस आदर्श सतह से कम लाभ होगा उनमें पूजी न लगावेगी। यह आदर्श लाभ की दर ब्याज के सिवा और कुछ नही है। इसलिये ब्याज की दर एक प्रकार की छलनी है, जिसमें से उत्पादन की योजनाएं छानी जाती है और केवल उनको ग्रहण किया जाता है, जिनसे भविष्य में अधिक लाभ होगा।[1]

केवल इतना ही नही समाजवादी सरकार जीवन के स्तर को बढाना चाहती है तो उसे ब्याज दर का सहारा लेना ही पडेगा। मान लो पहिले सब मजदूर उपभोग की वस्तुए बनाने में लगे थे, जिससे पूरा उत्पादन उनमे एक बराबर बट जाता था। अब मजदूरो के रहन-सहन का दर्जा बढाने के लिये कुछ मजदूरो को उत्पादक वस्तुओ के निर्माण में लगाना पडेगा, जिससे कुछ समय बाद इन वस्तुओ की सहायता से उपभोग की वस्तुओ के उत्पादन की मात्रा बढ जायगी। लेकिन कुछ समय के लिये उन मजदूरो का पोषण जो उत्पादक वस्तुओ के बनाने में लगे है, अन्य मजदूरों द्वारा होगा। इसलिये बाकी मजदूर अपनी उपभोग की वस्तुओ का एक अश उन मजदूरो को देंगे। यह अश प्रति सैकडा एक दर से काटा जायगा और यही ब्याज होगा। तात्पर्य यह है कि मजदूरो को कुछ समय तक ठहरना या प्रतीक्षा करना आवश्यक है और भविष्य में अपनी आय बढाने के लिये अपनी वर्तमान आय में कुछ अस्थायी कमी करनी भी आवश्यक है। यह अस्थायी कमी प्रतीक्षा की कीमत अर्थात् ब्याज है।

लगान, ब्याज और आभास-लगान (Rent, Interest and Quasi-Rent)—इधर कुछ दिनो से लगान और ब्याज के भेद को लेकर एक विवाद चला है। सब प्रकार की सम्पत्ति से जिसमे भूमि भी शामिल है, जो आय होती है, उसे लगान भी कह सकते है और ब्याज भी। जब सम्पत्ति के मूल्य का विचार किये बिना उससे

---

१ Henderson. Supply and Demand, page 130.

पूरी आय का विचार करते है, तो उसे हम लगान मान सकते है, परन्तु जब उस आय को सम्पत्ति के मूल्य के प्रति सैकडा की दृष्टि से देखते है, तो उसे हम ब्याज मान सकते है। परन्तु अर्थशास्त्र में यह भेद अब भी चलता है, क्योंकि भूमि पूजी से अलग समझी जाती है। इसलिये भूमि से होनेवाली आय अर्थात् लगान पूजी से होनेवाली आय अर्थात् ब्याज से भिन्न समझी जाती है।

कुछ आलोचकों[1] के मतानुसार भूमि को पूजी से अलग मानने के लिये कोई मौलिक कारण नही है। कई वस्तुए जैसे कच्चा लोहा इत्यादि भी प्रकृति की उतनी ही स्वतन्त्र देन है, जितनी की भूमि। मनुष्य इन वस्तुओ को लेता है, उनमें अपना श्रम लगाकर उनका आकार-प्रकार इत्यादि बदल देता है और उन्हें अधिक मूल्यवान बना देता है। भूमि के बारे में भी यही बात सत्य है। मनुष्य उसे ले लेता है और उसमें श्रम लगाता है, तब वह उपज देने लायक होती है। वस्तुओ की स्वाभाविक उत्पत्ति का उनके मूल्य पर कोई प्रभाव नही पडता। दूसरे, भूमि की तरह अन्य वस्तुओ की पूर्ति भी निश्चित है। "इसमें सन्देह नही कि पृथ्वी का धरातल नही बढाया जा सकता। परन्तु यह बात अन्य प्राकृतिक वस्तुओ पर भी लागू होती है। प्रकृति की दी हुई अन्य वस्तुओं की मात्रा भी नही बढाई जा सकती।" तीसरे यह कहा जाता है कि भूमि में कोई अविनाशी गुण नही होते। भूमि में जो रासायनिक और भौतिक गुण रहते है, वे बराबर क्षीण होते रहते है और अन्य वस्तुओं की तरह उनकी भी पूर्ति करनी पडती है। अन्त में घटती उपज का नियम केवल भूमि के सम्बन्ध में ही लागू नही होता। मशीनो तथा पूजी के अन्य रूपों में भी वह उसी प्रकार लागू होता है। भूमि की पूर्ति स्थिर रखकर तथा श्रम और पूजी की पूर्ति बढाकर हम यह सिद्ध कर देते है कि भूमि में कुछ अतिरिक्त मात्रा भी रहती है। इसी प्रकार हम पूजी में भी अतिरिक्त मात्रा दिखा सकते है। यदि हम पूजी की पूर्ति स्थिर रखें और दूसरे सहयोगी साधनो की मात्रा में परिवर्त्तन कर दें तो यह सिद्ध कर सकते है कि पूजी में भी अतिरिक्त मात्रा होती है। यदि हम भूमि की कुल पूर्ति का उसकी किस्मो के अनुसार वर्गीकरण कर दें, तो अच्छे किस्मो की भूमि में अतिरिक्त या अधिक मात्रा दिखा सकते है। उसी तरह यदि हम भूमि की तरह मशीनो का भी वर्गीकरण कर दें, तो उनमें भी हम अतिरिक्त मात्रा दिखा सकते है। जिस प्रकार लगान न देनेवाली भूमि होती है, उसी प्रकार मशीनें और औजार भी होते है, जिनका मूल्य कूडा-करकट से अधिक नही होता तथा ऐसे मकान भी होते है, जिनका मरम्मत करना और सुरक्षित रखना मुश्किल से लाभदायक होता है। कुछ मशीनें ऐसी होती है, जिनसे कुछ ब्याज नही मिलता और कुछ ऐसी होती है, जिनसे लाभ मिलता है। ब्याज की यह व्याख्या उत्पादन के दूसरे साधनो पर भी लागू की जा सकती है।

---

१ Cannan, A Review of Economic Theory, p. 246

इसलिये लगान और ब्याज में कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं माना जाना चाहिये। भूमि का मूल्य उसी प्रकार निश्चित किया जाता है, जिस प्रकार पूंजी का। भूमि के किसी टुकड़े का मूल्य उससे प्राप्त होनेवाले लगान के आधार पर निश्चित किया जाता है। इसी प्रकार मशीनों तथा अन्य उत्पादक वस्तुओं का मूल्य उनसे होनेवाली आय से निश्चित की जाती है। इसके सिवा जब व्यवसायीगण अपने साधन लगाने के लिये उपयुक्त क्षेत्र खोजते हैं, तब वे पूंजी और भूमि में कोई मौलिक अन्तर नहीं मानते। यदि उनके *लाभ में वृद्धि होती हो तो वे बिना भेद-भाव सोचे भूमि अथवा मशीन अथवा श्रम में अपने* साधन लगा देंगे। इसलिये अर्थशास्त्रियों ने लगान और ब्याज में जो भेद कर रखा है, उसका प्रधान प्रमाण प्रत्यक्ष जीवन में नहीं मिलता।

मार्शल के समान अर्थशास्त्री भी जिन्होंने लगान और ब्याज में भेद किया है, इन आलोचकों की यह बात स्वीकार करते हैं कि भूमि और पूंजी में बहुत-सी समानताएं हैं।

भूमि और पूंजी में केवल अंशों का अन्तर है

भूमि और पूंजी में किस्म का भेद नहीं है, बल्कि अंश का भेद है। यद्यपि दूसरी वस्तुएं भी प्रकृति की देन हैं, परन्तु फिर भी वे उस प्रकार की स्वतन्त्र देन नहीं हैं, जैसी की भूमि। "भूमि की माग में किसी भी दिशा में परिवर्तन होने से उसकी कीमत पर अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव पड़ेगा। किसी साधारण वस्तु की माग में वही परिवर्तन होने से उसकी कीमत पर उतना गहरा प्रभाव नहीं पड़ेगा।"[१] भूमि की माग में कमी या बढ़ती होने पर उसकी कीमत किसी भी हद तक गिर या बढ़ सकती है। परन्तु किसी वस्तु की माग में ऐसा परिवर्तन होने से दीर्घकाल में उसका मूल्य उत्पादन खर्च से अधिक न होगा। भूमि की कमी हमेशा बनी रहती है, परन्तु अन्य वस्तुओं की कमी अस्थायी होती है और कभी-कभी होती है। जहा तक लगान की व्याख्या मशीनों में लागू करने की बात है, उस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यदि पूर्ण प्रतियोगिता मान ली जाय तो फिर सब उत्पादक अच्छी से अच्छी मशीनों का उपयोग करेंगे। फिर मशीनों से अतिरिक्त बचत होने की गुंजाइश नहीं रहेगी। परन्तु दीर्घकाल में प्रतियोगिता से लगान का उन्मूलन नहीं होता।

लगान, ब्याज और आभास-लगान के बीच में अन्तर दो बातों पर निर्भर रहता है—

लगान,ब्याज और आभास लगान में अन्तर

एक पूर्ति की लोच पर और दूसरा समय पर। जब किसी वस्तु की पूर्ति अल्प और दीर्घकाल में बेलोच रहती है, तब लगान उत्पन्न होता है। जब किसी वस्तु की पूर्ति अल्पकाल में बेलोचदार होती है और दीर्घकाल में लोचदार होती है, तब उससे *होनेवाली आय को आभास-लगान (quasi-rent)* कहते हैं। ब्याज

---

१ Henderson. Supply and Demand, p 85.

लगान को एक स्वतन्त्र वस्तु की तरह नहीं देखा जाता। बल्कि किसी प्राणि-परिवार समूह के एक बड़े जीव की तरह देखा जाता है। यह बात अवश्य है कि उनकी कुछ अपनी ऐसी विशेषताएं हैं, जिनका सिद्धान्त तथा व्यवहार की दृष्टि से बहुत महत्व है।"[1]

सत्ताईसवां अध्याय

मजदूरी

(Wages)

मजदूरी क्या है ? (Nature of Wages)—मजदूरों को उनके काम या सेवाओं के लिये जो पारिश्रमिक दिया जाता है, उसे मजदूरी कहते हैं। कुछ बातों में मजदूरी ब्याज और लगान से भिन्न होती है। ब्याज की एक शुद्ध दर होती है, जो किसी बाजार में सब जगह एक-सी रहती है। मजदूरी की ऐसी कोई शुद्ध दर नहीं होती। मजदूरी की दर प्रति मनुष्य और प्रति स्थान पीछे अलग-अलग होती है। ब्याज एकजातीय या एक-सा (homogeneous) होता है। परन्तु मजदूरी कई तरह की (heterogeneous) होती है। मजदूरी लगान से भी भिन्न होती है। लगान की परिमिति शून्य के ऊपर एक छोटी सी सख्या से लगाकर एक बहुत बड़ी सख्या या मात्रा में हो सकती है। परन्तु मजदूरी में इतना बड़ा अन्तर कभी नहीं हो सकता। मजदूरी की एक कम से कम हद या मात्रा होती है, जो मनुष्य को जिन्दा रखने और उसे काम करने के योग्य बनाये रखने के लिये आवश्यक है। इस मात्रा से कम पर मजदूरी की दर नहीं जा सकती। मजदूरी और लगान में एक अन्तर और है। लगान की एक सर्वमान्य दर का कोई अर्थ नहीं होता। परन्तु मजदूरी की सर्वमान्य दर (general rate) का अर्थ होता है। मजदूरी की सर्वमान्य दर इस अर्थ में होती है कि बिलकुल निम्न श्रेणी में जो कम से कम दर होती है, उसमें और सर्वमान्य दर में अपेक्षाकृत कम अन्तर होता है। और उच्च श्रेणी के जो कुशल मजदूर होते हैं, उनकी दर से बहुत अधिक नहीं होती। जिस प्रकार हम वस्तुओं के सामान्य सतह (general level) की बात करते हैं, उसी प्रकार एक दूसरे अर्थ में मजदूरी की सामान्य दर की चर्चा कर सकते हैं। जिस तरह एक व्यापक दृष्टि से हम यह कह सकते

क्या मजदूरी की एक सर्वमान्य दर होती है ?

---

[1] Marshall Principles. Preface to the 1st Edition, p. VIII.

(३) वास्तविक मजदूरी निश्चित करने में कार्य काल की लम्बाई (the length of the working period) का भी विचार करना चाहिये। हफ्ते में कितने दिन काम होता है तथा पूरे वर्ष में कुल कितने दिन काम हुए, इन सबका विचार करना चाहिये। रुपयों की दृष्टि से दो मजदूर वर्ष में एक बराबर पैदा करते हैं, परन्तु उनमें से एक कई महीनो तक बेकार रह सकता है। तब दूसरे मजदूर की वास्तविक मजदूरी पहिले मजदूर की अपेक्षा कम होगी।

(४) चौथी महत्त्वपूर्ण बात काम की क़िस्म (nature of employment) है। कई काम ऐसे होते हैं, जिनसे मजदूर का जीवन कम हो जाता है। काम का उसकी उम्र पर असर पड़ता है। जैसे रेलवे ड्राइवर और लोहा गलाने की भट्ठी में काम करनेवाले मजदूरों का काम इसी प्रकार का होता है। ऐसे लोगो की मौद्रिक मजदूरी ऊंची रहते हुए भी वास्तविक मजदूरी कम रहती है। परन्तु जिस काम में आराम और आनन्द मिलता है तथा सामाजिक सम्मान मिलता है, उसमें वेतन कम रहते हुए भी लोग उसे स्वीकार करना पसन्द करते हैं। वास्तविक मजदूरी का हिसाब लगाते समय हमें इन बातो का विचार करना पड़ता है।

(५) कुछ अतिरिक्त उपार्जन (extra earnings) करने की सभावना का भी विचार करना पड़ता है। यदि किसी पेशा में काम करने के घंटे कम हैं, तो मजदूर अपने बाकी समय में उसी धधे से लगे हुए किसी अन्य काम में कुछ घंटे काम करके कुछ कमा सकता है। जैसे, शिक्षक समाचार पत्रो में लेख लिखकर अपनी आय बढा सकते हैं।

(६) काम का स्थायीपन अथवा नियमितता (regularity of employment) किसी मजदूर की वास्तविक मजदूरी निश्चित करने में महत्त्वपूर्ण होती है। यदि काम पूरे वर्ष भर के लिये मिलता है, तो उसमें मौद्रिक मजदूरी कम होने पर भी वह उस काम से अच्छा है, जिसमें मौद्रिक मजदूरी तो अधिक है, पर काम केवल कुछ महीनो के लिये है।

सफलता की सभावना, भविष्य में तरक्की पाने की आशा तथा मालिक का अच्छा बरताव ऐसी बातें हैं, जिनसे प्रभावित होकर मजदूर कम मजदूरीपर भी काम करने को तैयार हो जायगा और अन्य स्थान पर ऊंची मजदूरी पर काम नहीं करेगा। जब हम विभिन्न कालो और स्थानो में मजदूरी की आय की तुलना करते हैं, तब मौद्रिक मजदूरी और वास्तविक मजदूरी में अन्तर जानना आवश्यक हो जाता है। जब मौद्रिक मजदूरी की अपेक्षा वास्तविक मजदूरी ऊंची रहती हैं, तभी मजदूर सुखी और उन्नतिशील होते हैं।

मजदूरी कैसे निश्चित होती है

(How Wages are Determined)

जीवन निर्वाह सिद्धान्त (The Subsistence Theory)—मजदूरी के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे पहिले फ्रान्स के कुछ अर्थशास्त्रियों ने किया था। इन अर्थशास्त्रियों को भूमि प्रधानतावादी (physiocratic) कहते थे, क्योंकि ये लोग भूमि को ही सम्पत्ति का आधार मानते थे। अठारहवीं शताब्दी में इस मत का फ्रान्स में बड़ा जोर था। लैसल (Lassalle) नामक जर्मन अर्थशास्त्री ने इस सिद्धान्त का 'मजदूरी का लौह नियम' (The Iron Law of Wages or the Brazen Law of Wages) का नाम दिया।

इस सिद्धान्त का कहना है कि मजदूरी मालिकों और मजदूरों के बीच मोल-भाव के आधार पर निश्चित होती है। चूंकि मालिक थोड़े से होते हैं, इसलिये वे आपस में मिल जाते हैं और अपने मनचाही दर से मजदूरी देते हैं। मजदूरों के पास पहिले से कोई सचित धन नहीं रहता। इसलिये मालिक अथवा उत्पादक जो भी मजदूरी देते हैं, वह मजदूरों को स्वीकार करनी पड़ती है। परन्तु मजदूरी की दर जीवन-निर्वाह की सतह से नीचे नहीं आ सकती। जीवन-निर्वाह की सतह वह है, जिससे मजदूर तथा उसका कुटुम्ब काम करने के लिये केवल जीवित रह सकते हैं। एक पीढ़ी के बाद मृत्यु-संख्या मजदूरों की संख्या कम कर देगी। मृत्यु दर से जो कमी होगी वह नई जन्मदर से पूरी नहीं होगी। मजदूरों की जितनी मांग होगी, उतनी पूर्ति नहीं होगी। इससे मजदूरी की दर बढ़ेगी। परन्तु वह दर जीवन निर्वाह की सतह से ऊपर नहीं उठेगी। यदि उठती है, तो मजदूर जल्दी शादी करेगा और मजदूरों की संख्या फिर बढ़ेगी। अब मजदूरों की पूर्ति मांग से अधिक हो जायगी और मजदूरी की दर फिर गिरकर जीवन-निर्वाह की सतह पर आ जायगी।

जाहिर है कि यह सिद्धान्त माल्थस के जनसंख्या के आधार पर बना हुआ है। परन्तु इस सिद्धान्त में गल्ती यह है कि यह कहता है कि मजदूरी बढ़ने से जनसंख्या अवश्य बढ़ेगी। जैसा पहिले बतला चुके है, यह अनुमान गलत है। मजदूरी
यह सिद्धान्त माल्थस के बढ़ने से मजदूरों के रहन-सहन का दर्जा बढ़ सकता है। इस
जनसंख्या के सिद्धान्त के सिद्धान्त के विरुद्ध दूसरी आलोचना यह हो सकती है
आधार पर बना है। कि कुछ अपवादों को छोड़कर जीवन-निर्वाह का सतह सब
वर्गों के मजदूरों में प्राय एक-सा होता है। इसलिये विभिन्न
वर्गों के मजदूरों में मजदूरी की दर का जो अन्तर होता है, वह इस सिद्धान्त से नहीं समझाया जा सकता। अन्त में यह सिद्धान्त श्रम की पूर्ति पर अधिक जोर देता है।

मजदूरी निश्चित करने में माग भी एक महत्त्वपूर्ण बात होती है। परन्तु माग की ओर यह सिद्धान्त ध्यान नहीं देता।

जीवन-स्तर और मजदूरी (The Standard of living and Wages)— उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जीवन-निर्वाह के विचार की मान्यता खतम हो गई और उसके स्थान में जीवन-स्तर के विचार को मान्यता प्राप्त हुई। इस विचार का तत्त्व यह था कि मजदूरी जीवन-निर्वाह के सतह तक नही बल्कि जीवन-स्तर के सतह के बराबर स्थिर होती है। किसी वर्ग के मजदूरो के जीवन के रहन-सहन का जो दर्जा होता है, उसी के बराबर प्राय उनकी मजदूरी भी होती है। मजदूरी निश्चित होने में रहन-सहन का दर्जा प्रधान कारण होता है। मजदूरो के किसी समूह को केवल जीवन निर्वाह योग्य मजदूरी मिलना पर्याप्त नही है, जिससे वे कुटुम्बसहित जीवन-निर्वाह कर सकें। बल्कि उन्हे इतनी मजदूरी मिलनी चाहिये कि जिस ढग से रहने की उनकी आदत है, उस ढग से रहन में समर्थ हो सकें। वास्तव में यह सिद्धान्त जीवन-निर्वाह के सिद्धान्त का एक सशोधित रूप है। जीवन-स्तर का अर्थ जीवन-निर्वाह के स्तर से कही अधिक व्यापक होता है। उसका अर्थ केवल जीवन की आवश्यकताओ से नही है। उसमें कुछ शिक्षा पाने की सभावना तथा कुछ आराम एव नियमित रूप से विश्राम पाने की सभावना भी शामिल है।

एक दृष्टि से यह सिद्धान्त सत्य कहा जा सकता है। मजदूरी की सतह पर जीवन-स्तर दो प्रकार से प्रभाव डाल सकता है। पहिला यह कि "यदि मजदूरो का एक निश्चित जीवन-स्तर है, तो वे दृढतापूर्वक उसी के अनुसार उपयुक्त मजदूरी भी मागेंगे।" लेकिन यह ध्यान रहे कि इन तरीको से मजदूरी मजदूरो के सीमान्त मूल्य (marginal worth) के ऊपर नही रखी जा सकती। दूसरा यह कि जीवन-स्तर मजदूरो की सीमान्त उत्पादन शक्ति पर प्रभाव डाल कर उनकी मजदूरी पर भी प्रभाव डाल सकता है। यह दो प्रकार से सभव है। यह तो सभी जानते है कि मजदूरो के जीवन-स्तर और कार्य-क्षमता अर्थात् योग्यता में घना सम्बन्ध होता है। यदि रहन-सहन का दर्जा ऊचा है, जिससे मजदूर अच्छा भोजन पाते है, अच्छे मकानो में रहते है, चिन्ताओ से मुक्त रहते है, इत्यादि तो उनकी काम करने की योग्यता बहुत बढ जाती है। तीसरे, जनसख्या सीमित करके जीवन-स्तर सीमान्त उत्पादन शक्ति पर प्रभाव डाल सकता है। यदि मजदूरी जीवन-स्तर से कम है, तो मजदूर शादी करना और बच्चे उत्पन्न करना पसन्द नहीं करेंगे। तब उस समूह में मजदूरो की पूर्ति कम हो जायगी और मजदूरी की दर बढ जायगी।

परन्तु जैसा कुछ लोगो का मत है, यदि इस सिद्धान्त का यह अर्थ है कि जीवन-स्तर प्रत्यक्ष रूप से (directly) मजदूरी निश्चित करता है तो इस सिद्धान्त की कई दृष्टियों से आलोचना की जा सकती है। पहिली आलोचना यह है कि मजदूरी की ऊची दर निश्चित करनेवाली कई शर्तों में से जीवन-स्तर केवल एक है। उद्योग की उच्च उत्पादन शक्ति,

उत्पादन कला में सुधार, पूंजी की वृद्धि इत्यादि अन्य शर्तें हैं। दूसरे जीवन का उच्च स्तर और मजदूरी की उच्च दर हमेशा एक दूसरे पर निर्भर रहती है। जिस प्रकार उच्च जीवन-स्तर के कारण मजदूरी बढ़ सकती है उसी प्रकार उच्च स्तर बनाये रखने के लिये मजदूरी की ऊंची दर भी परिहार्य आवश्यक होती है। तभी तो जीवन-स्तर ऊंचा हो सकेगा। इस प्रकार यह एक चक्रमय तर्क है। दोनों एक दूसरे के कार्य और कारण हैं। तीसरे, कनान (Cannan) का मत है कि मानव सभ्यता का इतिहास यह बतलाता है, जैसे-जैसे सभ्यता का विकास हुआ है वैसे-वैसे मनुष्य की आय भी बढ़ती गई है। इस सिद्धान्त के समर्थक यह नहीं कह सकते कि जीवन का स्तर ऊंचा बढ़ने से मजदूरी बढ़ती है क्योंकि जीवन-स्तर के विचार का सार यह है कि वह एक ऐसी वस्तु है कि उसके अनुसार रहने की मजदूरों की आदत पड़ गई है। अन्त में यह सिद्धान्त श्रम की मांग पर विचार नहीं करता और न इस बात का विचार करता है कि मजदूरी की दर पर मांग का क्या प्रभाव पड़ता है। यह केवल पूर्ति का सिद्धान्त है और इस कारण एकांगी है।

कुछ शर्तों के साथ हम इस सिद्धान्त को स्वीकार कर सकते हैं कि मजदूरी पर जीवन-स्तर का प्रभाव प्रधानतः अप्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष वह केवल उस हद तक है, जिस हद तक कि जीवन-स्तर मजदूरों की कार्य-सम्बन्धी योग्यता बढ़ाता है और इस कारण से पूरे उद्योग की उत्पादन शक्ति भी बढ़ाता है और साथ ही जहां तक वह मजदूरों की मजदूरी की दर के सम्बन्ध में मोल भाव करने की शक्ति बढ़ाता है।

अवशिष्ट अधिकार का सिद्धान्त (Residual Claimant Theory)—वाकर (Walker) का मत है कि मजदूर किसी उद्योग के उत्पादन के अवशिष्ट का अधिकारी है। उत्पादन में से लगान, ब्याज और लाभ घटाने के बाद जो कुछ बच रहता है, वह मजदूरी के बराबर है। लगान, ब्याज और लाभ अपने-अपने नियमों के अनुसार निश्चित होते हैं। परन्तु मजदूरी निश्चित करने का कोई विशेष नियम नहीं है। इसलिये लगान, ब्याज और मुनाफा काटने के बाद जो कुछ बच रहता है, वह मजदूर को मिलना चाहिये। यदि मजदूरों की योग्यता के कारण उत्पादन बढ़ता है, तो उन्हें मजदूरी का रूप अधिक मिलेगा। इस सिद्धान्त में अच्छी बात यह है कि वह मजदूरों के भविष्य के बारे में उतना निराशापूर्ण नहीं है, जितना जीवन-निर्वाह का सिद्धान्त है। वास्तव में यह उत्पादन शक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त है, क्योंकि उसका कहना है कि मजदूर अपने उत्पादन से मजदूरी पाते हैं। अर्थात् राष्ट्रीय आय में वे जो कुछ जोड़ते हैं, उसी में से अपनी मजदूरी प्राप्त करते हैं। मजदूर जितना अधिक उत्पन्न करेगा उतना अधिक उसे मिलेगा।

परन्तु इस सिद्धान्त में निम्नलिखित त्रुटियां हैं। (अ) यह सिद्धान्त इस बात को नहीं समझा पाता कि समय-समय पर ट्रेड यूनियन या मजदूर संघ किस प्रकार मजदूरों को संगठित करके मजदूरी बढ़वा लेते हैं। (ब) मजदूरों की मांग और पूर्ति के सम्बन्ध

में यह सिद्धान्त उनकी कमी या बहुतायत का विचार नही करता । साथ ही मजदूरी की दर निश्चित करने में वह श्रम की पूर्ति का विचार नही करता । (स) यदि तुम लगान, ब्याज और लाभ को माग तथा पूर्ति के सिद्धान्त की सहायता से अथवा सीमान्त उत्पादन के सिद्धान्त के आधार पर समझा सकते हो तो मजदूरी को भी उसी प्रकार समझा सकते हो और निश्चित कर सकते हो ।

मजदूरी कोष का सिद्धान्त (Wages Fund Theory)—आडम स्मिथ इस सिद्धान्त का जन्मदाता था, परन्तु इसका पूर्ण विकास मिल के द्वारा हुआ । मिल का मत था कि मजदूरी श्रम की माँग और पूर्ति पर निर्भर करती है । अथवा जैसा कहा जाता है, वह जनसख्या और मजदूर सख्या के अनुपात पर निर्भर करती है । यहा जनसख्या से तात्पर्य केवल मजदूर वर्ग से है । अर्थात् केवल वही लोग जो किराये पर काम करते है । पूजी से तात्पर्य सचल पूजी से है । वह भी कुल सचल पूजी नही बल्कि उसका भाग जो कि श्रम खरीदने में प्रत्यक्ष रूप से खर्च किया जाता है ।" मजदूरी कोष अथवा पूजी का वह भाग जो प्रत्यक्ष रूप से मजदूरी खरीदने में खर्च किया जाता है बधा हुआ या निश्चित रहता है और वह भूतकाल में बचत करने से सचित होता है । यह कोष श्रम की माग कहलाता है और यदि इस कोष में श्रमिको की सख्या का भाग दे दिया जाय तो मजदूरी की औसत दर निकल आवेगी । इससे यह तात्पर्य भी निकलता है कि यदि मजदूरी की दर में आम वृद्धि होनी है, तो दो में से एक चीज अवश्य होनी चाहिये । या तो कोष की वृद्धि होनी चाहिये अथवा श्रमिको की सख्या या पूर्ति में कमी होनी चाहिये । परन्तु कोष की वृद्धि धीरे-धीरे होती है क्योकि बचत भी तो धीरे-धीरे होती है । इसलिये दूसरी बात स्वय सिद्ध-सी हो जाती है कि यदि मजदूरो को अपनी उन्नति करनी है, तो उन्हें अपने बच्चो की सख्या सीमित करनी चाहिये ।

इस सिद्धान्त की आलोचना लागे (Longe) और थार्नटन (Thornton) ने की, और थार्नटन की कडी आलोचना के ही कारण मिल ने अपना सिद्धान्त गल्त मान लिया । बाद में सन् १८७४ में केर्न्स (Cairnes) ने इस सिद्धान्त का समर्थन करने का प्रयत्न किया । मिल का मत था कि श्रम की माग सचल पूजी (circulating capital) की मात्रा के आधार पर निश्चित होती है । इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तुओं की माँग श्रम की माग नहीं है । अर्थात् जब लोग वस्तुए खरीदते है तो वे रुपया खर्च करते है । परन्तु श्रम की माग उनकी बचत के एक अश से होती है, जो कि सचल पूजी में सम्मिलित होती है । अर्थात् उनकी बचत सचल पूजी का एक अश होती है । यह मत भी यथार्थ नही है । श्रम की माग निर्भर माग (derived demand) होती है । अर्थात् वह अन्त में वस्तुओ की माग से उत्पन्न होती है । जब वस्तुओं की माग बढी हुई रहती है, तो व्यवसायी अच्छी बिक्री की आशा करते है और मजदूरो को अधिक काम देने को तैयार रहते है । जब व्यवसाय में मन्दी रहती है, तब

इसके विरुद्ध होता है। फिर जब लोग अपनी सब आय खर्च कर देते हैं, तब श्रम का उपयोग उपभोग की पूर्ण और तैयार वस्तुएं बनाने में होता है। जब लोग बचत करते हैं और अपनी बचत ब्याज या लाभ पर लगाते हैं, तब श्रम का उपयोग उत्पादन की वस्तुएं बनाने में होता है। इसलिये खर्च और बचत में जो अन्तर होता है, उससे मालूम होता है कि श्रम का उपयोग किस दिशा में किया जायगा। हां, यह बात अवश्य है कि यदि लोगों ने अधिक बचत की होती और उसे ब्याज पर लगाया होता तो मशीनों, औजारों और कारखाना की संख्या अधिक होती और उन्नति होती। इससे उत्पादन-शक्ति बढ़ती और मजदूरों की भी उन्नति होती। इस सिद्धान्त को घुमा फिराकर की गई व्याख्या में शायद यही एक सत्य है।

परन्तु इस सिद्धान्त की सबसे महत्त्वपूर्ण आलोचना यह है कि बहुत थोड़े अल्पकाल को छोड़कर मजदूरी-कोष पहिले से निश्चित और बंधा हुआ नहीं रहता। कोष को
हम रुपयों की मात्रा के रूप में भी मान सकते हैं और वस्तुओं
मजदूरी पर दिया जानेवाला की मात्रा के रूप में भी। किसी भी देश के कोष की मुद्रा
कोष निश्चित नहीं रहता की मात्रा बहुत ही लोचदार होती है, क्योंकि वह हानि
और लाभ की आशा तथा बैंक की नीति पर निर्भर रहती
है। जब व्यवसाय अच्छा चलता है और उत्पादक अधिक लाभ की आशा करते हैं, तब वे अधिक मजदूर काम पर लगाने के लिये अधिक रुपया कोष में रखेंगे। परन्तु जब व्यवसाय में मंदी रहती है, तब यह काम धीमा हो जाता है। इसी प्रकार मजदूरों के लिये वस्तुओं की मात्रा अथवा सचल पूंजी की मात्रा निश्चित रूप से बंधी हुई नहीं रहती। कुछ समय के लिये वस्तुओं की मात्रा निश्चित या बंधी हुई रह सकती है। वह इस प्रकार कि मजदूरों के जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक अन्न की मात्रा एक ऋतु के लिये बंधी हुई रहती है। परन्तु वह हमेशा के लिये निश्चित नहीं रहती। इसी प्रकार सचलपूंजी की मात्रा बहुत ही लोचदार होती है। वह बचत करनेवाले तथा ब्याज पर लगानेवाले लोगों के कार्यों के अनुसार जल्दी-जल्दी बदलती रहती है। कभी लोग अपनी आय को ब्याज पर लगाना अधिक लाभदायक समझते हैं, और आय का अधिकांश पूंजी के रूप में लगा देते हैं। कभी वे अपनी आय को एक कीमती मोटरकार अथवा सैर-सपाटे में खर्च करना पसन्द करते हैं। इसलिये मजदूरी कोष बहुत अधिक लोचदार कोष है। उसकी वास्तविक मात्रा लाभ की आशा से मजदूरों को काम देने पर निर्भर करती है। सच तो यह है कि कोष से मजदूर जो कुछ प्राप्त करते हैं, वह इस बात पर निर्भर करता है कि वे स्वयं अपने श्रम द्वारा उसमें कितना देंगे। अर्थात् उसकी कितनी वृद्धि करेंगे। साथ ही मजदूरों का अंश उत्पादकों की आपस की प्रतिद्वन्द्विता पर भी निर्भर करता है। यदि मजदूरों की कार्य सम्बन्धी योग्यता बहुत अच्छी है तो राष्ट्रीय आय भी अधिक होगी और मजदूरों को मिलने वाला भाग भी अधिक होगा।

सीमान्त उत्पादन शक्ति और मजदूरी[1] (Marginal Productivity and Wages)—मजदूरी का आधुनिक सिद्धान्त मूल्य के मूल तत्वों के आधार पर मजदूरी के अध्ययन द्वारा बना है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के लिये किसी वस्तु का मूल्य उसकी सीमान्त उपयोगिता के बराबर होना है, उसी प्रकार श्रम की पूर्ति की मात्रा दी हुई हो तो किसी उत्पादक के लिये मजदूरी की दर श्रम की एक इकाई की उत्पादन शक्ति के बराबर होगी। श्रम की एक इकाई की वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति उस उत्पत्ति के मूल्य के बराबर होती है, जो व्यवसाय में श्रम की एक इकाई जोड़ने या घटाने से प्राप्त होती है। यह मान लिया जाता है कि उत्पादन के दूसरे सहयोगी साधनों की पूर्ति वही रहती है और व्यवसाय का सगठन सब परिस्थितियों में पूर्ण किफायत के साथ किया जाता है। यदि यह मान लिया जाय कि उत्पादन के अन्य सहयोगी साधनों की पूर्ति में कोई परिवर्तन न होगा और श्रम के उत्पादन के मूल्य में भी कोई परिवर्तन न होगा तो किसी फर्म में श्रम की इकाइयां अधिकाधिक सख्या में लगाने से उत्पादन घटती हुई दर में होगा। उत्पादक श्रम की अधिकाधिक इकाइयां लगाता जायगा। प्रति मजदूर पीछे उत्पादन घटता जाता है। तब एक बिन्दु ऐसा आयेगा जहां श्रम की एक अधिक इकाई द्वारा प्राप्त उत्पत्ति का मूल्य उस मजदूर को दी जानेवाली मजदूरी की दर के बराबर होगा। श्रम की वह इकाई सीमान्त इकाई होगी। और चूंकि अनुमान के अनुसार सब इकाइयों की कार्यक्षमता एक बराबर होती है इसलिये उस सीमान्त इकाई की मजदूरी की दर अन्य सब इकाइयों की मजदूरी की दर निश्चित कर देगी। यदि मजदूरी की दर श्रम की वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति से अधिक है तो उत्पादक मजदूरों की सख्या में छटनी कर देंगे, अर्थात् वे कम मजदूर काम पर रक्खेंगे। इसी प्रकार यदि मजदूरी वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति के ऊपर है तो उत्पादक अधिक मजदूरों को काम पर लेंगे। इसलिये साम्य स्थापित करने के लिये जिससे व्यवसाय न बढ़े और न घटे मजदूरी का श्रम की वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति के बराबर रहना आवश्यक है।

इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि यह आवश्यक नहीं है कि सीमान्त मजदूर कार्य में अयोग्य होता है। वह "सामान्य योग्यता का मजदूर होता है। उसके अतिरिक्त उत्पादन से उत्पादक को (मजदूरी देने के बाद) सामान्य लाभ भी बच रहता है। इससे अधिक नहीं।" वह सीमान्त इस अर्थ में होता है कि उसके लेने से मजदूरों की सख्या इतनी हो जाती है, जितनी वर्तमान दर पर उत्पादक काम पर रखना उचित समझता है।

इस सिद्धान्त की कई आलोचनाएं की गई हैं।[2] इनमें प्रमुख आलोचना यह है कि पूर्ति के पक्ष में जो प्रभाव काम करते हैं उनका यह सिद्धान्त विचार नहीं करता। मजदूरी

१–२ अध्याय चौबीस देखो।

केवल किसी साधन के लिए दी जानेवाली कीमत नहीं है। वह एक मजदूर की आय भी है और इस कारण मजदूर की योग्यता पर उसका प्रभाव पड़ता है। मजदूरी का केवल मजदूर के वास्तविक सीमान्त उत्पादन के बराबर होना आवश्यक नहीं है बल्कि उसे इतना होना चाहिए कि वह अपनी रहन-सहन का स्तर बनाए रखे। यदि मजदूरी मजदूरों का जीवन-स्तर बनाए रखने में समर्थ नहीं होगी तो रहन-सहन का दर्जा गिर जायगा और उनके काम की योग्यता कम हो जायगी जिससे उसकी वास्तविक सीमान्त उपज घट जायगी। अथवा जन्म-संख्या कम हो जायगी जिससे मजदूरों की संख्या घटेगी और श्रम की पूर्ति घटेगी। इससे वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति बढ़ेगी। इसलिए पूर्ति के पक्ष में मजदूरों के प्रभावों का विचार हमें करना ही पड़ेगा।

ध्यान रहे कि यह सिद्धान्त इस बात को मान लेता है कि श्रम के बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता है। परन्तु वास्तविक जीवन में श्रम के बाजार में प्रतियोगिता शायद ही कभी पूर्ण होती हो। सब जगह श्रमिकों के विरुद्ध मालिकों में एक प्रकार का आपस में समझौता-सा रहता है। परन्तु इसके विरुद्ध यदि मजदूर आपस में मिलकर एक मजबूत ट्रेड यूनियन अर्थात् मजदूर सभा का संगठन कर लें तो श्रम की पूर्ति में वे एकाधिकार प्राप्त कर सकते हैं। चूंकि श्रम के बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता रहती है इसलिए मजदूरी की वास्तविक दर वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति से भिन्न रहेगी। साथ ही उद्योग में उत्पादन कला में आविष्कारों इत्यादि के कारण जो उन्नति होती है उसको भी हमें ध्यान रखना पड़ेगा क्योंकि मुख्यतः इन्हीं के कारण मजदूरी की दरों में उन्नति हुई है। साथ ही हमें उत्पादन के अन्य साधनों की पूर्ति में जो उन्नति हुई है, उसकी ओर भी ध्यान देना चाहिए। पूंजी की ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये, क्योंकि उद्योगों में पूंजी की बढ़ती अवश्य होती है। इसलिए यह सिद्धान्त कई चीजों को यथास्थित मान लेता है। इसीलिए यह सिद्धान्त मजदूरी को पूर्णरूप से नहीं समझाता। "मजदूरी पर प्रभाव डालनेवाले कई कारणों में से केवल एक पर वह अच्छी तरह प्रकाश डालता है।"

मजदूरी और अपूर्ण प्रतियोगिता

मजदूरी के सिद्धान्त पर कुछ हाल के विचार (Recent Advances in Wage Theory)—अब लोग अधिकाधिक रूप में स्वीकार करने लगे हैं कि श्रम के बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता रहती है। उद्योगों के केन्द्रीभूत होने के कारण श्रम के खरीदारों की कुल संख्या कभी बड़ी नहीं होती। साथ ही श्रम-बाजार कई छोटे-छोटे अथवा उप-बाजारों में बंट जाते हैं। इनमें से प्रत्येक में श्रम के खरीदारों की संख्या बहुत छोटी रहती है। पश्चिमी दुनिया के सभ्य देशों में मजदूरों ने अपने बड़े मजबूत और सुसंगठित मजदूर संगठन बना लिये हैं। इसलिये श्रम की बिक्री एकाधिकार के रूप में हो गई है। मजदूर संगठन सामूहिक रूप से उत्पादकों के साथ अथवा उत्पादकों

के संगठनो के साथ मजदूरी की दर तय करने लिये सौदा करते है। इसलिये श्रम बाजार में एकाधिकार के साथ-साथ प्रतियोगिता देखने में आती है। कही-कही एक मजदूर-संघ उत्पादको के एक संघ के साथ सौदा कर सकता है। कही-कही कुछ उत्पादक कुछ मजदूर संघो के साथ सौदा कर सकते है। मजदूरी की वास्तविक दरें प्रायः इन प्रभावो के परिणामस्वरूप निश्चित होती है।

जब किसी वस्तु के अथवा किसी श्रम के खरीदार थोडे और विक्रेता अधिक रहते है, तब उसका जो फल होता है, उसे हम २१वें अध्याय में देख चुके है। मान लो एक कोयला क्षेत्र में एक एकाधिकारी उत्पादक है और वह कुछ मजदूरो को काम पर लेना चाहता है। हम देख चुके है कि किसी प्रतियोगितावादी उत्पादक की अपेक्षा यह एकाधिकारी उत्पादक कम उत्पादन करेगा थोडे से मजदूर काम पर लगावेगा और उन्हें कम मजदूरी देगा। ऐसा वह इसलिये करेगा कि यदि वह अधिक मजदूर लगाकर अधिक उत्पादन करना चाहे तो उसे ऊची मजदूरी देनी पडेगी जिससे अधिक मजदूर काम पर आ सकें। मजदूरी की दर बढाने से उसके उत्पादन की सीमान्त लागत बढती जायगी। जब सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर एक ऊची सतह पर होगी। तब मजदूरी की दर श्रम की वास्तविक सीमान्त उत्पादन शक्ति से कही अधिक कम होगी क्योंकि उस बाजार में श्रम की गतिशीलता (mobility) कम हो जायगी।

जब श्रम के थोडे से खरीदार होगे तो मजदूरी पर उनका प्रभाव इस बात द्वारा पडेगा कि उनके कामो में अथवा नीति में एकता कहा तक है। यदि उनमें आपस में पूर्ण एकता है तब मजदूरी की दर पर एकाधिकार के समान प्रभाव पडगा। यदि उनमें एकता नही, है तो मजदूरी एकाधिकार की सतह से ऊची रहेगी। परन्तु वास्तविक दर अनिश्चित रहेगी।

ट्रेड यूनियनो द्वारा मजदूर अब सगठित हो गये है और उत्पादको से अब वे सामूहिक रूप में सौदा करते है। इन विक्रेताओ का एकाधिकार हो सकता है या नही यह बात इन मजदूर संघो की नीति पर निर्भर होगी। यदि मजदूर सघ 'बन्द दूकान' की नीति (method of 'closed shop') सफलतापूर्वक बरत सकते है तो मजदूरी की दर प्रतियोगिता की सतह के ऊपर उठाई जा सकती है। यदि मजदूरो से सौदा करने के लिये उत्पादक भी अपना सगठन करें, तो फिर दोतरफा एकाधिकार (bilateral monopoly) की कडी परिस्थिति आ जायगी। तब मजदूरी की वास्तविक दर एकाधिकारी विक्रता की ऊची हद और एकाधिकारी खरीदार द्वारा रखी हुई वस्तु बहुत नीची हद के बीच म कही होगी।[१]

१ Stigler The Theory of Price, p 291–301 A. N Ross, "The Trade Union as a wage Fixing Institution." American Economic Review, Sept. 1947, pp 566–86

प्रो० टॉसिग का सिद्धांत–प्रो० टॉसिग का मत है कि श्रम के सीमान्त उत्पादन में बट्टा, दस्तूरी अथवा उपहार देने के बाद जो कुछ बच रहता है, वही मजदूरी है, ('wages stand for the marginal discounted product of labour')। वह सीमान्त उत्पादन शक्ति का सिद्धान्त स्वीकार नहीं करते। क्योंकि उनकी राय में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे श्रम की अथवा पूंजी की उत्पत्ति कहा जा सके। प्रत्येक वस्तु संयुक्त उत्पत्ति होती है और वह श्रम और पूंजी के सहयोग से बनती है। इस संयुक्त उत्पादन में यह बतलाना असंभव है कि इतना उत्पादन पूंजी द्वारा हुआ है और इतना श्रम के द्वारा। वह तो एक कदम आगे बढ़ जाते हैं और कहते हैं कि स्वयं पूंजी उत्पादन का स्वतन्त्र साधन नहीं है, पूंजी भूतकाल के श्रम का रूप है। भूतकाल के श्रम के ये फल अर्थात् उत्पादन के साधन (capital goods) कुछ लोगों के अधिकार में आ गये हैं। इन्हें वह पूंजीपति-उत्पादक (capitalist-employers) कहते हैं। इस प्रकार पूंजी गत श्रम का एक रूप है। यद्यपि संगठन एक अलग साधन है, परन्तु उसका लाभ अथवा पारिश्रमिक केवल एक प्रकार की मजदूरी है।[1] इसलिये चाहे मजदूरी भूतकाल की हो चाहे वर्तमान काल की, चाहे वह किराये की हो, अथवा स्वतन्त्र, उसकी दर एक ही प्रकार के सिद्धान्तों द्वारा निश्चित होगी।

भूत और वर्तमान तथा किराये की और स्वतन्त्र सब प्रकार के श्रम के सहयोग से सीमान्त भूमि पर अर्थात् जिस पर लगान नहीं देना पड़ता, संयुक्त उत्पादन होता है। आर्थिक दृष्टि से चूंकि सीमान्त भूमि उत्पादन में किसी प्रकार सीमान्त उत्पादन का अर्थ का योग या वृद्धि नहीं करती, इसलिये टॉसिग इस उत्पादन को सब प्रकार के श्रम का सीमान्त उत्पादन कहते हैं। सीमान्त उत्पादन दो प्रकार से मापा जा सकता है। एक तो वह श्रम की एक विशिष्ट इकाई का उत्पादन हो सकता है। तब वह निश्चित रूप से मापा जा सकता है—"आप उस पर अपनी उंगली रखकर बतला सकते हैं कि यह इतना है।" इसे विशिष्ट सीमा (discrete margin) कहते हैं। दूसरे प्रकार के सीमान्त उत्पादन को 'विचारात्मक' (conceptual) उत्पादन कहते हैं। यह कुल मात्रा में की गई वृद्धि होती है। यह वृद्धि 'कई इकाइयों में से किसी भी इकाई द्वारा हो सकती है, फिर भी किसी एक विशिष्ट इकाई द्वारा नहीं होती' (By 'any one of a number of units, yet from no particular one') जब किसी कारखाने में मजदूरों

---

१ Principles. 3rd. Edn. p. 164. Also see p. 131. "The theory of wages should consider the remuneration of every sort of labour.....of such independent workmen as well as..... of a hired labourer."

का एक समूह काम पर लगाया जाता है तो कुल उत्पादन की मात्रा बढ जाती है। परन्तु हम प्रत्येक मजदूर की उत्पादन की मात्रा विशिष्ट रूप से नहीं बतला सकते। हम किसी वस्तु पर उगली रखकर यह नहीं कह सकते कि यह वस्तु इस मजदूर ने बनाई है। परन्तु हम उसका सीमान्त उत्पादन माप सकते हैं। अर्थात् एक मजदूर के काम करने से कुल उत्पादन में कितनी वृद्धि हुई यह हम जान सकते है। मजदूरों को सीमान्त उत्पादन की कुल मात्रा नही मिल सकती। क्योंकि उत्पादन में समय लगता है। श्रम का एक अच्छा पहलू यह है कि श्रम को काम पर लगाने में अन्तिम रूप मे उत्पादन तत्काल नही मिल सकता। केवल कुछ समय बाद मिल सकता है। परन्तु इसी बीच म मजदूरों का भरण-पोषण आवश्यक होता है। पूजीपति-उत्पादकों का काम यह है कि मजदूरों को कुछ अग्रिम रुपया देकर उनका पोषण और निर्वाह करें। इसलिये वे उत्पादन की पूरी मात्रा मजदूरो को नही दे सकते। चूकि उन्होने कुछ रुपया अग्रिम (advance) मजदूरो को दे दिया था, इसलिये वे अन्तिम उत्पादन मे से एक निश्चित रकम प्रति सैकड़ा के हिसाब से काट लेगे और जो बाकी बचेगा वह सब मजदूरो को दे देंगे। यह कटौती अथवा बट्टा ब्याज की चालू दर से होना चाहिये। इसलिये मजदूरी सीमान्त भूमि पर श्रम के कुल उत्पादन के बराबर है। उसमें से केवल अग्रिम दिया हुआ रुपया काट लिया जाता है।

उत्पादन में बट्टा क्यों लगाते हैं?

यह टॉसिग का मजदूरी का सिद्धान्त है। उसने स्वय इस सिद्धान्त मे दो कठिनाइयों का अनुभव किया है। पहली कठिनाई यह है कि यह सिद्धान्त धुंधला, भावप्रधान तथा वास्तविक जीवन की समस्याओं मे बहुत दूर है। लेकिन साथ ही वह कहता है कि इस सिद्धान्त में कोई विशेष दोष या त्रुटि नही कही जा सकती। केवल मजदूरी ही नही अर्थशास्त्र के सब सिद्धान्तों में इस प्रकार के दोष पाये जाते हैं। दूसरी और अधिक बडी कठिनाई यह है कि सयुक्त उत्पादन मे ब्याज की चालू दर से बट्टा लगाया जाता है। लेकिन उसका मत है कि मजदूरो का वर्तमान मे जो पेशगी या अग्रिम धन मिलता है, उसमें जो अधिक उत्पादन वे भविष्य मे उत्पन्न करेंगे उस पर ब्याज निर्भर रहता है। इसलिये ब्याज की दर तो मजदूरों को दी जानेवाली पेशगी मे उत्पन्न होगी। परन्तु ब्याज की दर तथा मजदूरी की दर दोनों उसी पेशगी के आधार पर निश्चित होती है। इसलिये यदि हम ब्याज दर मान लेते हैं तो मजदूरी की दर भी हमें उसी समय मालूम हो जाती है। ब्याज की चालू दर पर बट्टा देकर मजदूरी निश्चित करना एक चक्करदार तर्क होगा, जिसका आदि-अन्त का कुछ पता न चलेगा। इस कठिनाई का समाधान वह यह कहकर करता है कि ब्याज की दर सीमान्त उत्पादन शक्ति से स्वतन्त्रतापूर्वक अर्थात् उसको छोड़कर समय की पसन्दगी की दर के आधार पर निश्चित की जा सकती है। और समय की पसन्दगी के आधार पर ब्याज-दर निश्चित करके हम श्रम की सीमान्त उत्पत्ति में से बट्टा

काट सकते हैं। परन्तु इस कठिनाई का यह हल केवल कठिनाई को टाल देना है, वास्तव में उसका समाधान नहीं करना।

टॉसिग की आलोचना में यह कहा जाता है कि वह एकमत नहीं है। उसके विचार परस्पर विरोधी हैं। जब वह स्वयं कहता है कि हम श्रम की सीमान्त उत्पत्ति निश्चित नहीं कर सकते तब हम किस चीज में से बट्टा काटेंगे और कैसे काटेंगे। लेकिन यह कहना उसके सिद्धान्त का गलत अर्थ लगाना है। यद्यपि उसने 'श्रम की सीमान्त उत्पत्ति' शब्दों का उपयोग किया है परन्तु उससे उसका अर्थ श्रम द्वारा उत्पादित किसी विशेष वस्तु से नहीं था। उसका मतलब श्रम के संयुक्त उत्पादन से था। इस श्रम में भूत और वर्तमान दोनों श्रम शामिल हैं। यह संयुक्त उत्पादन सीमान्त भूमि पर होता है अर्थात् उस भूमि का कोई लगान नहीं होता। सीमान्त शब्द का उपयोग उसने केवल इसलिये किया, जिससे उसमें किसी भी प्रकार के लगान के अंश अथवा ऊँचे लाभ अथवा एकाधिकार सम्बन्धी लाभ का समावेश न होने पावे। उसका सिद्धान्त अवशिष्ट अधिकार का सिद्धान्त है। उसके कहने का तात्पर्य यह है कि कुल उत्पादन में से लगान, ब्याज और लाभ काट लेने के बाद जो कुछ बच रहता है वह सब मजदूरों को मजदूरी के रूप में मिलता है। इस दृष्टि से इस सिद्धान्त में वे सब त्रुटियां हैं जो अवशिष्ट-अधिकार के सिद्धान्त में हैं।

परन्तु उसके सिद्धान्त में एक बहुत बड़ी त्रुटि यह है कि पूर्ति के पक्ष की जो प्रभाव निश्चित करते हैं, उनकी ओर वह ध्यान नहीं देता। वह श्रम की पूर्ति को निश्चित या बंधी हुई मान लेता है और तब उसका सीमान्त उत्पादन निश्चित करता है। इस हिसाब से यह सिद्धान्त मजदूरी के सीमान्त उत्पादन शक्ति के सिद्धान्त से आगे नहीं बढ़ता।[1]

मजदूरी की दरों में अन्तर (Differences in Wages)—मजदूरी सम्बन्धी जितने सिद्धान्त हैं, वे सब उन बातों पर विचार करते हैं, जो मजदूरी की

---

[1] मि० हिक्स के मतानुसार यदि हम यह मान लें कि उत्पादन-काल परिवर्तनशील है, तो यह सिद्धान्त मान्य हो सकता है। उत्पादन का एक साधन जिसका श्रम के साथ सहयोग आवश्यक है, सचल पूंजी है। टॉसिग की कठिनाई इसलिये उत्पन्न होती है कि वह मान लेता है कि उत्पादन का समय एक-सा या स्थिर रहता है। तब यदि श्रम की मात्रा में थोड़ी-सी भी बढ़ती होती है, तो सचल पूंजी की मात्रा में भी कुछ बढ़ती होनी चाहिये, चाहे दूसरे साधन स्थिर रहें। इसलिये इस अतिरिक्त या बढ़ी हुई पूंजी का लागत मूल्य भी सीमान्त उत्पादन में से काटा जाना चाहिये, अर्थात् बट्टा दिया जाना चाहिये। परन्तु ऐसा कोई कारण नहीं है, जिससे हम यह मान लें कि उत्पादन का काल एक-सा या स्थिर रहता है। यदि सचल पूंजी की उसी मात्रा के साथ श्रम की अधिक मात्रा जोड़ दी जाय तो उत्पादन-काल कम हो जायगा और जो अतिरिक्त या अधिक उत्पत्ति होगी,

सामान्य दरें निश्चित करती हैं। वे इस बात पर ध्यान नहीं देते कि मजदूरी की दरें अलग-अलग पेशों में अलग-अलग होती हैं और उनमें काफी अन्तर होता है। यह अन्तर क्या होता है।

हम यहां कुछ अनुमान ले लेते हैं, और उनके आधार पर विवेचना करेंगे। सब मजदूर एक समान योग्य हैं। उनको किसी भी धन्धे में जाने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। कोई भी मजदूर चाहे जिस पेशे में जा सकता है। क्या इन अनुमानों के अन्तर्गत भी मजदूरी की दरों में अन्तर रहेगा? अवश्य रहेगा और इसके कारण आडम स्मिथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में निम्नलिखित दिये थे।

(१) पेशे की तरफ रुचि या अरुचि। जो पेशा अरुचिकर हो, जिसे लोग पसन्द नहीं करते, उसमें मजदूरी की दर किसी रुचिकर पेशे की अपेक्षा ऊंची होनी चाहिये। नहीं तो अरुचिकर पेशे में लोग जावेंगे नहीं। "सबसे घृणित काम या नौकरी अपराधियों को फांसी लगाने का है। काम की मात्रा को देखते हुए उसके अनुपात से जो तनख्वाह उसमें मिलती है, वह कई पेशों से कहीं अच्छी रहती है।"

(२) किसी काम को सीखने की सरलता, कमखर्ची और कम समय। कुछ कामों का सीखने में काफी समय लगता है और काफी खर्च होता है। जिन कामों को सीखने में इतना समय और खर्च नहीं लगता, उनकी अपेक्षा इन खर्चीले पेशों में वेतन भी अधिक मिलना चाहिये।

(३) काम की नियमितता और अनियमितता। यदि किसी पेशे में काम लगातार सालभर के लिये नहीं मिलता, केवल कुछ समय के लिये मिलता है अथवा बीच-बीच में टूट जाता है, तो उसमें ऐसे पेशे की अपेक्षा मजदूरी की दर अवश्य ऊंची होनी चाहिये, जिसमें काम साल भर लगा रहता है। क्योंकि बीच-बीच में छूटनेवाले कामों में मजदूरों को कुछ समय तक बेकार रहना पड़ता है। इसलिये उनकी मजदूरी की दर ऊंची रहनी आवश्यक है, जिससे वे बेकारी के समय अपना उदर-पोषण कर सकें।

(४) काम में कम अथवा अधिक विश्वास की मात्रा अर्थात् मजदूर जो काम करता है, वह कितनी जिम्मेदारी और विश्वास का है। "सब जगह सुनारों और जौहरियों की मजदूरी अन्य कई प्रकार के मजदूरों से कहीं ऊंची रहती है। क्योंकि वे कीमती वस्तुओं पर काम करते हैं और उन पर विश्वास किया जाता है। बड़ी-बड़ी कम्प-

उसमें बट्टा देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अतिरिक्त सचल पूंजी की आवश्यकता नहीं हुई है। इस प्रकार बट्टा देकर सीमान्त उत्पादन शक्ति के सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी समझाना बिल्कुल सही है। see Hicks. The Theory of Wages. p 17 footnote.

नियों के मैनेजरों की तनख्वाहें बहुत ऊंची रहती हैं, क्योंकि उनकी जिम्मेदारी अधिक ऊंची होती है।

(५) *सफलता अथवा असफलता की सम्भावना।* *जिस काम में पूर्ण असफलता का* डर रहता है, उसमें वेतन या पारिश्रमिक इतना अधिक होना चाहिये कि पूर्ण असफलता का खतरा उठाया जा सके। परन्तु जिस काम में सफलता की आशा रहती है, कोई अच्छा पद मिलने की अथवा इसी प्रकार का कोई इनाम मिलने की आशा रहती है, समाज या संसार की दृष्टि में आदर पाने का मौका रहता है, उस काम में वेतन कम होते हुए भी उसकी ओर लोग बहुत बड़ी संख्या में आकृष्ट होंगे। अथवा उसकी ओर इतने अधिक लोग आकर्षित होंगे कि उसमें वेतन कम रहेगा। वकालत का पेशा इसका सबसे अच्छा उदाहरण है।

मजदूरी की दर में विभिन्नता के ये कारण हैं। यदि सब मजदूरों में एक-सी योग्यता हो और श्रम में पूर्ण गतिशीलता हो तो भी यह विभिन्नता रहेगी। परन्तु सब मजदूर एक समान योग्य नहीं होते। कुछ लोगों में स्वभावतः बहुत अधिक योग्यता होती है और कुछ लोग बिलकुल मूर्ख होते हैं। इसलिये लोगों की योग्यता के अनुसार मजदूरी की दर में हमेशा अन्तर रहेगा।

श्रम की गतिशीलता

श्रम की पूर्ण गतिशीलता का अनुमान कि मजदूर चाहे जिस पेशे में प्रवेश कर सकते हैं, वास्तविक जीवन में बिलकुल नहीं पाया जाता। विभिन्न धन्धों या पेशों के बीच गतिशीलता बहुत अपूर्ण होती है। एक तो यह मजदूरों की अज्ञानता के कारण होता है, क्योंकि वे प्रायः विभिन्न पेशों में वेतन सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार के हानि और लाभ नहीं जानते। श्रम में गतिशीलता की कमी का एक कारण यह भी होता है, मजदूर अपना घर या स्थान छोड़कर ऊंची मजदूरी की तलाश में या तो जा नहीं सकते या जाना पसन्द नहीं करते। *अपूर्ण गतिशीलता का तीसरा कारण विशिष्टता (Specificity)* होना है। जब कोई आदमी एक काम सीखता है, उसमें दक्षता प्राप्त करता है तो वह उसे एकाएक छोड़कर किसी दूसरे धन्धे में नहीं जा सकता। जिस आदमी ने बिजली के इंजीनियर होने की शिक्षा पाई हो, वह कम्बल बुनने का काम हाथ में नहीं ले सकता।

मजदूरों की एक पेशे से दूसरे पेशे में स्वतन्त्रतापूर्वक जाने के सबंध में जो कठिनाइयां होती हैं, उनसे मजदूरों के ऐसे समूह बन जाते हैं, जिनमें आपस में प्रतियोगिता नहीं होती।

प्रतियोगिता रहित समूह और मजदूरी

समाज ऐसे कई समूहों में बंटा रहता है, जो एक दूसरे से बिलकुल अलग रहते हैं। मोटे तौर से हम समाज को इस प्रकार के पांच समूहों में बांट सकते हैं। इनमें सबसे नीचे की श्रेणी में रोजमर्रा काम करनेवाले साधारण मजदूर रहते हैं। इनमें न तो किसी प्रकार की दक्षता रहती है, न किसी प्रकार की कुशलता। दूसरी श्रेणी में वे

मजदूर होते हैं, जिन्हे हम अर्द्धकुशल कह सकते हैं। उनका काम ऐसा होता है जिसमें विशेष शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता नही होती। फिर भी उसमें एक प्रकार की जिम्मेदारी रहती है, जिसके लिये कुछ बुद्धि और चतुराई आवश्यक होती है। तीसरी श्रेणी में कुशल और शिक्षित मजदूर, उच्च वर्ग के क्लर्कों के काम करनेवाले तथा बिक्री बढ़ानेवाले (salesmen) दलाल इत्यादि रहते हैं। बढ़ई और बिजली के कामो में जो लोग शिक्षा पाते है तथा इसी तरह के अन्य लोग भी इसी वर्ग मे आते हैं। चौथी श्रेणी में मध्यम वर्ग के लोग आते हैं। पाचवी तथा सबसे उच्च श्रेणी में वे लोग रहते हैं जो कोई पेशा अथवा व्यवसाय करते हैं। इजीनियर, वकील तथा एकाउन्टेन्ट इसी श्रेणी में आते हैं। इन विभिन्न श्रेणियों में आपस में प्रतियोगिता नही होती। जो मनुष्य जिस श्रेणी में उत्पन्न होता है, वह प्राय उसी में रहता है और अन्य श्रेणियो के साथ प्रतियोगिता नही करता। इन श्रेणियो के बीच में ऐसी कठिनाइया या अड़चनें नही रहती, जो पार न किये जा सकें, परन्तु फिर भी उन्हें केवल बहुत योग्य व्यक्ति ही पार कर सकते हैं। अपने आसपास के वातावरण का प्रभाव, अपने कुटुम्ब के वातावरण का प्रभाव, प्रतिदिन जो उदाहरण देखने में मिलते हैं और जिन कमियो तथा बाधाओं का अनुभव करते हैं—इन सबके कारण प्राय एक नवयुवक अपने बाप-दादो के पेशे द्वारा ही अपनी जीविका चलाने की बात सोचेगा। मजदूरो के बच्चो को न अधिक शिक्षा मिलती है और न अधिक दीक्षा मिलती है, इसलिये उनके सामने जीवन में उन्नति के मौके भी बहुत कम रहते हैं। परन्तु इसके विरुद्ध अधिक आय की श्रेणी के जो लोग रहते है, उनके बच्चे अधिक खर्चीली और उच्च शिक्षा पाते हैं। इसलिये जीवन में उन्हे अधिक मौके प्राप्त रहते हैं। यदि किसी निम्न श्रेणी के किसी व्यक्ति में असाधारण योग्यता हो तो वह उच्च श्रेणी प्राप्त कर सकता है। परन्तु यह अपवाद के रूप मे नही पाया जाता है। इसलिये कोई सामाजिक श्रेणी जितनी उच्च होती है, उसमे उतने ही कम आदमी भी होते है और उनकी आय उतनी ही अधिक भी होती है।[1]

स्त्रियों की मजदूरी की दर कम क्यों होती है ? (Why wages of Women are lower ?)—पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की मजदूरी की दर कम रहती है। इसका कारण क्या है ?

मजदूरी की कम दर का एक कारण यह है कि, स्त्रियो में पुरुषो की अपेक्षा प्राय शारीरिक शक्ति और सहनशीलता कम होती है। दूसरा कारण यह है कि अधिकाश अविवाहित लड़किया स्थायीरूप से काम करनेवाली नही होती। वे किसी पेशे को स्थायीरूप से नही अपनाती। केवल थोड़े समय के लिये उसे ग्रहण करती हैं और विवाह होने पर छोड़

---

१ For a good discussion of this topic, see K Boulding, 'Economic Analysis', pp. 196-203.

देनी है। इसलिये वे केवल ऐसे काम करती हैं, जिन्हें वे थोड़े समय में सीख सकें।

परन्तु मजदूरी की कम दर का प्रधान कारण यह है कि स्त्रियों के लिये पेशे बहुत सीमित हैं। उनके लिये पेशा चुनने की स्वतन्त्रता बहुत कम है। प्रथा तथा शिक्षा-दीक्षा की कमी ने भी कई पेशों के दरवाजे उनके लिये बन्द कर दिये हैं। फल यह हुआ है कि थोड़े बहुत पेशे जो खुले हैं, उनमें स्त्री-मजदूरों की संख्या अधिक हो गई है। पूर्ति अधिक होने से मजदूरी कम है।

अन्त में यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि स्त्रियों की सौदा करने की शक्ति कमजोर होती है। अधिकांश में अस्थायी काम करनेवाली होती हैं, आश्रितों को पालने का भार भी उन पर अधिक नहीं रहता, क्योंकि बहुत कम स्त्रियों पर कुटुम्ब के पालने का भार पड़ता है। इसलिये मजदूर संघों में उनका संगठन आसानी से नहीं हो पाता। इसलिये उन्हें पुरुषों की अपेक्षा कम मजदूरी मिलती है।

अट्ठाईसवां अध्याय

श्रम की कुछ समस्याएं

(Some Labour Problems)

मजदूर-संघ (Trade Unions)—हम श्रम की पूर्ति की विशेषताओं की चर्चा कर चुके हैं। श्रम को संग्रह करके नहीं रखा जा सकता। जिस प्रकार समय का संग्रह नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार श्रम को भी सुरक्षित संग्रह के रूप में नहीं रखा जा सकता। यदि मजदूर काम नहीं करता तो वह हमेशा के लिये नष्ट हो जाता है, अर्थात् उसके समय का श्रम बरबाद हो जाता है। उसके सामने हमेशा काम करो अथवा भूखों मरो का सवाल रहता है। यदि वह सोचे कि कुछ दिन काम न करने से मालिक उसे अधिक मजदूरी देकर काम पर बुलावेगा तो वह गलत सोचता है। वह हड़ताल करने की स्थिति में नहीं रहता। फिर बाजार की परिस्थिति के बारे में तथा व्यवसाय की परिस्थितियों और भविष्य के बारे में भी उसका ज्ञान कम रहता है। इसलिये पूंजीपति के साथ सौदा करने में उसकी परिस्थिति कमजोर होती है। मजदूर संघ वह संगठन है, जो मजदूर को पूंजीपति के साथ सौदा करने में बराबरी की हैसियत पर रख देता है।

सिडनी और बीट्रिस वेब (Sydney and Beatrice webb) की प्रसिद्ध परिभाषा में मजदूर संघ "मजदूरी करने वालों का वह निरन्तर संगठन अथवा सहयोग है, जिसका ध्येय उनकी कार्य सम्बन्धी परिस्थितियों में उन्नति करना और उन्हें उन्नत दशा में रखना है।" इसलिये मजदूर संघों का काम एक तो मजदूरों की स्थिति बनाये

रखना तथा वे जो सुविधाएं प्राप्त करें उनको सुरक्षित रखना एवं ठोस बनाना है और दूसरे अपने सदस्यों का हित साधन करना है। मजदूरों के हितों की रक्षा के लिये वह एक लड़नेवाला संगठन होता है। साथ ही वह सेवाकार्य करनेवाला संगठन भी होता है। मजदूरों की वह कई प्रकार से भलाई करता है। बीमारी, दुर्घटना तथा अस्थायी बेकारी के समय वह उनकी सहायता करता है।

मजदूर संघ और मजदूरी (Trade Unions and Wages)—मजदूर संघों का प्रधान सम्बन्ध मजदूरी के प्रश्न से ही है। प्रारम्भ में ऐसा सोचा जाता था, विशेषकर मजदूर नेता ऐसा सोचते थे कि मजदूर संघ मजदूरों को ऊँची मजदूरी प्राप्त करने में सहायता करते है। पूंजीपतियों के साथ सौदा करने में मजदूर जिस कमजोरी का अनुभव करते हैं, उसे मजदूर संघ खतम कर देते हैं और वे मालिकों से अधिक ऊंची मजदूरी झटक सकते है। परन्तु इसके विरुद्ध पुराने (*classical*) अर्थशास्त्री यह कहते थे कि मजदूर संघ मजदूरी की दर अथवा सतह बढ़ाने में किसी प्रकार की सहायता नहीं कर सकते। यदि मजदूरी की सतह जबर्दस्ती या बनावटी तौर से ऊंची रखी गई तो मुनाफे कम होंगे, बचत भी कम होती जायगी और व्यवसायी व्यवसाय चलाना पसन्द न करेंगे। फल यह होगा कि मजदूरी की दर गिर जायगी।

क्या वे मजदूरी की सतह उठा सकते है ?

मजदूर संघ मजदूरी की सतह पर दो प्रकार से प्रभाव डाल सकते है। एक तो यह कि वे मजदूरों को पूंजीपतियों से अपनी वास्तविक सीमान्त उत्पादन शक्ति का पूर्ण मूल्य प्राप्त करने में सहायता करते हैं। पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियों में मजदूरी की दर मजदूरों की वास्तविक सीमान्त उत्पादन शक्ति के बराबर होगी। परन्तु श्रम के बाजार में प्रतियोगिता कदाचित् ही पूर्ण होती हो। मजदूर की सौदा करने की जो कमजोर शक्ति होती है, उसके कारण उसे अपना वास्तविक सीमान्त मूल्य मिलना बहुत कम सम्भव होता है। मजदूर संघ उसकी इस सौदा करने की शक्ति को सुधार देते हैं और उसे मजदूरी की दर अपनी वास्तविक सीमान्त उत्पादन शक्ति के बराबर उठाने में समर्थ कर देते हैं। दूसरे मजदूर संघ मजदूरों को अपनी सीमान्त उत्पादन शक्ति बढ़ाने में सहायता कर सकते है। ध्यान रहे कि मजदूरों की सीमान्त उत्पादन शक्ति उत्पादकों की योग्यता पर भी निर्भर रहती है। अर्थात् इस बात पर भी निर्भर करती है कि उत्पादक श्रम का मिश्रण उत्पादन के अन्य साधनों, जैसे पूंजी इत्यादि के साथ अनुपात में करते है। विभिन्न उत्पादकों की योग्यता भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। इसलिये यदि कम योग्यता के उत्पादकों को अधिक योग्यतावाले उत्पादकों की सतह पर लाया जा सके तो श्रम की सीमान्त उत्पादन शक्ति बढ़ानी सम्भव हो सकती है। इस प्रकार वे मजदूरों की दर को ऊंचा उठा सकते हैं। व्यवसाय में जो पूंजी लगी हुई है, उस पर मुनाफा की दर कम होने से व्यवसायी कुछ अधिक समय तक

व्यवसाय जारी रखने का निश्चय कर सकते हैं। अथवा वे व्यवसाय में अधिक प्रयत्न और योग्यता लगा सकते हैं, जिससे पूरे उद्योग के संगठन में तथा प्रबन्ध में उन्नति हो सकती है। मजदूरों की कार्य-सम्बन्धी योग्यता पर प्रभाव डालकर अप्रत्यक्ष रूप से मजदूर संघ उनकी सीमान्त उत्पादन शक्ति बढ़ा सकते हैं। वे मजदूरों के बच्चों को अच्छी आदतें तथा उनमें गुण सिखाकर आगे चलकर उन्हें व्यावसायिक शिक्षा दे सकते हैं। योग्यता बढ़ने से मजदूरों की सीमान्त उत्पादन शक्ति और मजदूरी भी बढ़ेगी।

अन्त में एक मजदूर संघ मजदूरों के किसी समूह विशेष की सीमान्त उत्पादन शक्ति की पूर्ति एक हद तक सीमित करके बढ़ा सकता है। जिन परिस्थितियों में वह ऐसा कर सकता है, उनकी चर्चा हम संयुक्त माग के सम्बन्ध में कर चुके हैं। पहिली यह है कि उस समूह विशेष के लिये मांग बेलोचदार होनी चाहिये। अर्थात् मजदूर संघ की सफलता अथवा असफलता बदले की वस्तु की लोच पर निर्भर करेगी। जितनी सरलतापूर्वक उत्पादक उस प्रकार के मजदूरों के बदले अन्य साधनों (जैसे मशीनों) का उपयोग कर सकते हैं, मजदूर संघ की अपनी माग पूरी कराने की ताकत उतनी ही कम रहेगी। दूसरी बात यह है कि वह समूह विशेष जिस वस्तु के उत्पादन में सहायक होता है, उस वस्तु की माग भी बेलोचदार होनी चाहिये। तीसरे उस समूह की कुल मजदूरी कुल लागत-खर्च का बहुत थोड़ा अंश होना चाहिये। चौथे अन्य साधन ऐसे हों, जो दबाये जा सकें ('Squeezable')। यदि इनमें से एक कोई भी शर्त पूरी होती है, तो एक समूहविशेष के लिये अपनी मजदूरी की दर बढ़ाना सम्भव हो सकता है। परन्तु दीर्घकाल में इसकी सफलता के बारे में सन्देह होता है। चूंकि उत्पादक मजदूरों को ऊंची मजदूरी देंगे, इसलिये वे लगातार इस प्रयत्न में लगे रहेंगे कि उन मजदूरों के बदले में वे अन्य किस वस्तु का उपयोग कर सकते हैं। सम्भव है, वे कोई ऐसी मशीन का आविष्कार कर डालें, जो उस समूहविशेष का काम करे। तब मजदूरों की माग कम हो जायगी, इसलिये मजदूरी की दर भी गिर जायगी।

हड़ताल का अधिकार (Right to Strike)—मजदूर संघों का लड़ने का प्रधान हथियार हड़ताल है। जिस प्रकार उत्पादक काम से निकाल देने की धमकी देकर मजदूरों को हमेशा डरा सकते हैं, उसी प्रकार हड़ताल की धमकी देकर मजदूर संघ उत्पादकों पर दबाव डाल सकते हैं। इसलिये हड़ताल करने का अधिकार बरखास्त करने के अधिकार का जवाब है।

क्या हड़ताल के अधिकार पर कुछ शर्तें हैं ?

"जब मजदूर संगठित रूप में इस मंशा से काम रोक देते हैं कि बाद में उत्पादक उन्हें उसी काम पर अधिक अच्छी परिस्थितियों में काम करने के लिये बुलायेंगे, तब उसे हड़ताल कहते हैं।" हड़ताल करनेवालों का उद्देश्य अपनी कुछ मागें पूरी कराकर उसी काम पर वापिस आने का रहता है। हड़ताल करने के अधिकार पर अभी भी बड़ा विवाद

चल रहा है। इसे तो सभी स्वीकार करेंगे कि जब पूजीपतियो के कारखानो में परिस्थितिया असहनीय हो जाती है और पूजीपति उनकी मागो पर विचार करने के लिये तैयार नही होते तो मजदूरो को हडताल करने का पूरा अधिकार होता है। परन्तु जो कारखाने सार्वजनिक होते है अथवा जिनकी उपयोगिता और आभास सार्वजनिक होते है क्या उन कारखानो में भी मजदूरो को हडताल करने का अधिकार रहता है? प्राय कहा जाता है कि रेलें और पानी देने के कारखानें इत्यादि कितने ऐसे कारखाने होते हैं, जो समाज के लिये आवश्यक हैं और इनमें काम बन्द होना समाज सहन नही कर सकता। इसमे सन्देह नही कि यह कहने का समाज का अधिकार है कि समाज के लिये आवश्यक उद्योगो में हडताल नही होनी चाहिये। परन्तु साथ ही उसकी यह भी जिम्मेदारी होनी चाहिये कि मजदूरो की काम करने की परिस्थितिया सतोषजनक होगी। इतनी गारटी समाज मजदूरो को दे। उसको कुछ ऐसे उपाय और तरीके निकालने चाहिये कि मजदूरो की तकलीफें सुनी जावें, उन पर विचार हो और वे दूर हो। समाज को मजदूरो और पूजीपतियो के प्रतिनिधियो की सयुक्त समितिया बनानी चाहिये, जिससे काम की परिस्थितिया निश्चित करने में मजदूरो की भी कुछ आवाज रह सके। हडताल का अधिकार कोई जन्मजात अधिकार नही है। यह अधिकार अवश्य है, पर उससे भी बडा समाज का अधिकार है।

औद्योगिक शान्ति के साधन (Agencies for Industrial Peace)—हडताल के जो दुष्परिणाम होते हैं तथा मजदूरो और मालिको दोनो को जो हानि होती है, उसे सभी जानते है। इसलिये सबसे अच्छा यह होगा कि मालिक-मजदूर-सम्बन्ध ऐसे हो कि हडताल करने की परिस्थितिया कम से कम हो जावें। रोग की दवा करने से यह कही अच्छा होगा कि उसे उत्पन्न ही न होने दिया जाय। इस प्रकार के कई सुझाव रखे गये हैं, जिनमें लाभ-बाट, आनुपातिक मजदूरी तथा कार्यसमितिया प्रधान है।

(क) **लाभ-बाट** (Profit-sharing)—इस तरीके के अन्तर्गत किसी कारखाने में काम करनेवाले मजदूर अथवा कार्यकर्ता कारखाने के लाभ का एक अश प्राप्त करते है। कारखाने का पूरा खर्च बाट लेने के बाद जो लाभ बच रहता है, वह मालिको और मजदूरो में या तो आधा-आधा बाट लिया जाता है अथवा कुल मजदूरी पर जो कुल ब्याज होता है (in proportion which the total interest bears to the total wages) उस अनुपात में बाट लिया जाता है। कभी-कभी मजदूरों का हिस्सा उन्हें रुपये के रूप में नही दिया जाता, बल्कि उनके नाम पर उस उद्योग में लगा दिया जाता है, जिससे वे उस पर भी लाभ प्राप्त करें।

पहले इस योजना से बहुत बडी-बडी आशाए की जाती थी। यह सोचा जाता था कि मजदूर अपने कारखाने का भक्त और ईमानदार कार्यकर्त्ता हो जायगा। मालिकों और मजदूरो के सम्बन्ध अच्छे हो जायगे। और औद्योगिक झगडो की सख्या बहुत कम हो

जायगी। मजदूरों को उत्पादन बढ़ाने का प्रोत्साहन मिलेगा, वे लोग कच्चा माल बरबाद न करेंगे और मशीनों का लापरवाही के साथ उपयोग न करेंगे। इस प्रकार उत्पादन बढ़ेगा और उससे मजदूर, मालिक और समाज सबका भला होगा। परन्तु ये आशाएं पूरी नहीं हुई हैं। हड़तालें होती बन्द नहीं हुई हैं। ट्रेड यूनियन अथवा मजदूर संघ इसे पसन्द नहीं करते, क्योंकि इसका उपयोग प्रायः मजदूर संघों को कमजोर करने के लिये तथा मजदूरों को उन संघों से फोड़ने के लिये किया जाता है। फिर भी यह कहा जाता है कि जब मजदूर लाभ बटाते हैं, तो उन्हें हानि भी बटानी चाहिये। लाभ हमेशा केवल मालिकों और मजदूरों की योग्यता पर तो निर्भर नहीं करता। उसके और भी कई कारण होते हैं। उदाहरण के लिये यदि कीमत थोड़ी भी गिर जाय तो पूरा लाभ खतम हो सकता है। चूंकि मजदूर लाभ में हिस्सा लेते हैं इसलिये उन्हें हानि में भी हिस्सा लेना चाहिये। इसलिये लाभ-बांट की योजना पर बड़े पैमाने पर अमल होने की आशा नहीं है।

(ख) आनुपातिक-मजदूरी (Sliding Scales)—इस योजना का सार यह है कि किसी वस्तु की कीमत में जो परिवर्तन हो, उन्हीं के अनुसार एक पहिले से निश्चित अनुपात के आधार पर मजदूरी की दर भी बदलनी चाहिये। मजदूरी की प्रायः एक मूल दर होती है और उसका सम्बन्ध एक मूल कीमत के साथ होता है। यदि कीमत बढ़ती है, तो मजदूरी भी एक निश्चित अनुपात में बढ़ जायगी। इस प्रकार मजदूर व्यवसाय की अच्छी और बुरी दोनों दशाओं में भाग लेते हैं। प्रायः एक मूल दर होती है और मजदूरी उसके नीचे कभी नहीं जाती। कभी-कभी यह आनुपातिक दर केवल लाभ के आधार पर बनाई जाती है। यदि लाभ एक निश्चित प्रतिशत दर से अधिक बढ़ता है, तो मजदूरी की दर भी एक निश्चित दर से बढ़नी चाहिये। वह जीवन-व्यय की अंक-सूची (cost of living index numbers) के आधार पर भी बनाई जा सकती है। यदि रहन-सहन का खर्च बढ़ता है, तो मजदूरी की दर भी उसी हिसाब से अपने आप बढ़ जाती है।

आनुपातिक मजदूरी की आलोचना में सबसे बड़ी बात यह कही जाती है कि मजदूर अपने को ऐसी स्थिति में क्यों रखें कि किसी अन्य कारण से तो कीमत घटे, पर उसे अपनी मजदूरी की दर घटानी पड़े। कीमत गिरने के कई कारण हो सकते हैं। यदि उत्पादन के तरीकों में उन्नति होती है, यदि यातायात का खर्च कम हो जाता है, यदि व्यवसाय के संगठन में सुधार होता है, व्यवसाय के खतरे कम हो जाते हैं, व्यवसाय पर कर का बोझ कम हो जाता है, ब्याज की दर कम हो जाती है, आदि कितने ऐसे कारण हैं, जिनसे कीमत गिर सकती है और तब मजदूर की मजदूरी भी घट जायगी। इससे मालूम होता है कि आवश्यकता इस बात की है कि जब व्यवसाय की परिस्थितियों में कोई मौलिक परिवर्तन हो तो मजदूरी की मूल दर में भी परिवर्तन होना चाहिये। यदि आनुपातिक मजदूरी ग्रहण की जाय तो मजदूरी समस्या की कठिनाइयां दूर हो सकती हैं।

(ग) कार्य-समितियां (Works Councils)—इस योजना का सार यह बात स्वीकार करने में है कि काम की परिस्थितिया निश्चित करने में मजदूरो का] भी हाथ रहना चाहिये। यह बात सबसे पहले सन् १९१७ ई० में इग्लैंड ह्विटले कमेटी की रिपोर्ट में कही गई थी। पहले कार्य-समितिया प्रत्येक कारखाने में सगठित की जाती है।

ह्विटले समितियां

इनमें मालिको और मजदूरो के प्रतिनिधि बराबर सख्या में रहते है। कभी-कभी उनमें केवल मजदूरो के प्रतिनिधि रहते है और वे अपनी सलाह और शिकायतें कारखाने के प्रधान प्रबन्धक के सामने रखते हैं। दोनो एक साथ बैठकर उन पर विचार करते हैं। दूसरे इसी प्रकार की जिला समितिया भी बनाई जाती है, जिनमें किसी उद्योग के मजदूर सघ के प्रतिनिधि तथा मालिको के प्रतिनिधि होते हैं।

इन कार्य समितियो ने जिन्हें ह्विटले समितिया भी कहते है, मालिको और मजदूरों के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने में काफी सफलता प्राप्त की है। मजदूरों को कारखानो के प्रबन्ध में किसी न किसी प्रकार की आवाज मिल जाती है, थोडा-सा उनका हाथ भी हो जाता है। इसमें उनमें जिम्मेदारी की भावना उत्पन्न हो जाती है। प्राय किसी न किसी प्रकार झगडे तय हो ही जाते है। बातचीत टूटने की नौबत बहुत कम आती है। वाद-विवाद द्वारा समझौता हो ही जाता है।

झगडों का निबटारा (Settlement of Disputes)—परन्तु हजार कोशिश करने पर भी कभी-कभी तो झगडे होंगे ही। इसलिये किसी ऐसे साधन या तरीके की आवश्यकता है, जो इन झगडो का निबटारा कर सके। इस तरह के दो मुख्य तरीके हैं—एक समझौता और दूसरा पच-फैसला।

(अ) समझौता (Conciliation)—समझौते के तरीके का सार यह है कि जिन दो पार्टियों में झगडा है, वे एक साथ बैठकर झगडे की बातो पर विचार करें और एक दूसरे को सतुष्ट करके अन्त में विवादग्रस्त बातो पर समझौता कर लें। जब एक बार झगडा शुरू हो जाता है, तब एक सयुक्त समझौता बोर्ड नियुक्त करने के लिये दोनों दलों की स्वीकृति प्राप्त करना मुश्किल होता है, इसलिये स्थायी समझौता समितिया (Permanent Boards of Conciliation) रखना ज्यादा अच्छा होता है। भारत में सन् १९४७ ई० में इडस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट बना था। उसके अनुसार मालिक अथवा मजदूर दो में से यदि एक कोई पार्टी झगडे के सम्बन्ध में सरकार को दरख्वास्त दे तो सरकार एक समझौता समिति (Conciliation Board) नियुक्त कर सकती है, जो उस झगडे की जाच करेगी। यदि दोनो दलों में सद्भावना की मात्रा काफी है, तो ये समितिया उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

(ब) पच-निर्णय (Arbitration)—इस योजना का प्रधान तत्त्व यह है कि जिन दो दलों में झगडा होता है, वे एक तीसरे व्यक्ति को जिसका झगडे से कोई सम्बन्ध

नहीं होता निर्णायक बना देते हैं। वह उस पर अपना निर्णय या फैसला देता है। यह निर्णय आपसी भी हो सकता है, अर्थात् दोनों दल आपस में तय करके एक निर्णायक नियुक्त कर दें और सरकारी भी, अर्थात् वे सरकार से निर्णायक नियुक्त करने को कहें। वह इच्छापूर्वक (voluntary) भी हो सकता है और अनिवार्य (compulsory) भी। जब ऐच्छिक होगा, तब दोनों दलों पर कानून का दबाव नहीं रहेगा कि उन्हें अपना झगड़ा पंच-निर्णय के लिये देना ही चाहिये। परन्तु जब अनिवार्य होगा, तब कानून के दबाव के अन्तर्गत उन्हें अपना झगड़ा पंच-निर्णय के लिये सौंपना ही पड़ेगा। अन्त में पंचों का निर्णय भी दो प्रकार का होता है। एक वह जिसे मानने के लिये दोनों दल बाध्य हों और दूसरा वह जिसे मानने के लिये वे बाध्य न हों।

यदि दोनों दल आपस में तय कर लें कि वे अपना झगड़ा एक निर्णायक समिति अथवा मध्यस्थ समिति के हाथ में सौंप देंगे और उसका निर्णय उन्हें मान्य होगा तो इससे बड़ा लाभ होता है। इससे एक तो उनमें मानहानि अथवा अपमान की भावना नहीं पैदा होती और दूसरे क्रोध भी नहीं भड़कता। दोनों दल बिना क्रोध और अपमान की भावना के लड़ाई-झगड़े के वातावरण से निकलकर समझौते के वातावरण में आ जाते हैं।

जब झगड़े का निर्णय सरकार अथवा कानून के अन्तर्गत होता है, तब दो में से किसी एक दल के प्रार्थना करने पर सरकार एक मध्यस्थ समिति (arbitration board) नियुक्त कर सकती है। अथवा इस प्रकार का कानून बन सकता है कि मजदूर हड़ताल करने के पहले और मालिक कारखाना बन्द करने के पहले अपने झगड़े को मध्यस्थ समिति के सामने रखेंगे। पहले समिति दोनों दलों में समझौता कराने का प्रयत्न करती है। यदि समझौता न हो सका तो वह उस झगड़े की पूरी जांच करती है और अपनी सिफारिशों के समेत उसकी रिपोर्ट प्रकाशित करती है। ये सिफारिशें दोनों दलों के लिये बाध्य नहीं होतीं। परन्तु ऐसा सोचा जाता है कि जनमत के प्रभाव द्वारा वे उन्हें स्वीकार कर लेंगे। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में ये सिफारिशें दोनों दलों के लिये बाध्य होती हैं। वहां मजदूरों द्वारा हड़ताल तथा मालिकों द्वारा कारखाने में ताला लगाना जुर्म है और उसके लिये जुरमाना और कैद हो सकती है। लेकिन यदि कोई दल पंचों के निर्णय को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है तो उससे स्वीकार कराना मुश्किल हो सकता है।

उन्तीसवां अध्याय

लाभ

(Profits)

किसी व्यवसायी की कुल बिक्री की रकम और कुल उत्पादन खर्च की रकम में जो अन्तर होता है, उससे प्राय लाभ का अर्थ लगाया जाता है। लगान, मजदूरी तथा उधार ली हुई पूजी पर ब्याज इत्यादि देने के बाद व्यवसायी के पास जो कुछ बच रहता है, वह लाभ है। अर्थशास्त्री इसे कुल लाभ (gtoss profit) कहते हैं। इसमें कई ऐसी बातें शामिल रहती है, जो अर्थशास्त्रियों के मतानुसार लाभ नही कही जा सकती। कुल लाभ अर्थात् बिक्री की कुल रकम और कुल उत्पादन खर्च के अन्तर में निम्नलिखित चीजें शामिल रहती हैं—(१) उस भूमि का लगान जिसका मालिक स्वय उत्पादक होता है तथा अन्य भूमि पर दिये जानेवाले आर्थिक लगान और वास्तविक लगान का अंतर। सभव है कि किसी व्यक्ति के पास जो जमीन होती है, उसका वह पूरा आर्थिक लगान न देता हो। तब उसके लाभ की मात्रा इस बचत से बढ जायगी। (२) पूंजी पर ब्याज। उत्पादक उधार ली हुई पूजी पर जो ब्याज देता है, उसे अपना कुल लाभ निश्चित करने के पहले बिक्री की कुल रकम में से काट लेता है। परन्तु व्यवसाय में जो वह स्वय अपनी पूजी लगाता है, उस पर हमेशा ब्याज नही काटता। (३) उत्पादक का पारिश्रमिक। पहले और दूसरे मदो को काट लेने के बाद जो कुछ बच रहता है, वह उत्पादक की आय होती है।

पहले दो मदो को काट लेने के बाद जो आय बच रहती है, उसे भी अर्थशास्त्री लाभ के रूप में स्वीकार नही करते। उनका मत है कि उस आय में प्रबन्धकर्त्ता की कमाई भी शामिल रहती है। उत्पादक अपने सगठन का प्रबन्ध तथा सगठन करता है। इसके लिये भी उसे कुछ पारिश्रमिक मिलना चाहिये। यह पारिश्रमिक उस रकम के बराबर है, जो उत्पादक को किसी और के यहा उपयुक्त नौकरी करने पर वेतन के रूप में मिलती। इसलिये इस आय को लाभ न मानकर उसकी मजदूरी माननी चाहिये। सबसे अच्छा तो यह होगा कि प्रबन्धकर्ता की इस कमाई को साधारण उत्पादन खर्च का अंश मान लिया जाय। कीमत और सामान्य उत्पादन खर्च का जो अन्तर होता है, उसे लाभ कहते हैं। सम्मिलित पूजी की कम्पनियो के लाभो का अध्ययन करने से यह बात आसानी से समझ में आ जायगी। ऐसी कम्पनियो में व्यवसाय के प्रबन्ध करने और

प्रबन्धकर्ता की आय और लाभ

देख-रेख करने का काम वेतनभोगी मैनेजरों के हाथ में रहता है। इन मैनेजरों के वेतन उत्पादन खर्च में शामिल किये जाते हैं। इसलिये जो लाभ हिस्सेदारों में बाँटा जाता है, उसमें प्रबन्धकर्ता की कमाई शामिल नहीं रहती।

लाभ कैसे बनता है

इसलिये लाभ हम उस आय को कहेंगे, जो उत्पादक निम्नलिखित कारणों से प्राप्त करता है। पहला लाभ में खतरा उठाने तथा अनिश्चितता सहन करने के लिये पारितोषिक शामिल रहता है। उत्पादन कर्त्ता के कामों में एक मुख्य काम उत्पादन के सम्बन्ध में खतरा उठाना है। खतरा उठाने के लिये उसे कुछ आय प्राप्त होती है। दूसरे, लाभ में वह आय शामिल रहती है, जो व्यवसायी को पूर्ति के ऊपर एकाधिकार होने के कारण अथवा अपूर्ण बाजार होने के कारण प्राप्त होती है। वास्तविक जीवन में प्रत्येक व्यवसायी बाजारों के ऊपर एक प्रकार का एकाधिकार अथवा अर्द्धएकाधिकारी नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है। इसलिये पूर्ण प्रतियोगिता के बाजार में वह जो कीमत वसूल कर सकता, उससे कुछ अधिक वसूल करने में प्राय समर्थ हो जाता है। इसलिये उसे अतिरिक्त आय प्राप्त हो जाती है। अपूर्ण बाजारों के कारण एक अन्य रीति से भी लाभ बढ़ जाता है। बाजार में श्रम के लिये अथवा उत्पादन के किसी अन्य साधन के लिये प्राय अपूर्ण होता है, अथवा हो सकता है। उत्पादक प्राय इस परिस्थिति से लाभ उठा लेता है और उन साधनों के लिये वह कीमत देता है, जो उनकी वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य से कम होती है। तीसरे, लाभ में अचानक प्राप्त हो जानेवाली आय शामिल रहती है। ये अचानक और मुफ्त में प्राप्त होनेवाले लाभ भाग्य से मिलते हैं। मान लो माँग में अचानक ऐसा परिवर्तन होता है कि कीमत एकदम से बढ़ जाती है, तब व्यवसायी को एकाएक लाभ हो जायगा।

लाभ के सिद्धान्त (Theories of Profit)—पूरे अर्थशास्त्र में लाभ सम्बन्धी सिद्धान्त सबसे अधिक लचर और असन्तोषजनक है। आय ऐसी अनिश्चित आय है कि उसकी उचित ढंग से परिभाषा करना कठिन है। लाभ की प्रकृति समझाने के लिये कई सिद्धान्त गढ़े गये हैं और उनका हम एक-एक करके अध्ययन करेंगे।

श्रेष्ठ योग्यता के कारण लगान उत्पन्न होता है

लाभ का लगानसम्बन्धी सिद्धान्त (Rent-theory of Profit)—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे पहले फ्रांसिस ए० वाकर (Francis A. Walker) ने किया था। अंग्रेजी अर्थशास्त्र में उसने सबसे पहले पूँजीपति (capitalist) और साहसी उत्पादक (entrepreneur) के बीच में जो अन्तर होता है, उसे समझाया। वाकर के मत में लाभ योग्यता का लगान है। जिस प्रकार विभिन्न प्रकार की भूमि की उत्पादन-शक्ति अलग-अलग प्रकार की होती है, उसी प्रकार विभिन्न व्यवसायियों की योग्यता भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। फोर्ड के समान

मजदूरी की तरह लाभ भी निश्चित होता है

लाभ और मजदूरी (Profits and Wages)—अर्थशास्त्रियों की काफी बड़ी संख्या लाभ को व्यावसायिक योग्यता के उपयोग का पारितोषिक समझते हैं। टॉसिग और डेवनपोर्ट इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक हैं। टॉसिग का मत है कि लाभ को एक प्रकार की मजदूरी मानना ही सबसे अच्छा होगा। व्यवसायी की आय बहुत ही अनियमित होती है। कुल खर्च पूरा करने के बाद उसके पास जो कुछ बच रहता है, वही अतिरिक्त रकम उसकी आय होती है। फिर भी वह केवल किसी मौके के कारण नहीं होती, लगातार सफलता के कुछ गुणों के ही कारण होती है, जैसे कुशलता, सगठन की योग्यता, खतरों का सामना करने की दूरदर्शिता इत्यादि। इन गुणों के लिये जो पारितोषिक मिलता है, वही लाभ है। पारितोषिक मजदूरी के ही समान है। इसके दो कारण हैं। एक तो उत्पादक का काम अब भी एक प्रकार की मजदूरी ही है। वह एक प्रकार की मानसिक मजदूरी है, जिसमें कई विशेषताएं रहती हैं। ये विशेषताएं खतरे उठाने और अनिश्चित परिस्थितियों का सामना करने में प्रकट होती है। एक डाक्टर और वकील की आय भी तो मजदूरी की श्रेणी में आती है, यद्यपि इनके कामों में भी प्रधान गुण मानसिक ही होते हैं, जैसे दूरदर्शिता, चतुराई, निर्णय-शक्ति इत्यादि। साहसी उत्पादक और व्यवसायी के काम भी लगभग इसी प्रकार के होते हैं। इसलिये लाभ को भी हमें मजदूरी मानना चाहिये। दूसरे "व्यवसाय के प्रबन्ध के सम्बन्ध में जो वैतनिक पद होते हैं, उनकी सख्या, श्रेणी और किस्म बहुत बड़ी होती है, जैसे फोरमैन, सुपरिन्टेन्डेन्ट, जेनरल मैनेजर, प्रेसिडेन्ट इत्यादि। ये वेतनभोगी कर्मचारी हमेशा स्वतन्त्र व्यवसायी होने का प्रयत्न करते रहते हैं। यह क्रम लगा ही रहता है। परिस्थितियों के वश में आकर स्वतन्त्र व्यवसाय-प्रबन्धक वेतनभोगी मैनेजर हो जाते हैं। यह अदला-बदली होती ही रहती है। दोनों पर एक से कारणों का प्रभाव पड़ता है।" इसलिये मजदूरी के सिद्धान्त को "प्रत्येक प्रकार की मजदूरी के पारितोषिक पर विचार करना चाहिये। ... ...ऊपर बतलाये हुए स्वतन्त्र कार्यकर्ताओं का भी .. .तथा किराये पर काम करनेवाले मजदूरों का भी।"

यह सिद्धान्त लाभ की प्रकृति समझाता है, तथा उसका औचित्य बतलाता है। परन्तु लाभ और मजदूरी में जो वास्तविक भेद है, उस पर विचार नहीं करता। मजदूरी बंधी हुई और पहले से निश्चित की हुई आय होती है। पर लाभ एक अनियमित और अनिश्चित आय होती है।

कम से कम तीन ऐसे कारण हैं, जिनके आधारपर लाभको मजदूरी से भिन्न मानना चाहिये। पहला, उत्पादक का सबसे महत्त्वपूर्ण काम खतरा उठाना और अनिश्चित परिस्थितियों का सामना करना है। मजदूरी या वेतन प्राप्त करनेवालों को भी थोड़ा बहुत खतरा लेना पड़ता है। जैसे कि जिस व्यवसायके लिये उन्होंने शिक्षा पाई है, उसकी

अवनति हो रही हो और सभव है कि उनका काम छूट जाय। परन्तु वेतनभोगियो की अपेक्षा व्यवसायियो के खतरे बहुत अधिक और बहुत बडे होते है। दूसरा, मजदूरी अथवा वेतन की अपेक्षा लाभ में मौको और भाग्य से प्राप्त होनेवाली आय का अश अधिक होता है। अर्थात् दूसरे शब्दो में मजदूरी में उद्योग से प्राप्त होनेवाली आय का अश बहुत अधिक होता है और लाभ में प्राय बहुत कम। अन्तिम, अपूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियो के कारण लाभ प्राय बढते है, परन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण मजदूरी वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति से कम होने की प्रवृत्ति दिखलाती है। व्यवसायी जब अपूर्ण बाजार में माल बेचता है तो वह कुछ अधिक दाम लेने में समर्थ हो जाता है, जो कि पूर्ण प्रतियोगिता में सभव नही होगा। जब हम सम्मिलित पूजीवाली कम्पनियो की वास्तविक आय की छानबीन करते है, तो साफ मालूम हो जाता है कि लाभ की मजदूरी के साथ तुलना करना गलत है। इन कम्पनियो के लाभो में और उनके प्रबन्धको की कमाई में मौलिक भेद होता है। जो साधारण हिस्सेदार होते है, उनका व्यवसाय के प्रबन्ध में न कोई हाथ रहता है और न उस पर कोई प्रभाव पडता है। वे मुख्यत खतरा उठानेवाले होते है। इन कारणो से "लाभ और मजदूरी को अलग-अलग मानने की वैज्ञानिक आवश्यकता है।"

खतरा लेना और लाभ (Risk-bearing and Profits)—लगभग प्रत्येक लेखक इस बात को स्वीकार करता है कि उत्पादन सम्बन्धी सगठन में जो खतरे निहित होते है, उनके कारण लाभ उत्पन्न होते है। इस सिद्धान्त के माननेवालो में हाले (Hawley) का नाम प्रधान है। उसका मत है कि साहसी व्यवसायी अथवा उत्पादक का सबसे महत्त्वपूर्ण काम खतरा लेना है। सब प्रकार के व्यवसायो में खतरे तो लगे ही रहते है। और यदि उत्पादन जारी रखना है तो खतरा लेना आवश्यक होता है। लेकिन खतरा लेना एक कष्टदायक और आनन्दरहित काम होता है। इसलिये बिना इनाम या पारितोषिक की आशा से कोई आदमी खतरा नही उठावेगा। उत्पादक जो खतरा उठाता है, लाभ उसी का इनाम होता है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि खतरे में डाली हुई पूजी पर जो सामान्य औसत आय होती, इनाम उससे कुछ अधिक ही होना चाहिये। क्योकि यदि किसी व्यक्ति को औसतन केवल उतना ही इनाम मिलता है, जितनी कि उसे किसी सुरक्षित व्यवसाय में पूजी लगाने से आय होती, तो वह ऐसा काम क्यो करेगा, जिसमें खतरा हो? इसलिये जो खतरा लिया है, उसके औसत मूल्य से इनाम कुछ अधिक ही होना चाहिये।

लाभ खतरा लेने का इनाम है

फिर, खतरा होने के कारण लोग व्यवसायो में आने से घबडावेंगे। इस प्रकार खतरापूर्ण व्यवसायों में आनेवाले साहसी व्यवसायियो की सख्या कम हो जाती है। पर जो लोग क्षेत्र में आते है और आकर बचे रह जाते है, उनकी आय अधिक हो जाती है, क्योकि प्रतियोगिता भी तो सीमित हो जाती है।

बहुत कम अर्थशास्त्री इस बात को अस्वीकार करेंगे कि लाभ में खतरा लेने का इनाम शामिल रहता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि लाभ केवल खतरे लेने का इनाम होता है। खतरे के सिवा और भी कई बातें होती हैं, जिनके कारण लाभ होते हैं। यह अवश्य है कि जो खतरा लेता है, उसी को लाभ भी प्राप्त होता है। लेकिन वह खतरे की मात्रा के अनुसार केवल उसी अनुपात में इनाम नहीं होता। जैसा कारवर ने[1] कहा है कि खतरा लेने से लाभ उत्पन्न नहीं होता, बल्कि श्रेष्ठ व्यवसायी खतरों को घटा देते हैं, इसलिये उन्हें लाभ प्राप्त होता है। यद्यपि, विरोधात्मक अवश्य लगेगा, पर हम यह भी कह सकते हैं कि व्यवसायियों को खतरा उठाने के लिये नहीं, बल्कि खतरा न उठाने के लिये लाभ मिलते हैं। फिर नाइट (Knight) का यह भी कहना है कि सब प्रकार के खतरों से लाभ प्राप्त नहीं होते। कुछ खतरे ऐसे होते हैं जो पहले से ज्ञात रहते हैं। आंकड़ों की सहायता (statistical methods) से उनकी घटित का औसत ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिये आंकड़ों की सहायता से किसी समाज में खतरों द्वारा मृत्यु का औसत जाना जा सकता है और उन खतरों को पूरा करने के लिये उसी हिसाब से किस्त या इनाम (premium) बांधी जा सकती है। कुछ खतरे ऐसे भी होते हैं, जिनकी घटित या व्यापकता नहीं जानी जा सकती। आंकड़ों की सहायता से वह निश्चित नहीं की जा सकती। ज्ञात खतरों के लिये जो इनाम या किस्त होती है, उसे हम लाभ नहीं कह सकते। वह व्यवसाय के लागत-खर्च में शामिल होती है, जब कि लाभ लागत-खर्च के अतिरिक्त अधिक आय होती है। जो अज्ञात खतरे होते हैं, उन्हें उठाने के कारण लाभ प्राप्त होते हैं। अन्त में यह कहने में भी सन्देह है कि खतरा लेने का वास्तविक मूल्य होता है या नहीं। यह दिखाने के लिये बहुत कम प्रमाण मिलता है कि खतरापूर्ण व्यवसाय आरम्भ करने के लिये व्यवसायियों को अधिक इनाम लालच के रूप में मिलना चाहिये। इनके लिये केवल इतना जानना आवश्यक है कि अमुक व्यवसाय में वे लोग बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं। बहुत से लोग इसलिये व्यवसाय के क्षेत्र में रहना पसन्द करते हैं कि उसमें उन्हें स्वतन्त्रता रहती है। वे आज्ञा देना चाहते हैं, दूसरों की आज्ञा लेना नहीं चाहते। यह जानते हुए भी कि उस स्थिति में उन्हें खतरों का सामना करना पड़ेगा। वे अपना व्यवसाय चलाना ही पसन्द करेंगे।

अनिश्चितता और लाभ (Uncertainty-bearing and Profit)— लाभ के सम्बन्ध में जितने आधुनिक सिद्धान्त हैं, वे लाभ और अनिश्चितता सहने में सम्बन्ध अवश्य बतलाते हैं। प्रतीक्षा के समान अनिश्चित-परिस्थिति का सहना भी उपयोगिता का अभाव है और उसके लिये इनाम मिलना आवश्यक है। जिस प्रकार पूंजीपति का

[1] Carver, Distribution of Wealth, p. 274

काम प्रतीक्षा देना है, उसी प्रकार उत्पादक का एक विचित्र काम उत्पादन सम्बन्धी सभी अनिश्चितताओं को सहना है। इसलिये लाभ अर्थात् उत्पादक की आय अनिश्चितता सहने का इनाम है।

अनिश्चितता की परिभाषा करते हुए एक लेखक ने कहा है कि वह "अनियमित आय की आशा" है। नाइट ने खतरा और अनिश्चितता में भेद इस प्रकार समझाया है।

खतरा और अनिश्चितता में भेद

सब प्रकार के खतरों से अनिश्चितता उत्पन्न नहीं होती। मृत्यु के खतरे के समान कुछ खतरे ऐसे होते हैं, जिनकी व्यापकता किसी समाज में आंकड़ों की सहायता से नापी जा सकती है। और उसे पूरा करने के लिये एक किश्त या इनाम बांधा जा सकता है। इन्हें हम उपयुक्त खतरे कह सकते हैं। इनसे अनिश्चितता की भावना उत्पन्न नहीं होती। परन्तु कुछ ऐसे खतरे भी होते हैं, जो पहले से जाने नहीं जा सकते, इसलिये वे अंकों की सहायता से नापे नहीं जा सकते। इन खतरों से अनिश्चितताएं उत्पन्न होती हैं। इन खतरों को उठाने का लालच देने के लिये लोगों को ऐसा इनाम देना चाहिये जो अनिश्चिततारहित उद्योगों में प्राप्त होनेवाले इनाम से अधिक हो। वही इनाम लाभ होता है।

प्रतीक्षा करने के समान अनिश्चितता उठाना भी उत्पादन में एक साधन माना जाता है। अनिश्चितता की इकाई की परिभाषा पिगू ने इस प्रकार की है–"एक पाउन्ड को किसी ऐसे काम की अनिश्चित योजना में लगाना जिसके उपभोग में एक वर्ष लग जाता है।" (the exposure of one pound to a given scheme of uncertainty in an act the consumption of which occupies a year) अनिश्चितता की कई इकाइयों की मांग इसलिये होती है कि वे उत्पादक होती हैं। अनिश्चितता-सहन में उत्पादन को पिगू ने घड़े टूटने के उदाहरण द्वारा सबसे अच्छी तरह समझाया है। अनिश्चितता-सहन अर्थात् लोगों की अनिश्चितता सहने की स्वेच्छा का एक पूर्ति-मूल्य होता है और वह इन बातों पर निर्भर होता है—(क) साहसी उत्पादकों के चरित्र पर। जो बहुत सावधान प्रकृति के लोग हैं, वे केवल बहुत ऊंचे इनाम के लिये आकर्षित होंगे। जहां बुद्धिमान लोग कदम रखने में डरेंगे, वहां जुआड़ी प्रकृति के लोग दौड़े हुए चले जायंगे। (ख) पूंजी लगानेवालों (investors) के कुल साधनों की मात्रा पर। (ग) इन साधनों का कितना अनुपात खतरे में डाला जा सकता है। धनी व्यक्ति खतरापूर्ण कामों में रुपया लगाने के लिये जल्दी तैयार हो जाते हैं। जब किसी व्यवसाय में कुल साधनों के एक छोटे अनुपात के लगाने से काम चल सकता है, तो कोई व्यक्ति छोटे से इनाम पर भी उतना रुपया लगाने को तैयार हो जायगा। परन्तु यदि उसमें उसकी पूंजी का अधिक अनुपात लगेगा तो वह अधिक बड़े लाभ की आशा करेगा।

फिर साधन के रूप में अनिश्चितता अकेली नहीं रहती। जब एक व्यक्ति खतरा

लेता है, तो उसके पास कुछ खोने के लिये भी होना चाहिये। ऐसी चीज प्राय पूंजी होती है। अनिश्चितता और पूंजी का यह साथ लाभ का एक अन्य जरिया हो जाता है। अधिकतर उदाहरणों में इन दोनों चीजों का संयोग पाना मुश्किल होता है। जो लोग खतरा उठाने को तैयार रहते हैं, उनके पास पूंजी नहीं रहती और जिनके पास पूंजी है सभव है कि वे खुरतरापूर्ण कामों में अपना रुपया लगाना पसन्द करें। जिन लोगों में ये दोनों गुण होते हैं, उनकी कुछ ऐसी लाभप्रद स्थिति होती है कि वे आसान लगान के समान कुछ आय प्राप्त कर सकते हैं।

इस सिद्धान्त की पहली आलोचना यह की जाती है कि अनिश्चितता-सहन उत्पादन में एक अलग अंग अथवा साधन नहीं होता। यदि हम वास्तविक लागत का सिद्धान्त स्वीकार कर लें कि अन्त में सब लागत कष्ट अथवा अनुपयोगिता में परिणत हो सकती है, तब हम अनिश्चितता को एक अलग साधन मान सकते हैं। परन्तु आधुनिक मत वास्तविक लागत के सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। यदि मजदूर खराब परिस्थितियों और वातावरण म काम करके ऊंची मजदूरी पाते है तो इसका मतलब यह नहीं है कि खराब परिस्थितियां एक अलग अंग हो जाती है? इसी प्रकार यदि उत्पादकों को अनिश्चित परिस्थितियों में उत्पादन करना पड़ता है, तो अनिश्चित परिस्थितियों का उठाना उत्पादन का एक अलग अंग नहीं हो जाता। अनिश्चितता तो उत्पादक के कार्यों की केवल एक विशेषता है और यह ऐसी विशेषता है कि उससे पूंजी और साहस अथवा व्यवसाय की पूर्ति सम्बन्धी कीमत बढ़ जाती है। किसी खतरापूर्ण व्यवसाय में लोग अधिक इनाम की आशा करते हैं। यही इस सिद्धान्त का सार है।

फिर केवल अनिश्चितता लाभ का एकमात्र कारण नहीं हो सकती। अनिश्चितता उठाना उत्पादक का सबसे महत्वपूर्ण काम हो सकता है, परन्तु वह उसका एकमात्र काम नहीं होता। उत्पादक के और भी काम होते हैं। संगठन, नये तरीके ग्रहण करना इत्यादि और भी ऐसे काम रहते हैं जिनके लिये इनाम की आशा की जाती है। अन्त में अनिश्चितता कई कारणों में से केवल एक है, जो उत्पादक वर्ग की पूर्ति को सीमित करते हैं। उसके सिवा अन्य कारण अथवा प्रभाव भी होते हैं, जैसे समाज के विभिन्न वर्गों की सतहें और वातावरण जिनके कारण अनिश्चितता उठानेवाले उत्पादकों की पूर्ति सीमित हो जाती है।

सीमान्त उत्पादन शक्ति और लाभ (Marginal Productivity and Profit)—उत्पादन के प्रत्येक साधन का पारितोषिक सीमान्त उत्पादन के सिद्धान्त के अनुसार निश्चित होता है। उत्पादक का पारितोषिक या वेतन उसकी व्यावसायिक योग्यता के कारण भिन्न होता है। लाभ संगठन नामक साधन को एक इकाई की वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखलायेगा। वास्तविक सीमान्त उत्पादन वह अधिक मात्रा है, जो समाज उत्पादक की सहायता से उत्पन्न करता है। एक

उत्पादन वह होता है, जो बिना साहसी उत्पादक की सहायता के होता और दूसरा वह है, जो उसकी सहायता से होता है। यह पहले की अपेक्षा कुछ अधिक होता है और यही अधिक मात्रा वास्तविक सीमान्त उत्पादन होता है। 'इकॉनामिक जनरल' नामक पत्र में लिखकर चेपमेन[१] ने यह तात्पर्य निकाला कि लाभ उत्पादक के सीमान्त सामाजिक मूल्य के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखाता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मजदूर उत्पादक के लिये अपनी वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति देता है। अन्तर केवल इतना है कि मजदूर की वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति सीधे अथवा प्रत्यक्ष तरीके से निश्चित होती है, परन्तु "उत्पादक के पारितोषिक पर प्रभाव डालनेवाले कारण अपनी क्रिया अप्रत्यक्ष रूप से और धीरे-धीरे करते हैं।" ऐजवर्थ (Edgeworth) भी एक दूसरी रीति से इसी नतीजे पर पहुंचा। "सामान्यत यह माना जा सकता है कि एक स्वतन्त्र उत्पादक अपने समान योग्यतावाले किसी वेतनभोगी मैनेजर से कम पैदा नही करता और सम्भवत उससे बहुत अधिक भी नही पैदा करता यदि मैनेजर का वेतन उसी मात्रा के बराबर है, जो वह पैदा करता है, तो उत्पादक का वेतन अथवा पारितोषिक भी उसके द्वारा उत्पादित मात्रा से अधिक नही है।"[२]

लाभ का गतिशील सिद्धान्त (The Dynamic Theory of Profit)—प्रसिद्ध अमेरिकन अर्थशास्त्री जे॰ बी॰ क्लार्क का कहना है कि लाभ गत्यात्मक परिवर्तनों के कारण होता है। उसका मत है कि उत्पादक का काम

लाभ केवल गतिशील परिवर्तनों के कारण होते हैं

श्रमिको के प्रबंध करने से, अथवा देख-रेख के काम से, अथवा खतरा लेने के काम से बिलकुल भिन्न है। उसका काम मार्ग-दर्शक का काम है। वह एक प्रकार से उत्पादन का जरिया होता है जिसके कारण आर्थिक सगठन में परिवर्तन होते हैं।

बिक्री मूल्य और लागत में जो अन्तर होता है, वही लाभ है। यदि प्रतियोगिता का पूरा प्रभाव पडे और आर्थिक सगठन में कोई नये परिवर्तन न हों तो प्रत्येक साधन को केवल उतना मिलेगा, जितना वह उत्पादन करेगा और बिक्री

गतिहीन समाज में लाभ गायब हो जाते हैं

मूल्य लागत के बराबर होगा। इसलिये देख-रेख की मजदूरी से अधिक कोई लाभ न होगा। इसलिये गतिहीन समाज (static state) में लाभ गायब होने की प्रवृत्ति दिखाते हैं। क्लार्क के मत में गतिहीन समाज या स्थिति में पाच प्रकार के परिवर्तनो की कमी रहती है। पहला, जनसख्या की बढती नही होती। दूसरा, पूजी की पूर्ति

---

१ Remuneration of Employers. Economic Journal Dec 1906.

२ Papers relating to Political Economy, Vol. 1. p 30

में भी बढ़ती नहीं होती। तीसरा, उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन नहीं होता। चौथा, व्यवसाय के संगठन के तरीका में कोई परिवर्तन नहीं होता। पांचवां उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं में कोई कमी नहीं होती। ऐसे गतिहीन समाज में प्रत्येक वस्तु की कीमत उत्पादन की लागत के बराबर होती है। चूंकि लागत के सिवा जो आय होती है, वही लाभ होता है, इसलिये ऐसी स्थिति में लाभ गायब हो जायगा।

लेकिन उत्पादक का विशेष काम साम्य में उलट-पलट करना है। अपनी संगठन सम्बन्धी श्रेष्ठ योग्यता के कारण वह लागत-खर्च कम करके लाभ प्राप्त करता है। आविष्कार गतिशील परिवर्तन का बड़ा अच्छा उदाहरण है। किसी नये आविष्कार को ग्रहण करके उत्पादक उत्पादन का लागत खर्च कम कर सकता है। कम लागत पर उत्पादन करने से उसे लाभ होगा। परन्तु जल्दी अथवा देर में प्रतियोगिता अवश्य होगी। दूसरे उत्पादक उस आविष्कार को ग्रहण करेंगे, उत्पादन भी बढ़ेगा और कीमत गिरेगी। इसके सिवा उत्पादकों की आपस की प्रतियोगिता के कारण मजदूरी और ब्याज की दर भी बढ़ेगी। इसका फल यह होगा कि उत्पादन खर्च भी बढ़ जायगा और धीरे धीरे लागत-खर्च और कीमत फिर बराबर हो जायगे। तब लाभ गायब हो जायगा। इस प्रकार लाभ अस्थायी अस्थिर होते हैं। वे परिवर्तनों के कारण होते हैं तथा स्वयं भी परिवर्तनों के कारण होते हैं। जो मार्गदर्शक उत्पादक साहसपूर्ण कदम लेकर नया रास्ता ग्रहण करता है, वह कुछ समय के लिये लाभ अथवा अतिरिक्त आय प्राप्त करता है। परन्तु अन्य प्रभावों की प्रतियोगिता के कारण उसे जल्दी अपना लाभ ऊंची मजदूरी, अथवा ऊंची ब्याज दर अथवा कम कीमत के रूप में समाज को दे देना पड़ता है। "किसी भी गतिशील परिवर्तन की पूरी क्रिया का अन्तिम ध्येय लाभरहित स्थिति होती है।" इसलिये गतिहीन स्थिति में जहां सम्पूर्ण प्रतियोगिता होती है, लाभ की मात्रा न्यूनतम होगी। परन्तु वास्तविक जीवन में परिवर्तन बराबर होते रहते हैं और लगातार संघर्ष के कारण प्रतियोगिता का प्रभाव भी कम होता रहता है। इसलिये उत्पादक हमेशा लाभ प्राप्त करने में समर्थ होते रहते हैं।

इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए एफ० ए० नाइट ने कहा है कि सब प्रकार के गतिशील परिवर्तनों से लाभ उत्पन्न नहीं होता। जो परिवर्तन नियमित रूप से होते हैं और इस कारण पहले से ज्ञात रहते हैं, उनका हिसाब और प्रबन्ध पहले से कर लिया जायगा। यह उसी प्रकार होगा जिस प्रकार किसी समाज में मृत्यु संख्या की औसत अंकों की सहायता से निश्चित कर ली जाती है और उन खतरों के लिये किश्त बांध दी जाती है। पहले से ज्ञात परिवर्तनों के जो आर्थिक परिणाम होंगे, वे निश्चित कर लिये जायगे और उत्पादन खर्च में शामिल कर दिये जायगे। लेकिन कुछ ऐसे परिवर्तन भी होते हैं जो पहले से नहीं जाने जा सकते और उनके सम्बन्ध में पहले से कुछ नहीं कहा जा सकता। ऐसे परिवर्तनों के कारण लाभ उत्पन्न होता है। इसलिये इस सिद्धान्त

की आलोचना यह कहकर करता है कि वह लाभ और प्रबन्धकर्त्ता की आय के बीच में एक बनावटी या अवास्तविक भेद खड़ा करता है। "जो जमे हुए व्यवसाय हैं, उनके दैनिक प्रबन्ध में भी निर्णय-शक्ति और प्रबन्ध कुशलता की आवश्यकता होती है। वर्तमान प्रगतिशील और शीघ्रगामी युग में इन गुणो के लाभपूर्ण उपयोग की अधिक आवश्यकता होती है।"[1] एक गतिहीन स्थिति में उत्पादको को प्रबन्धकर्त्ताओ की मजदूरी मिलेगी। यदि ऐसी स्थिति में खतरे नही है, तो खतरे लेने के इनाम भी नही रहेंगे। अधिकाश खतरे रहेंगे ही नही। थोड़े से खतरे रहेंगे, जैसे आग द्वारा नुकसान होने का खतरा, उत्पादको की लापरवाही, मजदूरों का काम टालने अथवा न करने का खतरा (जिसे मार्शल ने व्यक्तिगत खतरे कहा है) रहेंगे और इन्हें लेने के लिये इनाम अवश्य मिलना चाहिये।

तात्पर्य (Conclusion)—इन सब सिद्धान्तो में त्रुटि यह है कि ये उत्पादक के कार्यों के किसी एक पहलू पर जोर देते है और अन्य पहलुओ को छोड देते है। लेकिन लाभ एक जातीय अथवा एक ही प्रकार की आय नही होती। उत्पादक केवल एक ही काम नही करता। उसके काम के कई पहलू होते हैं, जैसे—खतरा लेना, अनिश्चितता लेना, योजना बनाना, चुनना, निर्णय करना इत्यादि। इसलिये लाभ की वास्तविक प्रकृति समझाने के लिये कोई एक सिद्धान्त काफी नही हो सकता। फिर अधिकाश सिद्धान्तो में उत्पादक के कार्यों की केवल व्याख्या की गई है। लेकिन इस प्रकार की व्याख्या से लाभ की उत्पत्ति नही समझाई जा सकती। लाभ के वास्तविक सिद्धान्त को यह भी बतलाना चाहिये कि उत्पादको की पूर्ति इतनी सीमित क्यो है। क्योंकि यदि योग्य उत्पादको की सख्या उतनी अधिक होती, जितनी शारीरिक श्रम करनेवाले मजदूरो की है तो उनका पारितोषिक भी एक साधारण मजदूर की दैनिक मजदूरी से अधिक न होता, चाहे वे अनेक प्रकार के काम भले ही करते। परन्तु उत्पादको की सीमित पूर्ति समझाने के लिये वर्तमान समाज के सगठन और उसके अन्तर्गत वर्गीकरण को समझाना पड़ेगा। उसमें यह समझाना पड़ेगा कि उत्पादक के काम के सम्बन्ध में आवश्यक गुण, जैसे—कल्पना, निर्णय शक्ति, सगठन सम्बन्धी योग्यता और कुशलता, खतरा लेने मे दूरदर्शिता, आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास इत्यादि सीमित होते है। अर्थात् बहुत कम व्यक्तियो में पाये जाते है। तब यह जानना चाहिये कि यह सीमा कहा तक स्वाभाविक कारणो से होती है और कहा तक परिस्थितियो और वातावरण के कारण। उस सिद्धान्त को यह भी समझाना चाहिये कि कभी-कभी कीमत लागत खर्च से अधिक क्यो बढ़ जाती है, जिससे लाभ में एकाएक वृद्धि हो जाती है। क्लार्क ने गतिशील परिवर्त्तनो पर जो जोर दिया है, वह इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण है। मुद्रा सम्बन्धी जो उथल-पुथल होते रहते हैं, जिनके कारण लाभ और नुकसान हुआ करते है, उनकी तरफ भी ध्यान देना आवश्यक है। इस-

१ Taussig. Principles, Vol. II, P. 129.

इसका प्रधान कारण यह है कि वास्तविक विनिमय अथवा लेन-देन में विभिन्न प्रकार की मुद्राओं का बढ़ियापन अथवा घटियापन कोई महत्व नहीं रखता। जिन सिक्कों का वजन बहुत थोड़ा-सा कम होता है, उनके प्रचलन में कोई कठिनाई नहीं होती। जो लोग बहुत ही अधिक होशियार होते हैं, केवल उनका ध्यान इस ओर जायगा कि इन सिक्कों का वजन थोड़ा कम है और व्यावसायिक लेन-देन तथा काम की जल्दी में बहुत कम लोगों को इस तरफ ध्यान देने का समय रहता है। यदि किसी आदमी का ध्यान इस तरफ गया भी तो वह उसे बिना संकोच के स्वीकार कर लेता है, क्योंकि वह जानता है कि वह किसी अन्य को दे देगा। बहुधा व्यवसायी उसे अस्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा करने से उनके ग्राहक नाराज हो जायगे। इसलिये वास्तव में अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की मुद्राओं का चलन होता है। परन्तु अन्य उपयोगों में सिक्कों की शुद्धता अथवा अशुद्धता का कुछ महत्व होता है। जैसे कि सुनार केवल उत्तम सिक्कों को पिघलायेगा।

इस नियम की क्रिया से बचाव करने के लिये आधुनिक सरकारें निरन्तर पुराने और हल्के सिक्के प्रचलन से हटाती रहती हैं और उनके बदले नये सिक्कों का प्रचलन करती रहती हैं। इस नियम के क्रियाशील होने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि केवल एक ही धातु के सिक्कों का प्रचलन हो। अन्य प्रकार की परिस्थितियों में भी यह नियम क्रियाशील हो सकता है। जहां द्विधातु मुद्रा प्रणाली (bimetallic standard) में जहां सोना और चांदी के सिक्के स्वतन्त्रतापूर्वक बनाये जा सकते हैं और असीमित कानून ग्राह्य होते हैं, वहां अधिक मूल्य वाली धातु (जिसका अंकित मूल्य वास्तविक मूल्य से अधिक है) कम मूल्य वाली धातु को प्रचलन के बाहर भगा देती है। जब सोना और चांदी के मूल्य का बाजार का अनुपात टकसाल के अनुपात से भिन्न होता है, तब दो में से एक कोई धातु प्रचलन के बाहर हो जाती है। महायुद्ध के पहले भारत में एक बार ऐसा ही हुआ था। सावरेन (sovereign) और सांकेतिक रुपया (token rupee) दोनों कानून-ग्राह्य थे। लेकिन जितने सावरेन प्रचलन में लाये गये थे, वे तुरन्त गायब होते गये। भारत सरकार ने यह सोचा कि देश सोने के सिक्के नहीं चाहता। परन्तु उनके गायब होने का वास्तविक कारण यह था कि ग्रेशाम का नियम अपना काम कर रहा था। रुपया एक सांकेतिक मुद्रा था, इसलिये स्वाभाविक था कि लोग लेन-देन रुपया में करते थे और सोने का संग्रह करते थे। यदि धातु मुद्रा के साथ-साथ कागजी मुद्रा का भी काफी मात्रा में प्रचलन हो तो भी ग्रेशाम का नियम क्रियाशील हो सकता है। यदि अधिक मात्रा में होने के कारण (by over issue) अथवा अन्य किसी कारण से कागजी मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है, तब धातु-मुद्रा प्रचलन से गायब हो जाती है। युद्धकाल में तथा उसके बाद बहुत से देशों की सरकारों को अविनिमय-साध्य कागजी मुद्रा (inconvertible paper money) चलानी पड़ती है। फल यह हुआ कि धातु

की मुद्रा प्रचलन से बिल्कुल गायब हो गई। इस प्रकार ग्रेशाम का नियम कई परिस्थितियों में क्रियाशील हो सकता है।

नियम की सीमाएं

निम्नलिखित परिस्थितियों में यह नियम काम नहीं करेगा। प्रचलन में अच्छी और बुरी मुद्रा मिलाकर जो कुल मुद्रा है, यदि वह समाज की आवश्यकता से कम है, तो ग्रेशाम का नियम क्रियाशील न होगा। दूसरे यदि पूरा समाज बुरी मुद्रा लेने से इनकार करने लगे तो भी यह नियम क्रियाशील नहीं होगा। इन दो परिस्थितियों में ग्रेशाम का नियम क्रियाशील नहीं होगा।

बत्तीसवां अध्याय

मुद्रा के मूल्य में परिवर्त्तन

(Changes in the Value of Money)

सूचक अंक (Index Numbers)–प्रत्येक वस्तु का मूल्य मुद्रा द्वारा निश्चित किया जाता है। परन्तु स्वयं मुद्रा का मूल्य मुद्रा में नहीं मापा जा सकता। मुद्रा का मूल्य जानने की आवश्यकता वस्तुएं अथवा सेवाएं खरीदने के समय होती है। इसलिये लोग जिन वस्तुओं पर अपनी आय खर्च करते हैं, उनमें से कुछ चुनी हुई वस्तुओं के मूल्यों की औसत लगाने से मुद्रा का मूल्य अथवा उसके खरीदने की शक्ति निश्चित की जा सकती है। जिन विभिन्न वस्तुओं अथवा सेवाओं पर मुद्रा खर्च की जाती है उनके मूल्यों के औसत को मूल्य-सतह (price-level) कहते हैं और मूल्य-सतहों की एक सूची को सूचक अंक (index numbers) कहते हैं। इसलिये सूचक-अंक मूल्य सतहों के वे अंक होते हैं, जिन्हें कोष्टक (table) के रूप में लिखा जाता है और जिनसे हम यह जानते हैं कि अपनी आवश्यकता की वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों में क्या-क्या परिवर्तन होते रहते हैं। सूचक अंक वस्तुओं और सेवाओं की कीमत की एक प्रकार की सांख्यिकी औसत (statistical average) होती है, जिससे मुद्रा के मूल्य में होनेवाले परिवर्तन ज्ञात होते हैं। जब मूल्य-सतह उठता है, तो उसका अर्थ यह होता है कि मुद्रा की एक निश्चित मात्रा द्वारा पहले की अपेक्षा अब कम वस्तुएं खरीदी जा सकती हैं। अर्थात् मुद्रा का मूल्य गिर गया है। इसी प्रकार जब मूल्य-सतह गिरता है तब मुद्रा का मूल्य बढ़ता है। इसलिये मुद्रा के मूल्य में अर्थात् उसकी खरीदने की शक्ति में तथा मूल्य-सतह में उल्टा अनुपात रहता है। जब एक घटता है, तब दूसरा बढ़ता है।

जब हम एक दिये हुए समय में कुछ वस्तुओं के मूल्य का अध्ययन करते हैं, तो यह देखते हैं कि कुछ वस्तुओं का मूल्य बढ़ रहा है और कुछ का मूल्य गिर रहा है। फिर वस्तुओं के मूल्य अलग-अलग दर से घटते और बढ़ते हैं। परन्तु इस घटी-बढ़ी के संघर्षपूर्ण परिवर्तन में पूरे समूह की एक केन्द्रीय प्रवृत्ति एक प्रधान प्रवृत्ति रहती है। जब यह प्रधान प्रवृत्ति बढ़ने की ओर रहती है, तब अधिकांश वस्तुओं के मूल्य भी बढ़ने की प्रवृत्ति दिखाते हैं, यद्यपि उसी समय कुछ वस्तुओं के मूल्य गिरते भी रहेंगे। सूचक-अंक का ध्येय यह प्रधान प्रवृत्ति दिखाना रहता है।

सूचक-अंक बनाने में ये प्रधान बातें रहती हैं। हमें एक आधार-काल (base-period) मानना पड़ता है और अन्य कालों के मूल्यों की उस आधार काल के मूल्यों से तुलना करनी पड़ती है। तब हमें कुछ वस्तुओं को चुनना पड़ता है। उन वस्तुओं के विभिन्न कालों के मूल्य चुनने पड़ते हैं और उनकी औसत निकालनी पड़ती है। एक उदाहरण ले लिया जाय।

सन् १९३९ में				सन् १९४० में
चावल	प्रति मन	६	रु०=१००	८ रु०=१३३$\frac{1}{3}$
दाल	" "	५$\frac{1}{2}$	रु०=१००	११ रु०=२००
चीनी	" "	६	रु०=१००	९ रु०=१५०
आटा	" "	५	रु०=१००	७ रु०=१४०
चाय	प्रति पौंड	१	रु०=१००	१$\frac{3}{8}$ रु०=१३७$\frac{1}{2}$
औसत = ५०० ÷ ५ = १००				७६०$\frac{1}{3}$ ÷ ५ = १५२$\frac{1}{15}$

इसलिये यदि सन् १९३९ (आधार-काल) में ५ वस्तुओं का मूल्य १०० के बराबर था, तो सन् १९४० में उन्हीं वस्तुओं का मूल्य-सतह बढ़कर १५२$\frac{1}{15}$ हो गया, अर्थात् वह ५२$\frac{1}{15}$ प्रतिशत बढ़ा।

परन्तु इस रीति के अनुसार जो सूचक-अंक बनाये जाते हैं, वे मुद्रा के मूल्य में होनेवाले परिवर्तनों को ठीक-ठीक नहीं बतलाते। यह रीति प्रत्येक वस्तु को एक बराबर महत्व देती है। इससे हम बहुधा गलत नतीजों पर पहुँचते हैं।

वजन और सूचक-अंक

किसी वर्ष चावल का दाम ५० प्रतिशत बढ़ सकता है और तम्बाकू का दाम ५० प्रतिशत कम हो सकता है। पर औसत वही रहती है और सूचक-अंक में कोई परिवर्तन नहीं होता। परन्तु चावल का दाम बढ़ने से जितने अधिक लोगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, उतने अधिक लोगों पर तम्बाकू का दाम घटने से अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसलिये अधिक अच्छे नतीजे या परिणाम जानने के लिये यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय उपभोग में जिन वस्तुओं का महत्व अधिक

हैं, उन्हें उतनी ही अधिक प्रधानता या 'वजन' मिलना चाहिये। यदि चावल का महत्त्व तम्बाकूको अपेक्षा चौगुना अधिक है,तो चावलके मूल्यमें चारका गुणा होना चाहिये और तम्बाकू के मूल्य में केवल एक का। एक उदाहरण ले लें। सन् १९३९ में चावल और तम्बाकू का मूल्य मान लो १०० के बराबर है। औसत १०० है। दूसरे वर्ष चावल का मूल्य ५० प्रतिशत बढ़ता है और तम्बाकू के मूल्य में ५० प्रतिशत कमी होती है। तब सन् १९४० में चावल का मूल्य १५० होगा और तम्बाकू का दाम ५० होगा। औसत अब भी १०० है। यदि सूचक-अंक को वजन न दिया जाय, तो उसमें कोई परिवर्तन न होगा। यदि चावल का महत्त्व तम्बाकू से चौगुना अधिक है, तो उसकी कीमत में चार का गुणा होना चाहिये। इस प्रकार सन् १९४० में चावल का मूल्य १५०×४=६०० होगा। तम्बाकू का मूल्य ५० रहेगा। अब औसत १३० हो जाती है। इसलिये सूचक-अंक यह बतलावेगा कि मुद्रा का मूल्य गिर गया है। यह फल सत्यता के अधिक निकट है, क्योंकि चावल के मूल्य में ५० प्रतिशत वृद्धि होने पर अधिक लोगों पर प्रभाव पड़ता है और तम्बाकू के मूल्य में ५० प्रतिशत कमी होने पर उतने लोगों पर प्रभाव नहीं पड़ता। अब प्रश्न यह होता है कि विभिन्न वस्तुओं को वजन किस हिसाब से दिया जायगा। उसका तरीका यह है कि लोग अपनी आय के विभिन्न अंश विभिन्न वस्तुओं पर जिस हिसाब से खर्च करते हैं, उसी हिसाब से वस्तुओं को वजन दिया जायगा।-

मूल्य-सतह के औसत में होनेवाले परिवर्तनों को जानने के लिये विभिन्न देशों में सूचक-अंक का इस रीति से उपयोग किया जाता है। परन्तु सूचक-अंक तैयार करने में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। पहली कठिनाई आधार-काल चुनने के सम्बन्ध में होती है। आधार-काल चुनते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि वह अधिक से अधिक साधारण और सामान्य (normal) हो। फिर जिन कीमतों की

सूचक अंक तैयार करने में कठिनाइयां

औसत निकाली जाती है, उनके सम्बन्ध में भी एक कठिनाई उत्पन्न होती है। अधिकांश सूचक-अंक थोक मूल्यों के आधार पर बनते हैं। क्योंकि थोक मूल्यों का संग्रह करना अपेक्षाकृत सरल होता है। परन्तु साधारण उपभोक्ता फुटकर मूल्यों पर वस्तुएं खरीदते हैं। इसलिये यदि सूचक-अंक मुद्रा की खरीदने की शक्ति में परिवर्तन दिखलाना चाहते हैं, तो वे फुटकर मूल्यों के आधार पर बनाये जाने चाहिये, थोक मूल्य पर नहीं। इधर हाल में यह प्रयत्न किया जा रहा है कि सूचक-अंक फुटकर-मूल्यों के आधार पर बन सकें। इन्हें रहन-सहन के खर्च सम्बन्धी सूचक-अंक (cost of living index numbers) कहा जाता है। 'वजन' देने में भी कुछ कठिनाइयां होती हैं। राष्ट्रीय उपभोग में किसी वस्तु का महत्त्व अथवा वजन निश्चित करना आसान नहीं होता। मजदूर पेशा लोगों के आय-व्यय विवरण में भोजन सम्बन्धी वस्तुओं पर किये गये खर्च की प्रधानता होती है। धनी लोगों के खर्च में भोजन सम्बन्धी खर्च की

इतनी प्रधानता नहीं रहती। अमेरिका में मोटरकारों को जो वजन दिया जायगा, वह भारत की अपेक्षा भिन्न रहेगा। फिर राष्ट्रीय उपभोग में किसी काल में किसी वस्तु का महत्व अन्य वस्तुओं के मूल्य घटने या बढ़ने के कारण घट बढ़ सकता है। इसलिये वजनों में हमेशा परिवर्तन करना पड़ता है।

उचित वस्तुओं का चुनाव करना भी काफी कठिन काम है। इस सम्बन्ध में आवश्यक यह है कि ऐसी वस्तुएं चुनी जाय जो किसी वर्ग के लोगों की मुद्रा खरीदने की शक्ति का प्रतिनिधित्व करती हों। विभिन्न वर्ग के लोग विभिन्न प्रकार की वस्तुएं चाहते हैं। यदि मोटरकार और पट्रोल की कीमत में परिवर्तन हो, तो उनका प्रभाव धनी वर्ग की मुद्रा खरीदने की शक्ति पर काफी पड़ेगा, परन्तु गरीब वर्ग की मुद्रा खरीदने की शक्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एक ही वर्ग में ऐसा शायद ही कभी होता हो जब दो व्यक्ति अपनी आय को एक प्रकार की वस्तुओं पर एक ही अनुपात में खर्च करेंगे। साग और मछली के दामों में परिवर्तन होने से शाकाहारी और मांसाहारी लोगों की मुद्रा खरीदने की शक्ति पर एक ही अनुपात में प्रभाव नहीं पड़ेगा, यद्यपि वे एक ही वर्ग के हों। वास्तव में हमें प्रत्येक व्यक्ति अथवा कुटुम्ब के लिये रहन-सहन के खर्च के अलग-अलग सूचक-अंक तैयार करने चाहिये। प्रथा, रुचि तथा आकार की भिन्नता के अनुसार एक ही वर्ग के विभिन्न कुटुम्ब विभिन्न प्रकार की वस्तुओं पर अपनी आय खर्च करते हैं। फिर उचित वस्तुओं का चुनाव करने पर भी इस बात का भरोसा नहीं है कि एक निश्चित समय बीतने पर उनके गुणों में परिवर्तन न होगा। "यदि आप बस या मोटर लारी में कहीं जाते हैं और लगातार बैठने को सीट मिल जाती है, तो वह एक बात हुई और यदि खड़ा रहना पड़ता है अथवा बार-बार सीट बदलनी पड़ती है, तो वह दूसरी बात हुई।" किराया तो दोनों हालतों में एक-सा देना पड़ता है, परन्तु दोनों परिस्थितियों में अन्तर हो जाता है। सन् १९२० में एक फोर्ड कार की जो कीमत थी, सन् १९३५ में भी एक फोर्ड कार की वही कीमत हो सकती है। कीमत की दृष्टि से मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन नहीं हुआ है। परन्तु यदि सन् १९३५ के माडल में कई प्रकार की उन्नति की गई है, नई सुविधाएँ रखी गई हैं, जिनकी सन् १९२० में कल्पना नहीं की जा सकती थी, तो सन् १९३५ का माडल खरीदनेवाले को अपनी मुद्रा का कहीं अच्छा मूल्य मिलेगा और यह बात सूचक-अंक से नहीं मालूम होगी।

एक अन्य कठिनाई यह हो सकती है कि लोग आधार-काल के बाद के समय में अन्य प्रकार की वस्तुएं भी खरीद सकते हैं। दो कालों के बीच में बाजार में नई वस्तुएं आ सकती हैं। कुछ पुरानी वस्तुओं का लोग उपभोग करना छोड़ सकते हैं। पिछली पीढ़ी चाय का उपयोग नहीं जानती थी, परन्तु उसकी बाद की पीढ़ी के लोग सबेरे चाय पीने के आदी हो गये हैं। एक कुटुम्ब जो पहले शुद्ध घी खाता था, अब केवल वनस्पति घी खाने को लाचार है। इसलिये जो सूचक-अंक पहले काल की वस्तुओं की कीमतों की औसत के आधार

पर बनाये गये हैं, वे दूसरे काल में मुद्रा के मूल्य में होनेवाले परिवर्त्तनो का चित्रण सही तरीके से न कर पावेंगे। इस कठिनाई को हल करने के लिये मार्शल ने 'शृखलाबद्ध सूचक अको' (chain index numbers) की रीति का सुझाव रखा था। "इस रीति के अनुसार सन् १९०० और सन् १९०१ के मूल्य सतह की उन वस्तुओ के आधार पर तुलना की जायगी, जो दोनो वर्षों में प्राय प्राप्य थी। सन् १९०१ में जो नई वस्तुए आई, उन्हें छोड दिया जायगा। तब उस मूल्य सतह की तुलना सन् १९०२ के मूल्य-सतह के साथ की जायगी। इसमें सन् १९०१ की नई वस्तुए शामिल कर ली जायगी, पर सन् १९०२ की नई वस्तुए छोड दी जायगी। इसी प्रकार तुलना का क्रम चलेगा।" परन्तु इस रीति से हमारी कठिनाइया हल नही होती, वे केवल टल जाती हैं। उदाहरण के लिये हम यह नही जानते कि किसी वस्तु के छोड देने से अथवा किसी नई वस्तु के उपयोग से हम कहा तक नुकसान अथवा लाभ में रहते हैं। फिर लम्बे कालो में मुद्रा के मूल्य में होनेवाले परिवर्त्तनो में तुलना करने से अधिक लाभ भी नही होता।

इसलिये सूचक-अक मुद्रा के मूल्य में होनेवाले परिवर्त्तनो के केवल निकट लक्षण बतला सकते हैं। जिन दो कालो की तुलना की जाती है, यदि उनके बीच का समय अधिक न हो तो सूचक-अक बनाने के सम्बन्ध में जो कठिनाइया और त्रुटिया होती हैं, उनका महत्व अधिक नही होता। परन्तु जब बीच का समय अधिक होता है, तब कठिनाइया भी बडी हो जाती हैं और उन्हें हल करना असम्भव हो जाता है। चूकि आदतें अपेक्षाकृत बधी हुई होती हैं, इसलिये जिन आवश्यक वस्तुओ पर हम खर्च करते हैं, उनमें भी प्रति वर्ष बहुत कम परिवर्तन होता है, विशेषकर प्रधान वस्तुओ में बहुत कम परिवर्त्तन होता है। जिन दो कालो में तुलना की जाती है, यदि उनके बीच का समय कम या थोडा-सा होता है, तो नई वस्तुओ के आने से और पुरानी वस्तुओ की किस्मो में परिवर्त्तन होने से रहन-सहन के खर्च पर जल्दी और विशेष प्रभाव नही पडता। इसके फलस्वरूप अल्पकालों में मुद्रा खरीदने की शक्ति में परिवर्तन होते हैं। उन्हें सूचक-अको द्वारा काफी निकट तक मापा जा सकता है।

सूचक-अको के उद्देश्य और प्रकार (Purposes and Kinds of Index Numbers)—जिस उद्देश्य से सूचक-अक बनाये जाते हैं, उसके लिये यह आवश्यक है कि वे ठीक तौर से बनाये जाय। वस्तुओ का चुनाव तथा विभिन्न वस्तुओ को जो वजन दिया जाता है, वह तथा इस सम्बन्ध में अन्य सब बातें उस उद्देश्य पर निर्भर रहती हैं, जिसके लिये सूचक-अक बनाये जाते हैं। उदाहरण के लिये जो सूचक-अक मुद्रा की खरीदने की शक्ति जानने के लिये बनाया जाता है, वह उस सूचक-अक से भिन्न होगा, जो रहन-सहन का खर्च मापने के लिये बनाया जायगा। इसलिये हमें सूचक-अकों के उद्देश्यो और प्रकारो पर भी ध्यान रखना चाहिये।

एक सूचक-अक का उद्देश्य मुद्रा की सब प्रकार की खरीदने की शक्ति मापना हो

सकता है। उसमें वे वस्तुएं शामिल होनी चाहियें, जिनका उपयोग अन्तिम रूप में होगा। ऐसा व्यापक सूचक-अंक बनाने का अभी तक
विविध प्रकार के सूचक-अंक प्रयत्न नहीं किया गया है, क्योंकि इस कार्य में कई प्रकार की कठिनाइयां और त्रुटियां घुसी रहती हैं। फिर भी मि० कार्ल स्नाइडर (Carl Snider) ने एक काफी व्यापक सूचक-अंक बनाया था। इसमें उन्होंने चार प्रकार के मूल्य समूहों का सम्मिश्रण किया था, अर्थात् थोक मूल्य, मजदूरी, रहन-सहन का खर्च और स्थान। इसका नाम उन्होंने 'व्यापक मूल्य समूहों का सूचक-अंक' रखा था। दूसरे मजदूरवर्ग के रहन-सहन के खर्च में होनेवाले परिवर्तनों को मापने के लिये सूचक अंक तैयार किये जा सकते हैं। कुछ उद्योगों में वस्तु मूल्यानुसार मजदूरी दी जाती है, जिससे वह रहन-सहन के खर्च के एक निश्चित अनुपात में रह सकें। इस उद्देश्य से कई देशों में रहन-सहन के खर्च के सूचक-अंक बनाये जाते हैं। तीसरे हम एक 'कमाई का मान' ('earning standard') बना सकते हैं जिसके अनुसार यह हिसाब लगा सकते हैं कि सब मजदूर प्रति घंटा मुद्रा के रूप में कितनी मजदूरी प्राप्त करते हैं। चौथा हम एक 'थोक मान' (wholesale standard) बना सकते हैं जैसा कि 'सारबेक' (Sauerbeck) अथवा इकोनॉमिस्ट (economist) ने बनाया है। इसमें कच्चे माल, खाने की चीजें तथा अधबने माल के मूल्य शामिल रहते हैं। अन्त में मूल्य-सतह को दृढ़ और टिकाऊ बनाने के लिये एक कोष्ठक-मान (tabular standard) बनाया जाता है, जिसमें मुख्य-मुख्य वस्तुओं के थोक मूल्य शामिल किये जाते हैं।

मुद्रा का मूल्य बढ़ना और घटना (Appreciation and Deprecation of Money)—जब मुद्रा का मूल्य बढ़ता है, तब सब वस्तुओं का मूल्य-सतह गिरता है। जब मुद्रा का मूल्य घटता है, तब सब वस्तुओं का मूल्य-सतह ऊंचा उठता है। इसलिये जब मुद्रा का मूल्य बढ़ता है, तब सूचक-अंक नीचे गिरते हैं और जब मुद्रा का मूल्य गिरता है, तब सूचक-अंक ऊपर उठते हैं।

मुद्रा का विस्तार और संकुचन (Inflation and Deflation)—मुद्रा के विस्तार और संकुचन के लिये कई विद्वान स्फीति और अस्फीति शब्दों का उपयोग भी करते हैं। परन्तु शब्द जो भी उपयोग किये जाय, उनके ठीक अर्थों के बारे में विद्वानों का मतभेद है। मुद्रा की स्फीति तब होती है "जब कभी मुद्रा की पूर्ति तथा चेकों द्वारा चलनेवाले बैंक जमा जिसे 'जमा मुद्रा' भी कहते हैं, विनिमय के साधन की मांग से अधिक बढ़ जाती हैं, जिससे आम वस्तुओं का मूल्य-सतह बढ़ जाता है।"[1] परन्तु विनिमय के साधन की मांग कितनी है, यह हम कैसे जानेंगे ? मांग तथा 'व्यवसाय की आवश्यकताएं'

---

[1] Kemmerer on Money, P. 46

हमे इस प्रश्न को समझने मे अधिक सहायता नही देती । व्यवसाय की आवश्यकताओ के सम्बन्ध मे अलग-अलग लोगो के अलग-अलग विचार होते है । केवल एक तरीका है, जिससे हम यह जान सकते है कि मुद्रा की पूर्ति व्यवसाय की आवश्यकताओ से अधिक बढी है या नही । वह तरीका यह है कि हमें यह देखना चाहिये कि मूल्य-सतह बढा है अथवा नही । परन्तु यह भी सभव है कि मुद्रा मे जो वढती होती है, वह सबकी सब स्फीति के कारण न हो । उत्पादन के खर्च की औसत सतह बढने से जब मूल्य में वृद्धि होती है, तब उस वृद्धि का कारण मुद्रा-स्फीति नही माना जा सकता । फिर, जैसा कई लेखको ने बतलाया है, मूल्यो मे बिना वृद्धि हुए भी मुद्रा-स्फीति हो सकती है । जब उत्पादन-खर्च कम होता है और कीमतें स्थिर रखी जाती है (जैसा कि अमेरिका में सन् १९२४-२९ मे हुआ था) तब देश में मुद्रा स्फीति के सब लक्षण प्रकट हो सकते है । इस परिस्थिति को कीन्स ने 'लाभ-स्फीति' (profit-inflation) कहा है और उसने इसे वस्तु-स्फीति (commodity inflation) अर्थात् कीमतो की वृद्धि से बिलकुल भिन्न माना है ।

प्रोफेसर पिगू ने "युद्धजनित स्फीति के प्रकार" नामक लेख में लिखा था कि "जब मुद्रा की आय का अनुपात उपार्जन सम्बन्धी कार्यों से कहीं अधिक बढ जाता है, तब मुद्रा-स्फीति की स्थिति पैदा हो जाती है ।"[1] जब मुद्रा की पूर्ति बढेगी तो ब्याज की दर घटेगी, जिससे पूजी का उपयोग अधिक होगा । जब देश में पूजी का उपयोग बढेगा तब उत्पादन के साधनों का उपयोग भी अधिक मात्रा में होगा । यह उपयोग तब तक बढता रहेगा, जब तक बेकार पडे हुए साधन भी काम में न लग जायगे। जब काम बढेगा अर्थात् उपार्जन सम्बन्धी कार्यों में वृद्धि होगी तब वस्तुओ और सेवाओ की मात्रा में वृद्धि होगी । इसलिये मुद्रा की आय में जो वृद्धि होगी उसका सतुलन वस्तुओ और सेवाओ में होनेवाली वृद्धि से हो जायगा । जब पूर्ण कार्यशीलता (full employment) की स्थिति आ जायगी, तब मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होने से भी मुद्रा की आय तो बढेगी, परन्तु न तो कार्यशीलता में अब कोई वृद्धि होगी, न उपार्जन सम्बन्धी कामों में और न वस्तुओं के उत्पादन में । तब उत्पादित वस्तुओं का मूल्य-सतह ऊपर बढने लगेगा और सच्ची मुद्रा-स्फीति आरम्भ हो जायगी ।

जब किसी बडे युद्ध का खर्च जुटाना पडता है, तब इस प्रकार की मुद्रा-स्फीति उत्पन्न होती है । युद्धकाल में कार्यशीलता अथवा कार्य-हस्तो की मात्रा में वृद्धि होती है और उसके कारण लोगो की मुद्रा-आय भी बढती है । इसलिये युद्धकाल में और उसके बाद के काल में मुद्रा-स्फीति की परिस्थितिया उत्पन्न होती है । इस प्रकार की स्फीति दो तरह से हो सकती है । पहला उत्पादन कम होने से यदि मूल्य बढते है और मूल्यो में वृद्धि होने के कारण

---

[1] *Economic Journal, Dec. 1941, p 439.*

यदि मजदूरी की दर भी बढ़ती है, तो उसके फलस्वरूप मुद्रा-स्फीति होगी। दूसरे यदि सरकार को युद्ध का खर्च चलाने के लिये करों और ऋणों के रूप में जनता से काफी रुपया नहीं मिलता, तो वह नई मुद्रा बनाने के लिये बाध्य होगी। इससे लोगों की मुद्रा-आय बढ़ेगी और साथ ही मुद्रा-स्फीति भी होगी।

मूल्य-सतह में परिवर्तनों के परिणाम[1] (Effects of Changes in the Price-Level)—मुद्रा के मूल्य में होनेवाले परिवर्तनों का यदि प्रत्येक व्यक्ति पर एक-सा प्रभाव पड़ता तो उसमें बहुत बड़ी कठिनाई न होती। परन्तु वास्तव में मूल्यों के परिवर्तन का विभिन्न वर्गों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता है। कीमतों में होनेवाले परिवर्तनों का प्रभाव मनुष्य पर मजदूर, व्यवसायी, हिस्सों और ऋण-पत्रों के स्वामी, कर्जदार साहूकार करदाता इत्यादि के रूप में पड़ता है और प्रत्येक रूप में उस पर भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ सकता है। फिर कीमतों की घटी-बढ़ी का प्रभाव सम्पत्ति के उत्पादन और वितरण पर कई प्रकार से पड़ता है तथा उत्पादन और वितरण पर प्रायः परस्पर विरोधी प्रभाव पड़ता है।

मूल्यों में परिवर्तन और सम्पत्ति का वितरण (Changes in Prices and Distribution of Wealth)—आज की दुनिया में प्रायः प्रत्येक मनुष्य या तो साहूकार है या कर्जदार और प्रत्येक रूप में उस पर अलग-अलग प्रभाव पड़ते हैं। जब कीमतें बढ़ती हैं, तब कर्जदारों को लाभ होता है और साहूकारों को हानि होती है। जब कीमतें बढ़ती हैं, तब मुद्रा की खरीदने की शक्ति कम हो जाती है। इसलिये यद्यपि साहूकारों को कर्जदार उतनी ही रकम लौटाते हैं, पर वस्तुओं के रूप में वे कम लौटाते हैं। इसके विरुद्ध, जब कीमतें गिरती हैं, तब कर्जदार नुकसान में रहते हैं और साहूकार लाभ में। कर्जदार साहूकार को तो उतनी ही रकम लौटाते हैं, पर वस्तुओं के रूप में वे अधिक लौटाते हैं, क्योंकि अब मुद्रा अधिक वस्तुएं खरीद सकती है। इसलिये जिस काल में कीमतें बढ़ती हैं, उस काल में बचत करनेवाला और लाभ पर पूंजी लगानेवाला वर्ग हानि में रहता है, परन्तु जब कीमतें गिरती हैं, तब यह वर्ग लाभ में रहता है। बढ़ती हुई कीमतों के काल में न केवल लोगों की बचत का मूल्य कम हो जाता है, परन्तु वह विश्वसनीय वातावरण नष्ट हो जाता है, जिससे रहने से लोगों में बचत करने की इच्छा होती है।

इसी प्रकार कोई आदमी मजदूर-पेशा हो सकता है अथवा व्यवसायी। यह तो सभी लोगों का अनुभव है कि जिस काल में कीमतें बढ़ने लगती हैं, उस काल में मजदूरी की दर कीमतों के बराबर नहीं बढ़ती। इसलिये मूल्य वृद्धि के काल में मजदूरी की खरीदने की शक्ति कम हो जाती है और यह समय मजदूर वर्ग के लिये बड़ा कठिन समय होता

[1] इस विषय पर कीन्स ने अपने 'A Tract on Monetary Reform' Chapter 1 में बहुत सुन्दर विवेचना की है।

है। इसके विरुद्ध जब कीमतें गिरती हैं, तब मजदूरी की दर उतनी नहीं गिरती और मजदूरवर्ग उसका लाभ उठाता है।

परन्तु इस तस्वीर का दूसरा पहलू भी है। मूल्य वृद्धि के काल में उत्पादक अच्छा मुनाफा उठाते हैं और अधिक लोगों को काम पर लगाते हैं। इसलिये ऐसे समय में यद्यपि मजदूरी की खरीदने की शक्ति कम हो जाती है, परन्तु मजदूर वर्ग को काम अधिक मिलता है। परन्तु जब कीमतें गिरती हैं, तब उत्पादकों को हानि होती है और वे उत्पादन कम कर देते हैं तथा कम लोगों को काम देते हैं। इससे बहुत से मजदूर बेकार हो जाते हैं। इस प्रकार यद्यपि वास्तविक मजदूरी की दर बढ़ती है, परन्तु बेकारी बढ़ने के कारण मजदूरी में प्राप्त मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है। परन्तु बढ़ती हुई कीमतों के काल में उत्पादकों को लाभ होता है और गिरती हुई कीमतों के काल में उन्हें हानि होती है। उनके लाभ के तीन कारण होते हैं। एक तो वे अधिकतर कर्जदार होते हैं और मूल्य-वृद्धि के समय कर्जदारों को लाभ होता है। दूसरे, वे कच्चे माल तथा अन्य सामान पुरानी और कम कीमतों पर खरीदते हैं और अपने माल को ऊंची दरों पर बेचते हैं। तीसरे, उनके लागत खर्च में मजदूरी तथा अन्य बंधे हुए खर्च उतने नहीं बढ़ते, जितनी कीमतें बढ़ती हैं। फल यह होता है कि उनके लाभ की मात्रा बढ़ जाती है, वे अपना उत्पादन कार्य अधिक बढ़ाते हैं तथा अधिक लोगों को काम देते हैं। जब कीमतें गिरती हैं तब इसका उलटा होता है। तब उन्हें लाभ की जगह हानि होती है। वे उत्पादन कम कर देते हैं, जिससे बेकारी फैलती है। इस प्रकार मूल्य वृद्धि के काल में उन लोगों का लाभ होता है, जिनकी आय व्यवसायियों के समान परिवर्तनशील होती है। परन्तु जिन लोगों की आय बंधी हुई रहती है, उनको हानि होती है। वेतन अथवा मजदूरी पानेवाले लोग, ब्याज कमानेवाले, तथा लाभ के लिये पूंजी लगानेवाले इस श्रेणी में आते हैं।

बढ़ती हुई मजदूरी तथा अधिक काम के काल

उत्पादन पर मूल्य परिवर्तन का प्रभाव (Effect of Price Changes on Production)—मूल्य वृद्धि काल में कीमतों में जो परिवर्तन होते हैं, उनसे व्यवसाय-जगत में खतरे और अनिश्चितता बढ़ जाती है। इससे उत्पादन कार्यों में बाधा पड़ती है। खतरे बढ़ने का अर्थ यह होता है कि जो लोग खतरा उठाते हैं, वे समाज से मुनाफा के रूप में अधिक कर या लाभ वसूल करेंगे। परन्तु यदि कीमतें स्थिर रहती हैं, तो खतरे भी कम रहेंगे और तब खतरा उठाने की कीमत या फीस भी कम रहेगी। फिर मूल्य वृद्धि-काल में व्यवसाय को अनावश्यक उत्तेजना मिलती है। व्यवसायी बहुत अधिक लाभ पैदा करते हैं। वे उत्पादन में अधिक पूंजी लगाते हैं और उत्पादन के साधन भी अधिक मात्रा में बनाते हैं। अन्त में बाजार में माल की मात्रा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उसे लाभ पर बेचना सम्भव नहीं होता। तब व्यवसायियों को नुकसान होने लगता

हैं और वे उत्पादन कम करने लगते हैं। तब कीमतें गिरने लगती हैं और बेकारी फैलती है। इस प्रकार मूल्य-वृद्धि काल में उत्पादन को अनावश्यक उत्तेजना मिलती है और गिरते हुए मूल्यों के काल में व्यवसायों को अनावश्यक मंदी का सामना करना पड़ता है।

मूल्य-परिवर्तन, कर और सार्वजनिक ऋण (Price changes, Taxation and Public Debt)—मूल्य-वृद्धि काल में करदाताओं को लाभ होता है, क्योंकि चाहे उन्हें कर के रूप में कुछ अधिक रुपया भले ही देना पड़े परन्तु वस्तुओं के रूप में उन्हें पहले की अपेक्षा कम देना पड़ता है। आय-कर दाताओं को भी लाभ होता है क्योंकि कर में वे जो रुपया देते हैं उसका मूल्य उस आय से कम है जो उन्होंने पहले कमाई थी। भूमि कर में भी कमी होती है क्योंकि जो लोग कर देते हैं, वे अब वस्तुओं के मूल्य में कम देते हैं। कर के क्षेत्र में इस प्रकार की असमानताओं के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। इसके सिवा बढ़ती हुई कीमतें देशी और विदेशी दोनों प्रकार के सार्वजनिक ऋणों का वास्तविक भार कम कर देती हैं और गिरती हुई कीमतें उनका भार बढ़ा देती हैं।

मूल्य-परिवर्तन के सामाजिक परिणाम (Social Consequences of Price-changes)—अभी तक हम आर्थिक परिणामों पर विचार करते रहे हैं। परन्तु सामाजिक परिणाम कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। अस्थिर मूल्यों के समय भारी सामाजिक उथल-पुथल होती है। यह संकट का समय होता है। जब कीमतें बढ़ती हैं, तब मजदूर पेशा अपनी मजदूरी बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि उनका रहन-सहन का खर्च बढ़ जाता है। इसके फलस्वरूप मूल्य वृद्धि के काल में प्रायः हड़तालें होती रहती हैं। जब कीमतें गिरती हैं, तब उत्पादक मजदूरी की सतह को नीचे गिराना चाहते हैं। यह मजदूरों और उद्योगपतियों के बीच संघर्ष का दूसरा कारण होता है। प्रायः मजदूरों और मालिकों में खुला संघर्ष होता है। बेकारी से समाज में संकट और संघर्ष उत्पन्न होता है और बढ़ता है। बढ़ती हुई कीमतों के समय मजदूर हड़ताल करते हैं और घटती हुई कीमतों के समय उत्पादक हड़ताल करते हैं।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि घटती हुई कीमतों तथा बढ़ती हुई कीमतों दोनों के समय हानिकारक हैं। मुद्रा स्फीति से पूंजी लगानेवालों तथा मजदूर दोनों की वास्तविक आय घटती है। और ये दोनों समाज के प्रधान वर्ग हैं। यह उत्पादन कार्यों को अस्वास्थ्यकर रूपों में बढ़ाता है, जिससे जल्दी संकट उत्पन्न होता है। मुद्रा संकुचन से उत्पादकों को हानि होती है और उत्पादन कार्यों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इससे बेकारी बढ़ती है और उसके सामाजिक और आर्थिक प्रभाव बहुत हानिकारक तथा दुःखद होते हैं। यदि मूल्य-सतह स्थिर रहे तो ये दोनों बुराइयां दूर की जा सकती हैं। उद्योग में भी मालिकों और मजदूरों में अच्छे सम्बन्ध बने रहेंगे। इसलिये सबसे अच्छा यह होगा कि मुद्रा के मूल्य में अनावश्यक परिवर्तन न हों।[1]

---

१ इस सम्बन्ध में अधिक विवेचना के लिये [illegible]वां अध्याय देखिये।

तैंतीसवां अध्याय

मुद्रा का मूल्य तथा परिमाण सिद्धान्त

(*The Value of Money and the Quantity Theory*)

मुद्रा का मूल्य उसी प्रकार निश्चित होता है, जिस तरह किसी भी अन्य वस्तु का। अर्थात् मुद्रा का मूल्य उसकी माग और पूर्ति के आधार पर निश्चित होता है। जिस प्रकार किसी भी वस्तु का मूल्य माग और पूर्ति के सिद्धात के अनुसार निश्चित होता है, उसी प्रकार मुद्रा की इकाइयो का मूल्य भी उसी सिद्धान्त के अनुसार निश्चित हो सकता है। परन्तु मुद्रा में माग के पक्ष में तथा पूर्ति के पक्ष में कुछ ऐसी विशेषताएँ है, जिनके कारण मुद्रा के मूल्य का सिद्धान्त अपना एक वर्ग बना लेता है। हम यहा उन विशेषताओ पर विचार करेंगे।

मुद्रा का मूल्य उसकी माग तथा पूर्ति के आधार पर निश्चित होता है। इसलिये मुद्रा की माग और पूर्ति की व्याख्या करनी आवश्यक है। लोग मुद्रा की माग क्यों करते है? मुद्रा विनिमय का माध्यम है और लोगो को जब कभी विनिमय करने की आवश्यकता पड़ती है, तब वे मुद्रा की माग करते है। इसलिये वस्तुओं की जो मात्रा बिक्री के लिये आती है, उसके आधार पर मुद्रा की माग की जाती है। परन्तु जो वस्तुए स्वय उत्पादको द्वारा उपभोग की जाती है (जैसे किसान स्वय उपज के एक भाग का उपभोग करते है) वे मुद्रा की माग नहीं बढाती। इसलिये मुद्रा की वह कुल मात्रा जो बिक्री के लिये आई हुई वस्तुओं के खरीदने के उपयोग में आती है, मुद्रा की पूर्ति कहलाती है।

बिक्री के लिये आई हुई वस्तुओं की मात्रा के आधार पर मुद्रा की मांग होती है।

इसलिये जो मुद्रा सचित करके रखी जाती है और जिसका उपयोग वस्तुओं के खरीदने में नहीं होता, उस पर हम यहा विचार नहीं करेंगे। मुद्रा की पूर्ति सिक्को, कागज के नोटो तथा बैंको की जमा से भिन्न होती है। मुद्रा के प्रत्येक टुकडे अथवा इकाई का एक निश्चित काल में वस्तुओ के खरीदने में कई बार उपयोग किया जा सकता है। वस्तुओं के खरीदने में प्रत्येक सिक्के का जितनी बार उपयोग किया जाता है, उसमें से प्रत्येक बार वह मुद्रा की पूर्ति बढाता है। एक निश्चित काल में औसत रूप से सिक्के जितनी बार उपयोग किये जाते है, उसे मुद्रा के चलन का वेग (velocity of circulation of money) कहते है। इसलिये चलन में जो मुद्रा है (इसमें सिक्के,

कागज के नोट तथा बैंकों का जमा भी शामिल है) उसकी कुल मात्रा में उसके औसत चलन का गुणा करने से जो गुणनफल प्राप्त होगा, वह मुद्रा की पूर्ति होगा। यह मुद्रा की पहिली विशेषता है। जब मुद्रा की विभिन्न इकाइयो के चलन का वेग बढेगा तो उसकी पूर्ति भी बढ जावेगी। परन्तु यदि आलू और जूते एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास पहिले की अपेक्षा अधिक जाने लगें तो यह नही कहा जा सकता कि उनकी पूर्ति बढ गई।

ये दो बाते अर्थात् मुद्रा की माग और पूर्ति उसका मूल्य अर्थात् मूल्य-सतह निश्चित करती हैं। परन्तु अन्य किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में भी ऐसा ही होता है। लेकिन मुद्रा तथा अन्य वस्तुओ के बीच में एक महत्वपूर्ण अन्तर है।

मुद्रा की मांग की लोच साम्य के बराबर होती है

मुद्रा की माग की लोच साम्य (unity) के बराबर होती है। परन्तु अन्य वस्तुओ की माग की लोच साम्य के बराबर होनी आवश्यक नही है। इसके दो कारण है। पहिला यह कि एक निश्चित काल में मुद्रा की माग लगभग स्थिर रहती है। किसी काल में माल की जो मात्रा बिक्री के लिये आती है, वह उत्पादन की कुल मात्रा पर निर्भर होती है। उत्पादन की कुल मात्रा उत्पादन के साधनो की दक्षता, सगठन इत्यादि पर निर्भर करती है, मुद्रा के मूल्य पर नही। इसलिये जब मुद्रा की पूर्ति बढती है, तब यह आवश्यक नही है कि उत्पादन की मात्रा तथा बिक्री पर आनेवाले माल की भी मात्रा बढे। चूंकि किसी निश्चित काल में मुद्रा की माग (अर्थात् बिक्री के लिये माल की मात्रा) वही रहती है, इसलिये चलन की मुद्रा की मात्रा दुगुनी होने पर मूल्य-सतह भी दुगुनी हो जावेगी। दूसरे शब्दो में मुद्रा का मूल्य ठीक आधा हो जायगा। दूसरे मुद्रा के चलन का वेग लोगो की आदतो तथा व्यवसाय के तरीको पर निर्भर होता है। इसलिये किसी निश्चित काल में वह स्थिर रहने की प्रवृत्ति दिखलाता है। इसलिये मुद्रा की मात्रा में जो परिवर्तन होंगे, ठीक उसी अनुपात में मूल्य सतह में भी परिवर्तन होंगे। दूसरे शब्दों में मुद्रा की माग की लोच साम्य के बराबर होती है। परन्तु जब (मान लो) सन्तरो की पूर्ति दुगुनी हो जाती है, तब उनका मूल्य पहिले की अपेक्षा आधा नही हो जायगा और लोग पहिले की अपेक्षा सतरो की खरीद दुगुनी नही कर देगें।

यही मुद्रा का प्रसिद्ध परिमाण सिद्धान्त है। मूल रूप में इस सिद्धान्त को इस प्रकार कहेंगे कि यदि बिक्री के लिये आये हुए माल की मात्रा स्थिर रहे अर्थात् यदि मुद्रा की माग स्थिर रहे तो मूल्य-सतह में चलन के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा के सीधे अनुपात में परिवर्तन होता है। अर्थात् जैसा परिवर्तन मुद्रा की मात्रा में होगा, वैसा मूल्य-सतह में होगा। मुद्रा का अर्थ केवल सिक्के और कागजी नोट है। इस सिद्धान्त के बनाने में मुद्रा-चलन के वेग का भी ध्यान रखा गया था कि एक निश्चित काल में एक सिक्के का लेन-देन में कितनी बार उपयोग होता है। इसे हम बीजगणित के समीकरण के रूप में भी कह सकते हैं। यदि मूल्य सतह प है और मुद्रा की मात्रा म है तथा उसके चलन का वेग व है एव

व्यवसाय की मात्रा ट है, तो मुद्रा की मात्रा म तथा उसके चलन के वेग व में व्यवसाय की मात्रा ट का भाग देने से मूल्य सतह प मालूम हो जायगा। अर्थात्

$$प = \frac{म\ व}{ट} \text{ होगा।}$$

परन्तु जब यह सिद्धान्त बना, तब यह भी देखा गया कि उन्नतिशील देशों में माल की खरीद में साख का उपयोग किया जाता है। तब इस सिद्धान्त में परिवर्तन किया गया और उसमें जमा की मात्रा तथा उसके चलन के वेग का भी समावेश किया गया, तब फिशर* इस सिद्धान्त को बीजगणित के समीकरण के रूप में इस प्रकार रखा।

$$प = \frac{म\ व + म^{1}\ व^{1}}{ट}$$

प मूल्य-सतह बतलाता है। म चलन के अन्तर्गत मुद्रा बतलाता है। इसमें सिक्के और कागजी नोट शामिल हैं। परन्तु बैंकों के सुरक्षित कोष तथा अन्य प्रकार की संचित मुद्रा शामिल नहीं है। व मुद्रा के चलन का वेग बतलाता है। $म^{1}$ बैंक-जमा की वह मात्रा है जो चेक द्वारा निकाली जा सकती है। $व^{1}$ बैंक-जमा के चलन का वेग है। किसी एक काल में चेकों द्वारा निकाली जानेवाली कुल जमा की मात्रा में चेकों द्वारा दी गई कुल मात्रा का भाग देने से $व^{1}$ प्राप्त होता है। ट से सब प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं के व्यवसाय की उस कुल मात्रा का बोध होता है, जो मुद्रा द्वारा बेची गई। किसी निश्चित काल में और साधारण परिस्थितियों में ट, व और $व^{1}$ स्थिर रहते हैं। वे मुद्रा की मात्रा पर निर्भर नहीं रहते। प अर्थात् मूल्य सतह में म और $म^{1}$ की मात्रा के ठीक सीधे अनुपात में परिवर्तन होता है।

इस समीकरण में दो बातें प्रधान हैं। पहिला यह कि प अर्थात् मूल्य-सतह में तब परिवर्तन होता है, जब मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होता है, नहीं तो नहीं होता। दूसरी यह कि मूल्य-सतह ठीक उसी अनुपात में बदलती है, जिसमें कि मुद्रा की मात्रा बदलती है। फिशर का मत है कि मुद्रा की जमा-रकम की मात्रा का सुरक्षित नकद जमा की मात्रा से लगभग एक स्थायी अनुपात में सम्बन्ध रहता है। चूंकि जमा को किसी भी समय नकद में परिवर्तन किया जा सकता है, इसलिये जमा बनाना इस बात पर निर्भर रहता है कि बंकों के पास सुरक्षित नकद रकम कितनी है। सुरक्षित नकद रकम का जमा के साथ अनुपात लगभग एक-सा या स्थायी होता है। $म^{1}$ का म अर्थात् कानून ग्राह्य मुद्रा के साथ एक स्थायी सम्बन्ध होता है। हम देख चुके हैं कि एक निश्चित समय में व और ट लगभग स्थायी रहते हैं। इसलिये म में परिवर्तन होने से मूल्य-सतह में भी सीधे उसी अनुपात में परिवर्तन होंगे। फिशर इस बात को अस्वीकार नहीं करता कि मुद्रा की मात्रा में

* Fisher The Purchasing Power of Money, pp. 142–155.

परिवर्तन होने से मुद्रा के चलन के वेग में अथवा खरीद और बिक्री की मात्रा में भी परिवर्तन होंगे। परन्तु ऐसी परिस्थितियाँ या तो अस्थायी होती हैं या असाधारण। साधारण परिस्थितियों में दीर्घकाल में मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने से मूल्य-स्तर में भी उसी अनुपात में परिवर्तन होंगे।

आलोचना

इस सिद्धान्त की एक प्रधान आलोचना यह है कि यह सिद्धान्त यह मान लेता है कि अन्य वस्तुएं स्थायी या एक-सी रहती हैं। परन्तु अन्य वस्तुएं एक-सी नहीं रहतीं। लेकिन केवल इस तर्क के आधार पर इस सिद्धान्त को अस्वीकार करना उचित नहीं है कि अन्य वस्तुएं भी बदल सकती हैं। जितने वैज्ञानिक सिद्धान्त हैं, वे सब इस अनुमान पर आधारित हैं कि अन्य सब बातें यथावत् रहती हैं। यदि हम यह सिद्ध कर दें कि मुद्रा की मात्रा अथवा मूल्य-स्तर में परिवर्तन होने से (समीकरण में केवल इन्हीं दो बातों में परिवर्तन होता है) अन्य वस्तुओं में अवश्य परिवर्तन होगा, तो हम परिमाण सिद्धान्त को त्रुटिपूर्ण कह सकते हैं। इसलिये यह देखना आवश्यक है कि क्या वास्तव में ऐसा होता है। फिशर के समीकरण में मुद्रा के चलन के वेग में तथा व्यवसाय की मात्रा पर मुद्रा की मात्रा तथा मूल्य-स्तर में परिवर्तन होने से कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु वास्तविक जीवन में व और ट दोनों म और प से स्वतन्त्र नहीं हैं। मुद्रा के चलन के वेग का मूल्य-स्तर में होनेवाले परिवर्तनों से निकट सम्बन्ध है। जिस काल में व्यवसाय तेजी पर होता है और कीमतें बढ़ती हैं, उस काल में चलन का वेग बढ़ जाता है और व्यावसायिक मंदी तथा गिरते मूल्यों के समय में चलन का वेग कम हो जाता है। फिर मुद्रा की मात्रा में होनेवाले परिवर्तनों का प्रभाव व पर भी पड़ता है। ट अर्थात् व्यवसाय की मात्रा पर भी मूल्य-स्तर के परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है। व्यवसाय-चक्रों के हाल में जो अध्ययन हुए हैं, उनसे निश्चित रूप से यह पता चल जाता है कि उत्पादन की मात्रा निश्चित करने में कीमतों का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। मुद्रा की मात्रा भी समीकरण के अन्य अंशों से स्वतन्त्र नहीं है। व्यवसाय की मात्रा तथा मूल्य-स्तर में जो परिवर्तन होते हैं, कुछ हद तक उनका प्रभाव भी उस पर पड़ता है। फिशर का यह अनुमान कि म' का म से हमेशा एक-सा सम्बन्ध रहता है, आंकड़ों के आधार पर सच नहीं ठहरता। म और म' में हमेशा एक-सा सम्बन्ध नहीं रहता। फिशर इन सब बातों को मानता है। लेकिन इन सबके लिये उसका जवाब यह है कि अन्य बातों अथवा अंशों में ये सब परिवर्तन अल्पकालों में अथवा परिवर्तन के कालों में होते हैं, जो कि अस्थायी होते हैं। दीर्घकाल में वे लगभग एक से अथवा यथावत् रहते हैं। लेकिन जैसा कि कीन्स ने कहा है, दीर्घकाल में तो हम सब मर भी सकते हैं। मुद्रा का जो सिद्धान्त व्यवसाय-चक्रों पर विचार नहीं करता, उसकी उपयोगिता के बारे में हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं।

दूसरे, यह कहा गया है कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन का परिणाम केवल मूल्य-

सतह में आनुपातिक परिवर्तन नहीं होता, जैसा कि फिशर के समीकरण में बतलाया गया है। केवल कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में मुद्रा की मात्रा दुगुनी होने से मूल्य-सतह दुगुना होगा। साधारणतः मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन का प्रभाव "कई प्रकार की धाराओं के रूप में होता है जिनका असर मूल्यों और उत्पादन पर पड़ता है, तथा वास्तविक साधनों को अपने हाथ में रखने की समाज की जो इच्छा होती है, उस पर भी उन धाराओं का प्रभाव पड़ता है।" जब तक कुछ साधन बेकार रहते हैं, तब तक ऐसा होगा कि मुद्रा की मात्रा बढ़ने पर ये साधन उत्पादन में आ जायगे और सम्भव है कि कीमतें बिलकुल न बढ़ें। इसलिये मुद्रा की मात्रा और मूल्य-सतह में जो परिवर्तन होते हैं, उनमें हमेशा आनुपातिक सम्बन्ध नहीं होता।

तीसरे, मुद्रा की मात्रा में परिवर्तनों का प्रभाव मूल्य सतह पर जिन विधियों से पड़ता है, इस बात को अर्थात् उन विधियों को यह सिद्धान्त अच्छी तरह नहीं समझाता। जिन बातों के द्वारा मूल्य-सतह निश्चित होता है, उनको अलग से जानने में यह हमारी सहायता नहीं करता। "मुद्रा सिद्धान्त की मूल समस्या केवल ऐसे समीकरण बनाना नहीं है, जो मौद्रिक वस्तुओं की मात्रा का सम्बन्ध उन व्यावसायिक वस्तुओं से बतलावे, जिनका व्यवसाय मुद्रा द्वारा होता है। उस सिद्धान्त का वास्तविक काम समस्या पर सब प्रकार से विचार करना है।"[1] मुद्रा की मात्रा में होनेवाले परिवर्तनों का मूल्यों पर सीधा या प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता। पहिले उनका असर ब्याज की दर पर पड़ता है और मूल्यों तथा उत्पादन पर ब्याज-दर द्वारा प्रभाव पड़ता है।

परन्तु सबसे बड़ी आलोचना यह है कि फिशर का समीकरण मुद्रा की खरीदने की शक्ति नहीं मापता। वह मुद्रा द्वारा होनेवाले सब प्रकार के सौदों का औसत-मूल्य निश्चित करता है। T में जितने प्रकार के व्यावसायिक लेन-देन शामिल हैं, उनमें से अधिकांश उद्योग, व्यवसाय और पूंजी सम्बन्धी हैं। जब कि मुद्रा की खरीदने की शक्ति से हमारा संकेत राष्ट्रीय उपभोग में खरीदे जानेवाले सामानों और सेवाओं से रहता है। इस प्रकार के सौदे फिशर के समीकरण में सम्मिलित कुल सौदों के बहुत थोड़े अंश होते हैं। इसलिये यह समीकरण मुद्रा की खरीदने की शक्ति नहीं मापता, बल्कि नकद सौदों का प्रमाप (cash-transactions standard) मापता है।

वह मुद्रा की खरीदने की शक्ति नहीं मापता

कुछ लेखकों ने इस सिद्धान्त को दूसरे रूप में रखा है। उनका मत है कि मुद्रा की मांग वस्तुओं की उस मात्रा पर निर्भर नहीं करती, जिसकी बिक्री मुद्रा में होगी। "बल्कि वह लोगों की मुद्रा रखने की इच्छा और योग्यता पर निर्भर करती है। यह उसी तरह

---

१ Keynes A Treatise on Money, Volume 1, p. 133.

होता है, जिस तरह कि मकानों की माग के सम्बन्ध में हम उन लोगों का विचार नही करते, जो कि मकान खरीदते हैं और फिर बेच देते हैं, अथवा उन्हें किराये पर उठाते हैं, स्वय किराये पर लेकर उन्हें फिर किराये पर उठा देते हैं। बल्कि हम उन लोगों का विचार करते हैं, जो स्वय मकानों में रहते हैं।" एक व्यक्ति अपनी आय का एक अश या अनुपात या तो नकद रूप में अपने पास रखना चाहता है या बैंक-जमा के रूप में रखना चाहता है जिससे कि वह अपना खर्च चला सके और आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग कर सके। इसी प्रकार एक व्यवसायी और एक उद्योगपति अपने हाथ में चालू खर्च के लिये कुछ रकम रखना चाहते हैं। इस प्रकार के कामों के लिये जो रकम रखी जाती है, उसकी कुल मात्रा मुद्रा की माग होती है। मुद्रा की पूर्ति, सिक्का की मात्रा, कागज के नोटों और बैंकों के जमा से बनती है, उस मात्रा से नहीं, जो वास्तव में चलन में है। यह विचार नया नही है। मार्शल ने बतलाया है कि मुद्रा की माग का यह विचार पैटी, लॉक और कैन्टीलन के लेखों और ग्रन्थो में पाया जाता है।

सन् १९२३ में कीन्स* का 'ट्रैक्ट ऑन मानिटरी रिफॉर्म' प्रकाशित हुआ। उसमें उसने इस विचार अथवा सिद्धान्त के आधार पर एक समीकरण दिया। उसने अपने सिद्धान्त का प्रारम्भ इस प्रकार किया कि लोग खरीदने की शक्ति की कुछ मात्रा अपने हाथ में रखना चाहते हैं, जिससे वे कुछ 'उपभोग की इकाइयां' खरीद सकें। इन इकाइयों में "उनकी (जनता की) निश्चित मात्रा की उपभोग की कई वस्तुए" शामिल होती है अथवा "कई वस्तुए, जिन पर खर्च किया जाता है" शामिल रहती है। मान लो क उपभोग की इकाइयों की वह सख्या है, जिसे लोग नकद रूप में अपने पास रखना चाहते हैं। क' ऐसी इकाइयों की वह सख्या है, जिसे लोग बैंक में रखते है। इसलिये क' वह कुल बैंक जमा है, जो बैंक द्वारा निकाली जा सकती है। मान लो, र सुरक्षित नकद जमा का वह अनुपात है, जिसे बैंक अपनी जमा के सबध में रखते हैं। न चलन में जितनी मुद्रा है, उसकी कुल मात्रा बतलाता है और प उपभोग की एक इकाई या मूल्य बतलाता है। इसलिये

न=प (क+र क')

इस विचार शैली का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें उस भद्दे तर्क की आवश्यकता नही पड़ती कि मुद्रा की माग वस्तुओ पर निर्भर रहती है। यह सिद्धान्त चलन के वेग पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं करता। चलन का वेग एक गढ कर बनाया गया विचार जैसा लगता है। बल्कि यह सिद्धान्त कहता है कि मूल्य-सतह लोगों की आदतों पर निर्भर रहता है और इन आदतों में विशेषता यह रहती है कि लोग अपनी आय का एक अनुपात खरीदने की शक्ति के रूप में अपने हाथ में रखना चाहते हैं, जिससे वे चाहे जब उसका उपयोग कर सकें। इन आदतों से हम यह समझ जाते हैं कि बैंक अपने सुरक्षित कोषों

* See Tract on Monetary Reform, pp. 84-88

की मात्रा के सम्बन्ध में जो निर्णय करते हैं तथा आय करनेवाले जब यह निर्णय करते हैं कि उनकी आय का कितना अश नकद के रूप में उनके पास रहेगा और कितना बैंक में जमा होगा, तो इन निर्णयो का मूल्यो के निश्चित होने में क्या प्रभाव पडेगा। परन्तु इस *विचारशैली का सबसे बडा दोष यह है कि कीन्स के समीकरण में क और क'की परिमिति आकडो के आधार पर निश्चित रूप से नही जानी जा सकती।*

ध्यान रहे कि फिशर के समीकरण और केम्ब्रिज अर्थात् कीन्स के समीकरण में इतना मौलिक भेद नही है, जितना साधारणत माना जाता है। ये दो प्रकार के समीकरण एक ही वस्तु के दो अलग-अलग दृष्टिकोण अथवा मत बतलाते हैं।

फिशर और केम्ब्रिज समीकरणों में सम्बन्ध

केम्ब्रिज समीकरण मुद्रा की उस मात्रा पर ध्यान देता है, जो एक निश्चित समय में व्यक्तियो के हाथ में भविष्य के लेन-देन के लिये रहती है। (राबर्टसन इसे "बैठी हुई मुद्रा" कहता है।) फिशर का समीकरण मुद्रा की उस मात्रा पर ध्यान देता है, जो किसी निश्चित *समय में समाज के लेन-देन के लिये आवश्यक समझी जाती है। राबर्टसन इसे ('उडती हुई मुद्रा कहता है।')* पहला समीकरण समय का एक बिन्दु (a point of time) बतलाता है और दूसरा समीकरण समय की एक लम्बाई (a period of time) की ओर सकेत करता है।

लेकिन परिमाण के सिद्धान्तो की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण आलोचना यह है कि एक व्यवसाय चक्र के काल में मूल्य-सतहो में जो परिवर्तन होते है, उन्हें वे सतोषपूर्वक नहीं समझाती। इस सिद्धान्त के अनुसार मूल्य-सतह में जितने परिवर्तन होते है, वे सब मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तनो के कारण होते है और गिरती हुई कीमतो के काल में एकमात्र *उपाय यह है कि मुद्रा की मात्रा बढा दी जाय। सन् १९२९ के बाद जब ससार भर में* एकदम से कीमतें गिरने लगी, तब प्राय सब सरकारो ने मुद्रा की मात्रा बढाकर इस गिरावट को रोकने के प्रयत्न किये। परन्तु मुद्रा की मात्रा बहुत अधिक बढा देने पर भी कीमते गिरती गयी। मुद्रा की मात्रा बढने पर भी कीमतें नही बढी।

दूसरे, *जब तजी का समय समाप्त होता है और मदी शुरू होती है, तो वह मुद्रा की* कमी के कारण शुरू नही होती। देश में खरीदने की शक्ति की कमी होने के बहुत पहले कीमतो का बढना रुक सकता है। प्राय यह देखा जाता है कि मदी तथा गिरती हुई कीमतो के समय में लोगो के पास खरीदने की शक्ति बहुत होती है तथा बैंको में जमा *रकम भी बहुत होती है। परन्तु इनके होते हुए भी मदी तथा गिरती कीमतो का समय* बना रहता है। यह नहीं कहा जा सकता कि मदी का अन्त तथा कीमतो का उठना मुद्रा के पक्ष में काम करनेवाले कारणो से होता है। अन्त में हम यह नही कह सकते कि मुद्रा की मात्रा हमेशा मूल्य-सतह निश्चित करती है। बल्कि स्वय मुद्रा की माग मूल्य-सतह की ऊचाई तथा उसके परिवर्तनो की प्रवृत्तियों पर निर्भर रहती है। मूल्य-सतह में परि-

वर्तन तथा चलन के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा दोनो ही एक साथ अन्य बातो द्वारा निश्चित होती हैं। परिमाण-सिद्धान्त के आधार पर इन सब बातों की विवेचना भली-भाँति अभी तक नही की गई है।

कीमतों में अल्पकालीन परिवर्तन किन कारणों से होते हैं (Factors Governing Short-Period Changes in Prices)—ये अन्य बातें कौन-सी हैं ? आधुनिक अर्थशास्त्री कीमतो में होनेवाले परिवर्तन बचत (saving) तथा लाभ पर लगनेवाली पूंजी (investment) के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर समझाते हैं। एक निश्चित काल में उपभोग की वस्तुओ पर खर्च करने के बाद मुद्रा आय का जो अंश बच रहता है, उसे बचत कहते हैं। एक व्यक्ति एक निश्चित समय में एक निश्चित मुद्रा आय प्राप्त करता है। या तो वह पूरी आय उपभोग की वस्तुएं खरीदने में खर्च कर सकता है। अथवा इन वस्तुओं पर वह अपनी आय का केवल एक अंश खर्च करेगा और बाकी बचा लेगा। पूरे देश के लोगो द्वारा इस प्रकार की जो बचत की जाती है, वह बचत की कुल मात्रा होती है। जब पूरा देश पहले की अपेक्षा अपनी आय का अधिक अंश बचाने का निश्चय कर लेता है, तब उपभोग की वस्तुओ पर उसका खर्च कम हो जाता है। मान लो लोगो की मुद्रा आय का कुल जोड़ १,००० करोड़ रुपया होता है, जिसमें से लोग २०० करोड़ रुपया बचाते थे और ८०० करोड़ रुपया उपभोग की वस्तुओं पर खर्च करते थे। अब लोगो की अधिक बचत करने की इच्छा बढ़ती है और वे ३०० करोड़ रुपया बचाने लगते हैं। अर्थात् अब वे ८०० करोड़ के बदले केवल ७०० करोड़ रुपया उपभोग की वस्तुओ पर खर्च करते हैं। चूंकि अभी ऐसी कोई बात नहीं हुई है, जिससे इन वस्तुओ की मात्रा में परिवर्तन हो, इसलिये उनकी कीमतें अवश्य गिरेंगी। इसलिये प अर्थात् उपभोग की वस्तुओ का मूल्य-सतह इ—स = प समीकरण द्वारा निश्चित होता है। *इसमें इ लोगो की आय की कुल मात्रा बतलाती है और स बचत की मात्रा* बतलाता है। यहां हमें एक बात पर ध्यान देना चाहिये। जब कोई व्यक्ति अपनी आय का अधिकतर भाग बचाने का निश्चय करता है, तो उसकी बचत की मात्रा बढ़ जाती है। परन्तु इससे कुल बचत की कुल मात्रा नही बढ़ेगी। जब एक व्यक्ति बचत करता है, तो किसी अन्य व्यक्ति की आय कम होती है। सम्भवतः किसी वस्तु अथवा सेवा के विक्रेता की आय कम होती है। एक आदमी का खर्च दूसरे आदमी की आय होती है। जब एक आदमी वस्तुएं खरीदने पर मुद्रा खर्च करता है, तो उससे वस्तु विक्रेताओ की आय बढ़ जाती है। वह अपने नौकर अथवा रसो-इया को जो वेतन देता है, वह उसका तो खर्च है, परन्तु उन लोगो की आय है। इसलिये एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियो का एक समूह जब पहले की अपेक्षा कम खर्च करता है, तब उससे अन्य व्यक्तियों की आय कम हो जाती है। तब इन लोगो को लाचार होकर

21

इसके विपरीत क्रिया होगी । अर्थात् बेकारी बढ़ेगी, लोगों की मुद्रा-आय घटेगी और उपभोग की वस्तुओं पर खर्च घटेगा । इससे विनियोग में और कमी होगी । क्योंकि उपभोग की वस्तुएं बनानेवाले इन वस्तुओं को बनाने की मशीनें, औजार तथा अन्य उत्पादक साधन कम मात्रा में खरीदेंगे । इस प्रकार एक कुचक्र आरम्भ होता है । बेकारी अर्थात् कार्यशीलता और मुद्रा-आयो में और अधिक कमी होगी । फलत: कीमतें गिरने लगती है ।

इसलिये किसी निश्चित काल में कीमतें बचत करने की प्रवृत्ति तथा विनियोग की मात्रा पर निश्चित रहती है । परन्तु पहली चीज अर्थात् बचत करने की प्रवृत्ति प्राय अधिक दृढ़ तथा स्थिर होती है, क्योंकि वह लोगों की आदतों पर निर्भर होती है । इसलिये मूल्य-सतह निश्चित करने में सबसे महत्त्वपूर्ण चीज विनियोग की मात्रा होती है । वह साधनों के उपयोग अर्थात् बेकारी तथा मुद्रा-आय के जरिये कीमतों पर प्रभाव डालती है ।

ध्यान रहे कि इसका अर्थ यह नहीं है कि कीमतों में परिवर्तन बचत में विनियोग की अपेक्षा कमी या बेशी के कारण होते हैं । बचत की कुल मात्रा हमेशा विनियोग की मात्रा के बराबर होती है । यह परिणाम निश्चित है, आप इसे नही टाल सकते । मान लो इ उत्पादन की वह कुल मात्रा बतलाती है, जो उपभोग की वस्तुओ तथा उत्पादक वस्तुओ के उत्पादन से प्राप्त होती है । अर्थात् इ=च (उपयोग की वस्तुओ से आय)+ह (उत्पादक वस्तुओ से आय) । च अर्थात् उपभोग की वस्तुओं से आय उस खर्च के बराबर होनी चाहिये, जो कि लोग उन वस्तुओ पर करते है । और यह खर्च इ—स के बराबर है, जब कि स बचत की मात्रा बतलाता है ।

वास्तविक बचत और विनियोग हमेशा एक बराबर होते हैं

अब इ=च+ह

अथवा इ—च=ह

चूंकि च=इ—स

इसलिये इ—(इ—स)=ह

अथवा स=ह

दूसरे शब्दों में बचत हमेशा विनियोग के बराबर होगी । यह परस्पर विरोधी-सा लग सकता है । यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कोई मनुष्य जैसी बचत करता है, उसी अनुपात में विनियोग भी बढ़ेगा । इसलिये साधारण मनुष्य यह समझता है कि बचत और विनियोग बराबर न होंगे । परन्तु वास्तव में ऐसा नही है । मान लो व्यक्तियों का एक समूह पहले की अपेक्षा अब अधिक बचत करता है, तब वह पहले की अपेक्षा उपभोग की वस्तुएं भी अब कम खरीदेंगे । अब इन वस्तुओं के विक्रेताओं

के पास माल जमा होता जाता है। दूसरे शब्दो में माल में उनका विनियोग उसी मात्रा में बढता है, जिसमें कि बचत होती है। फिर जैसा कि हम पहले कह चुके है, एक समह की बचत बढने से उपभोग की वस्तुओ की बिक्री घटेगी, इन वस्तुओ के उत्पादको की *मुद्रा-आय घटेगी* और इस कारण से बचत की मात्रा भी घटेगी। इसलिये बचत की कुल मात्रा न बढेगी। विनियोग की मात्रा बढने से तो कार्यशीलता भी बढेगी और मुद्रा-आय भी बढेगी। बचत की प्रवृत्ति पहले के समान बनी रहने से उसकी मात्रा भी बढेगी। इसलिये बचत हमेशा विनियोग के बराबर रहेगी।

परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि लोग जो मात्रा बचाना चाहते थे, वह हमेशा विनि-*योग के बराबर रहेगी। अथवा व्यवसायी जो मात्रा विनियोग में लगाना चाहते थे, वह* बचत के बराबर होगी।

इच्छित बचत की मात्रा तथा इच्छित विनियोग की मात्रा का हमेशा बराबर होना आवश्यक नहीं है

जब लोग पहले की अपेक्षा अधिक बचाते हैं, तब उपभोग की वस्तुओ की बिक्री कम हो जाती है और विक्रेताओ के पास माल जमा होने लगता है। माल में अर्थात् वस्तुओ पर विनियोग की मात्रा बढ जाती है और इस प्रकार विनियोग तथा बचत एक बराबर रहते है। परन्तु विक्रेताओ की इच्छा नही थी कि वस्तुओ पर उन्हें विनियोग बढाना पडे। इसलिये विनियोग की जो मात्रा बढी वह अनिच्छित थी। इसी प्रकार पूर्ण कार्यशीलता की परिस्थिति में यदि विनियोग की मात्रा बढती है, तो कीमतें बढेंगी। कीमतो के बढने से उपभोक्ता पहले की अपेक्षा कम उपभोग करेंगे। तब वे बाध्य होकर बचत करेंगे और उस हालत में बचत की मात्रा बढकर उतनी हो जायगी जितनी कि विनियोग में बढती हुई है। परन्तु इस प्रकार बचत करने की उपभोक्ताओ की इच्छा नही थी। उन्होने बाध्य होकर जो बचत की है, वह अनिच्छित बचत है।[1]

मुद्रा की माग की लोच[2] (Elasticity of the Demand for Money)– यह कहा गया है कि मुद्रा की माग की विशेषता यह होती है कि उसकी लोच साम्य के बराबर होती है। मुद्रा की माग इसलिये होती है कि लोग खरीदने की शक्ति अपने हाथ में रखना चाहते है, जिससे कि वे अपने दैनिक जीवन के लेन-देन कर सकें और *यदि खर्च की एकाएक आवश्यकता आ पडे, तो उसे पूरी कर सकें। यह कहना कि*

---

१ व्यवसाय चक्र की विवेचना के लिये अध्याय ४२ देखो।

२ यदि हम इस पुस्तक के पाचवें अध्याय में दिये हुए उदाहरण पर विचार करें तो हम देखेंगे कि 'माग की लोच साम्य के बराबर होती है'–इसका अर्थ केवल यह होता है कि किसी वस्तु का मूल्य ठीक उस अनुपात में बढेगा या घटेगा, जिस अनुपात में उस वस्तु की पूर्ति बढगी या घटेगी। उस उदाहरण को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते है कि जब *पूर्ति दुगुनी अर्थात् २०० इकाई हो जाती है, तब मूल्य आधा अर्थात् १ रुपया हो जायगा।*

मुद्रा की माग की लोच साम्य होती है, अर्थात् स्थिर या एक-सी होती है, ठीक यह अर्थ रखेगा कि लोगो की मुद्रा रखने की आदतो पर मुद्रा की मात्रा में होनेवाले परिवर्त्तनों का कोई प्रभाव नही पडता। यदि मुद्रा की मात्रा दुगुनी हो जाय और साथ ही यदि लोगो की आदतो में परिवर्त्तन न हों तो वे अपनी व्यक्तिगत तथा व्यावसायिक आवश्यकताओ की वही वस्तुए खरीदने के लिये मुद्रा की ठीक दुगुनी मात्रा अपने पास रखेंगे। इसलिये मूल्य-सतह मुद्रा की मात्रा के ठीक उसी अनुपात में परिवर्तित होती है। परन्तु कुछ ऐसी परिस्थितिया भी होती है, जब मुद्रा की माग की लोच साम्य के बराबर नही होती।

जब लोच साम्य के बराबर नहीं होती

जब मुद्रा की स्फीति अथवा अस्फीति या सकुचन बहुत अधिक होता है, तब लोगो की मुद्रा रखने की आदतें बदल सकती है। जब स्फीति एक उचित सीमा पार कर जाता है और कीमतें बहुत अधिक बढ जाती है, तब सम्भव है कि लोग मुद्रा में अपना विश्वास खो बैठें और अपनी आय तथा जमा को मुद्रा, जिसका मूल्य तेजी से गिर रहा है, सोने जैसी टिकाऊ वस्तुओ पर खर्च करने लगें, जिनका मूल्य अधिक स्थिर होता है। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी मे ऐसा ही हुआ। इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति बढने पर लोग अपने पास अधिक मुद्रा रखने के बजाय उसे कम कर रहे है। मुद्रा की माग की लोच साम्य से नीचे गिर जाती है। लेहफेल्ड[1] ने हिसाब लगाया है कि सन् १९२० और १९२२ के बीच में मुद्रा की माग की लोच वास्तव में आस्ट्रिया में ७३ पोलैड में .९७ और जर्मनी में ५ थी। इसके सिवा यह भी सभव है कि सकट के बहुत बुरे समय में हानि के डर से व्यवसाय में रुपया न लगाकर उसे नकद जमा के रूप में रखेंगे और इससे उनकी रकम बहुत अधिक बढ जायगी। तब लोच साम्य के बराबर न होगी। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में किसान बडी मुश्किल से रुपया खर्च करते है। जब कभी किसानो के पास काफी रुपया चला जाता है, तो उसमें से अधिकाश सग्रह करके रख लिया जाता है और मूल्य-सतह हमेशा मुद्रा की मात्रा की वृद्धि के अनुपात में नही बढता। इसलिये मुद्रा की माग की लोच हमेशा साम्य के बराबर नही होती।

---

[1] Economic Journal 1922. Quoted By Keynes—Tract on Monetary Return The whole discussion is based on that book

चौंतीसवां अध्याय

मुद्रा प्रणालियां

(The Monetary Systems)

कोई भी देश मूल्य के मान के लिये एक अथवा दो धातुओं को ग्रहण कर सकता है। जब सोना अथवा चादी में से एक कोई धातु मूल्य के मान के रूप में ग्रहण की जाती है तो उस प्रणाली को एक धातु मान (monometallism) कहते हैं। यदि मान की धातु सोना है, तो उसे सुवर्ण मान (gold standard) कहते हैं। यदि मान की धातु चादी है, तो उसे रौप्य मान (silver standard) कहते हैं।

मूल्य के मान के रूप में दोनो धातुओं का एक साथ चलन कई प्रकार से किया जा सकता है। जब सोना और चादी दोनो साथ-साथ कानून-ग्राह्य होकर चलन में रहते हैं और दोना के विनिमय का अनुपात निश्चित रहता है तथा उनके सिक्के स्वतन्त्रतापूर्वक अथवा मुफ्त में ढल सकते हैं, जब उस प्रणाली को द्विधातुवाद अथवा दो धाती मान (bimetallism) कहते हैं। जब दोना धातुए पूर्णतया कानून-ग्राह्य होती है, पर एक धातु ज्यादातर चादी के सिक्के स्वतन्त्रतापूर्वक नही ढाले जाते तब उसे 'लगडी प्रणाली' (limping standard) कहते हैं। उसे लगडी इसलिये कहते हैं कि उसके सिक्को की ढलाई स्वतन्त्रतापूर्वक नही होती, अर्थात् उसके कार्य में बाधा आती है। फ्रान्स में इस प्रकार का मान प्रचलित था। यदि मार्शल का सुझाव माना जाय तो दोनो धातुओ का एक साथ चलन एक अन्य तरीके से भी किया जा सकता है। मूल्य का मान सोने और चादी की एक निश्चित मात्रा होगी। इस मिश्रित धातु को एक निश्चित मूल्य पर खरीदने के लिये सरकार को हमेशा तैयार रहना चाहिये। परन्तु सोना और चादी के बीच में विनिमय की सम मूल्य दर (par of exchange) बधी हुई नहीं होनी चाहिये। इस प्रणाली को सम=धातुवाद (symmetallism) कहते है। मार्शल ने इसका समर्थन इसलिये किया था कि यह प्रणाली एक प्रकार से स्वर्णमान और द्विधातु मान के बीच का मान होती है।

द्विधातुमान (Bimetallism)–द्विधातुमान मुद्रा के उस मान को कहते हैं जब सोना और चादी दोनो धातुओ के सिक्के टकसाल द्वारा निश्चित अनुपात में स्वतन्त्रतापूर्वक ढाले जा सकते हैं और दोना धातुओ के सिक्के कर्ज अथवा भुगतान देने के लिये किसी भी हद तक कानून-ग्राह्य होते हैं। सन् १८१६ में इग्लैण्ड में द्विधातु मान का अन्त हो गया, यद्यपि १८वी शताब्दी में वास्तव में केवल स्वर्णमान का ही

प्रचलन था। सन् १८०३ में फ्रान्स ने द्विधातुमान स्वीकार किया और सन् १८६५ में फ्रान्स, बेल्जियम, स्विटजरलैण्ड और इटली में इसका प्रचार था। इन देशों ने आपस में मिलकर मुद्रा सम्बन्धी एकता स्थापित की थी। अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र में सन् १७९२ में द्विधातुमान ग्रहण किया गया। परन्तु बहुत विवाद के बाद सन् १९०० में द्विधातुमान का अन्त हो गया।

द्विधातुमान के लाभ

द्विधातुमान के निम्नलिखित लाभ बतलाये जाते हैं। पहला, यह कहा जाता था कि स्वर्णमान द्वारा कीमतों की जितनी स्थिरता सम्भव हो सकती है, उससे कहीं अधिक द्विधातुमान के अन्तर्गत सम्भव हो सकती है। सम्भव है कि एक धातु की अपेक्षा दो धातुओं की उत्पादन की दर अधिक स्थिर हो। केवल एक धातु के उत्पादन में उतनी स्थिरता की सम्भावना नहीं रह सकती। यदि सोने का उत्पादन कम होता है, तो चाँदी का बढ़ सकता है और यदि चाँदी का उत्पादन कम होता है तो सोने का उत्पादन बढ़ सकता है। इस प्रकार एक धातु के उत्पादन में जो कमी या बढ़ती होगी, वह दूसरी द्वारा बराबर की जा सकती है। दूसरी धातु की क्रिया पहली के विरुद्ध रहेगी। इस प्रकार दोनों धातुओं का कुल उत्पादन स्थिर रहेगा और इस कारण कीमतों का स्तर भी अधिक स्थिर रहेगा। यदि शराब के नशे में दो मनुष्य एक दूसरे का सहारा लेकर चलें, तो वे अकेले की अपेक्षा अधिक स्थिरतापूर्वक चलेंगे। यही हाल द्विधातुमान का है। एक धातुमान की अपेक्षा दो धातुओं से बना हुआ मान अधिक स्थिर होगा। दूसरे, यह कहा जाता था कि यदि सब देश स्वर्णमान ग्रहण कर लें तो स्वर्ण मुद्रा बनाने के लिये आवश्यक सोना ही न मिलेगा। फल यह होगा कि किसी समय कीमतें गिर जायगी और व्यवसाय में मंदी आ जायगी। परन्तु यदि द्विधातुमान ग्रहण किया जाय और चाँदी को भी मुद्रा बनाने के काम में लाया जाय तो फिर मुद्रा की कमी के कारण कीमतें नहीं गिरेंगी। तीसरे, द्विधातुमान ग्रहण करने से चाँदी की कीमत नहीं गिर पावेगी। उन्नीसवीं शताब्दी में सन् १८७० के आसपास और प्रथम महायुद्ध के बाद चाँदी की कीमत काफी गिरती जा रही थी। संसार के पूर्वी देश चाँदी का ही अधिक उपयोग करते हैं और चाँदी की कीमत गिर जाने से उनकी खरीदने की शक्ति कम हो गई। ऐसी दशा में यदि चाँदी को मूल्य के मान के रूप में अर्थात् मुद्रा के रूप में ग्रहण कर लिया जाय तो उसकी माँग बढ़ जायगी और माँग बढ़ने से मूल्य भी बढ़ जायगा। कीमत बढ़ने से चाँदी का उपयोग करनेवाले देशों की खरीदने की शक्ति बढ़ जायगी और वस्तुओं की माँग बढ़ेगी। फल यह होगा कि व्यावसायिक मंदी भी न रहेगी। अन्तिम, यह कहा जाता था कि द्विधातुमान ग्रहण करने से सोना और चाँदी उपयोग करनेवाले देशों के बीच में विनिमय की एक निश्चित दर प्राप्त हो जायगी। यह दर चाँदी के स्वर्णमूल्य द्वारा निश्चित होगी। यदि चाँदी के मूल्य में परिवर्तन होते हैं, तो विनिमय की दर भी हमेशा बदलती रहेगी और इस कारण

से दो देशो के बीच में होनेवाले व्यवसाय में हमेशा एक प्रकार की अनिश्चितता बनी रहेगी। परन्तु द्विधातुमान में सोना और चादी में विनिमय की दर हमेशा बंधी रहेगी और दो देशो के बीच व्यवसाय बिना उथल-पुथल के होता रहेगा।

ये तर्क काफी प्रबल है। कीमतो की स्थिरता के सम्बन्ध में जो तर्क है, उसके सम्बन्ध में टॉसिग का मत है कि सन् १८५० के बाद द्विधातुमान ने कीमतो में स्थिरता लाने में सहायता की थी। परन्तु इससे यह नही कहा जा सकता कि यह प्रवृत्ति हमेशा बनी रहेगी। इसका क्या प्रमाण है कि सोने का उत्पादन कम होने पर चादी का उत्पादन अवश्य बढ़ेगा। यदि दोनो धातुओ के उत्पादन की प्रवृत्ति एक-सी रही तो? वास्तविकता यह है कि कीमतो की सतह की स्थिरता का प्रबन्ध केन्द्रीय बैंको को करना पड़ेगा। द्विधातुमान की एक बडी भारी त्रुटि यह है कि दोनो धातुओ के अनुपात में बाजार में जो परिवर्तन होगे, उनके सामने टकसाल का अनुपात कायम रखना मुश्किल हो जायगा। मान लो टकसाल का अनुपात १६:१ है, अर्थात् १६ औंस चादी के जो सिक्के बनेंगे, उनका मूल्य १ औंस सोने के सिक्के के बराबर होगा। अब मान लो बाजार में १५$^1/_2$ औंस चादी के मूल्य के बराबर १ औंस सोने का मूल्य होता है। तब सिक्के बनवाने के लिये कोई आदमी चादी टकसाल में नही ले जायगा। लोग सिक्के बनवाने के लिये केवल सोना टकसाल ले जायगे। तब यह कहा जायगा कि सोने का मूल्य अधिक (over valued) है और वह चादी को चलन के बाहर कर देगा। तब ग्रेशाम के नियम के अनुसार केवल सोना विनिमय का साधन रह जायगा। इस तरह सोने की कीमत बाजार में जैसे-जैसे घटेगी या बढ़ेगी उसी के अनुसार वह या तो चलन में रहेगा या उससे बाहर हो जायगा और देश में या तो चादी अथवा सोना केवल एक धातु एक समय मूल्य के मान के रूप में रहेगी।

लेकिन कुछ ऐसी प्रवृत्तिया भी हैं, जिन्हें स्वीकार किया जा सकता है। मान लो सोने की कीमत टकसाल में अधिक है और प्रत्येक आदमी सिक्के बनवाने के लिये केवल सोना ही लाते है। तब बाजार में सोने की पूर्ति धातु के रूप में कम हो जायगी और चादी की पूर्ति धातु के रूप में बढ जायगी। फलत सोने की कीमत गिरेगी और टकसाल तथा बाजार के अनुपात एक दूसरे के निकट आ जावेंगे, अर्थात् उनमें बहुत कम अन्तर रहेगा। इस प्रकार द्विधातुमान में यह प्रवृत्ति देखने में आती है कि सोने और चादी का अनुपात स्थिर हो जाता है। परन्तु यदि किसी धातु का उत्पादन लगातार बढ़ता जाता है और यह बढ़ने की प्रवृत्ति जोर पर रहती है, जिसके परिणामस्वरूप उसके मूल्य में कमी होगी तो वह धातु दूसरी धातु को चलन से बाहर भगा देगी।

द्विधातुमान के पक्ष में

यदि कई देश द्विधातुमान को ग्रहण कर लें तो दो धातुओ के बीच अनुपात स्थिर रखने की अधिक सम्भावना है। यदि सब देश वही अनुपात स्वीकार कर लें, तब सोना

और चाँदी का निर्यात बहुत कम हो जायगा, क्योंकि फिर उसमें लाभ की गुंजाइश बहुत कम रह जायगी। ग्रेशाम का नियम क्रियाशील नहीं होगा। इस प्रकार यदि द्विधातुमान अन्तर्राष्ट्रीय हो जाय तो एक निश्चित अनुपात पर दोनों धातुओं का चलन हो सकता है।

इसलिये व्यावहारिक रूप में द्विधातुमान तभी सफल हो सकता है, जब वह अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर हो। इसी में द्विधातुमान को सफलतापूर्वक चलाने में सबसे बड़ी बाधा है। १९वीं शताब्दी के अन्त में द्विधातुमान को चलाने के लिये दो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए। परन्तु वे दोनों असफल रहे। "ग्रेट ब्रिटेन कभी भी इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं था . . . . और ग्रेट ब्रिटेन के बिना जर्मनी स्वीकार करने को तैयार नहीं था। और इन दोनों में से कम से कम एक देश के बिना अमेरिका उसमें आने को तैयार नहीं था। संयुक्त द्विधातुमान की वास्तविक सम्भावनाएं चाहे जो हों, इस योजना की प्रत्यक्ष रूप में क्रियाशील होने की सम्भावना कभी नहीं हुई।"[1]

द्विधातुमान की अन्य कठिनाइयां भी हैं। व्यवसाय में यह काफी अस्त-व्यस्तता अथवा गड़बड़ी पैदा कर देगा। यदि बाजार में एक धातु की कीमत स्वीकृत अनुपात से कम (under valued) हो जाती है, तो कर्ज़दार उसी धातु में भुगतान करना चाहेंगे, परन्तु साहूकार दूसरी धातु अर्थात् अधिक मूल्य वाली धातु (over valued metal) में अपनी रकम लेना चाहेंगे। फल यह होगा कि लेन-देन में भारी गड़बड़ी पैदा हो जायगी। यद्यपि अन्त में टकसाल और बाजार के अनुपात एक बराबर होंगे, परन्तु बीच-बीच में ऐसे समय आ सकते हैं, जब दोनों अनुपात एक बराबर न हों। तब जुआखोर सटोरिये इस उम्मीद में कम मूल्य की धातु का संग्रह करेंगे कि उसकी कीमत बढ़ने पर लाभ उठाया जायगा। इस प्रकार सोना-चांदी के बाजार में हमेशा सट्टा होता रहेगा। यह भी सच है कि मुद्रा का मान चाहे सोना हो, चाहे चांदी, उसका प्रबन्ध सदा केन्द्रीय बैंकों के हाथ में रखना पड़ेगा, जिससे उसके मूल्य में स्थिरता आवे। केवल एक धातु से सम्बन्ध रखने के कारण हमें मुद्रा के सम्बन्ध में भारी कठिनाइयां हुई हैं। अब दो धातुओं को स्वीकार करने में कोई लाभ नहीं है। उससे हमारी मुद्रा प्रणाली और गहन होगी और उसके प्रबन्ध की समस्या अधिक जटिल हो जायगी।

मुद्रा मान के चलन में गड़बड़ी होगी

स्वर्णमान
(Gold Standard)

स्वर्णमान का सार यह है कि सरकार अथवा मुद्रा सम्बन्धी जो भी अधिकारी हों, वह अपनी मुद्रा में एक निश्चित दर पर सोना बेचने और खरीदने के लिये तैयार रहे।

---

[1] *Taussig. Principles Vol 1, 3rd Edition, p. 282-3.*

किसी देश में जब तक ऐसा किया जायगा, तब तक उस देश में मुद्रा का मूल्य और सोने का मूल्य एक-सा रहेगा? स्वर्णमान की विशेषताएं भिन्न भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न थी। फिर सन् १९२० के बाद स्वर्णमान के सिद्धान्त और व्यवहार में काफी परिवर्तन हुए हैं। कुछ परिवर्तनों का फल तो अच्छा रहा और कुछ का बुरा। पहले हम सन् १९१४ के पहले प्रचलित स्वर्णमान की विशेषताओं पर विचार करेंगे।

मुद्रा के स्वर्णमान का आधार यह था कि टकसाल बिना कुछ लिये लोगों के सोने को सिक्कों में ढाल देती थी। अर्थात् स्वर्ण सिक्के स्वतन्त्रतापूर्वक बनते थे। साधारणतः इस मान में निम्नलिखित विशेषताएं होती थी—(१) प्रामाणिक सिक्का वह होता था, जिसमें एक निश्चित मात्रा का सोना रहता था और इस सिक्के का चलन पूर्ण कानून-ग्राह्य सिक्के के रूप में होता था। इंगलैण्ड में सावरेन में १२३.२७४४ ग्रेन सोना होता था, अर्थात् वह $^{11}/_{12}$ शुद्ध होता था। फ्रान्स के सिक्के में ४९.७८०६ ग्रेन सोना होता था, अर्थात् वह $^{9}/_{10}$ शुद्ध होता था। मुद्रा के अन्य जितने माध्यम थे, जैसे नोट इत्यादि वे स्वतन्त्रतापूर्वक बिना किसी बाधा के सोने के सिक्कों में परिवर्तित थे। अर्थात् उनके बदले सोने के सिक्के मिल सकते थे। फलतः सोने के सिक्कों की कुल मात्रा सोने की उस मात्रा पर निर्भर थी, जो देश में प्राप्त थी। (२) यह कानून था कि टकसाल को सिक्के बनाने के लिये एक निश्चित दर पर सोना खरीदना और बेचना पड़ेगा। खरीदने और बेचने की कीमत में कुछ अन्तर हो सकता था। उदाहरण के लिये एक प्रामाणिक औंस सोने की खरीद की दर स्टर्लिंग में ३ पौ० १७ शि० ९ पें० थी और बेचने की कीमत ३ पौ० ७ शि० १०$^{1}/_{2}$ पें० थी। इसका फल यह होता था कि धातु के रूप में सोने की कीमत इन दरों से भिन्न नहीं हो सकती थी। (३) सोने का आयात और निर्यात स्वतन्त्रतापूर्वक होता था। इससे सब देशों में सोने की कीमत एक-सी होने की प्रवृत्ति बढ़ती थी। यदि किसी देश में सोने का भाव बढ़ता था, तो उसमें अन्य देशों से सोने का आयात होने लगता था। पहले देश में सोने की पूर्ति बढ़ने से देश में सोने की कीमत घटेगी और दूसरे देश में निर्यात होने के कारण सोने की कीमत बढ़ेगी। विभिन्न देशों में सोने के इस आवागमन के कारण कीमतों में एक साम्य स्थापित होने की प्रवृत्ति रहती थी।

प्रथम महायुद्ध के बाद स्वर्णमान में परिवर्तन

सन् १९२४ के बाद स्वर्णमान के चलन में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। एक तो सब देशों में सोने के सिक्के चलन से हटा लिये गये। टकसाल के अधिकारियों से कहा गया कि वे अपनी मुद्रा को सोने के सिक्कों के बदले सोने की धातु में बदल दें। इसे स्वर्ण धातु मान (gold bullion standard) कहा जाता है। इससे सोने के उपयोग में बहुत किफायत हुई। दूसरे, कई देशों के केन्द्रीय बैंक अपने सुरक्षित कोष (reserves) का कुछ भाग अथवा अंश विदेशों में बिल, ड्राफ्ट अथवा जमा के रूप में रखने लगे। इस तरह के मान को स्वर्ण विनिमय मान

(gold exchange standard) कहते हैं। इसमें भी सोने के उपयोग में काफी बचत हुई।

स्वर्णमान की किस्में (Varieties of Gold Standard)–इस प्रकार तीन तरह के स्वर्णमान थे। पहली किस्म सन् १९१४ के पहले चालू थी और इसे स्वर्ण मुद्रा का मान (gold circulation or gold currency standard) कहते थे। इस प्रणाली के अन्तर्गत देश में जो सोने के सिक्के चलते थे, उनमें निश्चित मात्रा का सोना रहता था। अन्य सब मुद्राएं जैसे अन्य किसी धातु के सिक्के, कागज के नोट इत्यादि मांग करने पर एक निश्चित दर पर इन सोने के सिक्कों में बदले जा सकते थे। सोने के सिक्के स्वतन्त्रतापूर्वक बनवाये जा सकते थे और सोने के आयात और निर्यात की भी पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

स्वर्ण मुद्रा मान

परन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद इस प्रकार का स्वर्णमान त्याग दिया गया और उसके स्थान पर दूसरी प्रणाली ग्रहण की गई। इस प्रणाली को स्वर्ण धातु मान (gold bullion standard) कहते थे। इसमें देश में सोने के सिक्के नहीं चलते। वास्तविक मुद्रा कागज के नोटों और किसी अन्य धातु के सिक्कों की होती थी और इनको एक निश्चित दर पर निश्चित वजन के सोने के टुकड़ों में बदला जा सकता था। इंग्लैण्ड में बैंक नोट सोने की छड़ों में बदले जा सकते थे। प्रत्येक छड़ का वजन ४०० औंस होता था और ¹¹/₁₂ शुद्ध एक औंस की दर पर ३ पौ० १७ शि० १० पें० होती थी। सन् १९२७ में भारत ने इस प्रणाली को ग्रहण किया और करेंसी कन्ट्रोलर की यह जिम्मेदारी थी कि वह मांग होने पर रुपयों के बदले ४० तोला वजन के छड़ २१ रु० ७ आ० प्रति तोला के हिसाब से देगा।

स्वर्ण धातु मान

तीसरे प्रकार के मान को स्वर्ण विनिमय मान (gold exchange standard) कहते हैं। इसका चलन प्रथम महायुद्ध के पहले भारत तथा अन्य पूर्वी देशों में हुआ। युद्ध के बाद इसका प्रचार काफी बढ़ा, क्योंकि गरीबी के कारण बहुत से देश स्वर्णमान को पूर्णरूप से ग्रहण नहीं कर सकते थे। इस प्रणाली में देश में सोने के सिक्के नहीं चलते। देश की मुद्रा जिसमें कागज के नोट तथा सांकेतिक सिक्के (token coins) होते थे, एक निश्चित दर पर स्वर्ण पर आधारित विदेशी विनिमय (foreign exchange based on gold) में बदली जा सकती थी। सन् १९१७ के पहले भारत में यही मान प्रचलित था और इसके लिये उसे लंदन में काफी मात्रा में सुरक्षित कोष रखना पड़ता था। भारत का रुपया १ शि० ४ पें० की दर से स्टर्लिंग (जो सोने का सिक्का होता था) में बदला जा सकता था।

स्वर्ण विनिमय मान

स्वर्णमान किस तरह चलता है (How the Gold Standard Works)—स्वर्णमान की कार्य प्रणाली इस प्रकार समझाई जा सकती है। मान लो देश में विनिमय का एकमात्र माध्यम सोने के सिक्के हैं। इसलिये वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा मालूम रहने पर चलन में रहनेवाले सोने के सिक्कों की मात्रा द्वारा कीमत निश्चित होगी। और सोने के सिक्कों की मात्रा देश में प्राप्त होनेवाले सोने की मात्रा पर निर्भर रहेगी। वास्तव में व्यावहारिक जीवन में नोटों और बैंक में जमा रकम के रूप में विनिमय के अन्य माध्यम भी रहते हैं। परन्तु इनसे मुद्रा सम्बन्धी मौलिक क्रियाओं और तत्वों में भेद नहीं होता। नोटों की मात्रा प्राय सुरक्षित स्वर्ण के एक निश्चित अनुपात में रखी जाती थी और बैंकों की जमा का भी। कानून अथवा प्रथा द्वारा प्रायः सुरक्षित स्वर्ण से निश्चित अनुपात रहता था। परन्तु इसमें दोनों का सम्बन्ध उतनी अच्छी तरह जाहिर नहीं था जितना कि नोटों का जाहिर था। इसलिये किसी देश की मुद्रा की कुल मात्रा का सुरक्षित स्वर्ण के साथ काफी घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था। जब देश में स्वर्ण का आयात बढ़ता था तो मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती थी, जिससे वस्तुओं की कीमत बढ़ जाती थी। और जब स्वर्ण का निर्यात होता था, तब उसका उलटा होता था। परन्तु स्वर्ण के आवागमन की क्रिया का कीमतों पर यह प्रभाव पूर्णतः अपने आप नहीं होता था, जैसा कि ऊपर की पंक्तियों से लगता है। बैंकों की, विशेषकर केन्द्रीय बैंकों की उधार देने की नीति तथा बैंक दर सम्बन्धी नीति का उस पर काफी प्रभाव पड़ता था। जब बैंक दर ऊंची रहती थी, तब लोग बैंकों से उधार कम लेते थे और कीमतें गिर जाती थीं। परन्तु जब बैंक दर कम होती थी, तब कीमतें बढ़ जाती थीं। प्रथम महायुद्ध के पहले केन्द्रीय बैंक अपने सुरक्षित स्वर्ण कोष की मात्रा के अनुसार अपनी बैंक-दर में भी परिवर्तन करते रहते थे। जब निर्यात के कारण सुरक्षित निधि में सोने की कमी हो जाती थी, तब बैंक-दर बढ़ा दी जाती थी। फलतः कीमतें गिरने लगती थीं। इसी प्रकार जब किसी देश में सोने की मात्रा बढ़ जाती थी, तब उसमें बैंक-दर कम हो जाती थी। और कीमतें बढ़ जाती थीं। सोने के आवागमन और कीमतों की सतह में जो यह परस्पर सम्बन्ध होता है, उसमें मान का स्वतः चालन (automaticity of the standard) निहित होता है।[1]

सोने के आवागमन का प्रभाव

बाह्य व्यवसाय की दृष्टि से जिन देशों में स्वर्णमान होता है, उनकी विनिमय की दर स्थायी होती है। यह दर सिक्कों में सोने की मात्रा अथवा वजन पर निर्भर रहती है। जब किसी देश का व्यवसाय विश्व में होता था और विनिमय की दर इस सम मूल्य दर

[1] Dr F. Mlynarski. The Functioning of the Gold Standard, p. 15

(par of exchange) से इतनी बढ़ जाती थी कि वह सोना बाहर भेजने के खर्च से भी अधिक होती थी, तब सोना देश के बाहर जाने लगता था और उसकी कीमत गिरने लगती थी। चूंकि हर एक आदमी वहां खरीदना पसन्द करेगा, जहां कीमत कम होगी, इसलिये सोने का निर्यात बढ़ेगा। और चूंकि प्रत्येक आदमी वहां बेचेगा, जहां कीमत अधिक होगी, इसलिये सोने का आयात कम होगा। फल यह होगा कि व्यवसाय फिर उस देश के पक्ष में बढ़ेगा और विनिमय की दर समता (par) की तरफ बढ़ेगी।

साधारण परिस्थितियों में स्वर्णमान इस तरह काम करता था। कई लेखकों का मत है कि स्वर्णमान स्वतः क्रियाशील होता रहता था। उसे चलाने के लिये किसी अन्य एजेन्सी द्वारा प्रबन्ध की आवश्यकता नहीं होती थी। परन्तु स्वर्णमान वास्तव में जिस प्रकार काम करता था, उसके अध्ययन से पता चलता है कि वास्तव में ऐसा नहीं था। अर्थात् वह अपने आप नहीं चलता था। यह बात सही नहीं है।

स्वर्णमान अपने आप कहां तक चलता है?

ऐसा कहना स्वर्णमान की कार्य-प्रणाली का गलत अर्थ लगाना है। प्रथम महायुद्ध के पहले भी स्वर्णमान की कार्य-प्रणाली में काफी हद तक प्रबन्ध रहता था। बैंकों की जमा की मात्रा में और स्वर्ण की सुरक्षित निधि में कोई स्वतः सम्बन्ध नहीं था। विभिन्न देशों के बीच स्वर्ण का यातायात केन्द्रीय बैंकों की नीति के कारण कुछ हद तक सीमित हो जाता था। बल्कि अब यह स्वीकार किया जाता है कि प्रथम महायुद्ध के पहले इंग्लैण्ड में स्वर्णमान की सफलता का कारण यह था कि संसार के मुद्रा बाजारों में इंग्लैण्ड का स्थान प्रमुख था और बैंक ऑफ इंग्लैण्ड ने अपने इस प्रतिष्ठापूर्ण स्थान का काफी बुद्धिमानी से उपयोग किया।

गत महायुद्ध के पहले प्रबंध का अंश काफी बढ़ गया। प्रथम महायुद्ध के पहले खुले बाजार की नीति (open market policy) का विकास हुआ था। अब उसका और अधिक उपयोग होने लगा। फिर यह भी आवश्यक समझा जाने लगा कि जहां तक संभव हो, केन्द्रीय बैंकों की सहायता से कीमतों को स्थिर और मजबूत रखने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। दोनों महायुद्धों के बीच के वर्षों में प्रबन्ध की आवश्यकता काफी बढ़ी। स्वर्ण के यातायात का खर्च कम हो गया, जिससे सोने के दो प्रकार के विनिमयों का अन्तर भी कम हो गया। इसलिये मुद्रा प्रणालियों पर अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव अधिक शीघ्रता से पड़ने लगा। किसी देश में थोड़ा-सा भी परिवर्तन हुआ अथवा ब्याज की दर में यदि थोड़ा-सा भी परिवर्तन हुआ तो सोने का यातायात शुरू हो जाता था। अब बड़ी मात्रा में एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय रकम या निधि तैयार हो गई जिससे आर्थिक प्रणालियों के सामने एक बड़ा खतरा उपस्थित हो गया। योरोप में जो ब्याज के लिये पूंजी लगानेवाले थे, उनके मन में मुद्रा स्फीति

स्वर्णमान प्रबन्धित मान है

(inflation) का सन्देह होने लगा और वे अपनी पूजी को लम्बे समय के लिये लगाने में हिचकिचाने लगे। यदि एक पूजीपति के मन में किसी तरह का जरा भी सन्देह हुआ तो वह अपनी पूजी एक देश से समेट कर दूसरे देश में भेज देगा, जिसे वह अधिक सुरक्षित समझता था। जब पूजी का इस प्रकार का परिवर्त्तन एक स्थान से दूसरे स्थान में लगातार होने लगा तो केन्द्रीय बैंको का काम काफी कठिन हो गया। अपने देश का मुद्रा बाजार सुरक्षित रखने के लिये तथा उसमें स्थिरता बनाये रखने के लिये केन्द्रीय बैंक अनचाहे स्वर्ण आयात को सरकारी ऋणपत्र बेचकर खपाने लगे। यदि स्वर्ण निर्यात द्वारा कीमतो पर प्रभाव पडता था तो इस प्रभाव को नष्ट करने के लिये खुले बाजार में ऋणपत्र खरीदे जाते थे। इन तरीको से स्वर्ण के यातायात का प्रभाव कीमतो पर पड़ना बन्द हो गया। इस प्रकार स्वर्णमान पूर्णरूप से प्रबन्धित मान हो गया।

इस सम्बन्ध में एक मुहावरा-सा प्रचलित हो गया था, जिसे 'स्वर्ण-मान खेल के नियम' (rules of the gold standard game) कहते थे। यहा इसकी कुछ चर्चा करनी आवश्यक है। स्वर्णमान को सफल बनाने के लिये

स्वर्णमान खेल के नियम

दो नियमो का पालन करना आवश्यक है। पहला यह है कि स्वर्ण के यातायात को कीमतो पर प्रभाव डालने की पूर्ण सुविधा मिलनी चाहिये। जब स्वर्ण का आयात होता है तो उधार साख (credit) को विस्तृत करना चाहिये और जब सोना बाहर जाता है तो देश में साख को कम करना चाहिये। दूसरे प्रत्येक देश की आर्थिक व्यावसायिक नीति ऐसी हो कि अन्य देशो को व्यावसायिक कार्यों के सम्बन्ध मे जो रकम देनी पड़ती है और उसके लिये जो नगद मुद्रा देना पडता है, उसका भुगतान आसानी से किया जा सके। जो साहूकार देश है, उनको निर्यात से अधिक आयात स्वीकार करना चाहिये और सरक्षक करो अथवा ऐसे ही अन्य तरीको द्वारा आयात कम नही करना चाहिये। क्योकि इन्ही आयातो द्वारा तो कर्जदार देश साहूकार देशो का ऋण चुकाते है।

स्वर्णमान का टूटना (Break-down of the Gold Standard)—दो महायुद्धो के बीच के वर्षो में स्वर्णमान के सम्बन्ध में इन नियमो का पालन किसी भी देश ने नही किया। पहले नियम को प्राय सब देशो ने भग किया। सोने के यातायात का कीमतो पर स्वाभाविक प्रभाव नही पडने दिया गया। इस काल में सोना लगातार इग्लेण्ड के बाहर जा रहा था। इसके प्रभाव से अपनी आन्तरिक कीमतो को बचाने के लिये उसने ऋण-पत्र खरीदना शुरु किया। इस काल में अमेरिका में सोने का आयात बडी मात्रा में हो रहा था। उसने भी इसके प्रभाव से अपनी कीमतो को बचाने के लिये उपयुक्त उपाय किये। दूसरे नियम का भी तीन प्रधान देशो अर्थात् इग्लेण्ड, फ्रान्स और अमेरिका ने उल्लघन किया। इसे सब लोग स्वीकार करते है कि जब इग्लेण्ड ने सोने के विनिमय की पुरानी दर स्थापित की तब स्टर्लिंग का मूल्य डालर की दर में लगभग १० प्रतिशत

अधिक था। यद्यपि विनिमय की दर ऊंची बांधी गई थी, परन्तु इंग्लैण्ड में मजदूरी की दर तथा अन्य वस्तुओं के लागत खर्च में विशेष कमी नहीं हुई थी। यह आवश्यक था कि इंग्लैण्ड कुछ ऐसे उपाय करे जिससे मजदूरी तथा अन्य खर्चों और कीमतों में कमी हो। परन्तु इस प्रकार के उपाय नहीं किये गये। उस देश का आर्थिक संगठन ऐसा था कि उसमें परिवर्तन की गुंजाइश कम थी। और मजदूरी कम करने की सरकार की हिम्मत नहीं हुई। फल यह हुआ कि ऊंची कीमतों के कारण उसका माल संसार के बाजारों में प्रतियोगिता का सामना नहीं कर सका। इससे निर्यात व्यवसाय में कमी हुई और व्यवसाय देश के विरुद्ध में जाने लगा, जिससे सोने का निर्यात बढ़ने लगा। स्वर्णमान में लोचदार आर्थिक संगठन आवश्यक है, जिससे कीमतें भी सोने के यातायात के अनुसार घटती बढ़ती रहें। इसलिये जब कीमतों और लागत खर्चों में परिवर्तन नहीं हुआ तो इंग्लैण्ड को स्वर्णमान छोड़ना पड़ा। स्वर्णमान छोड़नेवाला इंग्लैण्ड पहला देश था और इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इंग्लैण्ड के विपरीत जब फ्रान्स ने स्वर्णमान फिर से ग्रहण किया तो उसने अपनी मुद्रा की कीमत घटा दी। इससे उसका निर्यात व्यवसाय और विदेशों में पूंजी बढ़ी। साम्य बनाये रखने के लिये इस पूंजी को विदेशों में ही लगाना चाहिये था। परन्तु फ्रान्स के पूंजीपति अपनी पूंजी को विदेशों में लगाने के लिये तैयार नहीं थे। विदेशों में कमाई गई पूंजी का केवल थोड़ा-सा अंश अल्पकालीन जमा के रूप में विदेशों में छोड़ी गई। बाकी को सोने के रूप में फ्रान्स में लाया गया। इस काल में फ्रान्स ने काफी सोना इकट्ठा किया। परन्तु इस सोने के आयात के साथ-साथ कीमतों की सतह को नहीं उठने दिया गया। प्रथम महायुद्ध के बाद अमेरिका का संयुक्तराष्ट्र साहूकार देश हो गया। साहूकार देश को अपना कर्ज माल के आयात के रूप में लेने को तैयार रहना चाहिये। परन्तु इस काल में अमेरिका ने बड़ी कड़ी संरक्षण की नीति ग्रहण की। ऊंचे-ऊंचे कर लगाकर आयात बन्द कर दिये गये। इसलिये उसके कर्जदार ऋण चुकाने के लिये सोना देने के लिये बाध्य हुए। परन्तु सोने के इस आयात का प्रभाव कीमतों पर नहीं पड़ने दिया गया।

सन् १९३१ के बाद स्वर्णमान के टूटने के ये दो प्रधान कारण थे। जब समाज ने स्वर्णमान के खेल के नियमों का पालन नहीं किया, तब वह यह आशा नहीं कर सकता कि स्वर्णमान सफलतापूर्वक चलता रहेगा। उसके असफल होने के अन्य कारण भी हैं। जो उतने ही महत्वपूर्ण हैं। इस काल में स्वर्णमान कायम रखना काफी पेंचीदा काम हो गया। मानों के दो अनुपातों में अन्तर कम हो जाने के कारण प्रत्येक देश की मुद्रा प्रणाली पर छोटी-छोटी अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव पड़ने लगा। साथ ही इसी काल में तरह-तरह की नई-नई कठिनाइयां पैदा हुईं। अन्तर्राष्ट्रीय अल्पकालीन पूंजी (जिसे 'गरम' मुद्रा कहा जाता था और ऐसा कहना ठीक भी था) लगातार एक देश से दूसरे देश में घूमती रहती थी। इससे स्वर्णमान की नाजुक प्रणाली पर काफी

ओर पडता था । सन् १९३१ में इंग्लैण्ड को जो स्वर्णमान त्यागना पडा, वास्तव में इसका तत्काल कारण यह था कि बैंको सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय सकट के भय से इंग्लैण्ड से अल्पकालीन पूजी काफी मात्रा में हटा ली गई। इनके सिवा ससार के आर्थिक सगठन में कुछ ऐसे परिवर्तन हुए जिनके कारण स्वर्णमान का सरलतापूर्वक चलना कठिन हो गया। महायुद्ध के बाद कई देशो पर कर्ज और युद्धक्षति पूर्ण करने का भार आ पडा। इनको चुकाने की समस्याओं न अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय और विनिमय पर बडा विषम प्रभाव डाला। कर्जदार देश अपना सोना खोने लगे। इसलिये उन्होने अपनी आर्थिक रक्षा के उपाय किये। आर्थिक कठिनाइया तो गम्भीर थी ही, साथ ही राजनैतिक वातावरण भी विषम और सकटपूर्ण होता गया। और युद्ध-क्षति की पूर्ति के रूप में दबाव डालकर जो लम्बी रकमें हारे हुए देशो से ली गई, उससे ससार का आर्थिक ढाचा लचर हो गया और उसका आसानी से चलना असम्भव हो गया। एक अन्य महत्वपूर्ण कारण यह था कि प्राय सब देशो ने सरक्षण की कडी नीति ग्रहण की। ऊचे सरक्षक करो के कारण युद्ध सम्बन्धी करो और क्षति-पूर्ति की रकमें अदा करना असम्भव हो गया।

इन सबका इकट्ठा फल यह हुआ कि ससार के सब देशो में स्वर्णमान टूट गया। जब ससार के राष्ट्रो में घोर राष्ट्रीयता का वातावरण फैला हो, तब कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली सफल नही हो सकती।

स्वर्णमान के गुण और दोष (Merits and Demerits of Gold Standard) स्वर्णमान का सबसे बडा लाभ यह होता है कि उसे ग्रहण करनेवाले देश में एक ऐसी मुद्रा प्रणाली हो जाती है जो सब जगह मान्य होती है। अभी तक ससार में स्वर्णमान ही अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा मान के रूप में चल सका है। स्वर्णमान के और भी कई लाभ बतलाये जाते है। जब यह मालूम हो जाता है कि किसी देश की मुद्रा सोने में परिवर्तित हो सकती है, तब उस देश की सरकार एक सीमित मात्रा में ही मुद्रा चलाती है। सरकार उतने ही कागजी नोट चलावेगी, जितना उसकी सुरक्षित निधि में उनके बदले में देने के लिये सोना होगा। वह सुरक्षित सोने से अधिक नोट नही चलावेगी। ससार के सब देश केवल उतनी ही मात्रा में मुद्रा चलावेंगे, जितना ससार में सोने का उत्पादन होगा। इसलिये जिस देश की मुद्रा दृढता के साथ सोने पर आधारित है उसमें सोने से अधिक कागजी मुद्रा नही चल सकती। इस दृष्टि से स्वर्णमान त्रुटिरहित माना जाता था। यह भी कहा जाता था कि उसमे एक अपने आप चलनेवाली मुद्रा प्रणाली प्राप्त हो जाती थी। यह देखा गया है कि जब किसी देश ने स्वर्णमान छोडा है, तो उसकी मुद्रा प्रणाली का ऐसा कुप्रबन्ध हुआ है कि देश के आर्थिक सगठन में काफी गडबडी उत्पन्न हो जाती है।

स्वर्णमान मुद्रा स्फीति को रोकता है

तीसरे उससे कीमतों में अपेक्षाकृत स्थिरता आ जाती है। स्वर्ण मुद्रा प्रणाली

सोने के उत्पादन पर निर्भर होती है और सोने के उत्पादन में मौसिमी अथवा अल्पकालीन परिवर्तन नहीं होते। यदि गेहूं मुद्रा का मान होता तो किसी वर्ष फसल खराब होने पर बंकों का सुरक्षित कोष एकदम कम हो जाता तथा कीमतों की सतह में उथल-पुथल मच जाती। सोने के अत्यधिक टिकाऊ होने के कारण उसकी वर्तमान पूर्ति इतनी अधिक है कि उसका वार्षिक उत्पादन कुल पूर्ति का बहुत थोड़ा अंश होता है। इस कारण से अन्य वस्तुओं की अपेक्षा उसकी पूर्ति अपेक्षाकृत स्थिर और मजबूत होती है। कहा जाता है कि सोने की कीमत में अधिक स्थिरता रहती है।

उससे मूल्यों में काफी स्थिरता रहती है

एक लाभ यह भी है कि स्वर्णमान से विदेशी विनिमय की दर में स्थिरता बनी रहती है। जब हम देखते हैं कि गत कुछ वर्षों से स्वर्णमान के न होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की उन्नति में कितनी अधिक बाधा हुई है, तब हमें इस स्थिरता के लाभों का पता चलता है। विनिमय की दरों की दृढ़ता के कारण कई देशों की कीमतों की सतहों में भी काफी समता आ गई थी।

विनिमय की मजबूत दर

यदि इन लाभों की हम बारीकी के साथ छान-बीन करें तो कुछ की सत्यता के बारे में सन्देह होने लगता है। हम देख चुके हैं कि स्वर्णमान अपने आप चलनेवाला मान नहीं है। मुद्रा प्रणाली को स्वर्णमान पर चलाने के लिये उसका प्रबन्ध केन्द्रीय बंक द्वारा कराना होता है। और जैसा सन् १९३४-३६ में फ्रान्स ने अनुभव किया कि स्वर्णमान रखना आसान काम नहीं है। सन् १९२९ के बाद जो संसार-व्यापी व्यावसायिक मंदी आई उसका एक बड़ा भारी कारण यह था कि कई देशों ने स्वर्णमान बनाये रखने के प्रयत्न किये। इसलिये त्रुटिरहित मान की कल्पना नहीं की जा सकती। फिर यह भी नहीं कहा जा सकता कि स्वर्णमान से मुद्रास्फीति नहीं होगी। यह मुद्रा का मूल्य सोने की कीमत से बांध देता है। यदि सोने का उत्पादन बढ़ता है और उसकी कीमत घटती है, तो अन्य वस्तुओं की कीमतें बढ़ेंगी।

उससे मुद्रास्फीति कम नहीं होती

दूसरे स्वर्णमान ने कीमतों की दृढ़ता न तो समय के सम्बन्ध में न स्थान के सम्बन्ध में स्थापित की। यदि लगातार कई वर्षों तक सोने का उत्पादन बढ़ता या घटता रहे, तो दीर्घकाल में वस्तुओं की कीमतें या तो घटेंगी या बढ़ेंगी। वास्तव में पूरी उन्नीसवीं शताब्दी में संसार का अनुभव यही रहा। सन् १८७४ और १८९६ के बीच में आस्ट्रेलिया और केलीफोर्निया की खदानों ने सोने का उत्पादन बढ़ाकर उसकी पूर्ति बढ़ाई, जिससे संसार में वस्तुओं की कीमत बढ़ी। इसी

उससे समय और स्थान के सम्बन्ध में कीमतों में स्थिरता नहीं आती

प्रकार विभिन्न देशो की आन्तरिक कीमतें यद्यपि सोने के आवागमन के कारण एक दूसरे से सम्बन्धित थी, फिर भी व्यवसाय और पूजी की परिस्थितियो के कारण उनमें काफी घटी-बढ़ी हुई।

स्वर्णमान में कीमतो का भविष्य भी बड़ा अनिश्चित रहता है। कीमतो में कई कारणो से उथल-पुथल हो सकती है। "यदि सोने की नई खदानो का पता चलता है, अथवा खोदने के तरीकों में परिवर्तन होते हैं, यदि कुछ देश स्वर्णमान ग्रहण करने का निश्चय करते हैं अथवा कुछ देश उसे छोड़ने का निश्चय करते हैं; यदि भारतवासी किसी प्रथा को छोड़ देते है अथवा यदि लदन के सर्राफ कोई निश्चय करते हैं",[1] तो उसका प्रभाव कीमतो पर पड़ना लगभग निश्चित है।

राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करता है

स्वर्णमान की एक असुविधा यह है कि वह सरकार की निर्णय-शक्ति सकुचित कर देता है। स्वर्णमान पर चलने वाले देशो के लिये एकता आवश्यक है। उनके कुछ कार्य एक समान होने चाहिये। इसलिये जो देश स्वर्णमान ग्रहण करता है, उसे अन्य देशो के साथ सहयोग करना पड़ता है, वह मनचाही नही कर सकता। अर्थात् उसे कुछ हद तक अपनी सत्ता छोड़नी पड़ती है। उसे एक औसत-नीति का पालन करना पड़ता है, अर्थात् मुद्रा के विस्तार और सकुचन के सम्बन्ध में एक औसत दर का पालन करना पड़ता है। यदि मदी के बाद कोई देश सब लोगो को काम देने के विचार से उत्पादन बढ़ाने के लिये पूजी का विस्तार करना चाहता है, तो सभव है कि स्वर्णमान पालन करने के कारण वह ऐसा न कर सके।

प्रबन्धित मुद्रा (Managed Money)–जिस मुद्रा का मूल्य निश्चित योजना के अनुसार केन्द्रीय बैंक द्वारा नियंत्रित किया जाता है, उस मुद्रा प्रणाली को नियंत्रित या प्रबन्धित मुद्रा-प्रणाली कहते हैं। *इस अर्थ में आज-कल सब मुद्रा-प्रणालिया नियंत्रित होती हैं।* लेकिन प्राय नियत्रण शब्द उस मुद्रा प्रणाली के सम्बन्ध में उपयोग किया जाता है, जहा अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा का चलन होता है और जहा मुद्रा को मजबूत रखने के लिये उसका परिचालन एक निश्चित योजना के अनुसार केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है। इस तरीके के समर्थको का कहना है कि इस रीति से स्वर्णमान सम्बन्धी सब त्रुटिया दूर हो जाती हैं। *केन्द्रीय बैंक कीमतो की घटी-बढी पर नियत्रण रख सकता है* और इसके लिये उसे सोने का सुरक्षित कोष रखने की आवश्यकता नही पड़ेगी। यदि आवश्यक समझा जाय तो केन्द्रीय बैंक कीमतो को दृढ रख सकता है। इस प्रणाली से प्रत्येक देश को अपनी मुद्रा का प्रबन्ध अपनी इच्छानुसार करने की काफी स्वतन्त्रता रहती है। उसे अन्य देशो के साथ चलने की अथवा उनका अनुकरण करने की आव-

---

१ Robertson Money.

स्वतन्त्रता नहीं रहती। इस प्रणाली में प्रत्येक देश मुद्रा के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रह सकता है।

स्वर्णमान की सफलता के लिये लोचदार और परिवर्तनशील आर्थिक संगठन आवश्यक है। परन्तु हमारे आर्थिक संगठन काफी बेलोचदार अर्थात् अपरिवर्तनशील हो गये हैं। इसलिये अब स्वर्णमान का ठीक ढंग से चलना असम्भव हो गया है। यदि हम वस्तुओं अथवा कीमतों की तरह मजदूरी की दर भी घटा और बढ़ा सकें तो स्वर्णमान पर चलना सम्भव है। परन्तु ऐसा करना अब सम्भव नहीं है। फिर आजकल संसार में सोने का उत्पादन कम हो रहा है। इससे यह कहा जा सकता है कि सोने की कीमत गिरेगी, जिससे व्यावसायिक मंदी और बढ़ेगी। इसलिये अच्छा यही होगा कि कागज की मुद्रा प्रणाली रखी जाय और आन्तरिक कीमतों को मजबूत तथा स्थिर रखने की कोशिश की जाय।

सोने के सम्बन्ध में जो अनुभव कर रहे हैं, उनको देखते हुए कागजी मुद्रा-प्रणाली का तर्क काफी आकर्षक मालूम होता है। परन्तु यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो कागजी मुद्रा से होनेवाली असुविधाएं और हानियां और कागजी मान के विरुद्ध तर्क भी सशक्त लगती हैं। कागजी मुद्रा के प्रणाली के समर्थक यह भूल जाते हैं कि प्रजातन्त्र के समान स्वर्णमान भी राष्ट्रीय जीवन का एक आवश्यक अंग समझा जाता है। जब १९३० के बाद स्वर्णमान छोड़ा गया तो लोगों ने काफी संख्या में स्वर्ण-संचय करना शुरू किया। जब तक लोगों के मन में सोने के लिये मोह है, तब तक उनका मुद्रा के साथ किसी न किसी रूप में सम्बन्ध रहना चाहिये। इस भावुकतापूर्ण तर्क को छोड़ कर, स्वयं कागजी मुद्रा में कुछ दोष होते हैं। मुद्रास्फीति के समय कागजी मुद्रा किसी प्रकार की सुरक्षा नहीं देती। जिन लोगों को युद्धकालीन मुद्रास्फीति की याद है, उनके मन में स्थायी कागजी मान के प्रति श्रद्धा होना असम्भव है। और जब तक जनता का उसमें विश्वास नहीं होगा, तब तक उसकी सफलता में सन्देह ही रहेगा। दूसरे कागजी-मान से विनिमय की दर सदा बदलती रहेगी। हमारा ध्येय यह होगा कि आन्तरिक कीमतें स्थिर रहें और विनिमय की दर व्यावसायिक परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहें। इससे विदेशी व्यवसाय में काफी अनिश्चितता आ जायगी और पूंजी के स्वतन्त्रतापूर्वक अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन में बाधा पड़ेगी। पिछली बार जो व्यावसायिक मंदी हुई थी उसका एक बड़ा कारण यह था कि पूंजी का स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन बन्द हो गया था। चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर पूंजी लगाये बिना व्यावसायिक मंदी दूर नहीं हो सकती, इसलिये कागजी मान इस सम्बन्ध में होनेवाली कठिनाइयों को और बढ़ावेगा। तीसरे, इन परिस्थितियों में ऋण सम्बन्धी स्थिरता बनाये रखना असम्भव होगा। विनिमय सम्बन्धी कुछ परिवर्तनों के कारण यदि मुद्रा की कीमत कम हो जाती है, तो उनके दूसरे देशों के प्रति ऋण में काफी गड़बड़ी होगी। तब वे देश बदला कर, विनिमय सम्बन्धी बन्धन इत्यादि लगे

करें। कुछ देश अपना निर्यात बढ़ाने के लिये विनिमय सम्बन्धी प्रतियोगिता करेंगे और अपनी दर घटावेंगे। यद्यपि उन्हें इसमें सफलता नहीं मिलेगी, तथापि इससे अन्य देशों की कीमतों की मजबूती खतम हो जायगी।

इन मुद्रा मानों के गुण और दोष तथा हानि और लाभ चाहे जो हो, अब यह निश्चित है कि पुराना स्वर्णमान कभी नहीं लौटेगा। जिस आर्थिक संगठन में सब लोगों को काम देने की योजना हो, उसमें स्वर्णमान सफलतापूर्वक नहीं चल सकता। पूर्ण बाकारी (full employment) अर्थात् सब लोगों को काम देने की योजना में प्रधान उद्देश्य यह रहता है कि उत्पादन को अधिक से अधिक बढ़ाया जाय, जिससे बेकारी खतम हो जाय। परन्तु जैसा श्रीमती रॉबिन्सन ने कहा है,[1] स्वर्णमान की प्रवृत्ति सदा मुद्रा संकुचन (deflation) की ओर रहती है। जिस देश का सोना निर्यात में जा रहा होगा, वह अपना उधार खाता अवश्य कम करेगा जिससे भुगतान सम्बन्धी साम्य बना रहे। परन्तु जो देश सोना पा रहा है, उसे अपनी साख अथवा उधार खाता कम करने की आवश्यकता नहीं है और प्राय वह कम नहीं करेगा। उसका फल यह होगा कि जो देश सोना खो रहा है, उसमें मुद्रा की कमी अथवा संकुचन और अधिक होगा, जिससे बेकारी और अधिक बढ़ेगी। इसलिये अब कोई देश स्वर्णमान ग्रहण करने को तैयार नहीं है।

परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि सोने का कोई उपयोग ही न रहेगा। अमेरिका के पास संसार भर में सबसे अधिक सोना है और ब्रिटिश कामनवेल्थ सोने का बहुत बड़ा उत्पादक है। इन दोनों देशों का स्वार्थ इसी में है कि सोने की कीमत दृढ़ रहे। फल यह हुआ है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) सम्बन्धी जो समझौता हुआ है, उसमें इन दोनों देशों के स्वार्थों की रक्षा करने की कोशिश की गई है। अब अन्तर्राष्ट्रीय ऋण सोने के आधार पर चुकेंगे और विनिमय की दर भी सोने के आधार पर निश्चित की जायगी। परन्तु कुछ निश्चित सीमाओं के भीतर इन विनिमय की दरों में परिवर्तन किये जा सकते हैं।[2]

---

१ "The International Currency Proposals", Economic Journal, 1913, p 161.

२ See Chap. 45.

पैंतीसवां अध्याय

साख, उधार
(Credit)

साख क्या है ? साख का अर्थ होता है, विश्वास करना अथवा विश्वास पर देना। यदि हम नकद लेन-देन पर विचार करें तो साख या विश्वास पर लेन-देन या विनिमय जल्दी समझ में आ जायगा। नकद लेन-देन में माल बिक्री किया जाता है और उसके दाम उसी समय चुका दिये जाते हैं। लेकिन जब साख पर अथवा उधार सौदा होता है तो माल तो बिक्री हो जाता है, पर उसका मूल्य उसी समय नहीं मिलता।

साख का आधार विश्वास है

उस समय भविष्य में किसी समय मूल्य देने का वादा किया जाता है। चूंकि उधार लेन-देन में भविष्य में नकद दाम देने का वादा किया जाता है, इसलिये यह आवश्यक है कि जो आदमी उधार देता है, वह उधार लेनेवाले का विश्वास करे। उधार का आधार विश्वास है। उधार देनेवाले को उधार लेनेवाले पर इतना विश्वास होना चाहिये कि उसकी मंशा मूल्य चुकाने की है और वह अपने वादे के अनुसार दाम देने में समर्थ होगा।

नकद विनिमय की अपेक्षा उधार विनिमय में कुछ सुविधाएं रहती हैं। वस्तु विनिमय में जो त्रुटियां थीं, वे मुद्रा द्वारा काफी हद तक दूर हो गईं। लेकिन मुद्रा द्वारा जो विनिमय होता है, उसमें भी कुछ कठिनाइयां होती हैं। हम सब मुद्रा स्वीकार करने को तैयार रहते हैं। परन्तु मान लो हम ५०,००० रुपये का माल बेचते हैं, तो बदले में ५०,००० रुपया नकद (अर्थात् सिक्के) स्वीकार करने को तैयार न होंगे। इतनी बड़ी रकम बहुत असुविधाजनक होगी। उसकी रक्षा करना भी एक समस्या होगी। फिर मान लो एक दूर स्थान में कई हजार रुपये का सौदा करते हैं। तब उतने लम्बे सफर में बड़ी रकम ले जाना और उसे व्यवसायी को देना काफी खतरनाक है, और साथ ही उसमें खर्च भी अधिक होगा। साख या उधार की सहायता से ये सब कठिनाइयां दूर हो जाती हैं।

साख की उपयोगिता

साख की जो अन्तिम उपयोगिता होती है, उसके हिसाब से हम उसे उपयोग-साख और उत्पादन-साख में बांट सकते हैं। जो साख हम उधार लेते हैं उसका उपयोग तुरन्त किया जा सकता है। इसे हम उपभोग साख या उपभोक्ता की साख कह सकते हैं। कई दुकानदार अपने ग्राहकों को उधार देते हैं, क्योंकि वे तुरन्त नकद दाम नहीं दे सकते। किश्त-बन्दी पर उधार लेने की प्रथा भी साख का एक उदाहरण है। साख का उपयोग इस

प्रकार भी किया जा सकता है कि उधार लेनेवाले से जितनी रकम लेनी है, उसके सिवा भी कुछ अधिक प्राप्ति हो सकती है। तब साख पूजी का काम करती है और हम उसे पूजी के समान मान सकते हैं। इस प्रकार की साख को उत्पादन साख कहते हैं।

साख का दूसरा वर्गीकरण व्यावसायिक साख और बैंक-साख है। माल के उत्पादन और बिक्री के सम्बन्ध में जिस साख का उपयोग होता है, उसे व्यावसायिक साख कहते हैं। यदि एक थोक व्यापारी एक फुटकर व्यापारी को इस शर्त पर माल देता है कि वह तीन माह के भीतर उसकी रकम चुका देगा तो वह व्यावसायिक साख कहलावेगी। हुडी व्यावसायिक साख का एक साधन है। बैंक की साख समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि उधार देने के लिये बैंक रुपया कहा से पाते हैं। यदि किसी बैंक के पास दस हजार रुपया सुरक्षित कोष है, तो वह कम से कम उससे पाच छः गुनी अधिक रकम उधार दे सकता है। यह इसलिये सभव होता है कि लोगो को और बैंक में रुपया जमा करनेवालो को उस बैंक में विश्वास होता है। इस प्रकार बैंक अपनी साख उधार देता है। बैंक-नोट इस प्रकार की साख के अच्छे उदाहरण हैं।

साख के साधनों के प्रकार (Types of Credit Instruments)—आजकल साख के साधन कई प्रकार के होते हैं, जैसे—(१) चेक, (२) बैंक-नोट, (३) सरकारी नोट, (४) हुडी (bills of exchange), (५) रुक्का (promissory notes), (६) बैंक की हुडी (banker's draft), (७) बही की साख (book credit) इत्यादि।

(१) चेक बैंक को आदेश होता है। बैंक में जमा करनेवाला उसे यह आदेश देता है कि जिसके नाम यह चेक है, उसे हमारे हिसाब में से चेक में लिखी हुई रकम दे दो। जब तक चेक भुनाया नही जाता, तब तक वह साख का एक साधन रहता है। चेक यह भी बतलाता है कि लेनेवाले को चेक देनेवाले पर और उस बैंक पर विश्वास है। अर्थात् चेक लेनेवाले के विश्वास पर निर्भर है। (२) बैंक-नोट बैंको द्वारा दिये जाते है। बैंक-नोट बैंक का एक वादा है कि माग होने पर बैंक उसके बदले कानून-ग्राह्य मुद्रा देगा। बैंक-नोटो को वे लोग स्वीकार करते है जिन्हें बैंक की दृढता अर्थात् उसकी साख में विश्वास होता है। बडे-बडे और मजबूत बैंको के नोटों का काफी चलन होता है और बहुधा वे कानून-ग्राह्य होते हैं। आज-कल बैंको के नोटो पर कानून का नियत्रण होता है। और अधिकतर देशों में केवल केन्द्रीय बैंको को नोट चलाने का एकाधिकार प्राप्त रहता है। (३) सरकारी नोट भी बैंक नोटों की तरह होते हैं। अन्तर केवल इतना होता है कि सरकारी नोट सर्वमान्य और कानून-ग्राह्य होते हैं। जब तक सरकारी नोट मुद्रा में परिवर्त्तनशील होते है, तब तक वे प्रामाणिक मुद्रा अथवा सोने की तरह माने जाते हैं। उनका चलन इसलिये होता है कि जनता का सरकार में विश्वास होता है। लोग जानते हैं कि माग करने पर सरकार उनके बदले में प्रामाणिक मुद्रा दे देगी। (४) हुडी

अथवा बिल ऑफ एक्सचेंज बेचनेवाले के द्वारा खरीदार के नाम एक आदेश रहता है कि खरीदार एक निश्चित समय के भीतर सौदा की रकम चुका दे। हुंडी और चेक में यह फरक होता है कि चेक में माग करते ही नकद रकम देनी पडती है, लेकिन हुंडी की रकम एक निश्चित समय के बाद चुकानी पडती है। यह समय हुंडी में लिखा रहता है। कहा जाता है कि चेक वह हुंडी है, जो माग करते ही भुनानी पडती है। (५) रुक्का एव लिखित वादा होता है, जिसे उधार लेनेवाला साहूकार के प्रति करता है। इसमें प्राय एक तीसरे आदमी की जमानत होती है और यह आदमी ऐसा होता है, जिसमें साहूकार को विश्वास होता है। बहुधा साहूकार अथवा बैंक ब्याज काटकर बाकी रकम उधार लेने को देता है। (६) जब एक बैंक दूसरे बैंक के नाम चेक देता है, तो उसे बैंकर की हुंडी या ड्राफ्ट कहते हैं। जब एक बैंक दूसरे बैंक से कर्ज लेता है अथवा सकट में होता है और किसी बैंक से सहायता चाहता है, तब इस प्रकार के चेक का उपयोग होता है। (७) जब कोई व्यवसायी अथवा बैंक माल उधार बेचता है और रकम अपनी बही खाता में लिख लेता है, तब उसे उधार खाता अथवा बही की साख कहते हैं। खाते में लिखी हुई यह रकम कानून ऋण के रूप में स्वीकार करता है, चाहे उस पर कर्जदार के दस्तखत भले ही न हों, और चाहे वह उसे झूठ क्यो न बतलावे। व्यवसायी बही खाते की उधारी आपस में एक दूसरे को देते हैं और समय-समय पर लेन-देन का हिसाब करके बाकी रकम एक दूसरे को चुका देते हैं। आपसी लेन-देन के निबटारे की ये प्रथा बैंकों के क्लियरिंग हाउस (clearing houses) अर्थात् निबटारा घरों में सबसे अधिक देखने में आती है। साख के अन्य कई प्रकार के साधन होते हैं। जैसे सम्मिलित पूजीवाली कम्पनियों के बान्ड और डिबेंचर एक प्रकार के साख पत्र हैं। आवश्यकता पडने पर ये साख पत्र तुरन्त बेचे जा सकते हैं।

कागजी मुद्रा (Paper Money)—कागजी मुद्रा में बैंक-नोट और सरकारी नोट शामिल हैं, जिनका चलन आसानी से होता है। उसमें चेक अथवा हुडिया शामिल नही रहती, क्योंकि उनका चलन बहुत सीमित होता है। कागजी मुद्रा प्राय केन्द्रीय बैंकों द्वारा चलाई जाती है, परन्तु कुछ देशों में सरकार कागजी मुद्रा जारी करती है।

कागजी मुद्रा विनिमय साध्य होती है, और अविनिमय साध्य भी। विनिमय साध्य कागजी मुद्रा को माग करने पर प्रामाणिक धातु मुद्रा अथवा धातु अर्थात् सोना या चादी में बदला जा सकता है। यह देखा गया है कि जितने नोट चलन में होते हैं, उनका बहुत थोडा भाग किसी एक समय मुद्रा अथवा धातु में परिवर्तन के लिये लाया जाता है। इस-लिये सरकार जितने नोट चलाती है, उसके लिये बहुत थोडा अश नकद मुद्रा या धातु के रूप में भुनाने के लिये रखती है। एक दूसरे प्रकार की विनिमय साध्य कागजी मुद्रा जमा करने का सर्टिफिकेट (certificate of deposit) होता है। इसमें सुरक्षित

धातु नोटों के अंकित मूल्य के बराबर होती है। अमेरिका में इस तरह के सोना और चादी सम्बन्धी सर्टिफिकेट चलते हैं।

अविनिमय साध्य कागजी मुद्रा में जो नोट चलते हैं, उनके बदले में माग होने पर सरकार *प्रामाणिक धातु की मुद्रा अथवा धातु देने के लिये बाध्य नही रहती।* अविनिमय साध्य कागजी मुद्रा साधारणत सरकार द्वारा चलाई जाती हैं। कभी-कभी सकट के समय केन्द्रीय बैंक भी ऐसी मुद्रा चला सकते हैं। इसके लिये वह कानून स्थगित कर दिया जाता है, जिसके द्वारा बैंक कागजी नोटो के बदले प्रामाणिक धातु अथवा उसकी मुद्रा देने के लिये बाध्य रहते हैं। अविनिमय साध्य कागजी मुद्रा को 'हुक्मी मुद्रा' (fiat money) भी कहते हैं। क्योकि उसका उपयोग और मूल्य केवल सरकार की आज्ञा या हुक्म पर निर्भर रहता है। उसका चलन इसलिये होता है कि जनता को यह विश्वास होता है कि सरकार उसका मूल्य बनाये रखेगी।

कागजी मुद्रा के लाभ और हानियां (Advantages and Disadvantages of Paper Money)–कागजी मुद्रा के उपयोग से कई प्रकार के लाभ होते हैं। पहला, धातु मुद्रा के उपयोग मे काफी बचत हो जाती है। किसी भी देश में सरकार अथवा नोट चलानेवाली सस्था नोटों के मूल्य के बराबर सोना अथवा प्रामाणिक धातु की मुद्रा सुरक्षित निधि के रूप में नही रखती। हमेशा नोटो की कुछ मात्रा ऐसी होती है, जिसके विरुद्ध कोई सुरक्षित निधि नही रहती और उस हद तक देश सोना और चादी खरीदने की बचत कर सकता है। यदि कोई देश अविनिमय साध्य कागजी मुद्रा का उपयोग करता है, तो वह अन्य देशो की तुलना में काफी लाभ में रहता है, क्योकि कागजी मुद्रा बनाने का खर्च प्राय नही के बराबर होता है। दूसरे, कागजी मुद्रा यदि पूर्णतया विनिमय साध्य हो तो भी उसके द्वारा देश और सरकार को काफी बचत होती है। क्योकि धातु मुद्रा चलन में घिसती है तथा उसमें अन्य कई प्रकार से क्षति होती है। तीसरे आप, कागजी मुद्रा में काफी बडी रकम बिना कठिनाई के इधर-उधर ले जा सकते हैं। उसके द्वारा बडी-बडी रकमें आसानी से चुकाई जा सकती हैं और उसे आसानी से काफी दूर ले जाया जा सकता है। साथ ही कागजी मुद्रा की असुविधाए भी कम नही होती। सकट के समय सरकार के सामने मनचाही मात्रा में नोट चलाने का लालच रहता है। यदि कागजी मुद्रा अत्यधिक मात्रा में चलाई जाय तो वह अविनिमय साध्य हो जाती हैं और प्रामाणिक मुद्रा धातु के रूप में उसका मूल्य गिर जाता है। दूसरे, कागजी मुद्रा से विदेशी व्यवसाय के सम्बन्ध में कुछ कठिनाई होती है। एक देश के लोग दूसरे देश की कागजी मुद्रा स्वीकार नही करते। विदेशियो को रकम चुकाने के लिये प्रामाणिक धातु मुद्रा का उपयोग किया जाता सकता हैं, परन्तु कागजी मुद्रा का नही। जहा कागजी मुद्रा का उपयोग होता है, वहा यह लाभ नही होता। अन्तिम धातु मुद्रा की अपेक्षा कागजी मुद्रा का मूल्य बहुत कम स्थिर होता है। धातु मुद्रा के मूल्य में धातु के मूल्य में होनेवाले

परिवर्तनों के अनुसार ही परिवर्तन होते हैं। परन्तु कागजी मुद्रा का मूल्य इस बात पर निर्भर होता है कि वह कितनी मात्रा में चलाया जाता है। यदि अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा का मूल्य प्रायः अस्थिर होता है, इसलिये विदेशी विनिमय की दरें भी अस्थिर हो जाती हैं। इससे देश के विदेशी व्यवसाय को धक्का लगने का डर रहता है।

नोट चलाने के सिद्धान्त (Principles of Note Issue)—नोट किन सिद्धान्तों के आधार पर चलाये जाने चाहिये इस सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार हैं।

मुद्रा सिद्धान्त

एक को मुद्रा सिद्धान्त (currency theory), और दूसरे को बैंकिंग का सिद्धान्त (banking theory) कहते हैं। इंग्लैण्ड में सन् १८४४ के बैंक चार्टर एक्ट बनने के पहले नोट चलाने के सम्बन्ध में दो विचारधाराएं थीं। मुद्रा सिद्धान्त के समर्थकों का कहना था कि नोट इसलिये चलाये जाते हैं कि सोने के सिक्कों की अपेक्षा वे सस्ते होते हैं। परन्तु इन नोटों का विनिमय निश्चित रखने के लिये यह आवश्यक है कि सरकार जितने नोट चलावे, उतने मूल्य का सोना भी सुरक्षित रखे। यदि पूरे मूल्य का सोना सुरक्षित नहीं रखा गया तो सम्भव है कि कभी उनके विनिमय में कठिनाई हो और तब लोग इन नोटों में विश्वास खो बैठेंगे। इस विचारधारा के समर्थकों का कहना था कि सरकार के पास अथवा नोट चलानेवाली सत्ता के पास जितना सोना हो, उतने केवल उतने मूल्य के नोट चलाने चाहिये। फल यह होता कि देश में सोने की मात्रा आयात और निर्यात के साथ जैसी घटेगी या बढ़ेगी, उसी के अनुसार नोटों की मात्रा भी अपने आप घटेगी या बढ़ेगी। इससे यह लाभ होता कि मुद्रा का प्रसार अपने आप अथवा स्वयं-चालित रहेगा। वह सरकार की इच्छा पर निर्भर नहीं रहेगा। इस सिद्धान्त ने साख का अर्थ भली-भांति नहीं समझाया। धातु की मुद्रा के बदले कागज का उपयोग बड़ी अच्छी तरह किया जा सकता है। उसकी सहायता से देश में चलने वाली कुल मुद्रा का प्रसार आवश्यकता पड़ने पर किया जा सकता है। अच्छी मुद्रा प्रणाली में एक गुण यह होता है कि वह लोचदार होती है। यदि नोट चलाने के सम्बन्ध में मुद्रा सिद्धान्तों का पालन किया जाय तो यह लोच बनाये रखना कठिन होगा।

बैंकिंग सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि यह अनुभव की बात है कि सरकार जितने नोट चलाती है, उन सबके मूल्य के बराबर सोना सुरक्षित नहीं रखना पड़ता। केवल

बैंकिंग का सिद्धान्त

थोड़े से मूल्य का सोना सुरक्षित रखना पड़ता है। यदि नोट बहुत अधिक मात्रा में चलाये जाते हैं, तो वे भुनाने के लिये बैंक में वापस आवेंगे और यदि उचित मात्रा में सुरक्षित निधि है, तो उनके भुनाने में कोई कठिनाई नहीं होगी। इस सिद्धान्त में एक गुण यह भी होता है कि वह लोचदार होता है। व्यवसाय की आवश्यकता के अनुसार

चलन में कुल मुद्रा की मात्रा घटाई और बढ़ाई जा सकती है। इस आवश्यकता का अंदाज व्यवसायी पूँजीपति और साहूकार ही लगा सकते हैं।

सन् १८४४ के बैंक चार्टर एक्ट में मुद्रा सिद्धान्त ग्रहण किया गया। परन्तु बाद *की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि बैंकिंग का सिद्धान्त कहीं अधिक अच्छा और लाभ-कारी है*। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इङ्गलैण्ड के व्यवसाय में बहुत वृद्धि हुई। इस वृद्धि में चेक प्रथा बहुत सहायक हुई। चेक प्रथा के कारण बैंक चार्टर एक्ट में स्वीकृत मुद्रा सिद्धान्त के द्वारा होनेवाली असुविधाएं काफी हद तक दूर हो गईं। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि नोटों के सम्बन्ध में जिन लोगों ने मुद्रा सिद्धान्त का समर्थन किया था, उसका कारण यह था कि उन्नीसवीं शताब्दी में सम्मिलित पूँजीवाले कई बैंकों ने बहुत बड़ी मात्रा में नोट चलाये और उपयुक्त मात्रा में सुरक्षित निधि नहीं रखी, जिससे वे या तो फेल हो गये या मुसीबतों में फंस गये। इन समर्थकों को इन बातों का ध्यान था।

नोट चलाने की रीतियाँ (System of Note-Issue)–मुद्रा सिद्धान्त के अनुसार नोट चलाने के अधिकार पर कई प्रकार के बन्धन लग जाते हैं। इन बन्धनों पर हम एक-एक करके विचार करेंगे।

(१) **निश्चित तथा विश्वसनीय रीति (Fixed Fiduciary System)**–इस रीति के अन्तर्गत सेंट्रल बैंक सुरक्षित निधि रखे बिना एक निश्चित मात्रा में नोट चला सकता है। यह मात्रा निश्चित मात्रा कहलाती है। इसे सरकारी ऋण पत्रों का समर्थन प्राप्त होता है। यदि इस मात्रा से अधिक नोट चलाये जायं तो उनके लिये शत प्रतिशत सोना सुरक्षित रखा जाना चाहिये। इङ्गलैण्ड में यही प्रथा चालू है। सन् १८४४ के बैंक चार्टर एक्ट के अनुसार बैंक ऑफ इङ्गलैण्ड को १,४०,००,००० पौंड के नोट बिना सुरक्षित निधि रखे चलाने की आज्ञा मिली थी। सन् १९२८ में यह मात्रा बढ़ाकर २६ करोड़ पौंड कर दी गई और सन् १९३९ में ३० करोड़ पौंड कर दी गई। इस प्रणाली या रीति का उद्देश्य यह है कि नोटों के विनिमय अथवा भुनाने के लिये काफी मात्रा में सुरक्षित निधि रखी जाय। परन्तु इस प्रथा से मुद्रा प्रणाली बेलोचदार हो जाती है। इस प्रथा में मुद्रा व्यवसाय की आवश्यकताओं के अनुसार विस्तृत नहीं हो सकती। उसका विस्तार तभी हो सकता है जब सुरक्षित निधि में सोने की मात्रा बढ़ाई जाय। संकट अथवा भय के समय जब लोगों के भय के कारण नोटों की मात्रा बढ़ानी आवश्यक हो जाती है, तब बैंक चार्टर एक्ट की धाराओं को स्थगित करना पड़ता है, जिससे बैंक चाहे जितनी मात्रा में नोट चला सके। फिर इस प्रथा द्वारा सोने की बहुत बड़ी मात्रा बेकार बंध जाती है और बिना काम पड़ी रहती है। इन कारणों से मैकमिलन कमेटी ने इस रीति का अन्त करने की सिफारिश की।

इस प्रथा की त्रुटियाँ

(२) अधिकतम निश्चित मात्रा की रीति (Maximum Fiduciary System)–इस रीति के अनुसार बैंक के लिये एक अधिकतम मात्रा बाँध दी जाती है और बैंक बिना सुरक्षित निधि रखे इस मात्रा तक नोट चला सकता है। साल भर में नोटों का जितना औसत चलन होता है, यह अधिकतम मात्रा उस औसत से अधिक ही रखी जाती है। जब व्यवसाय का विस्तार फैलता है और मुद्रा की आवश्यकता बढ़ती है तब इस अधिकतम मात्रा में भी वृद्धि कर दी जाती है। सन् १९२८ के पहले फ्रान्स में यह प्रणाली चालू थी और मेकमिलन कमेटी ने इंग्लैण्ड में भी यही प्रथा ग्रहण करने की सिफारिश की। इस प्रणाली में बड़ा गुण यह है कि यह सोने को बेकार बाँध कर नहीं रखती और सुरक्षित निधि का प्रश्न बैंक की इच्छा पर छोड़ देती है।

(३) आनुपातिक सुरक्षित निधि की प्रथा (Proportional Reserve System)–इस प्रणाली के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक जितनी मात्रा में नोट चलाता है, उसके मूल्य का कुछ प्रतिशत सोना सुरक्षित निधि में रखना पड़ता है। प्रतिशत का यह अनुपात २५ और ४० के बीच में रहता है। प्रथम महायुद्ध के बाद यह प्रथा काफी लोकप्रिय हुई। फ्रान्स ने इसे सन् १९२८ में ग्रहण किया। हिल्टन-यंग कमीशन ने भारत के लिये भी इस प्रणाली की सिफारिश की और जो नया रिजर्व बैंक एक्ट बना उसमें इसे ग्रहण भी कर लिया गया।

प्रथा की त्रुटियाँ

इस प्रणाली में केवल एक गुण है और वह यह है कि यह लोचदार प्रणाली होती है। यदि स्वीकृत अनुपात एक और तीन है तो सुरक्षित निधि में एक सोने के सिक्के के बदले उतने मूल्य के तीन सिक्के चलाये जा सकते हैं। परन्तु यदि मुद्रा सङ्कुचित करनी पड़े तो मुद्रा प्रणाली को बड़ा धक्का लगता है। जब सुरक्षित निधि से एक सोने का सिक्का निकाला जाता है, तो चलन से तीन नोट अलग करने पड़ेंगे। परन्तु अन्य प्रणाली में केवल एक नोट अलग करना पड़ेगा। फिर इस प्रणाली में सोने की काफी बड़ी मात्रा फँस जाती है। वह एक प्रकार से बेकार हो जाती है और विनिमय के काम में नहीं आ सकती। मान लो बैंक ने सिर्फ एक तिहाई मूल्य का सोना सुरक्षित निधि में रखा है। अब यदि एक नोट भुनने के लिये आता है और उसके बदले एक सोने का सिक्का दिया जाता है, तो कानून द्वारा जितना सोने का अनुपात आवश्यक है, उससे तो अनुपात की मात्रा कम पड़ गई। इसलिये कानून भंग किये बिना बैंक नोट नहीं भुना सकता। यह कानून उस नियम के माफिक है, जो यह कहता है कि स्टेशन पर हमेशा कम से कम एक मोटर अवश्य रहनी चाहिये, जिससे मुसाफिरों को हमेशा सवारी मिलने का भरोसा रहे। अब मान लो वहाँ केवल एक ही मोटर है और सवारियाँ आती हैं। परन्तु मोटर स्टेशन नहीं छोड़ सकती, क्योंकि कानून के माफिक वहाँ एक मोटर हमेशा रहनी चाहिये। तो सवारियों के लिये मोटर का होना न होना बराबर हो गया। इस प्रकार मुद्रा की इस प्रणाली में कोई तुक नहीं है। इसे न्यायोचित नहीं कहा जा सकता।

(४) चौथी प्रणाली तीसरी का परिवर्तन मात्र है। केन्द्रीय बैंक अपनी सुरक्षित निधि का एक अंश 'विदेशी विनिमय' में रखता है। इसमें विदेशी मुद्रा, विदेशी बैंकों में जमा, हुंडी इत्यादि शामिल रहती हैं। विदेशी मुद्रा स्वर्णमान पर रहनी चाहिये। जैसे कि भारतीय रिजर्व बैंक अपने सुरक्षित कोष का एक अंश स्टर्लिंग हुंडियों के रूप में रख सकता है। सोने की बचत करने के लिये इस प्रणाली को ग्रहण किया जाता है। जहां तक यह प्रणाली तीसरी प्रणाली का परिवर्तन मात्र है, वहां तक तीसरी प्रथा में जो दोष हैं, वे इसमें भी लागू होते हैं। संकट के समय अधिक नोट चलाने की आवश्यकता पड़ सकती है। इंग्लैण्ड में जब संकट-काल आता है और बहुत बड़ी मात्रा में नोट चलाने की आवश्यकता पड़ती है, तब बैंक एक्ट स्थगित कर दिया जाता है और बैंक ऑफ इंग्लैण्ड को यह अधिकार दे दिया जाता है कि वह जितने आवश्यक समझे उतने नोट चला सकता है, जिससे लोगों का मुद्रा में विश्वास बना रहे। जर्मनी में तीसरी और चौथी प्रणालियां चलती हैं और यदि कमी (deficit) पर कर दिया जाय तो केन्द्रीय बैंक का सुरक्षित कोष कानून द्वारा आवश्यक अनुपात से कम हो जायगा।

नियन्त्रण का सही सिद्धान्त (The Right Principle of Regulation)–इस समस्या को हम दो भागों में बांट सकते हैं। पहला प्रश्न यह है कि क्या ऐसा कानून आवश्यक है, जिससे चलन में आनेवाले नोटों की मात्रा सुरक्षित कोष की धातु की मात्रा से सम्बन्धित रहे? दूसरा प्रश्न यह है कि अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिये केन्द्रीय बैंक को सोने की कितनी मात्रा रखनी आवश्यक है? पहले प्रश्न के सम्बन्ध में सबसे अच्छी बात तो यह होगी कि नोटों की मात्रा चलाने में केन्द्रीय बैंकों पर किसी प्रकार का बंधन न लगाया जाय। चूंकि अब सोने के सिक्के चलन से हटा लिये गये हैं, इसलिये बाहर भेजने के लिये लोग नोटों के बदले सोना लेंगे। जब व्यवसाय के सम्बन्ध में विदेशों में भुगतान करना पड़ेगा, तब लोग नोटों को सोने में बदलेंगे। इसलिये अच्छा यह होगा कि सुरक्षित कोष का चलन के नोटों की मात्रा से कोई सम्बन्ध न रहे और जब साख की मात्रा के सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंक की इच्छा पर बन्धन लगाना उचित नहीं समझा जाता, तब नोटों की मात्रा पर भी किसी प्रकार का कड़ा बन्धन लगाना उचित नहीं है। कीमतें दृढ़ रखने के लिये यह भी वाञ्छनीय है कि सेंट्रल बैंक को सुरक्षित सोने का प्रबन्ध करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाय। उसे किसी प्रकार नोटों की चलन के साथ न बांधा जाय। अर्थात् सुरक्षित सोने का नोटों की मात्रा के साथ गठबंधन न किया जाय। जब हम केन्द्रीय बैंक पर साख की मात्रा और कीमतों की सतह पर नियन्त्रण रखने की ऊंची जिम्मेदारी डालते हैं तो क्या हम उस पर नोटों की मात्रा के सम्बन्ध में उपयुक्त सोने की मात्रा रखने का विश्वास नहीं कर सकते? अर्थात् क्या हम यह विश्वास नहीं कर सकते कि बैंक नोट चलावेगा तो उसके

सुरक्षित स्वर्ण की मात्रा और नोटों की मात्रा में कोई सम्बन्ध न रहना चाहिये

लिये उपयुक्त सोना भी रखेगा ? इसलिये उपयुक्त सिद्धान्त यही होगा कि सुरक्षित सोने की मात्रा का नोटों की मात्रा से कोई सम्बन्ध न रहे। हां, एक खतरा यह हो सकता है कि नोट अत्यधिक मात्रा में चलन में न आ जावें। इस खतरे से बचने के लिये सबसे अच्छा यह होगा कि एक अधिकतम सीमा बांध दी जाय कि इस मात्रा से अधिक नोट न चलाये जायगे। सन् १९२८ के पहले फ्रान्स में यही प्रणाली प्रचलित थी। यह अधिकतम सीमा चलन में होनेवाले नोटों की औसत मात्रा से काफी ऊंची होनी चाहिये और उसे समय-समय पर बदलते रहना चाहिये। इसके सिवा यह कानून बनाना अथवा आज्ञा देनी आवश्यक हो सकती है कि बैंक को एक निश्चित न्यूनतम मात्रा में सोना रखना चाहिये, जिससे जनता का मुद्रा में विश्वास बना रहे और यदि कोई भयानक राष्ट्रीय संकट आ पड़े तो उस समय उसका उपयोग किया जा सके। इन दो शर्तों को छोड़कर सेंट्रल बैंक को नोट चलाने के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता रहनी चाहिये।

दूसरे प्रश्न का उत्तर अच्छी तरह समझने के लिये मुद्रा प्रणाली में सुरक्षित सोना तथा उसके कार्यों को समझना चाहिये। पहले नोटों को सोने के सिक्कों में बदलने के लिये सुरक्षित सोना रखा जाता था। परन्तु सोने के सिक्के चलन से हटा लिये गये हैं, इसलिये अब इस काम के लिये सुरक्षित सोना रखना आवश्यक नहीं है। यदि मुद्रा का मान स्वर्ण हो तो सोने का उपयोग विदेशों को रकम देने के लिये विनिमय के माध्यम के रूप में हो सकता है। इसलिये सुरक्षित सोने की मात्रा नोटों की मात्रा पर निर्भर न होकर विदेशी भुगतान की मात्रा पर निर्भर होनी चाहिये। सुरक्षित कोष में इतना सोना रहे कि केन्द्रीय बैंक अल्पकाल में उत्पन्न होनेवाले भुगतान तुरन्त चुका सके। बाद में तो वह उपयुक्त उपाय ग्रहण कर ही लेगा। परन्तु उपाय करने के पहले उसे अल्पकालीन भुगतान तुरन्त चुकाने में समर्थ होना चाहिये। इस हिसाब से सुरक्षित सोने की मात्रा भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न होगी। जो देश बैंक व्यवसाय के अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र हैं, अथवा जो बड़े कर्ज में फंसे हैं, अथवा जिन देशों का निर्यात व्यवसाय बड़ा नहीं है, उन देशों को अन्य देशों की अपेक्षा अधिक बड़े सुरक्षित कोष की आवश्यकता होती है।

छत्तीसवां अध्याय

बैंक और उनके कार्य

(Banking)

बैंक की परिभाषा (*Definition of Bank*)—जिस प्रकार मुद्रा की परिभाषा हम उनके कार्यों के वर्णन द्वारा करते हैं, उसी प्रकार बैंक की उत्तम परिभाषा भी उसके कार्यों के वर्णन द्वारा होगी। बैंकर अथवा साहूकार साख का व्यवसायी होता है। वह जनता से धन उधार लेता है और उसे व्यवसायियों और उत्पादकों को उधार देता है। वह जमा के रूप में जनता से उधार लेता है। अर्थात् जनता बैंक में जो रकम जमा करती है, वही साहूकार की उधार ली हुई रकम है और माल अथवा ऋण-पत्रों की जमानत पर वह जो रुपया देता है तथा बट्टे पर जो हुंडियां भुनाता है, वही रकम वह उधार देता है। इसलिये बैंक एक व्यक्ति अथवा एक संस्था होती है, जो साख का व्यवसाय करती है। अर्थात् वह जनता से जमा के रूप में रकम लेती है। यह रकम चेक द्वारा जमा करने वाला वापिस ले सकता है। इसी रकम को बैंक कई प्रकार के कर्जों के रूप में देता है।

बैंक प्रणाली और बैंक व्यवसाय बहुत प्राचीन है। प्राचीन काल में भारत, ग्रीस, और रोम में बैंक अर्थात् साहूकारी की प्रथा प्रचलित थी। यह प्रथा इस प्रकार उत्पन्न हुई। जिन लोगों के पास कुछ अधिक रुपया रहता था, अर्थात् जो लोग कुछ धन बचा पाते थे, वे उसे सुरक्षा के लिये विश्वसनीय लोगों के पास इस शर्त पर जमा कर देते थे कि आवश्यकता पड़ने पर अथवा एक निश्चित समय के बाद वे उसे वापिस ले लेंगे। जिन लोगों के पास रुपया जमा रहता था, उन्होंने देखा कि यदि समय पर वापिस मिल जाय तो उस रुपये को कर्ज के रूप में देना लाभदायक था। अर्थात् जमा करनेवाले की अवधि के पहले यदि मिल जाय तो उस बीच में उस रुपये को अन्य लोगों को कर्ज के रूप में दिया जा सकता है। शायद साहूकार जमा करनेवालों को लिखित रसीद देते थे, जिसमें जमा-रकम लिखी रहती थी। चूंकि लोगों को साहूकारों की ईमानदारी और साख में विश्वास होता था, इसलिये ये रसीदें व्यावसायिक-भुगतान में स्वीकार की जाती थीं। ये रसीदें बड़ी मात्रा में भुनने के लिये साहूकारों के पास बहुत कम आती थीं। ये कागज अथवा रसीदें अपने असली रूप में रहते थे, इनकी नकल नहीं होती थी। चूंकि लोगों को साहूकारों की साख में विश्वास होता था, इसलिये मियाद के पहले ये कागज बहुत कम भुनाये जाते थे। इसलिये साहूकार निश्चिन्त होकर जमा का अधिकांश भाग कर्ज में दे सकते थे। इस प्रकार वे जनता के रुपये से अच्छा खासा लाभ पैदा करते थे। जब यह कर्ज देने का

व्यवसाय अधिक लाभप्रद हो गया तो साहूकार जमा की हुई रकम पर ब्याज भी देने लगे। जमा की ब्याज दर कर्ज की ब्याज दर से कम होती थी और दोनो दरो में जो अन्तर होता था, वही साहूकार का मुनाफा होता था। कुछ काल के बाद चेक प्रचलित हो गये और चेकों से साहूकारी प्रथा में काफी लोच आ गई।

इस प्रकार व्यावसायिक जमा अथवा साहूकारी या बैंकिंग का प्रचार हुआ। ध्यान रहे कि जब हम बैंक शब्द का उपयोग करेंगे तो उसका अर्थ व्यावसायिक बैंक होगा अर्थात् वे बैंक जो अल्पकाल के लिये उधार देते हैं। इनके सिवा अन्य प्रकार के बैंक भी होते हैं, जैसे बचत बैंक (Savings Banks) लागत बैंक (Investment Bank) इत्यादि।

बैंक के कार्य (Functions of Bank)—व्यावसायिक बैंक अल्पकालीन साख का व्यवसाय करता है। व्यक्तियो के पास बचत के रूप में जो अधिक धन होता है, उसे वह जमा करता है और उससे व्यावसायिक लेन-देन की अल्पकालीन आवश्यकताएं पूरी करता है। इसलिये उसका पहिला काम लोगो की बचत को इकट्ठा करना है। यह काम वह लोगो की जमा स्वीकार करके करता है। जमा दो प्रकार का होना है। एक तो लोग बैंक में कानून-ग्राह्य प्रामाणिक मुद्रा जमा करने को लाते हैं। बैंक उसे उनके नाम से अपने खाते में जमा कर लेता है। इस जमा को लोग चैक द्वारा निकाल सकते हैं अथवा बैंक अपने ग्राहकों को कर्ज देकर जमा उत्पन्न कर सकता है। यह कर्ज ग्राहक के नाम में जमा हो जाता है और इस जमा को वह अपनी आवश्यकतानुसार उपयोग कर सकता है।

(१) जनता की बचत इकट्ठी करता है

बैंक का दूसरा काम कर्ज देना है। यह काम बैंक कई प्रकार से करता है, जैसे विनिमय के बिल अथवा हुंडी (bills of exchange) भुनाना, माल अथवा ऋण-पत्रों की जमानत पर कर्ज देना, अधिविकर्ष अर्थात् जमा की गई रकम से अधिक रकम देना (over draft) इत्यादि। प्रत्येक बैंक यह जानता है कि जमा की रकम किसी भी समय मांगी जा सकती है, परन्तु किसी एक समय कुल जमा का बहुत थोडा अंश मांगा जायगा। वह अनुभव द्वारा यह जान सकता है कि किसी एक समय की मांग कितनी होगी और उसे पूरी करने के लिये उसे कितना नकद जमा हाथ में रखना चाहिये। बाकी रकम को वह व्यवसायियों और उत्पादकों को कर्ज और पेशगी इत्यादि के रूप में दे सकता है। कर्ज जमानत पर दिया जाता है। जो कि सोना या कम्पनियो के हिस्सो अथवा उस माल की हो सकती है, जो बन रहा है अथवा जो एक स्थान से दूसरे स्थान को जा रहा है। या बिना जमानत के भी कर्ज दिया जा सकता है, यदि बैंक को अपने ग्राहक की ईमानदारी और सामर्थ्य में विश्वास है, तो वह ग्राहक से केवल एक रुक्का लिखाकर भी उसे कर्ज दे सकता है।

(२) वह कर्ज और पेशगी देता है

(३) यह नोट चलाता है और विनिमय के साधन उत्पन्न करता है

बैंक का तीसरा काम विनिमय का सस्ता माध्यम देना है, जैसे नोट अथवा चेक। जमा रकम के लिये बैंक जो रसीदें देते थे, उन्ही रसीदो ने आगे चलकर नोटों का रूप धारण कर लिया। ये नोट लेन-देन में स्वीकृत होने लगे। लोग इन्हें पसन्द भी करते थे, क्योंकि ये सुविधाजनक और सुरक्षित होते थे और इन्हें लेकर आने-जाने में सुविधा होती थी। आधुनिक काल में नोट चलाने का अधिकार केवल एक बैंक को अर्थात् केन्द्रीय बैंक को दिया जाता है। अधिक उन्नतिशील देशो में नोटो का स्थान चेको ने ले लिया है। चेको का देना और भुनाना नोटों के समान ही होता है।

(४) विविध कार्य

इनके सिवा बैंक और भी कई प्रकार के काम करते है। ये काम तीन प्रकार के होते हैं—विदेशी व्यवसाय को पूजी सम्बन्धी सहायता देना, एजेन्सी का काम करना तथा अन्य उपयोगी काम करना। बैंक विदेशी विनिमय सम्बन्धी व्यवसाय करते हैं। अपने ग्राहको की विदेशी विनिमय की हुडिया स्वीकार करके उन्हें भुनाते है। इस प्रकार विदेशी व्यवसाय में पूजी द्वारा सहायता करते है। दूसरे, वे अपने ग्राहको के एजेन्टो का काम करते है। वे अपने ग्राहको को चेक, बिल, मुनाफा, चन्दा, बीमा की किश्तें लेते और देते रहते है। ग्राहक के लिये स्वय बैंक यह काम करते रहते है। अन्तिम, वे अपने ग्राहकों के लिये अन्य कई उपयोगी और लाभप्रद काम करते रहते है। वे अपने ग्राहको की कीमती चीजें सुरक्षित रखते है। उनके ऋण-पत्रों, हिस्सा-पत्रो (shares), सम्पत्ति सम्बन्धी कागज पत्रों तथा बहुमूल्य वस्तुओ की देख-रेख करते है। उनका ब्याज और डिविडेन्ट अर्थात् लाभ इकट्ठा करते है। ग्राहको के ट्रस्टी का काम करते है। कुटुम्बों के ट्रस्टो का प्रबन्ध करते है, वसीयतो का प्रबन्ध करते है। कई ग्राहक बैंक के पते से अपना काम करते है। बैंक कई प्रकार के साख-पत्र भी देते है। ये साख-पत्र, जैसे यात्रियो के चेक जल्दी भुन जाते है और इससे ग्राहको को बडा सुभीता होती है।

ये काम बैंक के विशिष्ट काम होते है। इन्ही बातो को यदि हम दूसरी तरह से कहना चाहें तो यह कहेंगे कि आधुनिक बैंको का प्रधान काम आर्थिक सगठन को द्रवता प्रदान करना है। बैंक द्रवता प्रतिस्थापन का बहुत बडा केन्द्र होता है। वह जनता से जमा लेता है और देश के आर्थिक सगठन को द्रवता प्रदान करता है।

बैंक की स्थिति विवरण या चिट्ठा (Balance-Sheet of a Bank)—बैंक के कामों को समझने का एक अन्य तरीका उसके स्थिति विवरण अथवा चिट्ठा का अध्ययन करना है। उसमें उसकी लेनी-देनी अर्थात् आदेय और दायित्व (Assets and Liabilities) का विवरण रहता है। साधारणत बैंक का चिट्ठा इस प्रकार होता है, जो अगले पृष्ठ पर दिया गया है—

है। इस खाने में बैंक सुरक्षित कोष की जमा रहती है, जिससे बैंक अपने ग्राहकों की मागे पूरी करता है। इसलिये इसे हम बैंक की सुरक्षा की पहली लाइन कह सकते है। बैंक का अपने ग्राहकों के प्रति जो कुल दायित्व होता है, सुरक्षित कोष की नकद जमा उसका केवल एक आशिक अनुपात होती है। अनुभव द्वारा प्रत्येक बैंक यह जान लेता है कि सुरक्षित कोष में कितनी नकद जमा रखनी चाहिये। इग्लेण्ड के बैंक साधारणत कुल जमा का १० या ११ प्रतिशत सुरक्षित कोष में रखते हैं। भारत में प्रामाणिक बैंक (scheduled banks) कुल जमा का १४ से १६ प्रतिशत तक सुरक्षित कोष में रखते है। आदेय के खाने में दूसरी चीज 'बकाया तथा चेकों की वह रकम है, जो जमा हो रही है।' इसका अर्थ सरल है और अपने आप समझ में आ जाता है।

तत्कालदेय द्रव्य ('Money at call and short notice') का अर्थ बहुत थोड़े समय के लिये दिये जानेवाले कर्ज होते है। इसमें वे ऋण शामिल होते है, जो बिलो या हुडियो के दलालो को दिये जाते है और माग होने पर तत्काल अथवा ७ दिन के नोटिस पर चुकाना चाहिये। स्टॉक एक्सचेंज को दिये जानेवाले ऋण भी इसमें शामिल होते हैं। इन ऋणो के पीछे ऊचे दर्जे की हुडियों इत्यादि के रूप में ठोस जमानत रहती है। इनको बैंक की सुरक्षा की दूसरी लाइन या पक्ति कह सकते हैं। इन ऋणो का सार या महत्व इस बात मे रहता है कि ये तुरन्त वापिस लिये जा सकते हैं। इस प्रकार का तत्काल धन का एक कोष प्रत्येक बैंक के लिये आवश्यक है। क्योंकि उसके सुरक्षित कोष पर कभी भी रिक्तीकरण की माग हो सकती है। जब कभी बैंक का सुरक्षित कोष एकाएक खाली हो जायगा, तब वह तत्काल ऋणो का कुछ अश वापिस ले लेगा अथवा उन्हे फिर से नही देगा। परन्तु साधारणत ये ऋण फिर से दे दिये जाते है। इग्लैण्ड के बैंक प्राय अपनी जमा का ■ प्रतिशत इस तरह के ऋणो में लगाते हैं।

तत्काल ऋण

प्राय तीन महीने की हुडिया अल्पकालीन लागत के लिये बडी अच्छी होती हैं। चकि उनका भुगतान बहुत थोडे काल में हो जाता है, इसलिये उनका मूल्य अधिक गिरने का डर नही रहता। और जहा हुडी का बाजार अच्छा होता है वहा वे बहुत कम बट्टे की दर पर भुन जाती है। बैंक अपनी हुडियों या बिलो का प्रबन्ध ऐसा करते हैं कि अधिकाश हुडिया उस समय भुनती हैं, जब बैंक पर नकद जमा की काफी माग रहती है। इधर कुछ समय से व्यावसायिक हुडियो का महत्त्व कम हो रहा है, विशेषकर इसलिये कि उनकी सख्या अब अधिक नही रहती। अब मुद्रा बाजार में सरकारी बिलो (Treasury Bills) का महत्व बढता जा रहा है। ये भी तीन महीने की हुडिया रहती हैं और इन्हें सरकार चलाती है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि बैंक जो रकम हुडियो में लगाते हैं, उसका अनुपात उनकी नकद जमा का उलटा होता है। जब हुडियों में लागत

हुडियो का भुनना

कम होती है, तब बैंक सुरक्षित कोष में अधिक नकदी रखने का प्रयत्न करते हैं। और जब हुंडियों में अधिक रुपया लगा रहता है, तब नकद जमा कम रहती है। प्रायः यह देखा जाता है कि बैंक अपने आदेय का ३० प्रतिशत नकद जमा, तत्काल ऋण और हुंडियों के रूप में रखते हैं।

लाभ पर लागत

लाभ पर लागत (investments) अधिकतर सरकारी ऋण-पत्र, म्युनिसिपल बांड तथा औद्योगिक हिस्सा इत्यादि में की जाती है। इनसे निश्चित आय होती है और बैंक को बराबर कुछ आय होती रहती है। जब ग्राहक मुद्रा की मांग करते हैं तब ये लागतें काम आती हैं। जब ऋणों की मांग बढ़ जाती है, तब बैंक अपने ऋण-पत्र बेचकर ग्राहकों को ऋण या पेशगी देते हैं। जब ग्राहकों की मांग घट जाती है, तब वे फिर उस द्रव्य को ऋण इत्यादि में लगा देते हैं। परन्तु पुराने सिद्धान्त के अनुसार ये लागतें हुंडियों की अपेक्षा कम द्रव समझी जाती हैं। क्योंकि साधारण समय में तो ये लागतें आसानी से बिक जाती हैं, परन्तु किसी संकट के समय इनके खरीदार मिलने मुश्किल हो जाते हैं और इनकी कीमत इतनी गिर जाती है कि इन्हें बेचने में भी हानि होती है। इस प्रकार ये 'जम' (freeze) जाते हैं।

ग्राहकों को पेशगी (advances to customers) में वे ऋण शामिल होते हैं, जिन्हें बैंक अपने ग्राहकों को जमानत पर अथवा बिना जमानत के देता है। ये प्रायः अल्पकाल के लिये दिये जाते हैं और इनकी अवधि छः महीने से अधिक नहीं रहती। पेशगी कई प्रकार के कामों के लिये दी जाती है, जैसे किसी ठोस व्यवसाय की अल्पकालीन आवश्यकता के लिये। यदि कोई कम्पनी अपनी अचल पूंजी बढ़ाना चाहती है, तो नये हिस्से बेचने में तो उसे समय लगेगा। तब तक वह बैंक से पेशगी ले सकती है। बैंकों के आदेय में पेशगी सबसे अधिक लाभप्रद होती है। इस पर बैंक अपनी दर से १ प्रतिशत अधिक ब्याज लेता है और यह दर कम से कम ५ प्रतिशत रहती है।

इसके बाद वह दायित्व आता है, जो बैंक अपने ग्राहकों के नाम पर हुंडियों इत्यादि के द्वारा स्वीकार करता है। इसे उतनी ही रकम के द्वारा दायित्व के खाने में रखा जाता है।

इसके बाद आदेय के खाते में बैंक के मकान (premises) जायदाद इत्यादि रहते हैं। इसका अर्थ तो प्रकट ही है।

व्यावसायिक बैंकिंग के सिद्धान्त (Principles of Commercial Banking)—बैंक व्यवसाय के मौलिक सिद्धान्त वही हैं, जिनका वर्णन गिलबर्ट (Gilbert) ने अपनी पुस्तक "हिस्ट्री एन्ड प्रिन्सिपल्स आफ बैंकिंग" (History and Principles of Banking) में किया है। पहला, बैंक का काम यह नहीं है कि वह अपने ग्राहकों को व्यवसाय करने के लिये पूंजी दे। दूसरा, बैंक को भरी हुई

जमानत पर स्थायी ऋण के रूप में रकम नही देनी चाहिये। कोयले की खदानें, मिलें इत्यादि मरी हुई जमानत के उदाहरण हैं। यदि बैंक किसी एक ग्राहक को बडी मात्रा में स्थायी ऋण देता है, तो उसकी यह नीति ठीक नही है। बैंको की अधिकाश जमा ऐसी होती है कि वह थोडे समय की नोटिस अथवा तत्काल निकाली जा सकती है। इसलिये उसके ऋण भी अल्पकालीन होने चाहिये। उसकी लाभ पर लागत भी 'द्रव' रूप में होने चाहिये। उसकी नीति अपने ग्राहको की केवल अल्पकालीन आवश्यकताए पूरी करने की होनी चाहिये मशीनें इत्यादि खरीदने की अपेक्षा, उसे कच्चे माल खरीदने तथा बने हुए माल बेचने में अपनी पूजी का उपयोग करना चाहिये। अर्थात् बैंक को अचल पूजी की अपेक्षा सचल पूजी देने का प्रयत्न करना चाहिये। "ऋण मागे जाने पर एक दूरदर्शी बैंक अथवा साहूकार पहले यह पूछेगा कि ऋण कितने समय के लिये चाहिये और उतना समय बीतने पर उसके वापिस मिलने की आशा क्या होगी। यदि इन प्रश्नों के सम्बन्ध में उसे सतोष नही होता तो उसे जमानत के मूल्य अथवा ब्याज-दर की लालच में नही आना चाहिये। उसके मन में प्रधान बात यह रहनी चाहिये कि उसका ऋण द्रव रूप में रहे।" फिर बैंको को किसी एक उद्योग में अथवा किसी एक व्यक्ति के व्यवसाय में अत्यधिक नही घुसना चाहिये। यदि किसी प्रकार वह उद्योग अथवा वह व्यक्ति मुसीबत में फस जाता है, तब सभव है कि बैंक का धन भी फस जावे और वापिस न मिल सके। इसलिये बैंको के ऋण और लाभ पर लगनेवाली पूजी विभिन्न उद्योगों में लगनी चाहिये और वे उद्योग भी अलग-अलग स्थानों में होने चाहिये। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते है कि बैंको को अपने सब अडे एक ही टोकनी में नही रखने चाहिये। **होशियार और चतुर बैंक हुडी अर्थात् बिल और बन्धक (mortgage) में अन्तर जानता है।** तीन महीने अथवा उससे कम समय की हुडी जो माल की जमानत पर चलाई जाती है, एक प्रकार से अपना भुगतान स्वय कर लेती है। क्योकि उक्त समय के अन्त तक हुडी चलानेवाला माल बेचकर धन प्राप्त कर लेगा और ऋण चुकाने में समर्थ हो जायगा। परन्तु बन्धक इस अर्थ में अपना भुगतान स्वय नही कर सकता। यह कहा नहीं जा सकता कि मकान अथवा भूमि के मालिक के पास ऋण चुकाने के लिये समय पर काफी धन रहेगा अथवा नही।

सुरक्षित कोष (Reserves)—कहा जाता है कि "सफल बैंक व्यवसाय सुरक्षित कोष के प्रबन्ध पर निर्भर करता है।" सुरक्षित कोष में नगदी रहती है और कुछ जमा केन्द्रीय बैंक के पास रहती है। इस जमा से बैंक ग्राहकों का रुपया निकालने की माग पूरी करते हैं। सुरक्षित कोष बहुत अधिक नही होना चाहिय, पर काफी होना चाहिये। यदि वह काफी नही होता तो बैंक के दिवालिया होने का डर रहता है और यदि वह बहुत अधिक होता है तो रुपया बेकार पडा रहता है, अर्थात् बैंक को नुकसान होता है। इसलिये बैंक मैनेजर को इन दोनो बातो के बीच म सतुलन रखना चाहिये। इसी में उसके प्रबन्ध की कुशलता जाहिर होती है।

सुरक्षित कोष में कितनी मात्रा रहनी चाहिये, इसके सम्बन्ध में कोई खास और कड़े नियम नहीं हैं। यह इस बात पर निर्भर करता है कि बैंक के ग्राहकों का व्यवसाय किस प्रकार का है। यदि वे उद्योगपति हैं, तो वेतन बाटने के दिन अथवा उससे एक दिन पहले वे काफी नकद रुपया बैंक से निकालेंगे। यदि बैंक के ग्राहक अधिकतर किसान हैं, तो वे कभी-कभी और कम मात्रा में रुपया निकालेंगे। तब सुरक्षित कोष भी थोड़ी मात्रा में रखना अच्छा होगा। सुरक्षित कोष की मात्रा वर्ष के मौसिम पर भी निर्भर होगी। यदि फसल कटने की ऋतु है, तो देहातों में किसानों के पास काफी रुपया आयगा, क्योंकि वे अपना अनाज बेचेंगे। तब सुरक्षित कोष काफी मात्रा में रखना पड़ेगा। फिर रुपये की एकाएक मांग होने की संभावना तो चाहे जब बनी रहती है। जैसे कि कोई ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय घटना घटती है जिससे मांग एकाएक बढ़ जाय। इसमें संदेह नहीं कि सुरक्षित कोष में यथोचित् मात्रा रखना एक कुशल मैनेजर का ही काम है।

लेकिन अन्त में सुरक्षित कोष की समस्या आदेय की द्रवता की समस्या हो जाती है। उसके ऋण ऐसे हों जो तुरन्त वसूल किए जा सकें। साधारण समय में मांग-ऋण (call loans) तुरन्त नकदी के रूप में वसूल हो सकते हैं। इसलिये उन्हें सुरक्षा की दूसरी पंक्ति कहा जाता है। हुंडियों और सरकारी ऋण-पत्रों को नकदी के समान ठोस समझा जाता है। क्योंकि असाधारण समय को छोड़कर हुंडिया उचित दर पर भुनाई जा सकती हैं और सरकारी ऋण-पत्र बाजार में बिक सकते हैं। हां, असाधारण समय में जब बाजार बिल्कुल अस्त-व्यस्त हो जाता है, तब उनका बेचना असम्भव हो जाता है। उस समय यह हो सकता है कि अच्छी हुंडिया केन्द्रीय बैंक से फिर से भुनाई जा सकती हैं और ऋण-पत्रों की जमानत पर केन्द्रीय बैंक से ऋण भी प्राप्त किया जा सकता है। किसी भी बैंक-मैनेजर के लिये बिल अथवा हुंडियों के सम्बन्ध में ऐसा प्रबन्ध करना उचित होगा कि कुछ बिल हमेशा पकते रहें और जब अधिक नकदी बैंक से निकलने की आशा हो, तो उस समय वे बिल पकें अर्थात् उनकी भुगतान की तिथि पूरी हो।[1]

क्या बैंक साख उत्पन्न कर सकते हैं? (Do Banks Create Credit?)—यह बतलाया जा चुका है कि आधुनिक बैंक की जमा दो प्रकार से उत्पन्न होती है। एक तो लोग अपना रुपया बैंक में जमा करने ले जाते हैं और बैंक ऋणों से जमा बनती है उनके नाम से अपने खाते में रुपया जमा कर लेता है। पोस्ट आफिस के सेविंग्स बैंकों में इस तरह जमा उत्पन्न होती है। दूसरे, बैंक अपने ग्राहकों की हुंडिया भुनाता है और उन्हें ऋण देता है। जब बैंक किसी व्यक्ति को ऋण देता है, तो वह ऋण की पूरी रकम एक बार में नहीं देता। वह ग्राहक

[1] Hayek—'Monetary Theory and the Trade Cycle. pp. 150–167 में इस सम्बन्ध में अच्छी विवेचना की गई है।

के नाम एक खाता खोल देता है और उसमें वह रकम लिख दी जाती है। ग्राहक अपनी आवश्यकता के अनुसार उसमें से रुपया निकालता रहता है। इसलिये बैंक का प्रत्येक ऋण एक जमा भी उत्पन्न कर देता है।

मि० हार्टले विदर्स (Hartley Withers) का कहना है कि ऋण जमा उत्पन्न करते हैं। अर्थात् बैंक ही साख उत्पन्न करता है। हाँ, यह जरूर है कि ऋण लेने-वाले अपने खाते का जमा दूसरों को देने के लिये निकाल सकते हैं। परन्तु ये दूसरे लोग भी तो बैंक के ग्राहक हो सकते हैं और संभव है कि रुपया पाने पर वे फिर उसे उस बैंक में जमा कर देंगे। यदि वे दूसरे बैंकों के ग्राहक हैं, तो उन बैंकों में उस रुपया को जमा कर देंगे। कुछ भी हो, जब तक ऋण रहता है, तब तक उतनी रकम की जमा किसी न किसी बैंक के खाते में बनी रहेगी।

डाक्टर वाल्टर लीफ[1] (Dr. Walter Leaf) तथा कानन ने इस सिद्धान्त का बड़ा गहरा विरोध किया है कि बैंक साख उत्पन्न करते हैं। इन दोनों विद्वानों का मत है कि साख की उत्पत्ति का आरम्भ बैंकों द्वारा नहीं, बल्कि जमा करनेवाले ग्राहकों द्वारा होता है। वास्तव में होता यह है कि जमा करनेवाले अपने जमा का अधिकांश निकालते नहीं हैं, इसलिये बैंक ऋण देने में समर्थ होता है। इन सिद्धान्तों में त्रुटि यह है कि वे इन समस्याओं की ओर गलत दृष्टि से देखते हैं। ऋणों से जमा नहीं बनती, बल्कि जो जमा निकाली नहीं जाती, वह ऋण के रूप में दी जाती है। इस तरह एक बैंक और कपड़े रखने के कमरे (cloak room) में कोई खास अन्तर नहीं है। मान लो, एक दावत में सौ मेहमान आये हैं। प्रत्येक के पास बरसाती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी बरसाती एक कमरे में रखता जाता है और उस कमरे में एक नौकर पहरेदार है। अब मान लो दावत १० बजे रात के पहले खतम न होगी। वह पहरेदार दस बरसाती तो बचा लेता है कि शायद कुछ मेहमान जल्दी चले जायें। पर बाकी ९० बरसाती वह इस शर्त पर किराये पर दे देता है कि वे उसे साढ़े नौ बजे तक वापिस मिल जाना चाहिये। तो बरसातियाँ किराये पर देकर क्या उस पहरेदार ने ९० बरसातियाँ उत्पन्न कर दीं ? यह कहना गलत होगा। इसी प्रकार यह कहना भी गलत होगा कि बैंक साख उत्पन्न करते हैं। लीफ ने इंग्लैण्ड के पाँच बड़े बैंकों के चिट्ठों का विश्लेषण करके यह बतला दिया है कि यद्यपि सन १९२६ के प्रारम्भ के महीनों में बैंकों द्वारा दिये गये ऋणों की मात्रा बहुत बढ़ गई थी, तथापि उनका जमा वास्तव में घट गया था। तब यदि हम यह कहें कि ऋणों से जमा बनती है, तो इस परिस्थिति को कैसे समझायेंगे ?

---

१ Leaf Banking, pp 101–104. Also P. 126.

Cannan. "The difference between a Bank and Cloak Room" in An Economis't Protest.

मूल्य की स्थिरता की दृष्टि से इस वाद विवाद का महत्त्व बहुत अधिक है। यदि बैंक व्यवस्था का साख की मात्रा पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता, यदि जमा करनेवाले साख उत्पन्न करते हैं तब बैंक-व्यवस्था के लिये साख की मात्रा पर नियन्त्रण रखना मुश्किल हो जायगा। तब फिर वह मूल्यों पर भी कोई नियन्त्रण नहीं रख सकेगा। इस सम्बन्ध में पूरी-पूरी व्याख्या की आवश्यकता है।

मान लो, एक ऐसा समाज है जो बिलकुल अलग रहता है और उसका विदेशी व्यवसाय बिल्कुल नहीं है। अब मान लो उस देश अथवा समाज में केवल एक बैंक है और प्रत्येक आदमी उस बैंक में अपना जमा खाता रखता है। फिर मान लो कि उस समाज में नकदी बिल्कुल नहीं चलती। सब काम चेकों द्वारा होता है। इन अनुमानों के अन्तर्गत बैंक में जमा की मात्रा उसके ऋणों द्वारा निश्चित होगी। वह निश्चय ही साख उत्पन्न करेगा। अब हमें एक-एक करके इन अनुमानों को हटाना चाहिये जिससे हम वास्तविक परिस्थितियों को भी समझ सकें। पहला थोड़े बहुत नकद रुपये का उपयोग हमेशा होता है और चेकों को नकदी में भुनाने का आभार बैंकों पर रहता है। इसलिये ग्राहकों की आवश्यकताएं पूरी करने के लिये बैंकों को सुरक्षित कोष में कुछ नकद जमा रखना आवश्यक है। दूसरा, बैंक केवल एक नहीं होता, कई होते हैं। एक बैंक के नाम दिया गया चेक दूसरे बैंक के जरिये भुनाया जा सकता है। फिर एक बैंक में दूसरे बैंकों के चेक भी रहेंगे। इसलिये प्रत्येक बैंक में हमेशा कुछ चेक जमा होने के लिये अथवा भुनने के लिये रहेंगे और इस प्रकार के चेक एक बराबर रकम के नहीं रहेंगे। इसलिये अन्य बैंकों से आये हुए चेकों को भुनाने के लिये कुछ नकद जमा रखना आवश्यक है। प्राय सुरक्षित कोष की कुल मात्रा कुल जमा की मात्रा का एक निश्चित अनुपात होती है। प्रत्येक बैंक अनुभव से यह जानता है कि अपने दायित्व को पूरा करने के लिये उसे सुरक्षित कोष कितनी मात्रा में रखना चाहिये। जब उसका सुरक्षित कोष इस मात्रा से अधिक होगा, तब वह अधिक ऋण दे सकेगा। जब सुरक्षित कोष इस मात्रा से कम होगा तब वह कम ऋण देगा। बैंक व्यवस्था की ऋण-नीति सुरक्षित कोष की कुल मात्रा पर निर्भर होती है।

साख उत्पादन करने में बैंक की शक्ति की सीमाएं

इस प्रकार बैंकों की साख उत्पन्न करने की शक्ति पर दो बन्धन या शर्तें रहती हैं। कोई भी बैंक अपने साधनों के बाहर ऋण नहीं दे सकता। यदि वह ऐसा करेगा तो उसका सुरक्षित कोष बहुत कम हो जायगा। क्योंकि जितने चेकों का रुपया वह अन्य बैंकों से प्राप्त करेगा, उससे अधिक उसे अन्य बैंकों के चेक भुनाने में देना पड़ेगा। दूसरे, सब बैंकों के कुल सुरक्षित कोष की मात्रा के अनुपात में साख की उत्पत्ति

करेंसी और बैंकिंग. १

बैंकों के सुरक्षित कोष की कुल मात्रा केन्द्रीय बैंक की नीति पर निर्भर करेगी। यदि

केन्द्रीय बैंक बाजार में ऋण-पत्र खरीदता है तो बैंको का सुरक्षित कोष बढ़ेगा ।[1] जब वह ऋण पत्र बेचता है, तब बैंकों का सुरक्षित कोष घट जाता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक की नीति पूरी बैंक व्यवस्था की नकद सुरक्षित जमा निश्चित करती है और बैंको के कुल सुरक्षित कोष पर उनकी ऋण की मात्रा निर्भर होती है। कनान की त्रुटि यह थी कि उसने केवल जमा पर ध्यान दिया। वास्तव मे बैंक अपना जमा उधार नही देते, वे अपनी साख उधार देते है। उधार देने के काम का प्रारम्भ उन्ही के द्वारा होता है।

हा एक महत्वपूर्ण शर्त अवश्य है। उधार देने के काम मे दो व्यक्तियों में सौदा होना है—एक उधार देनेवाला और दूसरा उधार लेनेवाला। कभी-कभी ऐसी परिस्थिति आ जाती है जब कीमते गिरने लगती हैं और बाजार तथा व्यवसाय में विश्वास गिरने लगता है। एसे समय मे उधार लेनेवालों का मिलना मुश्किल हो जाता है। तब बैंकों को अपने ऋणो की मात्रा मे होती हुई कमी को रोकना मुश्किल हो जाता है। इसलिये साख उत्पन्न करने की शक्ति अपूर्ण होती है।

निकास-गृह (Clearing Houses)—इस शब्द के पर्यायवाची निबटारा-घर चेक चुकाई गृह इत्यादि भी हैं। "निकास-गृह किसी एक स्थान पर बैंको का एक सगठन होता है, जिसका उद्देश्य चेको द्वारा होनेवाले आपसी लेन-देन का हिसाब और भुगतान करना होता है।" जब एक देश में कई बैंक होते हैं, तो प्रत्येक बैंक के पास के अन्य बैंकों के नाम काटे गये कई चेक जमा होते अथवा भुनने के लिये आवेंगे। प्रत्येक बैंक ये सब चेक निकास-गृह में लाते हैं और वहा यह हिसाब किया जाता है कि प्रत्येक बैंक को किससे कितना लेना है और कितना देना है। चेकों की रकम जोड़—घटाने के बाद जो बाकी रकम बच रहती है—देकर हिसाब पूरा कर दिया जाता है। सब बैंक आपस में एक दूसरे के साथ इस प्रकार का हिसाब कर लेते है। मान लो, अ और ब दो बंक है। एक दिन में अ को कुछ चेक मिलेगे जो ब के नाम काटे गये हैं। अ उन्हें ब के पास भुनने के लिये भेजेगा। इसी प्रकार ब के पास भी कुछ चेक आवेंगे जो अ के नाम काटे गये हैं। दिन भर के बाद अथवा दिन मे कई बार अ और ब के प्रतिनिधि निकास-गृह मे मिलेंगे और जहा तक होगा एक दूसरे का भुगतान कर देंगे। मान लो अ को ब से १०,००० रु० प्राप्त करना है और ब को अ से १२,००० रुपया लेना है। तब अ २,००० रुपये की बाकी रकम ब को दे देगा और हिसाब पूरा हो जायगा। व्यवहार में सब बैंक किसी बड़े बैंक के पास—प्राय केन्द्रीय बैंक के पास—एक खाता रखते हैं और अ, ब को केन्द्रीय बैंक के नाम एक चेक दे देगा। इस तरीके से नकद के उपयोग में बहुत बड़ी बचत हो जाती है। और इस प्रकार के लेन-देन के हिसाब केन्द्रीय बैंक द्वारा तय हो जाते हैं। केन्द्रीय बैंक में प्रत्येक बैंक का जो जमा रहता है, केवल वह एक दूसरे के हिसाब में बदलता रहता है। इस प्रकार एक दिन में लाखों का हिसाब चुकता हो जाता है।

---

[1] See next chapter for 'Open Market Policy'.

सैंतीसवां अध्याय

केन्द्रीय बैंक और उनके कार्य

(Central Banking)

प्रथम महायुद्ध के बाद मुद्रा-सिद्धान्त के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह हुई है कि केन्द्रीय बैंकों की स्थिति बहुत ऊंची हो गई है और उनकी शक्ति बहुत बढ़ गई है।

केन्द्रीय बैंकों की आवश्यकता

दो महायुद्धों के बीच में जो समय बीता उसमें होनेवाले आर्थिक पुनर्संगठन में केन्द्रीय बैंकों को स्थापित करने तथा उनके पुनर्संगठन पर काफी जोर ध्यान दिया गया। आज संसार में शायद ही ऐसा कोई सभ्य देश हो, जिसमें कि एक केन्द्रीय बैंक न हो।

केन्द्रीय बैंकों का संगठन (Constitution of Central Banks)–विभिन्न केन्द्रीय बैंकों के संगठन की महत्त्वपूर्ण बातों में इतनी विभिन्नता होती है कि उनका कोई एक किस्म या प्रकार नहीं होता। कुछ केन्द्रीय बैंक ऐसे होते हैं, जिनका प्रबन्ध सरकार करती है, और सरकार ही उनकी मालिक होती है। कुछ ऐसे होते हैं, जिनके मालिक हिस्सेदार होते हैं और ये हिस्सेदार या तो जनता के लोग होते हैं अथवा व्यावसायिक बैंक। अमेरिका में यही प्रणाली प्रचलित है। प्रथम महायुद्ध के बाद जो केन्द्रीय बैंक स्थापित हुए उनके स्वामी जनता के लोग होते हैं। लोगों के पास बैंक के हिस्से रहते हैं। उस समय यह कहा जाता था कि केन्द्रीय बैंकों को सरकार के प्रभाव और नियन्त्रण से स्वतन्त्र रहना चाहिये। परन्तु इधर कुछ वर्षों में व्यावसायिक मंदी, शस्त्रीकरण के भारी खर्च तथा समाजवादी विचारों के प्रचार के कारण केन्द्रीय बैंकों पर सरकारों का प्रभाव बहुत अधिक पड़ गया है। अब कोई ऐसा केन्द्रीय बैंक नहीं है, जो सरकार के नियन्त्रण से बिल्कुल स्वतन्त्र हो। यदि हम महत्त्वपूर्ण बैंकों के गवर्नरों और डायरेक्टरों की सूची की ओर ध्यान दें तो यह बात प्रकट हो जाती है। डायरेक्टरों के बोर्ड का गवर्नर तथा उसके सहायक प्रायः सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और इन दो व्यक्तियों के हाथ में काफी शक्ति और अधिकार रहते हैं। यदि सरकार स्वयं उन्हें नियुक्त नहीं करती तो उनकी नियुक्ति में सरकार की स्वीकृति आवश्यक रहती है। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में गवर्नरों के बोर्ड में सात सदस्य होते हैं और इन सातों सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा होती है। फ्रान्स में बैंक का गवर्नर

तथा उसके सहायक राष्ट्रपति के द्वारा चुने जाते हैं। इंग्लैण्ड में गवर्नर उसका सहायक तथा डायरेक्टर सरकार द्वारा नियुक्त होते हैं।

डायरेक्टरों के बोर्ड की नियुक्ति कई प्रकार से होती है। अमेरिका और इंग्लैण्ड में प्रधान बोर्ड के सब डायरेक्टर सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। अमेरिका में बारह रिजर्व बैंक अर्थात् केन्द्रीय बैंक हैं, जिनके हिस्सेदार व्यावसायिक बैंक हैं। ये हिस्सेदार बैंक रिजर्व बैंकों के केवल कुछ डायरेक्टर चुन सकते हैं। कुछ देशों में अधिकांश डायरेक्टर हिस्सेदारों द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। कभी-कभी ऐसे नियम बना दिये जाते हैं कि सब अथवा कुछ डायरेक्टर व्यवसाय, कृषि अथवा अन्य उद्योगों के प्रतिनिधियों में से चुने जाने चाहिये। इसके साथ ही प्राय यह नियम बना दिया जाता है कि अर्थमंत्री अथवा अर्थविभाग का एक उच्च अधिकारी भी एक डायरेक्टर होगा और वह सरकारी नीति के अनुसार बैंक के कामों का देख-रेख करेगा।

अन्य बातों पर भी सरकार का नियन्त्रण रहता है। उदाहरण के लिये बैंक के लाभ के वितरण में सरकार का हाथ रहता है। एक निश्चित अथवा उचित दर पर लाभ बाटने के बाद सरकार भी बैंक के लाभ में से एक हिस्सा लेती है।

केन्द्रीय बैंकों के कार्य (Functions of Central Banks)—केन्द्रीय बैंक साख की पूरी मशीन के चालक अथवा ड्राइवर का काम करता है, जिससे कि कीमतों में दृढता बनी रहे। यही उसका प्रधान कार्य है। यह मुद्रा और साख की पूरी मात्रा का नियन्त्रण करता है और उसे चलाता है। जब बाजार में मुद्रा और ऋण की कमी होती है तो वह उन्हें अधिक मात्रा में लाता है और जब साख अधिक हो जाती है, तो वह मुद्रा को समेट लेता है। उसका उद्देश्य कीमतों की दृढता के साथ-साथ विनिमय की भी दृढता स्थापित करना होता है और जहा तक हो सके, वह इन दोनों के बीच में सामञ्जस्य स्थापित करता है। वह कीमतों की अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनों प्रकारों की चालों पर नियन्त्रण रखने का प्रयत्न करता है।

इस कार्य को भली-भाति करने के लिये केन्द्रीय बैंक को कुछ अन्य कार्य करना आवश्यक है। सन् १९२६ में बैंक ऑफ इंग्लैण्ड के गवर्नर ने इन कामों का वर्णन बड़े सुन्दर ढग से किया था।[१]

(१) कीमत की दृढ़ता स्थापित करना

"केन्द्रीय बैंक को नोट चलाने का एकाधिकार प्राप्त होना चाहिये। कानून-ग्राह्य प्रामाणिक मुद्रा केवल उसी से प्राप्त होनी चाहिये और अन्त में उसी के पास वापिस भी जानी चाहिये। अर्थात् उसके लेने और देने का वही अन्तिम साधन रहे। सरकारी कोष का केवल वही एक खजाची रहे। देश के

[१] Evidence before the Royal Commission on Indian Currency and Finance, 1926.

अन्य जितने बैंक हों और उनकी जितनी शाखाएं हों, उन सबके सुरक्षित कोष का वह एकमात्र खजांची अथवा कोषाध्यक्ष हो। वह सरकार का एक प्रकार का गुमाश्ता होगा और देश में तथा विदेश में सरकार के मुद्रा सम्बन्धी जितने कार्य होंगे वे सब उसी के जरिये होंगे। देश में तथा विदेश में वह मुद्रा साख, विनिमय और सीमाओं को दृढ़ बनाने का प्रयत्न करेगा और इसके लिये आवश्यकतानुसार मुद्रा और साख में घटी-बढ़ी करेगा। आवश्यकता होने पर केवल उसी से अतिरिक्त साख प्राप्त हो सकेगी। वह साख-स्वीकृत हुंडियों को फिर से भुनाकर अल्पकालीन ऋण-पत्रों या हिस्सों पर ऋण देकर अथवा सरकारी ऋण-पत्रों पर ऋण देकर प्राप्त की जा सकती है।'

इसलिये सबसे पहले केन्द्रीय बैंक को नोट चलान का एकाधिकार प्राप्त होना चाहिये, जिससे वह मुद्रा पर नियंत्रण रख सके। हम देख चुके हैं कि बैंकों के ऋणों की कुल मात्रा का उनके सुरक्षित कोष से एक आनुपातिक सम्बन्ध होता है। नकद सुरक्षित कोष में नोट तथा सहायक मुद्रा होती है। सहायक मुद्रा बहुत कम मात्रा में होती है।

(२) नोट चलन का प्रबन्ध

इसलिये साख की मात्रा पर नियंत्रण रखने के लिये उसे नोट चलाने का अधिकार अवश्य प्राप्त होना चाहिये। साथ ही सहायक मुद्रा भी केन्द्रीय बैंक द्वारा ही चलनी चाहिये।

दूसरे, केन्द्रीय बैंक बैंकों के बैंक का काम करता है। देश के अन्य सब बैंक, कानून अथवा प्रथा के अनुसार केन्द्रीय बैंक में अपनी जमा का एक अंश रखते हैं। अमेरिका में यह कानून है कि अन्य बैंक अपने कुल दायित्व का ३ से लेकर १३ प्रतिशत तक रिजर्व बैंकों के पास जमा के रूप में रखेंगे। इंग्लैण्ड में सम्मिलित पूंजी के बैंक प्रथा और सुविधा के अनुसार बैंक ऑफ इंग्लैण्ड के पास अपनी रकम रखते हैं। भारत में सन् १९३४ के रिजर्व बैंक एक्ट के अनुसार सब प्रामाणिक बैंक (जो रिजर्व बैंक के सदस्य हैं) अपने जमा दायित्व का एक अनुपात (५ से २ प्रतिशत तक) रिजर्व बैंक में रखते हैं। रिजर्व बैंक सम्पूर्ण बैंक व्यवस्था के सुरक्षित कोष का अन्तिम कोषाध्यक्ष होता है और अस्थायी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये अथवा एकदम ठोस हुंडियों को फिर से भुनाने के सम्बन्ध में कोई कठिनाई आ पड़े तो कोई भी बैंक इस कोष से अस्थायी सहायता ले सकता है।

(३) बैंकों का बैंक होना है

तीसरे, केन्द्रीय बैंक सरकार का भी बैंक सम्बन्धी सब काम करता है। करों के सम्बन्ध में तथा विभिन्न प्रकार के खर्चों पर सरकार बड़ी-बड़ी रकमें प्राप्त करती है तथा खर्च करती है। यदि इस आय और व्यय में सामंजस्य न रहे तो मुद्रा-बाजार में गड़बड़ी मच जाय। इसलिये सरकार के आर्थिक तथा मुद्रा कार्य केन्द्रीय बैंकों द्वारा इस प्रकार होने चाहियें, तथा आय और व्यय में ऐसा सन्तुलन रहे कि मुद्रा बाजार में गड़बड़ी न पैदा हो।

(४) सरकारी बैंक होना है

इसलिये केन्द्रीय बैंक सरकारी ऋणों और सरकार के आय-व्यय पर नियंत्रण रखता है और बिना ब्याज दिये सरकार की पूंजी भी रखता है।

चौथे जब कोई देश स्वर्णमान पर होता है, तब उस मान का प्रबन्ध केन्द्रीय बैंक करता है जिससे विनिमय में दृढ़ता बनी रहे। इस काम के लिये कानून द्वारा केन्द्रीय बैंक पर यह आभार दे दिया जाता है कि वह निश्चित मूल्य पर सोना खरीदेगा और बेचेगा। कुछ देशों में केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार दे दिया जाता है कि वह स्वर्णमानवाले देशों को सोना अथवा विदेशी विनिमय बेच सकता है। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह होता है कि वह सोने के आवागमन पर नियंत्रण रखता है। जब सोने का आयात होता है, तब वह साख का विस्तार करता है अथवा बाजार से ऋण-पत्र पर बेचता है, जिससे सोना खप जाता है और जब सोने का निर्यात होता है, तब यह इसका उल्टा करता है।

(५) स्वर्णमान का प्रबन्ध करता है

पाँचवाँ, ऋण का अन्तिम साधन केन्द्रीय बैंक होता है। उत्तम तथा ठोस हुंडियों को पुन चलाकर अथवा मान्यता प्राप्त अल्पकालीन ऋण-पत्रों की जमानत पर ऋण लेकर अन्य बैंक थोड़े ही समय में अपना नकद सुरक्षित कोष बढ़ा सकते हैं। जब कभी संकट अथवा भय के कारण लोग एकदम बैंको से रुपया खीचने लगते हैं, तब थोड़े से नोटिस पर अपने ठोस आदेय को नकद जमा में परिवर्त्तन करने की यह सुविधा बैंको को बहुत बड़ी सहायता देती है। इसलिये केन्द्रीय बैंक वह अन्तिम जरिया होता है, जहा से बाजार संकट-काल में ऋण या साख प्राप्त कर सकता है और भयग्रस्त लोगो की मुद्रा की माग अथवा अतिरिक्त साख की अस्थायी माग पूरी कर सकता है।

अन्तिम, केन्द्रीय बैंक कुछ छोटे-मोटे काम भी करता है। जैसे कि वह व्यावसायिक बैंको के चेकों और ड्राफ्टों (drafts) के हिसाब चुकाने में निकास-गृह का काम करता है।

साख नियन्त्रण के तरीके (Methods of Credit Control)–केन्द्रीय बैंक साख की मात्रा को तीन तरह से नियंत्रित करता है। एक तो बैंक दर (bank rate) ऊंची या नीची करके, दूसरे खुले बाजार में लेन-देन करके और तीसरे, अपने सदस्य बैंकों के सुरक्षित कोषों के अनुपातों में परिवर्तन करके। हम इन तीनों तरीकों का एक-एक करके वर्णन करेंगे।

बैंक रेट का प्रभाव[१] (Influence of Bank Rate)–बैंक दर वह न्यूनतम दर है जिस पर केन्द्रीय बैंक पहले दर्जे के विनिमय बिलों अर्थात् हुंडियों को भुनाता है, अथवा मान्यता प्राप्त ऋण-पत्रों की जमानत पर ऋण देता है।

---

१. इस अध्याय का परिशिष्ट देखिये।

कुछ देशों में बैंक दर को बट्टे की दर (discount rate) भी कहते हैं।

मान लो, किसी देश के आयात-निर्यात का अन्तर या निजारती बाकी (balance of trade) उसके विपक्ष में हो जाता है। इस प्रतिकूल अन्तर के कारण देश से माल का निर्यात होगा। चूंकि इससे केन्द्रीय बैंक का सुरक्षित कोष कम होगा, इसलिये वह बैंक दर बढ़ा देगा। बैंक दर बढ़ाने का फल क्या होगा ?

विदेशी विनिमय का प्रभाव (Effect on the foreign exchanges)– विदेशी विनिमय पर इसका तत्काल प्रभाव पड़ेगा। बैंक दर ऊंची होने का अर्थ यह होता है कि लोग विशेषकर विदेशी लोग उस देश में ब्याज की ऊंची दर प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये उन्हें जो रुपया उस देश से लेना है उसे वे नहीं लेंगे अथवा जो हुंडी उन्होंने भुनाई है उसका रुपया भी पड़ा रहने देंगे। फल यह होगा कि उस देश में बाहर से रुपया आने लगेगा अथवा देश का रुपया बाहर जाना बन्द हो जायगा। विदेशी लोग उस देश की मुद्रा की अधिक मांग करेंगे। इसलिये विदेशी विनिमय की दर में उसका मूल्य बढ़ जायगा। अर्थात विनिमय की दर उस देश के पक्ष में हो जायगी और सम्भव है कि उस देश में माल का भी आयात होने लगे। फिर बैंक दर ऊंची होने के कारण लोग ऋण कम लेंगे और देश में खरीदने की शक्ति घटेगी। आयात की मात्रा भी घटेगी, क्योंकि खरीदने की शक्ति कम होने के कारण लोग विदेशी वस्तुएं भी कम खरीदेंगे। इसलिये विदेशी व्यवसाय का अन्तर देश के पक्ष में होने की प्रवृत्ति दिखायेगा।

कीमतों और लागतों पर प्रभाव (Effect on Prices and Costs)–चूंकि अब ऋण लेने की कीमत अधिक हो जायगी, इसलिये वे व्यवसायी जो पुरानी दर पर ऋण लेकर उसे व्यवसाय में लगाने से हिचकिचाते थे, अब इस नई ऊंची दर पर ऋण नहीं लेंगे। फिर जो लोग कारखाने, मकान, बांध इत्यादि बनवाने के लिये दीर्घकाल के लिये ऋण लेते हैं, वे अब ये काम कम कर देंगे, क्योंकि बैंक दर ऊंची होने के कारण ऋण महंगा पड़ता है। इसलिये जिन सामानों के उत्पादन में लम्बे समय के लिये पूंजी लगती है, उनका उत्पादन भी कम हो जायगा और उत्पादन के काम में लगे हुए कारखानों में बेकारी बढ़ेगी। बेकार लोगों की खरीदने की शक्ति घटेगी, इसलिये कीमतें भी घटेंगी। इसी बीच में व्यवसायी और थोक विक्रेता जो उधार रकम लेकर माल रखते हैं, अपने माल की मात्रा घटायेंगे, क्योंकि एक तो ऋण की दर ऊंची है और दूसरे कीमतें गिरने का डर है। वे अपनी खरीद भी कम कर देंगे। जब उत्पादकों की बिक्री घटेगी तब पहले तो वे कारखाने बन्द नहीं करेंगे, क्योंकि एक बार बन्द करने पर फिर मांग बढ़ने पर चालू करना मुश्किल होगा। पहले वे अपने माल की कीमत कम करेंगे। इसलिये थोक कीमतों की सतह में कमी होगी। परन्तु उत्पादन की लागत तथा मजदूरी की दर में तो कमी हुई नहीं है, इसलिये उत्पादकों की हानि होगी। परन्तु इस तरह वे अधिक समय तक नहीं चला सकते और उन्हें उत्पादन कम करना पड़ेगा। इससे चारों तरफ काफी बड़े पैमाने पर

सदस्य बैंक रिज़र्व बैंकों से बिल हुण्डियाँ भुनाकर ऋण लेते हैं। इसलिए फेडरल रिज़र्व बोर्ड जब बाजार में ऋण-पत्र बेचता है और इस प्रकार अपने सदस्य बैंकों के सुरक्षित कोषों को कम कर देता है तब ये बैंक रिज़र्व बैंकों के पास अपनी कुछ हुण्डियाँ ले जा सकते हैं और उन्हें फिर से भुनाकर अपने सुरक्षित कोष बढ़ा सकते हैं। तब बाजार में कमी न पड़ेगी और खुले बाजार की नीति का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। हाल में यह प्रथा बन गई है कि रिज़र्व बैंक से अधिक मात्रा में और लगातार ऋण नहीं लेना चाहिए। साथ ही एक सीमा भी बाँध दी गई है और प्रत्येक सदस्य बैंक उसी सीमा तक ऋण ले सकता है। जब फेडरल रिज़र्व बैंक बाजार में ऋण-पत्र बेचता है तब सदस्य बैंक यदि अपनी सीमा तक ऋण लिए हैं तो वे उन ऋण-पत्रों को तत्काल नहीं भुना सकते। वे अपने ऋण वापिस लेंगे और हुण्डियाँ भी कम मात्रा में खरीदेंगे जिससे मुद्रा की दर ऊँची उठ जायगी। इसी प्रकार जब ऋण-पत्र खरीदे जाते हैं और खरीद का रुपया सदस्य बैंकों के पास जमा होता है और वे अपना कर्ज़ चुकाने में उसे रिज़र्व बैंकों को देते हैं

अमेरिका में खुले बाजार की नीति

तब इस प्रकार सदस्य बैंकों का ऋण कम हो जाता है और ग्राहकों को ऋण देने में वे अधिक उदार नीति ग्रहण कर सकते हैं। तब मुद्रा की दर अर्थात् ब्याज की दर कम हो जाती है।

इस प्रकार संघीय सुरक्षित प्रणाली में खुले बाजार की नीति की उपयोगिता अधिक अच्छी तरह मालूम होने लगी है यद्यपि यह उतनी पुष्ट और प्रभावकारी नहीं है जितनी कि इंग्लैण्ड में। योरोप में खुले बाजार की नीति प्रचलित नहीं है। कुछ दिनों से बैंक आफ फ्रांस ने खुले बाजार की नीति ग्रहण की है। द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने के थोड़े दिन पहले जर्मनी के रीख बैंक अर्थात् केन्द्रीय बैंक को सरकारी ऋण-पत्रों के खरीदने और बेचने के सम्बन्ध में कुछ अधिक अधिकार प्राप्त हुए थे।

इस प्रकार खुले बाजार की नीति द्वारा केन्द्रीय बैंक मुद्रा बाजार में एकता स्थापित करने का एक साधन प्राप्त कर लेते हैं। जब अधिक मुद्रा की माँग होती है, उदाहरण के लिए बड़े दिन, होली या दिवाली पर, तब केन्द्रीय बैंक ऋण-पत्र खरीदकर मुद्रा बाजार को रुपयों से भर सकता है। फिर ऋण-पत्र खरीदकर अथवा बेचकर केन्द्रीय बैंक सोने के आवागमनजनित परिणामों को प्रभावहीन बना सकता है। जब देश में सोने का आयात होता है तब बैंकों के सुरक्षित कोष बढ़ जाते हैं और वे चाहें तो अधिक मात्रा में ऋण दे सकते हैं। परन्तु यदि केन्द्रीय बैंक को यह ऋण फैलाने की नीति पसन्द नहीं है तो वह बाजार में ऋण-पत्र बेचकर बैंकों के सुरक्षित कोष कम कर देगा और इस प्रकार उन्हें ऋणों का विस्तार नहीं बढ़ाने देगा। यह सोने के आयात को प्रभावहीन बनाना (sterilising) कहलाता है। इसके विरुद्ध जब सोने का निर्यात होता है और बैंकों के सुरक्षित कोष कम हो जाते हैं तब वे ऋणों को संकुचित करने की नीति ग्रहण कर सकते हैं। यदि केन्द्रीय बैंक ऋणों में कमी नहीं चाहता तो वह बाजार में ऋण-पत्र

खरीदेगा। इसे सोने को 'ढकेलना' (offsetting) कहते हैं। अन्त में सकट काल में और अकस्मात् जब भयग्रस्त लोग अपना रुपया निकालने के लिये बैंकों पर दौड़ते हैं और रुपये की मांग एकाएक बढ़ जाती है, तब बैंकों की हुंडिया भुनाकर और ऋण-पत्र अधिक मात्रा मे खरीदकर केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों की सहायता कर सकता है। सन १९३१-३२ म जब अमेरिका के बैंकों पर सकट आया तब फेडरल रिजर्व सिस्टम ने इस तरीके का बहुत अधिक उपयोग किया और बैंकों की सहायता की।

बैंक दर और खुले बाजार की नीति में सम्बन्ध (Relation between Bank Rate and Open Market Policy)—यह प्रकट है कि बैंक दर और खुले बाजार की नीति का प्रयोग पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता। एक का प्रभाव दूसरे के बिना उतना अच्छा नहीं होगा, जितना होना चाहिये। उदाहरण के लिये, सभव है कि ऊची बैंक दर के परिणामस्वरूप साख में हमेशा कमी न हो। यदि अन्य सम्मिलित पूजीवाले बैंकों के पास अधिक रुपया है, तो बैंक दर ऊची होने पर भी वे कम दर पर ऋण देने जायेंगे। इस प्रकार बैंक दर प्रभावहीन हो जायगा। इस परिस्थिति में केन्द्रीय बैंक बाजार में ऋण-पत्र बेचकर उनका अधिक रुपया खीच लेगा। तब उन बैंकों को ऋणों की मात्रा कम करनी पड़ेगी। इसी प्रकार यदि खुले बाजार की नीति के साथ-साथ बैंक दर में भी उपयुक्त परिवर्तन नहीं होते तो वह भी प्रभावहीन हो सकती है। मान लो, साख नियन्त्रित करने के लिये केन्द्रीय बैंक ऋण-पत्र बेचता है परन्तु वह अपने बट्टे की दर नहीं बढाता। तब सदस्य बैंक उन्हें फिर से भुनाकर अपना सुरक्षित कोष भर सकते हैं। चूकि केन्द्रीय बैंक ने बट्टे की दर नहीं बढाई है और वह कम है, इससे वे उन ऋण-पत्रों को तुरन्त भुना लेंगे। तब साख को सीमित करने की नीति असफल रहेगी। परन्तु ऋण-पत्र बचने के साथ ही यदि बट्टा अथवा भुनाने की दर भी बढा दी जाय तो अन्य बैंक उन्हें भुनाने मे कोई लाभ न देखेंगे। बल्कि वे अपने ऋण वापिस लेंगे। इसलिये यदि बैंक दर और खुले बाजार की नीति का एक साथ प्रयोग न किया जाय और दोनो पर अलग-अलग अमल किया जाय तो उनकी सफलता में सन्देह है।

बैंक दर और खुले बाजार की दर

खुले बाजार की नीति का प्रयोग आजकल दो उद्देश्यो से किया जाता है। एक तो बैंक दर में होनेवाले परिवर्त्तनो का सहने के लिये मुद्रा बाजार को तैयार करने के उद्देश्य से और दूसरे बैंक दर को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये। बैंक दर बढाने के लिये ऋण-पत्र बेचे जाते है जिससे कि ऊची बैंक दर की घोषणा होने पर मुद्रा बाजार केन्द्रीय बैंक का अनुसरण करे। इसी प्रकार जब बैंक दर प्रभावहीन हो जाती है, तब खुले बाजार की नीति ग्रहण की जाती है, जिसम बैंक दर फिर प्रभावयुक्त हो जाय। आजकल यह अधिकाधिक माना जाता है कि मुद्रा बाजार में अस्थायी गड़बड़ी करने के लिये बैंक दर की नीति का उपयोग करना उचित नहीं है। बैंक दर के परिवर्तन के प्रभाव

बहुत गंभीर और व्यापक होते हैं। इसलिये उसका उपयोग तभी करना चाहिये, जब देश के आर्थिक जीवन में कोई स्थायी असामंजस्य उत्पन्न हो जाय। इसलिये केन्द्रीय बैंक नियंत्रण का सबसे अच्छा तरीका ऋण-पत्र बेचने और खरीदने की नीति समझते हैं।

सुरक्षित कोष के अनुपातों में परिवर्तन (Variation of Bank Reserve Ratios)—'ट्रीटाइज ऑन मनी' ('Treatise on Money') नामक ग्रन्थ में लार्ड कीन्स (Lord Keynes) ने एक सुझाव रखा था कि केन्द्रीय बैंकों को नियन्त्रण के सम्बन्ध में एक अधिकार और मिलना चाहिये। वह यह कि वे अपने सदस्य बैंकों के सुरक्षित कोषों के अनुपातों में परिवर्तन कर सकें। ऐसे मौके आ सकते हैं जब केन्द्रीय बैंकों के लिये खुले बाजार की नीति ग्रहण करना सम्भव न हो। जब केन्द्रीय बैंक ऋण-पत्र बेचने या खरीदने का निश्चय करें तब सम्भव है कि उनकी कमी हो। फिर केन्द्रीय बैंकों के लिये हमेशा ऊंची कीमत पर ऋण-पत्र खरीदना और कम कीमत पर बेचना लाभकारी नहीं हो सकता। इसलिये अधिक अच्छा यह होगा कि केन्द्रीय बैंकों को यह अधिकार मिल जाय कि कभी-कभी वे अपने सदस्य बैंकों को यह आदेश दे सकें कि अपनी जमा रकम के अनुपात में उन्हें अधिक या कम सुरक्षित कोष रखना चाहिये। उदाहरण के लिये भारत में रिजर्व बैंक के अन्तर्गत प्रामाणिक बैंकों (scheduled banks) को कानून के अनुसार अपनी जमा का ५ प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास रखना चाहिये। यदि रिजर्व बैंक कभी यह देखे कि उसके सदस्य बैंकों के पास अधिक रुपया है और उसके द्वारा वे अपने ऋणों का विस्तार करने वाले हैं, पर इस बात को रिजर्व बैंक पसन्द नहीं करता तो उसे यह अधिकार होना चाहिये कि वह उसकी प्रतिशत जमा की दर बढ़ा सके। मान लो, ५ प्रतिशत से बढ़ाकर उसे ७ प्रतिशत कर सके। तब उनकी अधिक रकम का एक बड़ा अंश जम जायगा और शायद वे अपनी जमा रकम भी अधिक न बढ़ा सकेंगे। अमेरिका में सन् १९३५ के बैंकिंग एक्ट के अनुसार फेडरल रिजर्व सिस्टम के गवर्नरों का बोर्ड अपने सदस्य बैंकों के सुरक्षित कोष की प्रतिशत जमा का अनुपात निश्चित हद तक बढ़ा सकता है। दो मौकों पर अर्थात् अगस्त सन् १९३६ और मार्च सन् १९३७ में ऋणों में बहुत अधिक विस्तार होने लगा और उस पर नियन्त्रण रखने के लिये बोर्ड को सदस्य बैंकों की जमा का अनुपात बढ़ाना पड़ा। सन् १९३६ में न्यूजीलैंड के रिजर्व बैंक को भी व्यावसायिक बैंकों के सुरक्षित अनुपातों को बढ़ाने का अधिकार मिला। मेक्सिको, बेल्जियम इत्यादि के केन्द्रीय बैंकों को भी इस प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं।

साख का राशन (Rationing of Credit)—ऊपर बतलाये हुए तीन तरीकों से केन्द्रीय बैंक बाजार में साख की कुल मात्रा पर नियन्त्रण प्राप्त कर सकता है। परन्तु साख के जितने उपयोग हो सकते हैं, उन पर नियन्त्रण नहीं रख सकता। साख का राशन करके अर्थात् उसका वितरण सीमित करके वह स्टॉक एक्सचेंज को दिये जाने

वाले ऋणो को कम कर सकता है। जो बैंक सटोरियो को उदारतापूर्वक ऋण देता है, वह उनकी हुंडिया नही भुनावेगा। अमरिका में सन् १९३४ के सिक्योरिटीज एक्सचेंज एक्ट के अनुसार फेडरल रिजर्व सिस्टम के बोर्ड ऑफ गवर्नर्स को यह अधिकार है कि वह स्टॉक एक्सचेंज पर सट्टे के लिये दिये जानेवाले ऋणों को सीमित कर सकता है, जिससे साख का दुरुपयोग न हो। परन्तु केन्द्रीय बैंक इस नीति अथवा अधिकार का अधिक उपयोग नही करते।

फिर "नैतिक प्रभाव" (moral persuation) द्वारा केन्द्रीय बैंक अपने सदस्य बैंकों की ऋण नीति पर अप्रत्यक्ष रूप से काफी प्रभाव डालते हैं। प्राय केन्द्रीय बैंक और सदस्य बैंको में बहुत घनिष्ठ सहयोग रहता है और सदस्य बैंक केन्द्रीय बैंक का अनुसरण करते हैं।

नैतिक प्रभाव

नियन्त्रण की सीमाए (Limits of Control)—अभी तक हमने उन तरीको पर विचार किया है, जिनके द्वारा केन्द्रीय बैंक मुद्रा बाजार पर नियन्त्रण रख सकते हैं। परन्तु प्रत्येक तरीके में कुछ भयानक त्रुटिया है। बैंक दर में परिवर्तन करने से हमेशा इच्छानुकूल परिवर्तन नही होते। केन्द्रीय बैंक, बैंक दर में तो परिवर्तन कर सकता है। बैंक दर में परिवर्तन करने के फलस्वरूप बाजार की अन्य दरो में परिवर्तन नही होने, तो बैको की ऋणों की मात्रा में परिवर्तन नही होगे। प्राय मुद्रा बाजार में प्रचलित मुद्रा की दरो में उचित सहयोग और समानता नही होती। लंदन के मुद्रा बाजार में यह प्रथा है कि बैंक जो मुद्रा दर लेते हैं, वह बैंक दर से २ प्रतिशत अधिक होती है और बैंको की मुद्रा दर कम से कम ५ प्रतिशत अवश्य होती है। इसलिए जब बैंक दर बढती है तो बैंको की मुद्रा दर भी बढ जाती है। परन्तु यदि बैंक दर ३ प्रतिशत से कम की जाय तो अन्य मुद्रा दरो में उससे अधिक कमी न होगी। इसलिये केन्द्रीय बैंक मुद्रा दरों में वढती तो करा सकता है परन्तु उनकी कमी कराने की शक्ति बहुत सीमित है। इसका अर्थ यह होता है कि केन्द्रीय बैंक मुद्रा-स्फीति की प्रगति तो रोक सकता है परन्तु मुद्रा की दर में कमी करके उसके संकुचन (deflation) को नही रोक सकता। इसमें यह शर्त अवश्य है कि बैंकों द्वारा दिये जानेवाले ऋणो पर ब्याज की दरो का प्रभाव पडता रहे। परन्तु ऐसा बहुधा नही होता। व्यवसायी जो ऋण लेते है, उन पर ब्याज-दर में होनेवाले परिवर्तन का प्रभाव अवश्य पडता है, परन्तु ऋण का खर्च अर्थात् लागत अधिकतर व्यवसायी की कुल लागत का बहुत छोटा अंश होता है। व्यवसायी की प्रधान चिन्ता तो आगे होनेवाले लाभ की दर पर रहती है। यदि वह देखता है कि कीमतें बढ रही है, तो वह ऋण का खर्च कुछ अधिक होने के कारण ऋण लेना बन्द नहीं करेगा। यदि लाभ का भविष्य अच्छा नहीं है, तो बैंक-दर में कमी

बैंक दर का प्रभाव कहा तक होता है

होने पर भी वह ऋण लेने को नहीं ललचावेगा। मंदी के समय में खासकर ऐसा होता है, क्योंकि उस समय लाभ के बजाय हानि का ही डर अधिक रहता है। ऐसे समय में ब्याज की कोई भी दर उसे ऋण लेने को नहीं ललचावेगी।

खुले बाजार की नीति में भी बड़ी-बड़ी कमजोरियां हैं। हम देख चुके हैं कि यदि इग्लैण्ड में बैंक ऑफ इग्लैण्ड ऋण-पत्र खरीदता अथवा बेचता है, तो बैंकों का सुरक्षित कोष बढेगा अथवा घटेगा। परन्तु सम्भव है कि अमेरिका में ऐसा न हो, क्योंकि इंग्लैण्ड से वहां की प्रथा भिन्न है। अमेरिका में बैंक फेडरल रिजर्व बैंकों से उधार ले सकते हैं। यदि रिजर्व बैंक ऋण-पत्र खरीदते हैं, तो सदस्य बैंकों को कुछ अतिरिक्त नक्द रकम अवश्य मिलेगी। परन्तु उस रकम को वे रिजर्व बैंक का कर्ज चुकाने में खर्च कर सकते हैं। तब उन बैंकों के सुरक्षित कोष तो नहीं बढेंगे। फिर यह भी सम्भव है कि जब फेडरल रिजर्व बैंक ऋण-पत्र खरीदकर अन्य बैंकों की नक्द जमा बढाने का प्रयत्न कर रहे हैं, उसी समय डर के मारे जनता बैंकों से रुपया निकालने लगें और अपने पास ही रखने लगें। तब भी बैंकों के सुरक्षित कोष नहीं बढेंगे। सन् १९३२ में अमेरिका में ऐसा ही हुआ। लोग डर रहे थे कि बैंक फेल हो जायगे और बड़ी मात्रा में बैंकों से अपना रुपया निकाल रहे थे। फेडरल रिजर्व बोर्ड ने उनकी नकद जमा बढ़ाने के जो प्रयत्न किये, उनमें जनता के रुपये निकालने के कारण काफी बाधा पहुची। यदि केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के सुरक्षित कोष बढा भी सकें, तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि उन बैंकों के ऋणों का भी विस्तार होगा। एक तो यह सम्भव है कि सकट का सामना करने के लिये बैंक अपनी नकद जमा बढाते जाय। तब ऋणों में बढ़ती नहीं होगी। दूसरे, यह सम्भव है कि बैंक उधार देने को तैयार भी हो, पर व्यवसायी ऋण लेने को तैयार न हो। आप घोड़े के सामने पानी रख सकते हैं, पर उसे जबर्दस्ती पिला नहीं सकते। इसी प्रकार यदि जनता ऋण लेने से डरती है, तो आप उसे जबर्दस्ती ऋण नहीं दे सकते। मंदी के समय में ऐसा ही होता है, जब लोगों को लाभ की आशा नहीं रहती। ऐसे समय में बैंकों को ऋण फैलाना और लाभ पर अधिक पूजी लगाना कठिन हो जाता है। परन्तु बिना इस प्रकार के विस्तार के मंदी भी दूर नहीं की जा सकती। इस प्रकार हम पहले के नतीजे पर पहुचते हैं। केन्द्रीय बैंक मंदी दूर नहीं कर सकते।

यदि हम सुरक्षित अनुपातों के परिवर्तनों की नीति की व्याख्या करें, तो इसी नतीजे पर पहुचते हैं। यदि बैंकों के पास नकद जमा अधिक है, तो सुरक्षित अनुपात बढ़ाकर केन्द्रीय बैंक नक्द जमा को प्रभावहीन बनाकर अर्थात् जमाकर बैंकों की उदार ऋण-नीति को खतम कर सकता है। परन्तु जब सुरक्षित कोष कम होते हैं, तब केन्द्रीय बैंक सुरक्षित अनुपात को कम करके बैंकों की सहायता कर सकता है। परन्तु इतना होने पर भी यदि व्यवसायी वर्ग को लाभ की आशा नहीं है अथवा मंदी का डर है, तो वह ऋण नहीं लेगा।

ऊपर दिये गये कथन में काफी सत्य है। परन्तु यह कहा जाता है कि अत्यधिक मंदी तभी होती है, जब पहले अत्यधिक लाभ का समय रहा हो। आखिर अत्यधिक विलास के ही कारण तो शरीर रोगी होता है। यदि अत्यधिक लाभ-काल के शुरू होते ही केन्द्रीय बैंक उस पर नियन्त्रण कर सकता है, तो वह मंदी को भी बन्द कर सकता है। "यदि एक मोटरकार गड्ढे में गिर जाती है और आसानी से बाहर नहीं निकल सकती तो इसका अर्थ यह नहीं है कि होशियारी से चलाने पर उसे बीच सड़क पर नहीं रखा जा सकता।"[1] परन्तु क्या प्रारम्भिक अवस्था में केन्द्रीय बैंक उपाय कर सकता है? इसे हम मान सकते हैं कि यदि प्रारम्भिक अवस्था में केन्द्रीय बैंक उपाय करे तो वे सफल हो सकते हैं। परन्तु यह हमेशा सम्भव नहीं होगा। आर्थिक परिस्थिति में जो परिवर्तन होते रहते हैं, उनके उपयुक्त आंकड़े प्राप्त करने में समय लगता है और केन्द्रीय बैंक जो उपाय करेगा, उनके प्रभावशील होने में भी समय लगेगा। परन्तु जब तक आंकड़े इकट्ठे किये जायं, उनके अध्ययन किये जायं और उपयुक्त उपाय किये जायं तब तक रोग जड़ पकड़ सकता है। आर्थिक अध्ययन और व्याख्या सरल काम नहीं है। यदि कीमतें गिरने की प्रवृत्ति दिखलाती है तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि मंदी शुरू हो गई है। हो सकता है कि उत्पादन सम्बन्धी योग्यता बढ़ने से कीमतें गिर रही हैं। यदि ऐसे समय में केन्द्रीय बैंक कीमतों को गिरने से रोकने का उपाय करे, तो वह अत्यधिक-लाभ-काल को उत्साह प्रदान करेगा। सन् १९२४-२९ में अमेरिका में ऐसा ही हुआ।

नियन्त्रण के अन्य तरीके

इसलिये कई अर्थशास्त्री अन्य तरीके ग्रहण करने की सलाह दे रहे हैं। यदि केन्द्रीय बैंक तथा अन्य बैंकों में परस्पर सहयोग हो, तो काफी लाभ हो सकता है। यदि अन्य बैंक केन्द्रीय बैंक का नेतृत्व स्वीकार करके उसका अनुसरण करें तो साख नियन्त्रण सम्बन्धी बहुत-सी कठिनाइयां हल हो जायगी। कभी-कभी ऐसी परिस्थिति आ सकती है, जब बैंकों के ऋण पर एक प्रकार का नियन्त्रण (qualitative control) आवश्यक हो जाय। कुछ देशों में केन्द्रीय बैंकों को ऐसे अधिकार मिले हैं, जिनके अनुसार वे उन बैंकों के खिलाफ उपाय कर सकते हैं, जो सट्टे के लिये अपने साधनों का बड़ा भाग ऋण के रूप में देते हैं। कुछ लोग और कड़ी नीति चाहते हैं। उनका कहना है कि आर्थिक व्यवस्था में जो परिवर्तन होते हैं, उनका प्रधान कारण लाभ के लिये लगी हुई पूंजी की मात्रा में होनेवाले परिवर्तन होते हैं। इसलिये इस पूंजी की मात्रा पर सरकार का प्रत्यक्ष नियन्त्रण होना चाहिये।

---

१ Report of the Macmillian Committee p 95.

सैंतीसवां अध्याय का परिशिष्ट

बैंक दर परिवर्त्तन के कारण होनेवाले प्रभावों पर टिप्पणी

(A Note on the Effect of Bank Rate Changes)

बैंक दर में होनेवाले परिवर्तनों का कीमतों और उत्पादन पर जो प्रभाव पड़ता है, उनके सम्बन्ध में कम से कम दो प्रकार की विचार-धाराएं हैं। पहला मत मि० हाट्रे (Mr. Hawtrey) का है। वे इस बात पर विचार करते हैं कि अल्पकाल में ब्याज-दर में जो परिवर्तन होते हैं उनका प्रभाव उन व्यवसायियों पर क्या होगा, जो बना हुआ अथवा अधबना माल रखते हैं। दूसरी विचार-धारा के प्रवर्तक लार्ड कीन्स (Lord Keynes) हैं। उनका कहना है कि दीर्घकालीन ब्याज-दर में जो परिवर्तन होते हैं और उनका अचल पूंजी पर जो प्रभाव पड़ता है वही प्रभाव अन्त में सब परिणामों का कारण होता है।

मि० हाट्रे का मत है कि इस सम्बन्ध में तत्त्व की बात यह है कि इस परिस्थिति में 'व्यवसायियों' ('dealers') को चालू अथवा अधबने उत्पादक सामानों को रखने को तैयार रहना चाहिये। ये सामान प्रायः अल्पकालीन ऋणों की सहायता से रखे जाते हैं। अल्पकालीन ब्याज-दर में जो परिवर्तन होंगे, उनके कारण व्यवसायियों के पास इन माल की मात्रा में भी परिवर्तन होंगे। उससे कीमतों और उत्पादन में भी परिवर्तन होंगे। यदि अल्पकालीन ब्याज-दर बढ़ती है, तो ऋण लेने का खर्च भी बढ़ेगा और ऋण की सहायता से जो माल में रखा जाता है, उसका खर्च भी बढ़ेगा। तब व्यवसायी अपने माल की मात्रा घटावेंगे। वे उत्पादकों से कम खरीद करेंगे। जब उत्पादक देखेंगे कि बिक्री कम हो रही है, तो वे या तो कीमतें घटावेंगे, जिससे व्यवसायी अधिक खरीदें या उत्पादन कम कर देंगे। वे दाम कहां तक कम करेंगे अथवा उत्पादन कितना कम करेंगे यह बात उनकी लागत-रेखाओं के घुमाव पर निर्भर करेगी। उत्पादन कम करने में उत्पादन के कुछ साधन बेकार हो जाते हैं। इसलिये मुद्रा के रूप में लोगों की आय कम हो जाती है क्योंकि या तो रुपया कमानेवालों की संख्या कम हो जाती है अथवा उनकी आय की दर घट जाती है। इससे माल की फुटकर बिक्री कम हो जायगी। जब बिक्री कम होती है तो व्यवसायी उत्पादकों से और कम खरीदते हैं। इसी प्रकार यह चक्र चलता है। जब माल की मांग कम होती है, तो उत्पादक भी अपनी अचल पूंजी की मात्रा नहीं बढ़ाते। इसलिये लाभ पर लगनेवाली पूंजी के बाजार में मंदी आ जाती है। इस प्रकार कीमतों और उत्पादन में मंदी आती है।

कीन्स का मत है कि अल्पकालीन ब्याज दर में परिवर्तन होने से तथा अचल-पूजी की चालू अथवा कार्यशील मात्रा में परिवर्तन होने से आर्थिक व्यवस्था पर कोई प्रभाव नही पडता। बल्कि दीर्घकालीन ब्याज-दर और अचल पूजी की मात्रा में जो परिवर्तन होते है, केवल उनका प्रभाव आर्थिक-व्यवस्था पर पडता है। चालू पूजी की माग पर अल्पकालीन ब्याज-दर के परिवर्तनो का प्रभाव जल्दी नही पडता। वह तो व्यापक सामान्य परिस्थिति का प्रभाव होता है और यह परिस्थिति उत्पादको की अचल पूजी की माग पर निर्भर होती है। इसलिये वह अपना ध्यान दीर्घकालीन दरो पर ही देता है। जब बैक दर में किसी प्रकार का परिवर्तन होता है तब ब्याज की दीर्घकालीन दरोमें भी उसी प्रकार का परिवर्तन होता है। उसका कारण यह है कि जब अल्पकालीन दर बढती है, तब दीर्घकालीन दर तो स्थिर रहती है, पर अल्पकालीन ऋण-पत्र आकर्षक हो जाते है और लोग तथा बैंक उनमे रुपया लगाने को तैयार रहते है। ऐसे लोग दीर्घकालीन ऋण पत्र बेच कर अल्पकालीन ऋण पत्र खरीदेगें। इससे दीर्घकालीन ऋण पत्र की कीमत गिरेगी और दीर्घकालीन दरें बढेगी। इसके सिवा लोगो को ब्याज दर-बढने का डर होगा और वे दीर्घकालीन ऋण-पत्र इस डर से बेचेंगे क्योकि उनकी कीमत अधिक गिरने का डर है। परन्तु अल्पकालीन ऋण-पत्रो का मूल्य गिरने का डर नही है, क्योंकि वे अपने असली मूल्य पर शीघ्र चुका दिये जायगे। इससे लोग उन्हे खरीदेंगे। इसका फल यह होगा कि दीर्घकालीन ब्याज की दर बढेगी।

दीर्घकालीन-दरो मे परिवर्तन का प्रभाव पूजी बाजार पर पडता है। अचल पूजी सम्बन्धी साधनो (fixed capital goods) के लिये प्राप्त होनेवाली रकम की मात्रा उन साधनो से प्राप्त होनेवाले लाभ तथा दीर्घकालीन ब्याज दर पर निर्भर होगी। यदि लाभ की दर वही रहती है, तो दीर्घकालीन ब्याज-दर जितनी ऊची रहेगी, उतना ही कम आकर्षक नई पूजी लगाना अथवा वर्तमान अचल पूजी का बदलना हो जाता है। फल यह होगा कि उत्पादक अचल पूजी पर कम खर्च करेंगे। अचल पूजी का अर्थात् उत्पादक मशीनो आदि का व्यवसाय भी कम हो जायगा और मुद्रा की कुल आय में कमी होगी। तब लोग अपने खर्च में कमी करेंगे। तब दैनिक खर्च के वस्तुओ के व्यवसाय में मंदी होगी और बेकारी बढेगी। चारो तरफ कीमतें गिरेंगी और उत्पादन कम होगा। पर जब ब्याज दर कम होगी, तब इसका उल्टा होगा।

ध्यान रहे कि इन मतो को घटनाओ की तराजू पर तौलकर उन्हें सत्य सिद्ध करना सम्भव नही है। इन दोनो विचारधाराओ की सत्यता इस बात पर निर्भर करती है कि विभिन्न आर्थिक परिस्थितियो में उत्पादक किस प्रकार काम करेंगे। इन भविष्य में आनेवाली आर्थिक परिस्थितियो का हमें ज्ञान नही रहता। फिर ब्याज-दर में परिवर्तनो के साथ-साथ कीमतो और व्यवसाय में वैसा परिवर्तन नही होता जैसा कि दोनो सिद्धान्तो में मान लिया गया है। फिर ब्याज कई साधनो में से केवल एक है, जो नई पूजी पर प्रभाव

डालता है, चाहे वह पूंजी चालू हो या अचल। फिर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ये दोनों साधन एक दूसरे से स्वतन्त्र नहीं हैं। बैंक दर में परिवर्तन होने से विक्रेता जो माल अपने पास रखते हैं, उसकी मात्रा पर तथा अचल-पूंजी की मात्रा दोनों पर प्रभाव पड़ सकता है। दोनों यन्त्रों में केवल इतना अन्तर है कि कभी यह यन्त्र जोर पकड़ता है, कभी वह अधिक प्रभावशाली होता है।

अड़तीसवां अध्याय

कुछ केन्द्रीय बैंक

(Some Central Banks)

(क) **बैंक ऑफ इंगलैंड**—इस बैंक की स्थापना सन् १६९४ में हुई थी। इसका विधान सन् १८४४ के बैंक चार्टर एक्ट के अनुसार बना था। सन् १९४६ के पहले केन्द्रीय बैंकों में केवल यही एक बैंक था, जिसकी सब पूंजी हिस्सेदारों की थी और इसके हिस्सेदार ही सब डायरेक्टरों को चुनते थे। जब सन् १९४५ में इंगलैंड में मजदूर सरकार की स्थापना हुई तो उसने पहला महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि बैंक ऑफ इंगलैंड का 'राष्ट्रीयकरण' एक कानून द्वारा किया। इस कानून के अनुसार बैंक राष्ट्रीय संस्था हो गई और उसके हिस्सेदारों को ३ प्रतिशत ब्याज के सरकारी ऋणपत्र मिले, जो अपने मूल्य पर (at par) ५ अप्रैल सन् १९६६ को अथवा उसके बाद चुकाये जायेंगे। चूंकि बैंक १२ प्रतिशत की दर से हिस्सेदारों को मुनाफा दे रहा था, इसलिये उन्हें प्रति १०० पौंड के हिस्से के लिये ४०० पौंड के ऋण-पत्र दिये गये हैं। अब बैंक के गवर्नर और डायरेक्टर सरकार द्वारा नियुक्त होते हैं। गवर्नर ५ वर्ष के लिये नियुक्त होता है और डायरेक्टर ४ वर्ष के लिये नियुक्त होते हैं। बैंक दो भागों में विभाजित है—नोट अथवा चलन विभाग (Issue Department) और व्यवसाय अथवा बैंकिंग विभाग (Banking Department), मुद्रा विभाग निश्चित प्रणाली (fixed fiduciary system) से नोट चलाता है। प्रारम्भ में बैंक को यह अधिकार था कि एक करोड़ १४ लाख पौंड तक के नोट वह बिना सुरक्षित सोना रखे चला सकता था। परन्तु यदि इस संख्या से अधिक के नोट चलाता, तो उस अधिक संख्या के मूल्य के बराबर सोना

भी रखना पड़ता था। अर्थात् शत प्रतिशत सोना सुरक्षित कोष में रखना पड़ता था। एक अधिकार यह भी था कि यदि किसी बैंक को नोट चलाने का अधिकार प्राप्त है और वह नोट चलाना या तो स्वयं बन्द कर देता है अथवा उससे यह अधिकार छीन लिया जाता है, तो जितनी मात्रा में नोट बन्द होंगे, उसकी दो तिहाई मात्रा में बैंक ऑफ इंग्लैण्ड अपने विश्वसनीय नोटों (fiduciary portion) की मात्रा बढ़ा सकता था। इस अधिकार के बल पर सन् १९२३ में विश्वसनीय नोटों की मात्रा २७,५०,००,००० पौंड कर दी गई। सन् १९२८ के करेन्सी एक्ट के अनुसार विश्वसनीय मुद्रा की मात्रा बढ़ाकर २६ ०० ०० ००० पौंड कर दी गई। उस कानून में एक शर्त यह भी लगा दी गई कि सरकार की अनुमति से यह मात्रा बढ़ाई जा सकती है और सन् १९३१ में बढ़ाकर यह २७,५०,०० ००० पौंड कर दी गई। इस समय विश्वसनीय मुद्रा (fiduciary issue) की मात्रा सन् १९३९ के कानून के अनुसार १४,५०,००० पौंड है। पहले बैंक ५ पौंड से कम के नोट नहीं चला सकता था। परन्तु सन् १९२८ के कानून के अनुसार उसे १ पौ० तथा १० शि० के नोट चलाने की भी आज्ञा मिल गई। नोटों के चलाने से जो फायदा होता है वह खर्च काटने के बाद सरकार को दे दिया जाता है।

बैंकिंग या व्यवसाय विभाग बैंक सम्बन्धी सब काम करता है। वह सरकार की, अन्य बैंकों की तथा जनता की रकम जमा करता है, देश का सुरक्षित कोष अन्तिम रूप में रखता है, बैंक दर निश्चित करता है और प्रति हफ्ता अपनी आय व्यय सम्बन्धी स्थिति का विवरण प्रकाशित करता है। बैंक का कार्य 'डायरेक्टरों की समिति' (court of directors) चलाती है। इस समिति में एक गवर्नर, एक सहायक गवर्नर तथा २६ सदस्य होते हैं। इन सबको सरकार नियुक्त करती है और उसी के आदेश के अनुसार ये लोग काम करते हैं। गवर्नर तथा सहायक अथवा उप-गवर्नर की नियुक्ति पाँच वर्ष के लिये होती है। परन्तु कार्य-काल समाप्त होने पर उनकी नियुक्ति फिर से हो सकती है। बैंक के पिछले गवर्नर जिनका नाम सर माँटेग्यू नारमन था, अपने पद पर १७ वर्ष तक रहे। यह एक अलिखित नियम-सा था कि बड़ी-बड़ी निजी बैंकिंग फर्मों को छोड़कर किसी बैंक का सदस्य डायरेक्टर नहीं हो सकता था। डायरेक्टर समिति की बैठक प्रति बृहस्पतिवार को होती है। बैठक में समिति बैंक दर निश्चित करती है अर्थात् बैंक प्रथम श्रेणी के बिलों को किस निम्नतम दर पर भुनावेगा और साप्ताहिक विवरण तैयार करती है। बैंक की आठ प्रान्तीय शाखाएं हैं।

बैंक विवरण (Bank Return)—बैंक विवरण प्रति गुरुवार को प्रकाशित होता है और वह मुद्रा बाजार की स्थिति का महत्त्वपूर्ण सूचक होता है। उसे लंदन के मुद्रा बाजार का मापक यंत्र (Barometer) कहा जाता है।

१७ सितम्बर १९४७

चलन या मुद्रा विभाग (Issue Department)

दिये गये नोट		सरकारी ऋण	११,०१५,१०० पौ०
चलन में	१३८२,३६०, १६१	अन्य सरकारी ऋण-पत्र	१४३८,२६१,७२२
बैंकिंग विभाग में	६७ ४८७ ६७२	अन्य ऋण-पत्र ...	७१२,०२१
		चांदी के सिक्के ...	११,१५७
		चलाई हुई विश्वसनीय नोट रकम की मात्रा	१४५०,०००,०००
		सोने के सिक्के और धातु	२४७ ८३३
	१४५०,२४७,८३३		१४५०,२४७ ८३३

व्यवसाय या बैंकिंग विभाग (Banking Department)

हिस्सेदारों की पूंजी	१४,५५३,००० पौ०	सरकारी ऋण-पत्र	३१२,८२४,७०५
शेष	३,९५१,१२१	अन्य ऋण-पत्र बट्टा और ऋण . ..	१२,३८३,५५०
सार्वजनिक जमा ...	९,६०७,०९०	ऋण-पत्र	१७,७२९,३६२
			३०,११२,९१२
अन्य जमा			
बैंकों की जमा ...	२९०,६२९,९४९	नोट	६७,४८७,६७२
अन्य खाते ...	९३,६४४,५८९	सोने और	
	३८४,२७४,५३८	चांदी के सिक्के ..	२,३६०,६९०
	४१२,३८५,७४९		४१२,३८५,७४९

चलन विभाग का प्रधान काम नोट चलाना है। बाईं ओर के खाने से मालूम होता है कि विभाग ने कुल कितनी मात्रा में नोट चलाये। 'चलन में' नोटों से उन नोटों की मात्रा मालूम होती है, जो या तो जनता के हाथ में हैं या बैंकों के सुरक्षित कोष में हैं। बैंकिंग विभाग में जो नोट हैं, वे उस विभाग की सुरक्षित नकद जमा हैं। उस विभाग के विवरण की दाहिनी ओर वह जमा दिखाई गई है। इन दायित्वों के बदले दाहिनी ओर बैंक के आदेय दिखाये गये हैं। "सरकारी ऋण" के नाम से जो रकम दिखाई गई है, वह बहुत पुराना ऋण है। विलियम तृतीय के राज्यकाल में जब बैंक स्थापित हुआ था, तब उसकी सारी पूंजी सरकार को ऋण के रूप में दे दी गई थी। उसके बाद का खाना "अन्य सरकारी

ऋण-पत्रों" का है। उसमें प्रधानतः सरकारी बिल रहते हैं। यदि बैंक किसी अन्य सरकारी ऋण-पत्र को रखना चाहता है, तो वह भी इसी में शामिल रहेगा। उसके बाद 'अन्य ऋण-पत्र' आते हैं। इनमें देशी और विदेशी बिल शामिल रहते हैं। युद्ध के बाद बैंक के पास कुछ चांदी जमा करके रखी गई है। परन्तु चांदी की यह मात्रा कम हो रही है, क्योंकि इसका उपयोग सहायक अथवा पूरक सिक्कों के बनाने में हो रहा है। इन सबको मिलाकर विश्वसनीय मुद्रा बनती है जिसकी मात्रा १,४५ ००,००,००० पौण्ड थी। इस ऊंची संख्या का कारण यह है कि युद्ध आरम्भ होने के बाद सोने के सब सिक्के चलन से हटा लिये गये और उनके स्थान पर बैंक ने एक पौंड और १० शिलिंग के नोट चलाये।

बैंकिंग विभाग में दायित्व के खाने में पहला नाम "हिस्सेदारी की पूंजी' है। इसमें वह पूंजी शामिल है जो हिस्सेदारों ने दी है और जो अब सरकार के हाथ में है। 'शेष' में अविभाजित लाभ आता है। इसकी रकम कभी ३०,७०,००० पौं० से कम नहीं हो पाती। इसके बाद 'सार्वजनिक जमा' आती है। इसमें वह रकम शामिल रहती है, जो विभिन्न सरकारी विभागों के नाम जमा रहती है। "बैंकों की जमा" में सम्मिलित पूंजीवाले बैंकों की जमा रकम शामिल रहती है। 'बैंकों की जमा' में जो परिवर्तन होते रहते हैं, उनसे व्यावसायिक बैंकों के सुरक्षित कोषों का पता चलता है। इस प्रकार वह मुद्रा बाजार की स्थिति का महत्त्वपूर्ण सूचक है। उससे यह पता चलता है कि बैंकों के पास कम रुपया है अथवा अधिक। 'अन्य जमा' में विदेशी केन्द्रीय बैंकों की जमा, हुंडिया स्वीकार करनेवाली और भुनानेवाली गद्दियों की जमा तथा भारतीय और औपनिवेशिक सरकारों की जमा शामिल रहती है।

आदेय के खाने में पहली सूची 'सरकारी ऋण-पत्र' है। इसमें सरकारी बिल, सरकार को दिये गये ऋण तथा वे ऋण-पत्र शामिल रहते हैं, जिन्हें बैंक खरीदता है। 'बट्टा' में वे बिल अथवा हुंडिया शामिल रहती है, जिन्हें हुंडियों के दलाल बैंक में भुनाने के लिये ले जाते हैं। 'ऋण' अथवा पेशगी (advances) में वे ऋण शामिल रहते हैं, जो श्रेष्ठ ऋण-पत्रों की जमानत पर हुंडियों के दलालों अथवा स्थायी ग्राहकों को दिये जाते हैं। इन ऋणों पर बैंक बैंक दर से ½ प्रतिशत अधिक ब्याज लेता है। जब मुद्रा बाजार में नकद रुपयों की कमी होती है तथा हुंडियों के दलालों के पास भी रुपया नहीं रहता, तब वे बैंक के पास अस्थायी ऋणों के लिये जाते हैं। उस समय 'बट्टा' और पेशगी सम्बन्धी रकम बढ़ जाती है। उसके बाद 'ऋण-पत्र' में एक तो वे हुंडिया होती हैं, जो बैंक खुद खरीदता है और दूसरे भारतीय, औपनिवेशिक तथा अन्य सरकारों के ऋण शामिल रहते हैं। 'नोट' बैंक की नकद रोकड़ होते हैं और नोट तथा 'सोने और चांदी के सिक्कों' को मिलाकर बैंक का सुरक्षित कोष बनता है। इस कोष का कुल जमा (सार्वजनिक तथा अन्य प्रकार की) के साथ जो प्रतिशत अनुपात होता है, उसे 'अनुपात' कहते हैं और उससे

बैंक की दृढ़ स्थिति का पता चलता है। जब अनुपात ऊंचा रहता है, तब हमें बैंक दर के गिरने की आशा करनी चाहिये। जब वह नीचा या कम रहता है, तब बैंक दर के बढ़ने की आशा रहती है।

बैंक ऑफ इंग्लैण्ड मुद्रा-बाजार पर बैंक दर तथा खुले बाजार की नीति के द्वारा नियन्त्रण रखता है। बैंक दर वह न्यूनतम दर होती है, जिस पर विनिमय की पहले दर्जे की हुंडियां भुनाता है। यह प्रति गुरुवार को डायरेक्टर समिति की बैठक के बाद प्रकाशित होती है। इस नियम अथवा प्रथा में केवल एक अपवाद १९ सितम्बर सन् १९३१ में हुआ था। जब कि स्वर्णमान त्यागने के बाद बैंक दर शनिवार को बढ़ाई गई थी। यद्यपि बैंक दर न्यूनतम दर होती है तथापि अपने विशेष ग्राहकों का काम बैंक उससे भी कम दर पर कर सकता है अथवा उसकी हुंडी का दूसरी बार भुनाने के लिये अधिक दर ले सकता है, जिससे इस प्रथा को प्रोत्साहन न मिले। बैंक दर के सिवा एक दर और होती है। इसे 'लामबर्ड-दर' कहते हैं। यह बैंक दर से प्रायः १% प्रतिशत अधिक होती है और वह स्टॉक एक्सचेंज पर बिकनेवाली तथा उसी प्रकार की अन्य सिक्योरिटीज की जमानत पर दिये गये ऋण पर ली जाती है तथा उसकी मियाद सात दिन से लगाकर तीन महीने तक रहती है। बट्टे की जो बाजार दर रहती है, बैंक दर उससे हमेशा अधिक रहती है, इसलिये बाजार प्रायः बैंक दर पर फिर से भुनाने नहीं जाता। जब हुंडियों के दलालों के पास रुपया नहीं रहता और उन्हें बैंकों का तत्काल-ऋण चुकाना होता है, केवल तभी वे केन्द्रीय बैंक से ऋण लेते हैं।

(ख) संघीय सुरक्षित कोष की प्रणाली (Federal Reserve System)– कई दृष्टियों से फेडरल रिजर्व सिस्टम अपने ढंग का निराला संगठन है। यह एक विकेन्द्रित प्रणाली अथवा संस्था है। इसमें एक केन्द्रीय बैंक के स्थान में बारह बैंक हैं, पर वे एक संगठन के नियन्त्रण में हैं। संसार के महत्वपूर्ण देशों ने बैंकों के सम्बन्ध में वर्षों जो अनुभव प्राप्त किये हैं, उन्हीं के आधार पर इस प्रणाली का विकास हुआ है। इसलिये केन्द्रीय बैंकों के सम्बन्ध में हाल में जो अनुभव प्राप्त हुए हैं, वे सब इस प्रणाली में निहित हैं।

फेडरल रिजर्व सिस्टम का प्रारम्भ समझने के लिये अमेरिका में सन् १९१३ के पहले जो बैंकिंग सम्बन्धी परिस्थितियां थीं, उनका समझना आवश्यक है। बैंकों का संगठन तथा नियन्त्रण कई प्रकार के कानूनों के आधार पर था। बैंकों में आपस में सहयोग नहीं था और मनमाने तरीकों से काम होता था। यदि एकाएक मुद्रा सम्बन्धी कोई संकट आ जाय तो उसका सामना करने के लिये कोई संगठित तरीका और एजेंसी न थे। प्रत्येक बैंक को सुरक्षित कोष में काफी रुपया रखना पड़ता था। अथवा ऐसा माना जाता था कि प्रत्येक बैंक के सुरक्षित कोष में काफी रुपया है। परन्तु संकटकाल में वह अप्राप्य रहता था। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि मुद्रा प्रणाली बिल्कुल बेलोचदार थी। केवल राष्ट्रीय बैंक नोट चला सकते थे और उसमें शर्त यह रहती थी कि उन्हें कम्पट्रोलर ऑफ

करेंसी अर्थात् प्रधान मुद्रा आफीसर के पास सरकारी बांड जमा करने पड़ते थे। इसलिये नोटों के चलन की मात्रा में घटी या बढ़ी व्यवसाय की मांग के अनुसार न होकर सरकारी ऋणों की कीमतों में होनेवाले परिवर्त्तनों के अनुसार होती थी। इसलिये देश की बैंकिंग व्यवस्था में प्राय संकट आते रहते थे। सन् १९०७-८ में जो इस प्रकार का संकट आया था, वह काफी महत्त्वपूर्ण था। इस प्रकार की परिस्थितियों में सुधार करने के लिये सन् १९१३ में फेडरल रिजर्व सिस्टम का संगठन किया गया। इस संगठन के कार्य बतलाते हुए उसकी भूमिका में लिखा गया है कि उसका काम "लोचदार मुद्रा प्रणाली की व्यवस्था करना व्यावसायिक बिलों को फिर से भुनाने की सुविधाएं देना, अमेरिका में बैंकिंग व्यवस्था पर दृढ़ नियन्त्रण रखना तथा अन्य कार्य करना है।"

फेडरल रिजर्व सिस्टम में बारह रिजर्व बैंक तथा एक फेडरल रिजर्व बोर्ड है। पूरे संयुक्तराष्ट्र को बारह जिलों[1] में बांट दिया गया है। प्रत्येक जिले में एक बैंक है। प्रत्येक रिजर्व बैंक के अन्तर्गत जिले भर के बैंक हैं, जिन्हें 'सदस्य बैंक' कहते हैं। जो बैंक संघ के कानूनों के अनुसार बने हैं उन्हें राष्ट्रीय बैंक कहते हैं। उनका सदस्य बैंक होना आवश्यक है। राज्यों के बैंक और ट्रस्ट भी सदस्य हो सकते हैं, पर उनका फेडरल रिजर्व एक्ट के अनुसार संगठन होना आवश्यक है। प्रत्येक सदस्य बैंक ने अपनी प्राप्त पूंजी तथा सुरक्षित कोष का ६ प्रतिशत भाग दिया। इस प्रकार रिजर्व बैंकों की पूंजी बनी। सदस्य बैंकों की संख्या लगभग ९००० है। प्रत्येक रिजर्व बैंक के ९ डायरेक्टर होते हैं। इनमें से तीन फेडरल रिजर्व बोर्ड द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। इन तीन में से एक डायरेक्टर समिति का अध्यक्ष होता है। बाकी छ डायरेक्टर सदस्य बैंकों द्वारा चुने जाते हैं। छ में से एक डायरेक्टर का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उद्योग, व्यवसाय अथवा कृषि के साथ होना चाहिये।

रिजर्व बैंक के हिस्से खरीदने के साथ-साथ प्रत्येक सदस्य बैंक को यदि वह केन्द्रीय रिजर्व शहर[2] में है, अपनी चालू जमा (demand deposit) का १३ प्रतिशत और समय जमा (time deposit) का ३ प्रतिशत रिजर्व बैंक में जमा रखना पड़ता है। यदि वह रिजर्व शहर में है, तो चालू जमा का १० प्रतिशत और समय जमा का ३ प्रतिशत रखना पड़ेगा। और यदि मुफस्सिल बैंक है, तो चालू अर्थात् मांग जमा का ७ प्रतिशत और समय जमा का ३ प्रतिशत रिजर्व बैंक में रखना पड़ेगा। फेडरल रिजर्व बोर्ड को यह अधिकार है कि संकट काल में कुछ समय के लिये इन शर्तों को स्थगित कर सकता

---

१ बारह जिलों के नाम ये हैं—बोस्टन, न्यूयार्क, फिलाडेल्फिया, क्लीवलैन्ड, रिचमांड, अटलांटा, शिकागो, सेंटलुई, मिनीपोलिस, कांसस सिटी, डालास और सॉनफ्रांसिसको।

२ न्यूयार्क तथा शिकागो शहर में केन्द्रीय रिजर्व शहर हैं। बाकी दस शहर केवल रिजर्व शहर हैं।

है। इसमें शर्त यह रहती है कि कानून द्वारा आवश्यक सुरक्षित कोष में जितनी कमी आ गई हो, उसी हिसाब से बोर्ड एक क्रमशः बढ़ता हुआ कर लगावेगा। प्रत्येक रिजर्व बैंक को जमा के अनुपात में ३५ प्रतिशत सुरक्षित कोष सोने अथवा कानून ग्राह्य मुद्रा के रूप में रखना पड़ता है।

फेडरल रिजर्व बैंक दो प्रकार के नोट चला सकते हैं। एक फेडरल रिजर्व बैंक नोट और दूसरे फेडरल रिजर्व नोट। फेडरल रिजर्व बैंक सरकारी ऋण-पत्र सरकारी खजाने में जमा कर देते हैं। तब उन ऋण-पत्रों के मूल्य के बराबर फेडरल रिजर्व नोट चला सकते हैं। ये नोट राष्ट्रीय बैंक नोटों के बदले में चलाये गये थे। इनके साथ-साथ रिजर्व बैंक फेडरल रिजर्व नोट चला सकते हैं। पर उन्हें इन नोटों के मूल्य के ४० प्रतिशत मूल्य के बराबर सोना सुरक्षित रखना पड़ता है। फेडरल रिजर्व बोर्ड की अनुमति से यह अनुपात कम किया जा सकता है। परन्तु जितना कम किया जायगा, उसी हिसाब से एक क्रमशः बढ़ता हुआ कर भी लगाया जायगा।

फेडरल रिजर्व बोर्ड का काम पूरी व्यवस्था पर नियंत्रण रखना और उसकी देख-रेख करना था। इसमें आठ व्यक्ति होते थे। इनमें से एक सरकारी खजाने का सेक्रेटरी होता था और दूसरा मुद्रा का आफीसर (Comptroller of Currency)। ये दोनों व्यक्ति अपने पद के कारण बोर्ड के सदस्य होते थे। शेष छः सदस्यों को राष्ट्रपति दस वर्ष के लिये सीनेट की अनुमति से नियुक्त करता था। बोर्ड की पूरी बैंकिंग व्यवस्था पर नियंत्रण रहता था। वह प्रत्येक रिजर्व बैंक अथवा सदस्य बैंक के हिसाब की जाँच कर सकता था, किसी भी रिजर्व बैंक का कार्य स्थगित कर सकता था, प्रत्येक रिजर्व बैंक की बट्टे की दर परिवर्तित और निश्चित कर सकता था, खुले बाजार की नीति पर नियन्त्रण रख सकता था और आवश्यकता पड़ने पर कानून द्वारा आवश्यक सुरक्षित कोष की मात्रा स्थगित कर सकता था। बोर्ड की सहायता के लिये एक फेडरल एडवाइजरी कौंसिल होती थी, जिसमें बारह सदस्य होते थे। प्रत्येक रिजर्व बैंक के लिये एक सदस्य होता था। ये सदस्य बोर्ड को बट्टे की दर, नोट, ऋण इत्यादि के सम्बन्ध में सलाह देते थे।

यह विधान सन् १९१३ के फेडरल रिजर्व एक्ट के अनुसार था। परन्तु सन् १९३५ के बैंकिंग एक्ट ने फेडरल रिजर्व सिस्टम में कुछ परिवर्तन किये हैं। फेडरल रिजर्व बोर्ड का नाम अब फेडरल रिजर्व सिस्टम के गवर्नरों का बोर्ड (Board of Governors of the Federal Reserve System) हो गया है। गवर्नर और उप-गवर्नर को अध्यक्ष (Chairman) और उपाध्यक्ष (Vice-chairman) कहते हैं। उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति चार वर्ष के लिये करता है। अब गवर्नरों के बोर्ड में

---

१ मार्च सन् १९३३ में संकट के समय फेडरल रिजर्व बैंक के नोट चलाने का अधिकार बढ़ा दिया गया था।

९ सदस्य होते हैं। उनको राष्ट्रपति सीनेट की अनुमति से चौदह वर्ष के लिये नियुक्त करता है। अब सरकारी खजाने का सेक्रेटरी तथा मुद्रा-आफीसर बोर्ड के सदस्य नहीं होते। उक्त कानून के अनुसार एक खुले-बाजार-नीति सम्बन्धी कमेटी (Open Market Committee) भी नियुक्त होती है। इसमें गवर्नर बोर्ड के ७ सदस्य तथा रिजर्व बैंकों के ५ प्रतिनिधि होते हैं। रिजर्व बैंक अपने प्रतिनिधि चुनते हैं। यह कमेटी खुले-बाजार-नीति सम्बन्धी कार्यों पर नियन्त्रण रखती है।

१९३५ के बैंकिंग एक्ट के अनुसार प्रत्येक बैंक का एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष होता है। ये दोनों बैंक के प्रधान कार्यकर्ता होते हैं और इनकी नियुक्ति पांच वर्ष के लिये होती है। इनकी नियुक्ति फेडरल रिजर्व सिस्टम के बोर्ड ऑफ गवर्नरों की स्वीकृति से होती है। इस प्रकार रिजर्व बैंकों के ऊपर गवर्नर-बोर्ड का नियन्त्रण काफी बढ़ गया है।

४० प्रतिशत मूल्य के बराबर सोना सुरक्षित रखकर फेडरल रिजर्व नोट चलाये जा सकते हैं। जून सन् १९४५ में कांग्रेस ने एक कानून पास किया, जिसके अनुसार अब यह अनुपात घटाकर २५ प्रतिशत कर दिया गया है। सदस्य बैंकों के सुरक्षित कोषों की मात्रा में बोर्ड ऑफ गवर्नर परिवर्तन कर सकता है। परन्तु वह उन्हें कम नहीं कर सकता और न दुगुने से अधिक बढ़ा सकता है। अब रिजर्व बैंक स्थावर सम्पत्ति (real estates) की जमानत पर कर्ज दे सकता है, परन्तु वह ऋण स्थावर सम्पत्ति के मूल्य से आधे से अधिक न हो और पांच वर्ष में अदा हो जाना चाहिये। ऐसे ऋणों की कुल मात्रा किसी भी परिस्थिति में बैंक की पूंजी तथा शेष धन के जोड़ से अथवा समय तथा बचत जमा के जोड़ से (इनमें जो भी अधिक हो उससे) अधिक नहीं होना चाहिये। अब रिजर्व बैंक चार महीने के लिये रुक्का या दस्तावेज पर भी ऋण दे सकते हैं और उसके ब्याज में १ प्रतिशत का $^1/_2$ जुरमाने के रूप में जोड़ सकते हैं। इन परिवर्तनों के कारण अब नियन्त्रण अधिक केन्द्रीभूत हो गया है और व्यवस्था में अधिक लोच आ गई है।

(ग) बैंक ऑफ फ्रान्स (The Bank of France)—बैंक ऑफ फ्रान्स की स्थापना सन् १८०० में नेपोलियन बोनापार्ट द्वारा हुई थी। सब केन्द्रीय बैंकों में शायद इसका संगठन तथा व्यवस्था सबसे सरल है। यह बैंक पहले एक गैर-सरकारी संस्था थी। इसकी पूंजी गैर-सरकारी हिस्सेदारों द्वारा दी गई थी। सन् १९४५ में ब्रिटिश सरकार के समान फ्रांस की सरकार ने भी एक कानून बनाया, जिसके द्वारा बैंक ऑफ फ्रान्स तथा चार अन्य व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। बैंक का प्रबन्ध एक जनरल कौंसिल को सौंप दिया गया। कौंसिल में एक गवर्नर तथा दो उप-गवर्नर होते हैं। इनकी नियुक्ति राष्ट्र के प्रेसिडेन्ट द्वारा होती है।

जनरल कौंसिल में बीस सदस्य होते हैं। इनमें से वित्त मंत्री, अर्थ मंत्री तथा औपनिवेशिक मंत्री प्रत्येक एक-एक सदस्य की नियुक्ति करते हैं। देश छः व्यावसायिक, कृषि, औद्योगिक और मजदूर संगठन तीन-तीन नामों की एक सूची वित्त मंत्री के पास भेजते हैं

और इन सूचियों में से वह छः सदस्य नियुक्त करता है। नेशनल इकॉनामिक कौंसिल, मैंविंग्स बैंकों की केन्द्रीय कमेटी तथा बैंक ऑफ फ्रान्स के कार्यकर्ता गण तीन सदस्यों का निर्वाचन करते हैं। दो सदस्यों का निर्वाचन बैंक के हिस्सेदार एक साधारण सभा में करते हैं और छः सदस्य सरकार की विभिन्न आर्थिक और वैत्तिक संस्थाओं के पदाधिकारियों में से चुने जाते हैं। हिस्सेदारों की आम सभा औद्योगिक और व्यावसायिक हिस्सेदारों में से तीन निरीक्षक चुनती है। ये निरीक्षक जनरल कौंसिल के चुनाव सलाहकार होते हैं और बैंक के कार्यों का देख-रेख करते हैं।

बैंक को नोट चलाने का एकाधिकार प्राप्त है। सन् १९२८ के पहले नोट चलाने के लिये बैंक को कानून के अनुसार सुरक्षित सोना रखने की आवश्यकता नहीं थी। अर्थात् कानून बैंक को सुरक्षित सोना रखने के लिये बाध्य नहीं करता था। परन्तु कानून एक अधिकतम मात्रा निश्चित कर देता था और उस मात्रा तक बैंक नोट चला सकता था। परन्तु सन् १९२८ से ऐसा हो गया है कि बैंक जितने मूल्य के नोट चलाता है तथा जितनी उसकी चालू जमा होती है उसका ३५ प्रतिशत सुरक्षित सोना रखना पड़ता है। बैंक को प्रति फ्रैंक ६५.५ मिलीग्राम की दर से[1] सोना ($^9/_{10}$ शुद्ध) खरीदना और बेचना पड़ता है। नोट चलाने के साथ-साथ हुंडी भुनाने का काम भी बैंक बहुत बड़े पैमाने पर करता है। हुंडियों पर तीन हस्ताक्षर अवश्य होने चाहिये। यदि हुंडी काफी सुरक्षित है तो दो ही से काम चल जायगा। हुंडी का भुगतान ९० दिन में अवश्य हो जाना चाहिये। बैंक व्यवसायियों की हुंडिया भी भुनाता है, जो कि फैडरल रिजर्व सिस्टम में नहीं होता। बैंक की देश भर में कई शाखाएं फैली हुई हैं।

बैंक का सरकार के साथ हमेशा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। वह सरकार का साहूकार है तथा हमेशा सरकार को बिना ब्याज अथवा नाम मात्र के ब्याज पर बड़ी-बड़ी रकमें दिया करता है। बैंक अपने सुरक्षित कोष में काफी बड़े मात्रा में सोना रखता है और उसके बट्टे की दर में क्रमशः परिवर्तन हुआ करते हैं। मुद्रा बाजार पर उसका नियन्त्रण उतना पूर्ण और प्रभावशाली नहीं है, जितना कि बैंक ऑफ इंग्लैण्ड और फेडरल रिजर्व बोर्ड का है। पेरिस का मुद्रा बाजार काफी अव्यवस्थित है और बड़े-बड़े व्यावसायिक बैंक स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करते हैं, इसलिये उसकी नियन्त्रण शक्ति में काफी बाधा पहुंचती है। सन् १९३८ में उसके खुले बाजार में काम करने के अधिकार बढ़ा दिये गये थे। वह सदस्य बैंकों के कामों पर पूर्ण नियन्त्रण नहीं रख सकता।

सन् १९४५ में बैंक ऑफ इंग्लैण्ड के समान बैंक ऑफ फ्रान्स भी राष्ट्रीय सम्पत्ति हो गया है। उसके हिस्सेदारों को हिस्सों के बाजार के मूल्य के बराबर मूल्य दे दिया गया है।

(घ) रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया (The Reserve Bank of India)—रिजर्व बैंक

---

1 कुछ दिनों पहले इस दर में परिवर्तन हुआ है।

की स्थापना सन् १९३५ में हुई थी। इसका उद्देश्य यह था कि वह सरकार मुद्रा का प्रबन्ध अपने हाथ में ले ले। वह हिस्सेदारो का बैंक था। केवल डायरेक्टरो की नियुक्ति में सरकार का कुछ हाथ था। १ जनवरी सन् १९४९ को बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया। सरकार ने हिस्सेदारो को १०० रुपया प्रति हिस्से पर ११८ रु० १० आना के ऋण-पत्र दिये। बैंक का प्रबन्ध एक बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स के हाथ में आ गया। बोर्ड में एक गवर्नर, दो डिपुटी-गवर्नर तथा दस डायरेक्टर होते हैं। इन सबकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है। दस में से चार डायरेक्टरो की नियुक्ति चार स्थानीय बोर्डों (local boards) द्वारा होती है। प्रत्येक स्थानीय बोर्ड एक डायरेक्टर की नियुक्ति करता है। डायरेक्टरो का कार्यकाल चार वर्ष का होता है, परन्तु उनकी नियुक्ति फिर से हो सकती है। बैंक के कार्य की दृष्टि से देश को चार क्षेत्रो में बाट दिया गया है। प्रत्येक क्षेत्र के लिये एक स्थानीय बोर्ड होता है। प्रत्येक स्थानीय बोर्ड में पाच सदस्य होते है और उनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है।

बैंक ऑफ इग्लैण्ड की तरह रिजर्व बैंक को भी दो विभागो में विभक्त कर दिया गया है। एक मुद्रा अथवा चलन विभाग और दूसरा बैंकिंग अथवा व्यावसायिक विभाग। चलन विभाग को नोट चलाने का एकाधिकार प्राप्त है। नोटो के लिये सोने और स्टर्लिंग ऋण-पत्रो के रूप में ४० प्रतिशत सुरक्षित कोष रखना पड़ता है। इस कोष में सोने की मात्रा ४० करोड रुपये से कम की न होनी चाहिये। बाकी ऋण-पत्रो और व्यावसायिक बिलो के रूप में रह सकता है। बाद में बैंक को यह अधिकार मिल गया कि वह सरकार की अनुमति से सुरक्षित कोष में स्वर्ण तथा स्वर्ण-सम्बन्धी ऋण-पत्र स्थगित कर सकता है। व्यवसाय विभाग बिना ब्याज के रुपया जमा खाते में ले सकता है, व्यावसायिक हुडिया तथा सरकारी ऋण-पत्रो की जमानत पर चली हुई हुडिया जो ९० दिन के भीतर चुक जायगी खरीद, बेच और भुना सकता है, फसलो पर चलाई हुई हुडिया जिनका भुगतान नौ महीने के भीतर होगा, खरीद और बेच सकता है। स्वीकृत ऋण-पत्रों (eligible securities) की जमानत पर ९० दिन के लिये अथवा माग पर तत्काल मिलने वाला ऋण दे सकता है। भारत और इग्लैण्ड के सरकारी ऋण-पत्र खरीद और बेच सकता है।-सदस्य बैंको को स्टर्लिंग बेच और खरीद सकता है। इसमें स्टर-लिंग की मात्रा एक लाख रुपये से कम की न होगी। उद्योग और व्यवसाय के हितो की रक्षा के लिये खुले-बाजार-नीति के कार्यों द्वारा साख पर नियन्त्रण रख सकता है। बैंक केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो का एजेंट है। वह इन सरकारो की रकम जमा पर लेता है तथा बैंक सम्बन्धी उनके सब काम करता है, जिनमें सार्वजनिक ऋणो का प्रबन्ध भी शामिल है। रुपये का विनिमय मूल्य स्थिर रखने के लिये बैंक विदेशी मुद्रा खरीदता और बेचता है। परन्तु बैंक स्थावर सम्पत्ति की जमानत पर ऋण नहीं दे सकता। वह किसी प्रकार के उद्योग और व्यवसायो में भाग नहीं ले सकता। बैंक का एक कृषि ऋण

विभाग (Agricultural Credit Department) भी है, जो कृषि सम्बन्धी ऋणो की समस्याओ का अध्ययन करता है।

भारत का मुद्रा बाजार अभी काफी ढीला और असगठित है और बंक का उस पर कितना नियत्रण है यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। देश में साहूकारो की सख्या काफी है और ये लोग अभी रिजर्व बंक व्यवस्था के सदस्य नही है।[1]

उनतालीसवां अध्याय

विविध देशों के मुद्रा बाजार

(Money Markets in Various Countries)

मोटे तौर से मुद्रा बाजार का अर्थ बंक, हुडी भुनानेवाली गद्दिया, दलाल स्टॉक एक्सचेंज इत्यादि जैसी पूजी का व्यवसाय करनेवाली सस्थाओ से है। इन सस्थाओ में आपस में पूजी के लेन-देन में प्रतिद्वन्द्विता होती है। सुविधा के लिये मुद्रा बाजार को हम पाच भागो में बाट सकते हैं। पहला केन्द्रीय बंक होता है। केन्द्रीय बंक वह धुरी है जिस पर सारा मुद्रा बाजार घूमता है। वह बाजार के अभिभावक का काम करता है। देश की आन्तरिक दृढता बनाये रखने के लिये वह आवश्यकतानुसार मुद्रा तथा साख का विस्तार फैलाता तथा कम करता है। साधारणत केन्द्रीय बंक मुद्रा बाजार के कामों में प्रत्यक्ष दखल नही देता। वह केवल आवश्यक प्रोत्साहन देता है और जब बाजार किसी प्रकार की कमजोरी दिखाता है, तब उसे आवश्यक सहायता देता है।

केन्द्रीय बंक

दूसरा, माग या तत्काल ऋण का बाजार होता है। यह बाजार 'उस रकम का होता है, जो थोडे समय के लिये बेकार रहती है अथवा जिसका कुछ अल्पकालीन उपयोग नही हो सकता। ऐसी रकम को सीमान्त रकम कहते हैं। जैसा कि नाम से जाहिर होता है। ये रकमें बहुत थोडे समय के लिये ऋण के रूप में दी जाती हैं—अधिकतर एक हफ्ते के लिये और कभी-कभी एक रात के लिये। इस बाजार के अगुवा व्यावसायिक बंक अथवा इसी प्रकार के कारपोरेशन होते हैं। जैसा कह चुके है, बंक अपनी रकम का एक अश

माग या तत्काल ऋण का बाजार

[1] यह अभी बंक का शैशवकाल है और उसके भविष्य पर अभी कुछ कहना उचित नही है।

अल्पकालीन ऋण बाजार में लगाते हैं और उसे अपनी सुरक्षा की दूसरी पंक्ति समझते हैं। जब कभी वे अपना सुरक्षित कोष बढ़ाना चाहते हैं, तब इन ऋणों को वापिस ले लेते हैं। बड़ी-बड़ी कम्पनियां अपनी अनिश्चित और बेकार पड़ी रकम भी इस बाजार में देती हैं। उदाहरण के लिये मुनाफा बांटने के पहले उसे तत्काल ऋणों में लगाया जाता है। इस बाजार में केन्द्रीय बैंक सीधा उधार नहीं देता। पर संकट काल में आवश्यकता पड़ने पर इससे काफी रकम प्राप्त की जा सकती है। इस बाजार में उधार लेने वाले हुंडियों और शेयरों अर्थात् कम्पनियों के हिस्सों के दलाल होते हैं। इंग्लैण्ड में हुंडी के दलाल अधिकतर ऋण लेते हैं और न्यूयार्क में स्टॉक एक्सचेंज पर सट्टा करनेवाले। इंग्लैण्ड में दलाल व्यावसायिक बैंकों से रुपया लेकर हुंडियां भुनाते हैं अथवा खरीदते हैं और उनकी अवधि पूरी होने तक उन्हें अपने पास रखते हैं। जिस दर पर उन्हें यह मांग या तत्काल ऋण मिलता है, उसे मांग दर या तत्काल-दर (call rate) कहते हैं। और वह प्रायः बैंक दर से एक प्रतिशत कम हुआ करता है। यह दर बैंकों की जमा रकम की मात्रा पर निर्भर होती है और बहुत अधिक परिवर्तनशील होती है। प्रायः बैंक अपने तत्काल अर्थात् मांग-ऋणों को बढ़ा (renew) देते हैं, परन्तु कई अवसर ऐसे आते हैं, जब बैंक अपने सुरक्षित कोष बढ़ाना चाहते हैं और दलालों से मांग-ऋण का रुपया चुका देने का कहते हैं। अर्द्ध-वार्षिक हिसाब बड़े दिन की छुट्टियां इत्यादि इस प्रकार के अवसर पर होते हैं। उस समय कहा जाता है कि दलाल बन्द दरवाजों के लिये 'पिसे' जा रहे हैं और वे कुछ समय के लिये बैंक ऑफ़ इंग्लैंड से ऋण लेने के लिये बाध्य होते हैं। चूंकि बैंक दर बाजार दर से ऊंची होती है, इसलिये बैंक से ऋण लेना लाभकारी नहीं होता, तब कहा जाता है कि बाजार बैंक में फंसा गया।

न्यूयार्क में मांग-ऋण या तत्काल-ऋण अधिकतर वे दलाल लेते हैं, जो स्टॉक एक्सचेंज पर हिस्सों या शेयरों का सट्टा या दलाली करते हैं। जब अमेरिका में कोई सटोरिया कोई हिस्सा खरीदता है, तो उसके मूल्य का केवल एक अंश (मानलो) २५ प्रतिशत जमा करता है, बाकी ७५ प्रतिशत वह अपने दलाल से ऋण के रूप में लेता है और दलाल इसे तत्काल ऋण के रूप में अपने बैंक से लेता है। बैंक को वह उन हिस्सों की जमानत पर देता है। इस प्रकार तत्काल दर का सट्टे से इतना निकट सम्बन्ध होने के कारण वह बहुत अस्थिर होती है। अन्त में वह न्यूयार्क के सटोरियों के कार्यों की सूचक होती है, और कभी-कभी बहुत ऊंची उठ जाती है। बैंक ऑफ़ इंग्लैंड मांग-दर पर सफलतापूर्वक नियंत्रण रख सकता है, परन्तु सन् १९२९ के वाल स्ट्रीट के सट्टे की लहर ने यह बतला दिया कि फेडरल रिजर्व बोर्ड बहुधा न्यूयार्क की मांग-दर पर नियंत्रण रखने में असफल होता है।

तीसरा, अल्पकालीन ऋणों का बाजार होता है। इसमें ऋण कुछ अधिक समय के लिये, प्रायः तीन महीने के लिये मिल जाते हैं। यह व्यावसायिक बैंकों का क्षेत्र है।

बैंक जनता की बचत बटोरते हैं और उसे हुडियो और ऋणो के रूप में उधार देते हैं।

अल्पकालीन ऋण का बाजार

इस बाजार के उधार लेनेवालो मे सरकार मुख्य होती है जो ट्रेजरी बिल्स (Treasury Bills) के रूप मे उधार लेती है। बडे-बडे व्यवसायी और उद्योगपति भी इस बाजार म हुडियो द्वारा, रुक्का लिखकर अथवा पेशगी इत्यादि के रूप म ऋण लेते है।

चौथा दीर्घकालीन ऋणो का बाजार होता है। इसमे एक ओर तो नई पूजी लगाने के लिये एक सगठन होता है और दूसरी ओर पुरानी पूजी को बदलने और स्थानान्तर करने के लिये एक सगठन होता है। पहला काम व्यावसायिक बैंक अथवा वे विशेषज्ञ करते है जो कम्पनिया स्थापित करते है और उनके हिस्से बचते है। दूसरा काम स्टॉक एक्सचेंजो पर किया जाता है।

दीर्घकालीन ऋण का बाजार

पहले प्रकार के काम में जनता को शेयर सिक्योरिटीज बाड इत्यादि बेचना शामिल है। इस बाजार में प्रधान उधार लेनेवाले सरकार म्युनिसिपैलिटिया तथा अन्य सार्वजनिक सस्थाए और औद्योगिक सगठन रहते है। हिस्से तथा ऋण-पत्र जनता के वे लोग खरीदते है, जो कुछ बचत कर लेते है। स्टॉक एक्सचेंज इन खरीदारो की सहायता करते है और सिक्योरिटीज हिस्सो इत्यादि की बिक्री के लिये एक बाजार बनाते हैं जहा हमेशा इसी खरीद और बिक्री का काम होता रहता है।

अन्तिम, कुछ विशेष प्रकार के सगठन होते है। ये सगठन विशेष प्रकार के बाजारो का काम करते है और विशेष प्रकार की साख देते है। बचत बैंक (Savings Banks), भूमिबन्धक बैंक (Agricultural Land Mortgage Banks) घर-निर्माण समितिया (Building Societies) इत्यादि इसी वर्ग में आते है।

कम से कम सिद्धान्त रूप में इन विभिन्न बाजारो के काम केन्द्रीय बैंक के अन्तर्गत एक-दूसरे के निकट सहयोग से चलना चाहिये। एक दर का सम्बन्ध दूसरी दर से होना चाहिये, और विभिन्न दरो को एक साथ घटना या बढना चाहिये। उदाहरण के लिये जब केन्द्रीय बैंक ऋण-पत्र खरीदकर अथवा बैंक-दर कम करके मुद्रा की प्रचुरता की नीति ग्रहण कर रहा है, उस समय अन्य सब मुद्रा दरो को गिरना चाहिये। आदर्श मुद्रा बाजार में बैंक-दर के उतार-चढाव का प्रभाव अन्य दरो पर उसी प्रकार पडेगा। दरो के उतार चढाव में जो अतिक्रमण या खटकनेवाली बात दिखे, उसे तुरन्त रोका जाना चाहिये। मान लो, दीर्घकालीन दर के अनुपात में अल्पकालीन दर बहुत कम है। तब सटोरिये अल्पकालीन दर पर ऋण लेकर उसे दीर्घकालीन ऋण-पत्रो में लगा देंगे। तब बैंको तथा अन्य अल्पकालीन ऋण-दाताओ के साधन दीर्घकालीन लाभप्रद कार्यों में लग जायेंगे। इस प्रकार अल्पकालीन ऋणो की माग बढेगी, परन्तु बैंको के कारण उनकी पूर्ति कम होती जायगी। तब अल्पकालीन दर बढेगी और दीर्घकालीन ऋण-पत्रो

तथा हिस्सों की कीमत गिरेगी। यह क्रम तब तक चलेगा, जब तक कि अल्पकालीन और दीर्घकालीन दरों के अनुपात में उचित संतुलन स्थापित न हो जायगा। परन्तु वास्तव में संघर्षरहित मुद्रा बाजार कहीं नहीं होता। प्रथम और द्वितीय महायुद्धों के बीच के वर्षों में मुद्रा की अल्पकालीन और दीर्घकालीन दरों में जो भारी अन्तर था, उससे पता चलता है कि मुद्रा की विभिन्न दरों की गति एक-सी नहीं होती। विशेषकर माग-दर पर सट्टा बाजार का बहुत जल्दी प्रभाव पड़ता है और वह अन्य दरों से कभी भी विचल सकती है। केन्द्रीय बैंकिंग की समस्याओं में विभिन्न मुद्रा दरों में सामंजस्य या सहयोग स्थापित करना बहुत बड़ी समस्या है।

चालीसवां अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय

(International Trade)

सब प्रकार के व्यवसाय श्रम विभाजन और कार्य की विशेषज्ञता के आधार पर होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय का भी यही हाल है। एक आदमी में कई प्रकार के काम करने की योग्यता हो सकती है। लेकिन जिस काम में उसकी योग्यता सबसे अधिक होती है, वह उसमें विशेष दक्षता प्राप्त करता है और अन्य काम अन्य लोगों के लिये छोड़ देता है। इसी प्रकार एक क्षेत्र अथवा एक देश में बहुत सी वस्तुएं उत्पादन करने के साधन हो सकते हैं। लेकिन प्राय वह थोड़ी-सी वस्तुओं के उत्पादन में विशेषता प्राप्त करता है तथा अन्य वस्तुओं का उत्पादन अन्य देशों पर छोड़ देता है। तब वह उन क्षेत्रों अथवा देशों के साथ अपनी वस्तुओं का विनिमय करता है जिससे दोनों को लाभ होता है। एक आदमी में इंजीनियरी के काम की स्वाभाविक योग्यता हो सकती है और दूसरे आदमी की प्रवृत्ति स्वभावत डाक्टरी की ओर हो सकती है। यदि पहला व्यक्ति इंजीनियर होता है और दूसरा डाक्टर तो उन दोनों को लाभ होगा। इसी प्रकार अलग-अलग क्षेत्रों में उत्पादन सम्बन्धी अलग-अलग साधन और सुविधाएं होती हैं। इसलिये जिन क्षेत्रों को जिन वस्तुओं के उत्पादन की विशेष सुविधाएं और साधन प्राप्त हैं, यदि वे केवल उन वस्तुओं का उत्पादन करें, तो उन सब क्षेत्रों का इससे पारस्परिक लाभ होगा। इन मूल समानताओं को ध्यान में रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय के लिये क्या एक अलग सिद्धान्त की आवश्यकता है?

आदम स्मिथ और रिकार्डो जैसे सनातनी (classical) अर्थशास्त्रियों का मत था कि अन्तर्देशीय अर्थात् राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय में महत्त्वपूर्ण अन्तर होते हैं। उनके मतानुसार पूंजी और श्रम एक देश के अन्दर घूमते हैं। विभिन्न देशों के बीच में उनका भ्रमण नहीं पाया जाता। यदि देश के एक भाग में दूसरे की अपेक्षा मजदूरी की दर ऊंची होती है तो उस भाग में अन्य भागों से अधिक लोग आवेंगे अथवा अधिक लोग वह पेशा करेंगे जिसमें मजदूरी की दर अधिक ऊंची होगी। फल यह होगा कि समान योग्यतावाले मजदूरों को एक देश में एक समान मजदूरी मिलेगी। परन्तु विभिन्न देशों के बीच में इस प्रकार की प्रवृत्ति देखने में नहीं आती। "सब प्रकार के सामानों में मनुष्य का यातायात सबसे कठिन होता है।' सामाजिक प्रथाओं और आदतों, भाषा शासन इत्यादि की विभिन्नता के कारण प्रायः लोग अन्य देशों को जाना पसन्द नहीं करते। यही हाल पूंजी का भी है। परिणाम यह होता है कि विभिन्न देशों में मजदूरी की दर और ब्याज की दर अलग-अलग रहती है। इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय को समझने के लिये एक स्वतन्त्र सिद्धान्त की आवश्यकता थी।

सनातन अथवा प्राचीन काल अर्थशास्त्रियों (classical economists) के इन अनुमानों की आलोचना इस प्रकार की गई है कि जिस प्रकार किसी देश के भीतर श्रम और पूंजी पूर्ण गतिशील नहीं होते, उसी प्रकार विभिन्न देशों के बीच वे पूर्ण गतिहीन भी नहीं होते।[1] इस आधार पर कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह शंका की है कि क्या राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय में भेद मानने की आवश्यकता है? यह बात अवश्य है कि एक देश के भीतर श्रम पूर्णतया गतिशील नहीं होता। देश के अन्दर श्रम की स्वतन्त्र गतिशीलता में कई प्रकार की बाधाएं आती हैं। इस बात का प्रमाण यह है कि अर्थशास्त्र श्रम के "प्रतियोगितारहित" समूहों के सिद्धान्तों को स्वीकार करता है।

परन्तु यह बात सच है कि हमें यदि अपने देश में और विदेश में ब्याज की वही दर मिले तो हम हमेशा अपने देश में ही पूंजी लगाना पसन्द करेंगे। जब तक अपने देश के पक्ष में और विदेश के विरुद्ध में पसन्दगी की यह भावना रहती है, तब तक समान योग्यता के विभिन्न साधनों की कमाई की दरें विभिन्न देशों के बीच में एक-सी कभी नहीं हो सकती। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय के सिद्धान्त पर स्वतन्त्रता से विचार करने का एक कारण यह भी है कि जिन सुविधाओं और परिस्थितियों के अन्तर्गत उत्पादन कार्य होते हैं, वे सब देशों में एक समान नहीं होतीं। "एक देश के नागरिकों के लिये राष्ट्रीय और स्थानीय कर एक से होते हैं, उनके लिये स्वास्थ्य, सफाई, कारखानों में काम करने की शिक्षा तथा सामा-

---

1 See an article by J. H. Williams. "Theory of International Trade Reconsidered" in the Economic Journal, 1929

जिन बीम के नियम एक से रहते हैं, यातायात की तथा सार्वजनिक सेवाएं एक-सी रहती है, औद्योगिक तथा ट्रेड यूनियनों के एक से कानून रहते हैं तथा व्यावसायिक कार्य-पद्धति भी एक-सी रहती है।" इन नियमों की भिन्नता के अनुसार उत्पादन सम्बन्धी सुविधाएं भी भिन्न देशों में अलग-अलग रहती हैं। विभिन्न देशों में लागत की सतह भी अलग अलग होती है किसी में ऊंची रहती है, तो किसी में नीची। विभिन्न सरकारों की विभिन्न नीति और कार्यों के कारण देशों के बीच में स्वाभाविक और अस्वाभाविक सीमाएं खड़ी हो जाती हैं जिनसे उनके बीच आर्थिक शक्तियां स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य नहीं कर पाती।

अन्तिम प्रत्येक देश की मुद्रा-प्रणाली अलग-अलग होती है। इसलिये जब देशों के बीच में वस्तुओं का विनिमय होता है तब विदेशी विनिमय सम्बन्धी समस्याएं उत्पन्न होती हैं। ये समस्याएं देश के अन्दर के व्यवसाय में नहीं उठतीं। विदेशी विनिमय सम्बन्धी इन समस्याओं के कारण व्यवसाय में कई प्रकार की बाधाएं और कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। फिर प्रत्येक देश में एक केन्द्रीय बैंक का नियन्त्रण होता है, जो मुद्रा सम्बन्धी अपनी स्वतन्त्र नीति के अनुसार कार्य करता है। इस नीति का देश के विदेशी व्यवसाय पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय के एक स्वतन्त्र सिद्धान्त की आवश्यकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय होने की शर्तें (Conditions For the Development of International Trade)—सब प्रकार के व्यवसाय होने के कारण लागतों का अन्तर है। यह नियम अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय में भी लागू होता है। इसे समझाने के लिये हम दो ऐसे देशों का उदाहरण लेते हैं, जो केवल दो वस्तुओं का उत्पादन करते हैं।

अ देश में,

१० दिन के श्रम में जूट की २० इकाइयां उत्पन्न होती हैं।

१० दिन के श्रम में कपास की ३० इकाइयां उत्पन्न होती हैं।

ब देश में,

१० दिन के श्रम में जूट की १० इकाइयां उत्पन्न होती हैं।

१० दिन के श्रम से कपास की १५ इकाइयां उत्पन्न होती हैं।

इस उदाहरण में अ देश ब देश की अपेक्षा दोनों वस्तुओं के उत्पादन में पूर्णरूप से बढ़ा है। यदि हम श्रम के दिनों की दृष्टि से देखें तो दोनों देशों की लागतों में बहुत बड़ा अन्तर है। तब क्या दोनों देशों के बीच व्यवसाय हो सकता है? अ देश में २० इकाई जूट उत्पन्न करने की लागत, ३० इकाई कपास उत्पन्न करने की लागत के बराबर है। इसलिये जूट की दो इकाई की कीमत कपास की तीन इकाई की कीमत के बराबर होगी। ब देश में १० इकाई जूट की उत्पादन की लागत, १५ इकाई कपास की उत्पादन की लागत के बराबर है। इसलिये उस देश में भी २ इकाई जूट की कीमत ३ इकाई कपास की

कीमत के बराबर होगी। दोनो देशो में दोनों वस्तुओं की लागत का अनुपात (अर्थात् २ इकाई ३ इकाई) एक समान है। अब यदि अ देश जूट की २ इकाई किसी से लेकर ब देश में भेजता है तो उसे कोई लाभ नही होगा क्योंकि दोनो देशो में २ इकाई जूट के बदले कपास की ३ इकाई मिलती है। इस प्रकार दोनो तरह से पूर्णरूप से श्रेष्ठ या बड़ा होने पर भी पहला देश दूसरे से व्यापार करने पर लाभ के रूप में कुछ नही पाता।

अब इन उदाहरणो में हम थोड़ा-सा परिवर्तन करते है।

मान लो अ देश में

१० दिन के श्रम से जूट की २० इकाइया उत्पन्न होती हैं।

१० दिन के श्रम से कपास की ३० इकाइया उत्पन्न होती हैं।

ब देश में

१० दिन के श्रम से जूट की १० इकाइया उत्पन्न होती हैं।

१० दिन के श्रम से कपास की १० इकाइया उत्पन्न होती है।

पहले देश में पहले की तरह जूट की २ इकाइयो के बदले कपास की ३ इकाइया मिलेंगी। लेकिन दूसरे देश मे जूट की २ इकाइयो की कीमत कपास की २ इकाइयो के बराबर होगी। अब अ देश के व्यापारियो को दूसरे देश मे कपास भेजना लाभदायक होगा। जब तक उन्हें कपास की ३ से कम इकाइयो के बदले जूट की २ से अधिक इकाइया मिलती रहेंगी, तब तक वे लाभ में रहेंगे। मान लो विनिमय की दर २ इकाई जूट के बदले २½ इकाई कपास होगी। तब इस व्यवसाय में प्रत्येक देश को कपास की ½ इकाइयो का लाभ होगा। इसलिये स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय तब सम्भव है, जब दो देशो में दो वस्तुओ की उत्पादन की लागत की अनुपात में भिन्नता होती है। पहले उदाहरण में दोनो देशो में जूट और कपास की लागत का अनुपात जूट की २ इकाई कपास की ३ इकाई के बराबर था। इसलिये उनके बीच कोई व्यवसाय सम्भव नही था। दूसरे उदाहरण में अ देश में लागत के अनुपात से जूट की २ इकाई कपास की ३ इकाई के बराबर थी और ब देश में जूट की २ इकाई कपास की २ इकाई के बराबर थी। चूंकि लागत के अनुपात में अन्तर है, इसलिये दोनो देशो मे व्यवसाय हो सकता है।

तुलनात्मक लागत का नियम (Law of Comparative Costs)—अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि दो देशो में लागत के अनुपात अलग-अलग क्यों होते है। इसका प्रधान कारण यह है कि प्रत्येक देश में उत्पादन के साधनो की मात्रा सुविधाएं, परिस्थितियां इत्यादि अलग-अलग होती हैं। कुछ देशो में सोना चादी कोयला लोहा इत्यादि खनिज पदार्थ अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। और कुछ में ये प्राकृतिक साधन कम मात्रा में पाये जाते हैं बगाल में जिस किस्म की भूमि और जलवायु है, वह जूट और चाय उत्पादन के लिये विशेषरूप से अच्छी है और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका की बहुत-सी भूमि कपास की उत्पत्ति के लिये बहुत उपयुक्त है। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका तथा इग्लैण्ड

जैसे देशो के पास बडी मात्रा में पूजी की कमी नही है, परन्तु भारत जैसे गरीब देश मे पूजी की अत्यधिक कमी है। विभिन्न देशो में उत्पादन के साधनो की पूर्ति की मात्रा अलग-अलग होती है। इसलिये विभिन्न देशो में उनकी कमाई अथवा लाभ की दर भी अलग-अलग होगी। जिस देश मे अच्छी भूमि काफी मात्रा में प्राप्य है, उसमें कम लागत पर अनाज की फसले अच्छी मात्रा में उत्पन्न हो सकेंगी। और जिस देश में पूजी तथा वस्तु उत्पादन के साधन और दक्ष श्रम वर्ग प्रचुर मात्रा में प्राप्य है, वह वस्तुए कम लागत में तैयार कर सकेगा। इसलिये विभिन्न देशो मे वस्तुओ की लागत और मूल्य अलग-अलग रहेंगे। उत्पादन की लागत में इन तुलनात्मक अन्तरो के कारण ही विभिन्न देशो के बीच व्यवसाय सम्भव होता है। प्रत्येक देश केवल उन्ही वस्तुओ का उत्पादन करेगा जिनके लिये उनकी योग्यता सबसे अधिक है, अर्थात् जिन्हें वह सबसे कम लागत पर उत्पन्न कर सकता है। इन वस्तुओं का वह निर्यात करेगा और जिन वस्तुओ मे उसकी उत्पादन योग्यता सबसे कम है उनका वह आयात करेगा।

इसे समझाने के लिये पहले हमें कुछ अनुमानो की सहायता लेनी पडेगी। पहले हम अ और ब दो देश मान लेंगे, जो आपस में गेहू और सूती कपडा, इन दो वस्तुओ में व्यवसाय करते हैं। दूसरे दोनो देशो मे दोनो वस्तुओं का उत्पादन स्थिर लागत के आधार पर होता है, अर्थात् उत्पादन की मात्रा चाहे जो हो, लागत वही रहेगी। फिर दोनो देशो के बीच मे माल के यातायात सम्बन्धी कोई बाधाए नही हैं।

प्राचीन आग्ल अर्थशास्त्रियो ने एक अनुमान और लिया था। उन्होने सब लागतें श्रम के दिनो मे मापी थी। उन्होने सिद्धान्त का निरूपण इस प्रकार किया था।

अ देश मे,

१० दिन के श्रम से २० मन गेहू का उत्पादन होता है।

१० दिन के श्रम से २० जोडा सूती कपडे का उत्पादन होता है।

ब देश में,

१० दिन के श्रम मे १० मन गेहू का उत्पादन होता है।

१० दिन के श्रम मे १५ जोडा सूती कपडे का उत्पादन होता है।

अ देश में एक मन गेहू के बदले एक जोडा कपडा प्राप्त हो सकता है। इसलिये दोनो वस्तुओ की लागत का अनुपात १ : १ है। ब देश में १ मन गेहू के बदले १½ कपडे का जोडा प्राप्त होगा। इस प्रकार अ और ब देशो में लागत के अनुपात अलग-अलग है। जब तक अ को ब से एक मन गेहू के बदले एक जोडा कपडे से अधिक मिल सकता है, तब तक उसे लाभ होता रहेगा। इसी प्रकार ब को जब तक १½ जोडा सूती कपडा से कम के बदले एक मन गेहू मिलता रहेगा, तब तक वह लाभ में रहेगा। इस प्रकार यदि अ केवल गेहू उत्पन्न करता है और उसे ब देश में निर्यात करता है और ब केवल सूती कपडे का उत्पादन करता है और उसे अ देश में भेजता है, तो दोनो देशो को लाभ होगा। ध्यान

रहे कि अ में गेहूं और कपड़े दोनों के उत्पादन में श्रम की योग्यता अधिकतर है, परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से कपड़े की अपेक्षा गेहूं के उत्पादन में उसे अधिक लाभ होता है।

परन्तु इस सिद्धान्त के इस प्रकार निरूपण की आलोचना इस आधार पर की गई है कि यह मूल्य के श्रम-सिद्धान्त (labour theory of value) पर आधारित है क्योंकि यह लागत को श्रम के दिनों के रूप में मापती है। परन्तु वास्तव में श्रम की कई किस्में होती हैं और वस्तुओं के बनाने में श्रम के सिवा अन्य कई साधनों की आवश्यकता होती है। इसलिये लागत को केवल श्रम के दिनों में आंकना असंगत है। जब मूल्य के व्यापक सिद्धान्त में श्रम सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जाता है तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय के सिद्धान्त श्रम सिद्धान्त के आधार पर बनाना उचित नहीं है। इसलिये तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के मूल्य-सिद्धान्त के आधुनिक रूप के आधार पर निरूपण करना आवश्यक है।

इस सिद्धान्त की आलोचना

मान लो, अ देश में अच्छी भूमि प्रचुर मात्रा में है, लेकिन उसके पास पूंजी की मात्रा थोड़ी है। परन्तु ब देश में पूंजी की मात्रा बहुत है और इस दृष्टि से भूमि की मात्रा अपेक्षाकृत कम है। अब पहले देश में गेहूं के उत्पादन का सीमान्त लागत खर्च ३ रु० प्रति मन है और सूती कपड़े के उत्पादन का सीमान्त लागत खर्च ४ रु० प्रति जोड़ा है। दूसरे देश में गेहूं और सूती कपड़ा उत्पन्न करने का सीमान्त लागत खर्च क्रमशः ४ रु० और ३ रु० है। इन आंकड़ों को हम इस प्रकार भी रख सकते हैं।

अ में,

गेहूं उत्पन्न करने का सीमान्त लागत खर्च ३ रु० प्रति मन है।

सूती कपड़ा उत्पन्न करने का सीमान्त लागत खर्च ४ रु० प्रति जोड़ा है।

ब में,

गेहूं उत्पन्न करने का सीमान्त लागत खर्च ४ रु० प्रति मन है।

सूती कपड़ा उत्पन्न करने का सीमान्त लागत खर्च ३ रु० प्रति जोड़ा है।

अ में १ मन गेहूं का मूल्य ३ रु० है और एक जोड़े कपड़े का दाम ४ रु० है। अर्थात् अ में जिन साधनों के सम्मिश्रण और सहयोग से एक मन गेहूं उत्पन्न होता है, उन्हीं से $\frac{3}{4}$ जोड़ा कपड़ा भी उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार ब में १ मन गेहूं के बदले १$^1/_3$ जोड़ा कपड़ा मिल सकता है। इस परिस्थिति में अ देश यह देखेगा कि यदि वह कपड़ा उत्पन्न करना छोड़ दे और केवल गेहूं उत्पन्न करने में अपनी शक्ति लगावे, तो वह ब को अपना गेहूं बेच सकेगा और बदले में प्रति मन गेहूं के लिये $\frac{3}{4}$ जोड़ा कपड़ा से अधिक प्राप्त करेगा। ब को केवल कपड़े का उत्पादन लाभप्रद होगा और उसे वह अ के गेहूं से बदल सकता है। ब को तब तक लाभ होता रहेगा, जब तक उसे एक मन गेहूं १$^1/_3$ जोड़ा कपड़े से कम में मिल सकता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जिस देश में जो वस्तुएं बनाने

के अपेक्षाकृत अधिक साधन है, उन वस्तुओं का तो वह निर्यात करेगा और जिन वस्तुओं के उत्पन्न करने का साधन अपेक्षाकृत कम है, उनको बाहर से मगावेगा अर्थात् आयात करेगा।

यह सिद्धान्त माग पक्ष के प्रभावो पर भी विचार करता है। ऊपर जो उदाहरण दिया गया है उसमे हमने देखा है कि अ को तब तक लाभ होना रहेगा, जब तक उसे एक मन गेहू के बदले $\frac{3}{4}$ जोडा कपडे से अधिक मिलता रहेगा। ब को तब तक लाभ होना रहेगा, जब तक उसे १$\frac{1}{3}$ जोडा कपडे से कम के बदले एक मन गेहू मिलता रहेगा। गेहू और कपडे के विनिमय की वास्तविक दर इस बात पर निर्भर

विनिमय की दर पारस्परिक माँग द्वारा निश्चित होती है

रहेगी कि दोनो देशों में एक दूसरे के माल के लिये माग में कितनी लोच है। विनिमय की दर ऐसी रहेगी कि साम्य की स्थिति में एक देश के निर्यात का मूल्य उसके आयात के मूल्य के बराबर रहेगा। मान लो माग का प्रभाव ऐसा है कि प्रत्येक देश अपनी उपज को एक मन गेहू के बदले एक जोडा कपडे के हिसाब से विनिमय करता है। कपडे की माग बढने के कारण अ इस दर से अधिक कपडा खरीदना चाहता है। परन्तु ब की माग वही है, उसमें कोई परिवर्तन नही हुआ। इसलिये ब को अ से कुछ अच्छा भाव या लालच मिलना चाहिये, जिसमे ब कुछ अधिक गेहू खरीदे (अथवा अधिक कपडा बेचे) इसलिए या तो अ गेहू की कीमत गिरावे या ब को कपडे के दाम अधिक दे। दूसरे शब्दों में अ को कपडे की प्रति इकाई के बदले में अधिक गेहू भेजना चाहिये, जिसमें ब अधिक गेहू खरीदने को तैयार हो जाय और उसके बदले में अधिक कपडा भेजने को भी तैयार हो जाय। तब अनुपात अ के विरुद्ध हो जायगा। इसलिये व्यवसाय की वास्तविक शर्तें प्रत्येक देश की दूसरे देश की वस्तुओ की माग की लोच पर निर्भर करेंगी।

ध्यान रहे कि इस सिद्धान्त का उद्देश्य यह नही है कि हम अ और ब में गेहू के उत्पादन के लागत खर्च की तुलना करें। हम यह कर भी नही सकते, क्योंकि व्यवसाय की शर्तें नही जानते, और जब तक हम ये शर्तें न जानें, तब तक हम दोनो देशो में एक वस्तु की लागत की तुलना नही कर सकते। तुलना अनुपातो के बीच में होती है। ब में गेहू और कपास के लागतों का अनुपात क्या है। यदि दो अनुपातो में भिन्नता है तो दोनो देशो के बीच में व्यवसाय हो सकता है।

अभी तक हमने इस सिद्धान्त की दो वस्तुओं के आधार पर विवेचना की है। परन्तु इस रीति से हम चाहे जितनी वस्तुओ और चाहे जितने देशो का अध्ययन कर सकते हैं। प्राय एक देश में बहुत-सी वस्तुए उत्पन्न करने की सुविधाए रहती हैं। उन्हें हम उनसे होनेवाले लाभ के अनुसार इस प्रकार सूची रूप में रख सकते हैं। एक देश १० दिन के श्रम से कपास की ३० इकाइया, जूट की २० इकाइया, गेहू की १५ इकाइया, चाय की १० इकाइया रबर की ८ इकाइया इत्यादि उत्पन्न कर सकता है। इन वस्तुओं

में से किसका निर्यात होगा और किसका आयात यह व्यवसाय की शर्तों पर निर्भर करेगा। अर्थात् उस देश को अपनी निर्यात की वस्तुओं के बदले आयात की वस्तुएं किस दर से मिलेंगी। व्यवसाय की शर्तें जितनी अधिक उसके पक्ष में रहेंगी, उसे अपने आवश्यक आयात प्राप्त करने के लिये उतने ही कम निर्यात करने पड़ेंगे। अर्थात् उसे अपनी थोड़ी-सी वस्तुओं के बदले दूसरे देशों की अधिक वस्तुएं मिल सकेंगी। इसलिये निर्यात की वस्तुओं का दूसरी वस्तुओं से अलग करनेवाली रेखा स्थिर न होकर गतिशील रहती है और वह व्यवसाय की शर्तों की गति के अनुसार चलती है। दो देशों के बदले यदि कई देश आ जाते हैं तो उससे कोई कठिनाई नहीं होती। भारत के साथ जितने देश व्यवसाय करते हैं उन्हें एक देश के रूप में माना जा सकता है।

सक्षेप में तुलनात्मक लागतों का नियम यही है। इसकी उपयुक्तता पर कोई बड़ा सन्देह नहीं किया जा सकता। किसी भी देश के आयात-निर्यात कर सम्बन्धी कानूनों को आदि से अन्त तक देखने से इस सिद्धान्त की सत्यता का पता लग जायगा। उदाहरण के लिये टॉसिग[१] ने अमरिका के आयात-निर्यात कर के इतिहास का अध्ययन करके इस सिद्धान्त की सत्यता का प्रमाण पा लिया। यद्यपि अमेरिका में लोहे के उद्योग को संरक्षण प्राप्त है और वहां बहुत-सी वस्तुएं बनती हैं तथा उनका निर्यात होता है, फिर भी अमेरिका कुछ विशेष प्रकार के औजार और मशीनें बाहर से मंगाता है। इसी प्रकार कपड़े के उद्योग को भी संरक्षण प्राप्त है। परन्तु फिर भी अमेरिका कुछ महीन और अच्छे किस्म के कपड़े बाहर से मंगाता है। इसके कारण जाहिर हैं। इन वस्तुओं को बनाने के लिये अमेरिका के पास तुलनात्मक दृष्टि से सबसे अधिक सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं। इसलिये आयात करों के रहते हुए भी ये वस्तुएं बाहर से अमेरिका में आती हैं।

उत्पत्ति के नियम और तुलनात्मक लागतें (Laws of Return and Comparative Costs)—ऊपर जो उदाहरण दिया गया है, उसमें यह मान लिया गया था कि दोनों वस्तुओं का उत्पादन स्थिर लागत पर होता था। अब इस अनुमान को हटाना आवश्यक है। मान लो, वस्तुओं का उत्पादन घटती हुई उत्पत्ति अर्थात् क्रमागत ह्रास नियम के अनुसार होता है।

ऊपर दिये हुए उदाहरण में हमने यह मान लिया था कि अ अपनी शक्ति गेहूं के उत्पादन पर केन्द्रित करेगा और अपने गेहूं का एक भाग ब को देकर ब से कपड़ा लेगा। परन्तु ब को निर्यात करने के लिये अ जब अधिक गेहूं उत्पन्न करता है, तब गेहूं के उत्पादन की सीमान्त लागत बढ़ जाती है। एक स्थिति के बाद अ यह अनुभव करेगा, अब इससे अधिक गेहूं उत्पन्न करने में लाभ नहीं है। इसके सिवा, ब में गेहूं के उत्पादन से

१ Taussig, International Trade, Ch 16, pp. 178–196.

जैसे-जैसे अधिकाधिक मात्रा में साधन हटाये जाते हैं, वैसे-वैसे सीमान्त लागत गिरती है। ब देखेगा कि अब अपने साधन गेहूं के उत्पादन से हटाकर कपड़े के उत्पादन में लगाना ठीक नहीं है क्योंकि कपड़ा तो अ देश में भेजा जायगा और बदले में महगा गेहू मिलेगा। इसलिये ब अपने कुछ साधन गेहू के उत्पादन में लगाये रखेगा, विशेषकर उस उपजाऊ भूमि में जहां उत्पादन की सीमान्त लागत कम होती है। इसलिये उत्पत्ति के क्रमागत ह्रास नियम की क्रियाशीलता का एक फल यह होता है कि एक वस्तु का दोनो देशो में उत्पादन हो सकता है और लगान की सतह तथा कृषि की सीमा व्यवसाय की शर्तों पर निर्भर होगी।

जब उत्पत्ति की क्रमागत वृद्धि का नियम क्रियाशील होता है, तब माग की वृद्धि के अनुसार व्यवसाय मे लाभ का क्षेत्र भी बढता है। जैसे-जैसे उत्पादन बढता है, वैसे-वैसे उत्पादन सम्बन्धी योग्यता भी बढती है और उसी के अनुसार लाभदायक व्यवसाय का क्षेत्र भी बढता है। इसमें कोई नया सिद्धान्त लागू नही होता, केवल तुलनात्मक लागत की सीमाएं अधिक विस्तृत हो जाती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय से लाभ (Gains From International Trade)—सबसे पहले लाभ की मात्रा दोनो देशो में लागत के अनुपातो के अन्तर पर निर्भर होगी। तुलनात्मक लागतो में जितना अधिक अन्तर होगा, लाभपूर्ण व्यवसाय के लिये उतना ही विस्तृत क्षेत्र उपलब्ध रहेगा। "जब कभी किसी देश के व्यवसायियो को यह अनुभव होता है कि उनके देश में कीमतो का जो अनुपात प्राप्त और प्रचलित है, उनसे कहीं अधिक भिन्न अनुपात विदेशो में प्रचलित है, तब उस देश को विदेशी व्यवसाय से लाभ होता है। जो वस्तु उन व्यवसायियो को सस्ती दिखती है, उसे वे लोग खरीदते है और जो वस्तु महगी दिखती है, उसे बेचते है। उनकी दृष्टि में ऊचे चिह्नों और नीचे चिह्नों में जितना अधिक अन्तर होगा, और जिस वस्तुपर प्रभाव पड़ता है, वह जितनी अधिक महत्त्वपूर्ण होगी, व्यवसाय से उतना ही अधिक लाभ होगा।"[1] यदि अ देश में गेहू के उत्पादन में श्रमवर्ग अधिक दक्ष है और ब देश में श्रमवर्ग कपास के उत्पादन मे अधिक दक्ष है, तो इस बात की काफी सम्भावना है कि दोनो देशो को अच्छा लाभ होगा। इसलिये लाभ की मात्रा श्रमवर्ग की दक्षता पर निर्भर करती है। इसलिये जिन वस्तुओ का हम आयात करते है उनका उत्पादन करनेवाले विदेशी श्रमवर्ग की दक्षता में वृद्धि होती है, तो हमें काफी लाभ होगा। परन्तु जिन वस्तुओ का हम निर्यात करते है, यदि उनके उत्पादन में दक्षता बढती है, तो हमें हानि होगी।

दूसरे, लाभ की मात्रा व्यवसाय की शर्तों पर भी निर्भर करती है। अर्थात् गेहू का विनिमय सूती कपडे से किस अनुपात में होता है। यदि अनुपात १ : १ है, तो ब को अधिक

१ Hatrod. International Economics, p 34

लाभ होगा। क्योंकि पहले तो उसे १ मन गेहूं १½ जोड़ा कपड़े के बदले में मिलता था। परन्तु अब व्यवसाय की शर्तों के अनुसार उसे एक जोड़ा कपड़े के बदले एक मन गेहूं मिलता है और इस प्रकार उसे ½ जोड़ा कपड़े का लाभ हो जाता है। यदि व्यवसाय न होता तो अ एक मन गेहूं ¾ जोड़ा कपड़े के बदले में देता। परन्तु अब उसे पूरा एक जोड़ा कपड़ा मिल जाता है। इसलिए उसे ¼ जोड़ा कपड़े का लाभ होता है। परन्तु यदि अनुपात एक मन गेहूं के बदले १¼ जोड़ा कपड़ा होता तो ब को ¼ जोड़ा कपड़े का लाभ होता और अ को आधा जोड़ा कपड़े का लाभ होता। इसलिए व्यवसाय की शर्तों पर बहुत कुछ निर्भर करता है।

लाभ की मात्रा व्यवसाय की शर्तों पर निर्भर करती है

व्यवसाय की शर्तें मांगों के पारस्परिक सम्बन्ध और प्रभावों पर निर्भर होंगी। अर्थात् अ की कपास की मांग में कितनी लोच होगी और ब की गेहूं की मांग में कितनी लोच होगी। यदि अ की मांग अधिक बेलोचदार है तो वह कपड़े की एक निश्चित मात्रा के लिये अधिक गेहूं देने के लिये तयार रहेगा। व्यवसाय की शर्तें उसके विपक्ष में पड़ेंगी। परन्तु यदि अ की मांग अधिक लोचदार है तो व्यवसाय की शर्तें उसके अनुकूल होने की प्रवृत्ति दिखावेंगी। इसी प्रकार ब की मांग भी जैसी बेलोचदार अथवा लोचदार होगी उसी तरह व्यवसाय की शर्तें भी प्रतिकूल अथवा अनुकूल होने की प्रवृत्ति दिखावेंगी। एक उदाहरण ले लिया जाय। मान लो व्यवसाय की शर्तों के अनुसार एक मन गेहूं के बदले एक जोड़ा कपड़ा मिलता। अ की मांग में परिवर्तन होता है और इस अनुपात पर वह अधिक कपड़ा चाहता है। परन्तु इस दर पर ब की गेहूं की मांग-सूची में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इसलिए अधिक कपड़ा पाने के लिये अ से ब को अच्छी शर्तें मिलना चाहिये। व्यवसाय की शर्तें अ के प्रतिकूल जायगा। परन्तु वह कितनी प्रतिकूल जायगी यह ब की गेहूं की मांग की लोच पर निर्भर करेगा। यदि ब की मांग लोचदार है तो वह गेहूं की कीमत में थोड़ी-सी कमी होने पर उसे अधिक मात्रा में स्वीकार कर लेगा और बदले में अधिक कपड़ा देने को तयार हो जायगा। विनिमय की दर थोड़ी-सी अ के विपक्ष में हो जायगी। परन्तु यदि ब की मांग बेलोचदार है तो गेहूं की कीमत में अधिक रियायत होनी चाहिये जिससे ब अधिक गेहूं ले और बदले में अधिक कपड़ा दे। तब व्यवसाय की शर्तें अ के विपक्ष में अधिक हो जायेंगी। व्यवसाय से सबसे अधिक लाभ उस देश को होगा जिसकी वस्तुओं की विदेशों में अधिक मांग रहती है और जिसे स्वयं विदेशी वस्तुओं की मांग कम रहती है। अथवा अधिक की मात्रा में विदेशी वस्तुओं की उसकी मांग बहुत लोचदार होना चाहिये परन्तु विदेशों में उसकी वस्तुओं की मांग बहुत बेलोचदार होना चाहिये। तब व्यवसाय की शर्तें उसके पक्ष में होंगी।

व्यवसाय की शर्तें और लाभ मांग के पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर होते हैं

इस लाभ का सूचक मुद्रा-आय होगी और उसी के द्वारा लाभ प्राप्त भी होगा। जिस देश की वस्तुओ की माग विदेशो में बराबर बनी रहती है, उसकी मुद्रा-आय की सतह ऊची रहेगी। यदि विदेशो से निर्यात की माग ऊची बनी रहती है, तो निर्यात करनेवाले उद्योग खूब उन्नति करेंगे और उनमें मजदूरी की सतह भी ऊची रहेगी। प्रतियोगिता के कारण अन्य उद्योग भी उसी ऊची दर से मजदूरी देंगे। इस प्रकार उस देश में मजदूरी की मुद्रा दर की सतह ऊची रहेगी। मजदूरी की मुद्रा-दर तो ऊंची रहेगी, पर विदेशी वस्तुओ की कीमत कम रहेगी। इसलिये विदेशी वस्तुओ के उपयोग से लोगो को लाभ होगा। इसी प्रकार जिस देश की विदेशी वस्तुओ की माग बहुत अधिक रहेगी, उसकी मुद्रा-आय बहुत कम रहेगी। परन्तु विदेशी वस्तुओ के दाम ऊचे रहेंगे और उनके उपभोग से उसे हानि होगी।

मजदूरी और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय (Wages and International Trade)—विभिन्न देशो में मजदूरी की अलग अलग दर होने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय पर क्या प्रभाव पडता है? कुछ लेखको का, विशेषकर जो संरक्षण के समर्थक है, यह विचार है कि जिस देश में मजदूरी की दर ऊची रहती है, वह कम मजदूरीवाले देशो के सामने प्रतियोगिता में टिक नही सकता। यह विचार इस विश्वास से उत्पन्न होता है कि जिस देश में मजदूरी की दर ऊंची रहेगी उसमे उत्पादन की लागत और कीमतें भी ऊची रहेंगी। इसलिये वह देश उन देशो की प्रतियोगिता में नही टिक सकता, जिसमें मजदूरी, लागतें और कीमतें कम रहती है।

क्या ऊंची मजदूरीवाला देश प्रतियोगिता में टिक सकता है

यह विचार बहुत भ्रमपूर्ण है और इसे सिद्धान्त के तर्क और वास्तविक आकडो द्वारा दिखाया जा सकता है। ऊची मजदूरी का अर्थ हमेशा अधिक लागत नही होता। यदि श्रम की उत्पादन शक्ति भी बहुत ऊची है, अर्थात् यदि श्रम वर्ग अधिक माल का उत्पादन करता है, तो वास्तव में लागत प्रति इकाई कम होगी। इससे कीमतें भी कम होगी। इसके विरुद्ध कम मजदूरी का कारण कम उत्पादन शक्ति हो सकती है। तब लागत और कीमतें दोनों ऊची होगी। मजदूरी की दरो की ऊची सतह व्यापक रूप में तभी रखी जा सकती है, जब श्रम की उत्पादन शक्ति भी बहुत ऊची हो। इसलिये जिस देश में मजदूरी की मुद्रा दरें ऊची है, वह नीची दरवाले देशो द्वारा प्रतियोगिता में सब प्रकार से नहीं हटायी जा सकती।

व्यवसाय के आकडे भी इस कथन का समर्थन करते है। इग्लैण्ड में मजदूरो को भारतीय मजदूरो की अपेक्षा अधिक मजदूरी मिलती है। फिर भी इग्लैण्ड का माल भारत मे आता है। सभी जानते है कि अमेरिका में मजदूरी की दर बहुत ऊची है। फिर भी उसका माल काफी बडी मात्रा में विदेशो को जाता है।

बल्कि किसी देश की वस्तुओ की विदेशो में अधिक माग होने के कारण उस देश में

मजदूरों की दर ऊँची हो सकती है। अर्थात् व्यवसाय की शर्तें उसके पक्ष में रहेंगी और उसके परिणामस्वरूप वहाँ मजदूरी की सतह ऊँची रहेगी। इस प्रकार मजदूरों की ऊँची सतह दर निर्यात व्यवसाय में बाधक होने के बदले किसी देश के उन्नतिशील निर्यात व्यवसाय की सूचक हो सकती है और साथ ही ऊँची मजदूरी के कारण देश समृद्धिशाली भी हो सकता है।

यदि किसी देश के प्रधान उद्योगों में श्रम वर्ग बहुत कार्य-कुशल है तो उस देश में मजदूरी की सतह ऊँची होगी। जब एक बार मजदूरी की सतह ऊँची हो जाती है तो सम्भव है कि किसी उद्योग विशेष के लिये वह बाधक हो। क्योंकि प्रतियोगिता के कारण उस प्रचलित ऊँची दर में मजदूरी देनी पड़ेगी पर सम्भव है कि उसमें लगा हुआ श्रमवर्ग उतना कार्य कुशल न हो जितना कि प्रधान उद्योगों में है। तब उस देश में उन वस्तुओं का उत्पादन बन्द हो जायगा क्योंकि उसके उत्पादन की सुविधाएं तुलनात्मक दृष्टि से सबसे अच्छी नहीं है। यदि किसी उद्योग में श्रम के किसी वर्ग को बहुत कम दर से मजदूरी मिलती है, तो वह उन वस्तुओं का निर्यात करेगा जिनका उत्पादन उस श्रमवर्ग के द्वारा होता है। परन्तु यदि मजदूरी की दर की पूरी सतह ऊँची या नीची है तो उसका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय पर नहीं पड़ेगा।

प्रतियोगितारहित समूह और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय (Non-Competing Groups and International Trade)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय के सिद्धान्त में हमने इस बात को मान लिया है कि एक देश के अन्दर श्रमवर्ग काफी भ्रमणशील होता है। इसलिये श्रम-वर्ग के विभिन्न समूहों की योग्यता के अनुसार उनकी मजदूरी की दर भी निश्चित हो जाती है। यदि १० दिन के श्रम में ३० मन गहूँ और १५ मन चावल का उत्पादन होता है तो गहूँ और चावल का उत्पादन करनेवाले मजदूरों की मजदूरी का अनुपात क्रमशः २ : १ होगा। हम मान लेते हैं कि स्थिति यही है। परन्तु मान लो प्रतियोगितारहित समूहों के कारण श्रमवर्ग के एक समूह विशेष को उसी योग्यता के दूसरे समूह को मिलनेवाली मजदूरी की दर की अपेक्षा कम अथवा अधिक मजदूरी मिलती है। तो इन प्रतियोगितारहित समूहों की उपस्थिति का अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की गति पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

क्या प्रतियोगितारहित समूहों का व्यवसाय पर प्रभाव पड़ता है

यदि भ्रमणशीलता के अभाव के कारण श्रमवर्ग के किसी समूह को बहुत कम मजदूरी मिलती है तो उस देश को उन वस्तुओं के उत्पादन में तुलनात्मक सुविधा रहेगी जिनका उत्पादन उस समूह द्वारा होता है। अन्य स्थानों की अपेक्षा सब कम होगा। इन परिस्थितियों में उन वस्तुओं के निर्यात होने की सम्भावना होगी और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय पर इसका प्रभाव पड़ेगा। सन् १९१४ के पहले जर्मनी के रासायनिक उद्योगों में यही

परिस्थिति थी। वैज्ञानिक शिक्षा का काफी प्रचार होने के कारण जर्मनी में वैज्ञानिकों की सख्या बहुत बढ गई और विवश होकर उन्हे कम वेतन अथवा मजदूरी पर काम स्वीकार करना पडता था। वैज्ञानिको की मजदूरी की कम दर के कारण जर्मनी को रासायनिक द्रव्यो के उत्पादन में एक तुलनात्मक सुविधा या लाभ मिल गया और उनका लगातार निर्यात होता रहा।

परन्तु, यदि दूसरे देशो मे भी इसी प्रकार के मजदूरो के प्रतियोगितारहित समूह (उदाहरण के लिये वैज्ञानिक) जिनको कम मजदूरी मिलती है तो पहले देश को कम मजदूरी की जो तुलनात्मक सुविधाएं प्राप्त है, वही अन्य देशो को भी प्राप्त होगी। इसलिये खर्च की दृष्टि से तुलनात्मक रूप में किसी भी देश की स्थिति अधिक अच्छी या अधिक बुरी न होगी और व्यवसाय की गति पहले की तरह उत्पादन की तुलनात्मक योग्यता द्वारा निश्चित होगी। इसलिये यदि विभिन्न देशो के प्रतियोगितारहित समूहो की स्थिति तुलनात्मक रूप में एक-सी है, तो उनकी उपस्थिति का व्यवसाय की गति पर अधिक प्रभाव नही पडेगा। परन्तु यदि दो देशो मे दो समूहो की तुलनात्मक परिस्थितिया भिन्न-भिन्न है—जैसे कि वैज्ञानिको को जर्मनी मे कम मजदूरी मिलती है और अमेरिका में वैज्ञानिको को अधिक मजदूरी मिलती है—तो व्यवसाय की गति पर प्रभाव पडेगा। "परन्तु वास्तव में विभिन्न देशो की समाजो की सतहो मे अधिक अन्तर नही होता। विभिन्न देशो के समाजो के विभिन्न वर्गों मे प्रतियोगितारहित समूह प्राय एक समान सतह पर रहते है।"[1] इसलिये मजदूरो के प्रतियोगितारहित समूहो के होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की गति पर उनका विशेष प्रभाव नही पडता।

सरक्षण सम्बन्धी विवाद (The Protectionist Controversy)—सरक्षण सम्बन्धी वाद-विवाद उतना ही पुराना है, जितना कि अर्थशास्त्र और उसके सिद्धान्त। विदेशी प्रतियोगिता से अपनी रक्षा करने की इच्छा किसी न किसी रूप में हमेशा से बनी आई है। वास्तव में हृदय मे हम सब सरक्षणवादी है और जीवन के किसी भी क्षेत्र में प्रतियोगिता नही चाहते। विशेषकर विदेशियो की प्रतियोगिता तो बिलकुल नहीं चाहते। सरक्षण और स्वतन्त्र व्यवसाय सम्बन्धी वाद-विवाद बहुत पुराना है, परन्तु फिर भी इस सम्बन्ध में सुनिश्चित विचार नही है। इसलिये यहा हम इस समस्या पर विचार करेंगे।

स्वतन्त्र व्यवसाय (Free Trade)—स्वतन्त्र व्यवसाय का अर्थ केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की स्वतन्त्रता है। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न देशो के बीच में व्यवसाय की जो स्वाभाविक गति अथवा प्रवाह हो, उसमें किसी प्रकार की अस्वाभाविक बाधाएं, बन्धन अथवा रुकावटें न आनी चाहिये।

---

१ Taussig Principles, Vol. II.

स्वतन्त्र व्यवसाय तुलनात्मक लागतों के नियम की बल्कि स्वयं श्रम विभाजन की स्वाभाविक उपज है। विदेशी व्यवसाय भी देश के अन्तर्गत होनेवाले व्यवसाय के समान है। उसमें जितनी अधिक स्वतन्त्रता होगी, उतना अधिक लाभ विभिन्न देशों का होगा। जिस प्रकार देश के अन्दर व्यवसाय की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है और कोई भी व्यक्ति सबसे सस्ते बाजार में खरीद सकता है तथा सबसे महंगे बाजार में बेच सकता है उसी प्रकार स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय होने से कोई भी देश सस्ते बाजार में खरीद सकेगा। स्वतन्त्र व्यवसाय का तर्क दो बातों पर निर्भर है। पहली यह कि यदि किसी देश के सरकारी बाधा न डाली तो उस देश की पूंजी और श्रम उन उद्योगों में जाने की प्रवृत्ति दिखायगे, जिनमें उनका उपयोग सबसे अधिक लाभपूर्वक हो सकता है। दूसरे संसार का कुल उत्पादन तथा किसी देश का उत्पादन अपनी चरम सीमा पर पहुंच सकता है, यदि प्रत्येक देश अपनी पूंजी और श्रम केवल उन उद्योगों में लगावे, जिनमें उसे सबसे अधिक तुलनात्मक सुविधाएं प्राप्त हैं और उनका विनिमय अन्य देशों में बनी हुई सस्ती वस्तुओं से करे। इसलिये दीर्घकाल में स्वतन्त्र व्यवसाय से प्रत्येक देश को लाभ होगा। "परन्तु इस प्रकार के व्यवसाय में सबसे बड़ा अनुमान यह होता है कि अपने निर्यात के बदले में विदेशों से जो वस्तुएं आती हैं, उनकी लागत उस रकम से कम होती है, जो उनके बनाने में स्वदेश में लगती। यदि ऐसा न होता तो स्वतन्त्र व्यवसाय के रहते हुए भी उनका आयात न किया गया होता।"[1]

संरक्षण (Protection)—संरक्षण के पक्ष में जो दलीलें दी जाती हैं, उनमें तर्क की अपेक्षा कट्टर भावुकता अधिक रहती है और शुद्ध आर्थिक तर्क की अपेक्षा, अन्य विचारों की प्रधानता रहती है। इसलिये उनमें से बहुतों का खंडन आसानी से हो सकता है। यहां हम उन पर एक-एक करके विचार करेंगे।

सबसे अधिक प्रचलित तर्क 'घर का पैसा घर में रखने' का है। "जब हम विदेशों में बनी हुई वस्तुएं खरीदते हैं तब वस्तुएं तो हमें मिलती हैं पर पैसा विदेशियों को मिलता है। जब हम स्वदेश में बनी हुई वस्तुएं खरीदते हैं, तब हमें घर का पैसा घर में रखना वस्तुएं और पैसा दोनों मिलते हैं।" राबर्ट इंगर्सोल के ये शब्द, जिन्हें गलती से अब्राहम लिंकन के नाम से उद्धृत किया जाता है, संरक्षण के पक्ष में सबसे अधिक प्रचलित तर्क है। परन्तु इस नीति की वास्तविकता को समझने और उसको साहसपूर्वक स्वीकार करने का प्रयत्न कभी नहीं किया जाता। जब हम स्वदेशी के बदले विदेशी उत्पादक का माल खरीदते हैं, तब अनुमान यह होता है कि विदेशी उत्पादक हमें कम कीमत पर अपना माल दे रहा है। यदि हम स्वदेश

[1] Viner, "The Tariff Question and the Economist". Quoted in Beveridge Tariffs p. 15

परिस्थिति थी। वैज्ञानिक शिक्षा का काफी प्रचार होने के कारण जर्मनी में वैज्ञानिकों की संख्या बहुत बढ़ गई और विवश होकर उन्हें कम वेतन अथवा मजदूरी पर काम स्वीकार करना पड़ता था। वैज्ञानिकों की मजदूरी की कम दर के कारण जर्मनी को रासायनिक द्रव्यों के उत्पादन में एक तुलनात्मक सुविधा या लाभ मिल गया और उनका लगातार निर्यात होता रहा।

परन्तु, यदि दूसरे देशों में भी इसी प्रकार के मजदूरों के प्रतियोगितारहित समूह (उदाहरण के लिये वैज्ञानिक) जिनको कम मजदूरी मिलती है तो पहले देश को कम मजदूरी की जो तुलनात्मक सुविधाएं प्राप्त हैं, वही अन्य देशों को भी प्राप्त होंगी। इसलिये सबों की दृष्टि से तुलनात्मक रूप में किसी भी देश की स्थिति अधिक अच्छी या अधिक बुरी न होगी और व्यवसाय की गति पहले की तरह उत्पादन की तुलनात्मक योग्यता द्वारा निश्चित होगी। इसलिये यदि विभिन्न देशों के प्रतियोगितारहित समूहों की स्थिति तुलनात्मक रूप में एक-सी है, तो उनकी उपस्थिति का व्यवसाय की गति पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ेगा। परन्तु यदि दो देशों में दो समूहों की तुलनात्मक परिस्थितियां भिन्न भिन्न हैं—जैसे कि वैज्ञानिकों को जर्मनी में कम मजदूरी मिलती है और अमेरिका में वैज्ञानिकों को अधिक मजदूरी मिलती है—तो व्यवसाय की गति पर प्रभाव पड़ेगा। "परन्तु वास्तव में विभिन्न देशों की समाजों की सतहों में अधिक अन्तर नहीं होता। विभिन्न देशों के समाजों के विभिन्न वर्गों में प्रतियोगितारहित समूह प्राय एक समान सतह पर रहते हैं।"[1] इसलिये मजदूरों के प्रतियोगितारहित समूहों के होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की गति पर उनका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

संरक्षण सम्बन्धी विवाद (The Protectionist Controversy)—संरक्षण सम्बन्धी वाद विवाद उतना ही पुराना है, जितना कि अर्थशास्त्र और उसके सिद्धान्त। विदेशी प्रतियोगिता से अपनी रक्षा करने की इच्छा किसी न किसी रूप में हमेशा से बनी आई है। वास्तव में हृदय से हम सब संरक्षणवादी हैं और जीवन के किसी भी क्षेत्र में प्रतियोगिता नहीं चाहते। विशेषकर विदेशियों की प्रतियोगिता तो बिलकुल नहीं चाहते। संरक्षण और स्वतन्त्र व्यवसाय सम्बन्धी वाद विवाद बहुत पुराना है, परन्तु फिर भी इस सम्बन्ध में सुनिश्चित विचार नहीं है। इसलिये यहां हम इस समस्या पर विचार करेंगे।

स्वतन्त्र व्यवसाय (Free Trade)—स्वतन्त्र व्यवसाय का अर्थ केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की स्वतन्त्रता है। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न देशों के बीच में व्यवसाय की जो स्वाभाविक गति अथवा प्रवाह हो, उसमें किसी प्रकार की अस्वाभाविक बाधाएं, बन्धन अथवा रुकावटें न आनी चाहिये।

---

१ Taussig Principles, Vol II

स्वतन्त्र व्यवसाय तुलनात्मक लागतों के नियम की, बल्कि स्वयं श्रम विभाजन की स्वाभाविक उपज है। विदेशी व्यवसाय भी देश के अन्तर्गत होनेवाले व्यवसाय के समान है। उसमें जितनी अधिक स्वतन्त्रता होगी, उतना अधिक लाभ विभिन्न देशों का होगा। जिस प्रकार देश के अन्दर व्यवसाय की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है और कोई भी व्यक्ति सबसे सस्ते बाजार में खरीद सकता है तथा सबसे महंगे बाजार में बेच सकता है उसी प्रकार स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय होने से कोई भी देश सस्ते बाजार में खरीद सकेगा। स्वतन्त्र व्यवसाय का तर्क दो बातों पर निर्भर है। पहली यह कि यदि किसी देश के सरकारी कानूनों से बाधा न डाली, तो उस देश की पूंजी और श्रम उन उद्योगों में जाने की प्रवृत्ति दिखावेंगे, जिनमें उनका उपयोग सबसे अधिक लाभपूर्वक हो सकता है। दूसरी प्रकार का कुल उत्पादन तथा किसी देश का उत्पादन अपनी चरम सीमा पर पहुंच सकता है, यदि प्रत्येक देश अपनी पूंजी और श्रम केवल उन उद्योगों में लगावे, जिनमें उसे सबसे अधिक तुलनात्मक सुविधाएं प्राप्त हैं और उनका विनिमय अन्य देशों में बनी हुई सस्ती वस्तुओं से करे। इसलिये दीर्घकाल में स्वतन्त्र व्यवसाय से प्रत्येक देश को लाभ होगा। "परन्तु इस प्रकार के व्यवसाय में सबसे बड़ा अनुमान यह होता है कि अपने निर्यात के बदले में विदेशों से जो वस्तुएं आती हैं, उनकी लागत उस रकम से कम होती है, जो उनके बनाने में स्वदेश में लगती। यदि ऐसा न होता तो स्वतन्त्र व्यवसाय के रहते हुए भी उनका आयात न किया गया होता।"[1]

संरक्षण (Protection)—संरक्षण के पक्ष में जो दलीलें दी जाती हैं, उनमें तर्क की अपेक्षा बहुत भावुकता अधिक रहती है; और शुद्ध आर्थिक तर्क की अपेक्षा, अन्य विचारों की प्रधानता रहती है। इसलिये उनमें से बहुतों का खंडन आसानी से हो सकता है। यहां हम उन पर एक-एक करके विचार करेंगे।

सबसे अधिक प्रचलित तर्क "घर का पैसा घर में रखने" का है। "जब हम विदेशों में बनी हुई वस्तुएं खरीदते हैं, तब वस्तुएं तो हमें मिलती हैं, पर पैसा विदेशियों को मिलता है। जब हम स्वदेश में बनी हुई वस्तुएं खरीदते हैं, तब हमें

घर का पैसा घर में रखना

वस्तुएं और पैसा दोनों मिलते हैं।" राबर्ट इंगरसोल के ये शब्द, जिन्हें गलती से अब्राहम लिंकन के नाम से उद्धृत किया जाता है, संरक्षण के पक्ष में सबसे अधिक प्रचलित तर्क है। परन्तु इस नीति की वास्तविकता को समझने और उसको साहसपूर्वक स्वीकार करने का प्रयत्न कभी नहीं किया जाता। जब हम स्वदेशी के बदले विदेशी उत्पादक का माल खरीदते हैं, तब अनुमान यह होता है कि विदेशी उत्पादक हमें कम कीमत पर अपना माल दे रहा है। यदि हम स्वदेश

1 Viner, "The Tariff Question and the Economist". Quoted in Beveridge Tariffs p. 15.

की बनी वस्तुएं खरीदते हैं, तो वे महगी पड़ेंगी। इसलिये उपभोक्ता की दृष्टि से हमें हानि होगी। यह बात अवश्य है कि अन्य उद्देश्यों को ध्यान में रखकर हम यह हानि सहन के लिये तैयार हो सकते हैं। परन्तु तब यह बिलकुल दूसरा प्रश्न हो जाता है।

आयात-निर्यात के अन्तर सम्बन्धी तर्क

दूसरा तर्क आयात-निर्यात के अन्तर (balance of trade) सम्बन्धी सुप्रसिद्ध तर्क है। यह उस समय का पुराना विचार है, जब विदेशी व्यवसाय का उद्देश्य सोना चांदी संग्रह करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह आवश्यक रहता था कि निर्यात को प्रोत्साहन मिलना चाहिये और आयात कम होना चाहिये, जिससे अन्य देश हमारे देश को सोना देने के लिये बाध्य हों। जाहिर है कि यदि सब देश एक साथ इस नीति को अपनाने लगें तो किसी को लाभ न होगा। यदि सब देश केवल बेचने के लिये उत्सुक हों और खरीदने के लिये कोई तैयार न हो तो व्यवसाय का क्या हाल होगा ? मुद्रा अथवा सोना सम्पत्ति नहीं है। हमारी उन्नति हमारे संग्रहीत सोने की मात्रा पर निर्भर नहीं रहती, बल्कि कम से कम दामों पर वस्तुएं खरीदने की सुविधा पर निर्भर रहती है और केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय के द्वारा ही हम वस्तुएं सस्ते से सस्ते मूल्य पर प्राप्त कर सकते हैं। फिर दीर्घकाल में निर्यात आयात का सन्तुलन होना आवश्यक है। कोई भी देश आयात बन्द करके केवल निर्यात नहीं कर सकता।

स्वदेशी बाजार के तर्क

उसके बाद घरेलू बाजार सम्बन्धी तर्क आता है। इसका उपयोग अधिकतर अमेरिका में कर सम्बन्धी वाद विवाद में किया जाता है। यह तर्क देश की मुद्रा देश में रखने के विचार पर आधारित है। देश में जिन उद्योगों को सरक्षण मिलेगा, उसमें अधिक लोगों को काम मिलेगा। इससे देश में बनी हुई वस्तुओं के लिये देश में ही बाजार अधिक विस्तृत होगा तथा इससे अन्य उद्योगों को प्रोत्साहन मिलेगा। परन्तु सरक्षण से आयात कम होंगे और निर्यात भी कम होंगे तथा अन्य उद्योगों के लिये विदेशी बाजार बन्द हो जायगे, पर उन्हें स्वदेशी बाजार मिल जायगे।

मजदूरी सम्बन्धी तर्क

उसके बाद मजदूरी सम्बन्धी तर्क आता है। यह कहा जाता है कि जिस देश में मजदूरी की दर ऊंची होती है, वह कम मजदूरी की दर वाले देश का मुकाबिला नहीं कर सकता। इसलिये पहले प्रकार के देश को दूसरे प्रकार के देश से सरक्षण मिलना चाहिये। इस तर्क में जो त्रुटि है, उसे हम पहले बतला चुके हैं। इसी तर्क को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जाता है कि सरक्षण से मजदूरी की दर बढ़ेगी। सरक्षण करो के द्वारा आयात कम हो जायगे। देश में सोने का आयात होगा और देश में कीमतों की सतह ऊंची उठेगी। इससे मुद्रा-आय भी बढ़ेगी। परन्तु कीमतों में वृद्धि होने के कारण वास्तविक अथवा मजदूरी की दर कम होगी। उत्पादन शक्ति बढ़ने पर मजदूरी की दर बढ़ती है। यदि उत्पादन

शक्ति कम हुई तो मजदूरी की दर भी कम होगी। संरक्षण द्वारा श्रम और पूंजी सबसे अधिक लाभदायक उद्योगों से हट जायगी, जिससे "उत्पादन शक्ति, उन्नति और मजदूरी की दर में आम तौर से कमी होगी।"

संरक्षण का समर्थन स्वदेशी और विदेशी उत्पादन की लागतों में समता (equalising the costs of production) स्थापित करने के लिये भी किया जाता है। यदि स्वदेशी लागत खर्च विदेशी लागत खर्च से (मान लो) १० प्रतिशत अधिक है, तो विदेशी आयातों पर १० प्रतिशत कर लगा देना चाहिये। इस प्रकार दोनों लागतों को एक सम करके तब उन्हें बराबरी की स्थिति में प्रतियोगिता करने दो। यह तर्क देखने में बड़ा न्याययुक्त दिखता है। परन्तु यदि इसका पालन पूरी तरह से किया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि स्वदेशी लागत-खर्च जितना अधिक हो, आयात कर भी उतना ही अधिक होना चाहिये। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जो उद्योग सबसे कम योग्य होगा, उसे सबसे अधिक संरक्षण मिलेगा। यदि इस नियम का ईमानदारी के साथ कठोरतापूर्वक पालन किया जावे तो सब व्यवसाय ही समाप्त हो जायेंगे। क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय का आधार तो लागतों का तुलनात्मक अन्तर है।

शिशु उद्योगों का तर्क

संरक्षण के पक्ष में सबसे अधिक ठोस तर्क 'शिशु उद्योगों' सम्बन्धी तर्क है, जिसकी विवेचना सबसे पहले लिस्ट (List) ने की थी। इस तर्क का सार यह है कि "शिशु का पोषण करो, बच्चे की रक्षा करो और वयस्क को स्वतन्त्र कर दो।" किसी देश में कुछ उद्योगों की स्थापना और उन्नति करने के लिये बहुत से प्राकृतिक साधन और सुविधाएं हो सकती हैं। परन्तु सुस्थापित विदेशी प्रतियोगियों की प्रतिस्पर्धा के कारण उनका पनपना कठिन हो जाता है। किसी काम को आरम्भ करना हमेशा कठिन होता है। यदि प्रारम्भिक अवस्था में इन शिशु उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से संरक्षण मिल जाता है, तो सम्भव है कि समय पाकर वे अच्छी प्रकार स्थापित हो जाय और विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने में समर्थ हो सकें। यद्यपि प्रारम्भ में संरक्षण से हानि होगी, तथापि बाद में उद्योगों के उन्नत हो जाने पर उससे लाभ ही होगा। स्वतन्त्र व्यवसाय के समर्थक इस तर्क की उपयुक्तता अस्वीकार नहीं करते। परन्तु इस तर्क के आधार पर केवल अस्थायी संरक्षण कर लगाना ही न्यायसंगत होगा। परन्तु संरक्षण में स्थायी होने की प्रवृत्ति रहती है। "शिशु उद्योग कभी वयस्क होने की प्रवृत्ति नहीं दिखाते और यदि वयस्क हो भी जाते हैं, तो अपनी युवा-शक्ति को अधिक तथा लम्बे समय के लिये संरक्षण प्राप्त करने में लगाते हैं।"[1]

संरक्षण का समर्थन देश में विभिन्न प्रकार के उद्योगों की स्थापना के लिये भी किया

---

१ Beveridge. Tariffs, p. 103.

जाता है। विभिन्न उद्योगों की स्थापना कई आधारों पर की जाती है। पहला यह कि उससे देश आत्मनिर्भर हो सकता है और आत्मनिर्भरता सैनिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। दूसरा तर्क यह है कि विभिन्न उद्योगों और पेशों की स्थापना से लोगों की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का बहुमुखी उपयोग हो सकेगा। अन्त में देश को केवल उद्योग पर अथवा उद्योगों के केवल एक समूह पर निर्भर न रहना पड़ेगा। एक व्यक्ति के समान एक देश को भी सब अंडे एक ही टोकनी में न रखने चाहियें। इन तर्कों का सम्बन्ध अर्थशास्त्र से नहीं है। सैनिक सुरक्षा की दृष्टि से राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता महत्त्वपूर्ण हो सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि सम्पत्ति की अपेक्षा सुरक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। परन्तु तब हम सैनिक सुरक्षा के निमित्त हानि सहने के लिये तैयार होते हैं और यह एक बिलकुल अलग प्रश्न है। फिर, विभिन्न उद्योगों की उन्नति का तर्क असल बात पर ध्यान नहीं देता। अधिक लोगों को काम मिलने का अर्थ यह नहीं होता कि देश अधिक समृद्धिशाली हो जायगा। "आर्थिक प्रयत्न का उद्देश्य अधिक काम देना नहीं, बल्कि सम्पत्ति है।" जब पूंजी और श्रम का उपयोग कम उत्पादक कार्यों में होगा, तब उत्पादन शक्ति और समृद्धि भी कम हो जावेगी।

अधिकांश स्वतन्त्र व्यवसाय के समर्थक इस बात का समर्थन करते हैं कि संरक्षण द्वारा देशी उद्योगों को विदेशों की गंदी और बेईमानीपूर्ण प्रतियोगिता (dumping) से रक्षा करनी चाहिये। जब अन्य देश किसी देश में गन्दी प्रतियोगिता करने के विचार से दाम घटाकर माल पटकना शुरू करते हैं, तो उस देश के उद्योग धंधे अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। यदि यह प्रतियोगिता स्थायी हो तो आपत्ति नहीं होनी चाहिये, परन्तु माल का यह पटकना प्राय: अस्थायी होता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की प्रतियोगिता देश के उद्योगों के लिये हानिकर होती है और उसके विरुद्ध संरक्षक कर लगाना न्यायोचित है। परन्तु चूंकि यह प्रतियोगिता अस्थायी होती है, इसलिये ये संरक्षक कर भी अस्थायी होने चाहिये। परन्तु अनुभव यह कहता है कि एक बार जब संरक्षक कर लगा दिये जाते हैं, तब वे बहुत कम हटाये जाते हैं। "दीर्घकाल में संरक्षक कर हानिकर होते हैं। वे देशों को जमे हुए समुद्रों और चट्टानों से भरे हुए समुद्री किनारों की तरह गरीब और एकाकी बना देते हैं।"

गन्दी प्रतियोगिता और संरक्षण

संरक्षण की राजनैतिक बुराइयां भी कम गम्भीर नहीं होतीं। जिन उद्योगों को संरक्षण प्राप्त होता है, उनके मालिक उद्योगों की उन्नति करने के बदले संसद और विधानमंडलों के सदस्यों को रिश्वत इत्यादि देकर संरक्षक कर सम्बन्धी कानून बनाने के चक्कर में रहते हैं। इसलिये संरक्षक-कर बर्फ की गेंद की तरह बढ़ते ही जाते हैं और राजनैतिक जीवन में गन्दगी फैलाते हैं। एक बार लगने के बाद संरक्षक कर जल्दी नहीं हटाये जाते और वे देश के ऊपर स्थायी भार होकर बैठते हैं। संरक्षण के पक्ष में अधिकतर प्रचलित

तर्क बिलकुल गलत और आधारहीन होते हैं। वे आर्थिक राष्ट्रवाद और कट्टरपन्थी का सहारा लेकर बढ़ते हैं।

संरक्षण और बेकारी (Protection and Unemployment)—संरक्षण को बहुधा बेकारी को दूर करने का भी एक उपाय बतलाया जाता है। विदेशी आयातो पर रोक लगाने से स्वदेशी उद्योगो का विस्तार होगा। फल यह होगा कि इन उद्योगो में अधिक बेकार लोगो को काम मिलेगा। परन्तु लोग इस बात को भूल जाते हैं कि आयात पर रोक लगाने से अन्त में निर्यात भी कम हो जायगे। इसलिये संरक्षित उद्योगो में कुछ लोगो को भले ही काम मिल जाय परन्तु जो उद्योग निर्यात की वस्तुए बनाते है, उनमें बेकारी बढ़ेगी। इसलिये वास्तव में बेकारी में वृद्धि नही होगी।

कुछ समय पहले कीन्स ने दो सुझाव रखे थे जिनमें संरक्षक करो द्वारा बेकारी में वृद्धि हो सकती है यदि साथ ही निर्यात की मात्रा भी पुरानी सतह पर रखी जा सके। एक तो यदि संरक्षक कर लगानेवाला देश यदि विदेशो को अधिक ऋण भी देने लगे तो निर्यात की मात्रा पुरानी सतह पर रखी जा सकती है। इससे देशी उद्योगो में विस्तार होने से जो बेकारी बढ़ेगी वह निर्यात उद्योगो में होनेवाली बेकारी के प्रभाव से बची रहेगी। दूसरे, यदि संरक्षक करो से होनेवाली आय में से निर्यात होनेवाले माल को सरकारी आर्थिक सहायता (bounties) मिले तो निर्यात व्यवसाय अपनी पुरानी सतह पर रखा जा सकता है।

जहा तक पहले सुझाव का सम्बन्ध है यह बात सच है कि यदि विदेशो को अधिक ऋण या उधार दी जावे तो निर्यात की पुरानी सतह बनी रह सकती है। परन्तु तब देश के पूजी सम्बन्धी साधनो का काफी बड़ा अंश विदेशो को चला जायगा। इससे देश में पूजी की कमी हो सकती है। फिर यह नीति बुद्धिमत्तापूर्ण नही होगी। विदेशी आयात कम करने का अर्थ यह होगा कि हम उन देशो की बेचने की शक्ति कम कर रहे हैं। इससे उनकी समृद्धि कम होगी। तब ऐसे देशो को अधिक ऋण देना बुद्धिमानी होगी ? दूसरे सुझाव के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि जब हमारे निर्यातो को सरकारी सहायता मिलेगी तो दूसरे देश भी उसका जवाब देगे और वे इसे गंदी प्रतियोगिता समझ कर इसके विरुद्ध संरक्षक कर लगावेंगे। इन तरीको की सहायता से निर्यात बनाये रखने की सम्भावना बहुत कम है। इस प्रकार संरक्षण की सहायता से बेकारी दूर करने का तर्क सिद्ध करना तो सरल है परन्तु वास्तविक जीवन में इन विचारो पर अमल करना सम्भव नहीं है।

यदि हम बेकारी के वास्तविक कारणो का अध्ययन करे तो देखेंगे कि संरक्षक करो की सहायता से इनमें से एक भी कारण दूर नही किया जा सकता। एक तो व्यवसाय में मौसिमी अर्थात् सामयिक परिवर्तनो के कारण बेकारी हो सकती है। इन्हें संरक्षक करो के द्वारा कोई भी दूर करने का दावा नही कर सकता। दूसरे, व्यवसाय-चक्रो के कारण

जो परिवर्तन होते हैं, उनसे भी बेकारी होती है। व्यवसाय-चक्र बेकारी के महत्त्वपूर्ण कारण होते हैं। परन्तु संरक्षण द्वारा वे भी दूर नहीं किये जा सकते। बड़े-बड़े संरक्षक कर लगाने के बाद भी अमेरिका को बड़ी भारी व्यावसायिक मंदी का सामना करना पड़ा। तीसरे, नये आविष्कारों तथा उत्पादन के नये तरीकों को ग्रहण करने के कारण औद्योगिक संगठन में जो परिवर्त्तन होते हैं, उनसे भी बेकारी हो सकती है। संरक्षण द्वारा आप उन्नति का मार्ग नहीं रोक सकते। और ऐसा करना भी नहीं चाहिये। अन्त में श्रमवर्ग की भ्रमणहीनता के कारण अथवा किसी देश में मजदूरी की दर ऊंची सतह के कारण बेकारी हो सकती है। इन परिस्थितियों में "मजदूरी पर बढ़ती हुई कीमतों द्वारा छिपे रूप से पीछे से प्रहार करने की अपेक्षा मजदूरी को नये ढंग से व्यवस्थित करने तथा उसे अधिक लचीला बनाना ज्यादा अच्छा होगा।" संरक्षण इस रोग की जड़ तक नहीं जायगा, बल्कि जिन कारणों से यह व्याधि उत्पन्न होती है, उन कारणों को अधिक मजबूत और स्थायी बनावेगा।

इकतालीसवां अध्याय

विदेशी विनिमय

(Foreign Exchange)

विदेशी विनिमय क्या है? (What is Foreign Exchange?)—'विदेशी विनिमय' का उपयोग कई अर्थों में किया जाता है। कभी-कभी इसका उपयोग किसी विदेशी व्यवसायी या बैंक को दिये जानेवाले बैंकरों के ड्राफ्ट, विनिमय की हुंडियाँ इत्यादि के लिये किया जाता है। जर्मन भाषा में इसके लिये 'डिवाइज़न (devisen) शब्द का उपयोग किया जाता है। इस शब्द का उपयोग विनिमय की वास्तविक दर प्रकट करने के लिये भी किया जाता है। उदाहरण के लिये जब यह कहा जाता है कि विदेशी विनिमय हमारे पक्ष में है तो उसका मतलब विनिमय की वास्तविक दर से रहता है। विदेशी विनिमय का मतलब उस व्यवस्था से भी होता है, जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय के हिसाब और लेन-देन भुगतान किये जाते हैं। हम विदेशी विनिमय का उपयोग इस अर्थ में करेंगे। जिस प्रकार देश के भीतर व्यावसायिक लेन-देन में चेकों का उपयोग होता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में विनिमय पत्रों (bills of exchange) और बैंक ड्राफ्टों (banker's drafts) का उपयोग होता है।

भुगतान किस प्रकार होता है ? (How Payment are Made ?)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय में भुगतान प्रायः विनिमय पत्रों और और बैंक ड्राफ्टों के द्वारा होता है।

विनिमय पत्र किस प्रकार चलता है।

विनिमय पत्र एक व्यक्ति द्वारा बैंक अथवा किसी व्यक्ति को दी हुई एक आज्ञा है, जिसमें एक तीसरे व्यक्ति को कुछ रकम देने का आदेश रहता है। मान लो, एक भारतीय व्यापारी अ एक हजार रुपए का जूट एक अंग्रेज व्यापारी ब के नाम निर्यात करता है और एक भारतीय व्यापारी स ने एक हजार रुपये का कपड़ा एक अंग्रेज व्यापारी द से आयात किया है। यदि इन सौदा का भुगतान करने के लिये ब, अ के पास सोना भेजता है और स, द के पास सोना भेजता है, तो यातायात में दुगुना खर्च हो जायगा। परन्तु मान लो, भारतीय निर्यातकर्त्ता अंग्रेज आयातकर्त्ता के नाम पर हुंडी चलाता है और उसे भारतीय आयातकर्त्ता का बेच देता है। भारतीय आयातकर्त्ता उसे खरीदकर अंग्रेज निर्यातकर्त्ता के पास भेज देता है और वह अंग्रेज निर्यातकर्त्ता उस हुंडी का भुगतान अंग्रेज आयातकर्त्ता से ले लेता है। इस प्रकार मुद्रा के यातायात के बिना एक हुंडी या विनिमय पत्र के द्वारा सौदा अथवा ऋण का भुगतान हो जाता है। विदेशी व्यवसाय में हुंडियों तथा विनिमय पत्रों का उपयोग इस प्रकार किया जाता है। इधर कुछ समय से हुंडियों अथवा विनिमय पत्रों का उपयोग कम हो रहा है, उनके बदले सौदों का भुगतान बैंकों के ड्राफ्ट अथवा जल्दी भुगतान के केबिल या तार द्वारा (cable transfers) होता है। आयातकर्त्ता बैंक जाकर एक ड्राफ्ट खरीद लेता है और उसे निर्यातकर्त्ता के पास भेज देता है। निर्यातकर्त्ता उस ड्राफ्ट को बैंक की विदेशी शाखा या एजेन्ट से भुना लेता है। हुंडी या तो 'दर्शनी' ('sight') होती है या 'मुद्दती' ('long')। दर्शनी हुंडी का भुगतान तुरन्त करना पड़ता है। मुद्दती का भुगतान एक निश्चित समय के बाद, प्रायः ९० दिन के बाद करना पड़ता है। यदि कोई आयातकर्त्ता अथवा उसका बैंक या एजेन्ट हुंडी पर "स्वीकृत" ('accepted') लिखकर अपने हस्ताक्षर कर देता है तो हुंडी स्वीकृत समझी जाती है। तब स्वीकार करनेवाला हुंडी का भुगतान करने के लिये जिम्मेदार हो जाता है। यदि हुंडी मुद्रा बाजार में बिक जाती है, तो कहते हैं कि वह भुन (discounted) गई। बेचनेवाले को हुंडी की अवधि का एक निश्चित दर से ब्याज काटकर रकम मिल जाती है।

लेनी-देनी की बाकी (Balance of Payment)—यह जानना आवश्यक है कि किसी अन्य देश को भिन्न-भिन्न मदों पर रकम दी जायगी अथवा उससे प्राप्त की जायगी। पहले तो एक देश अन्य देशों को आयात की हुई वस्तुओं का मूल्य देता है और जिन वस्तुओं का वह निर्यात करता है, उनके लिये अन्य देशों से मूल्य प्राप्त करेगा। वस्तुओं के सिवा देश सेवाओं का भी आयात और निर्यात करते हैं। इन सेवाओं में जहाजों, बैंक और बीमा कम्पनियों की सेवाएं प्रधान रहती हैं। यदि हम विदेशी जहाजों, बैंकों और

Imports)—किसी देश के व्यवसाय की बाकी स्वपक्ष अथवा विपक्ष में हो सकती है, परन्तु उसकी लेनी-देनी की बाकी स्वपक्ष अथवा विपक्ष में नहीं हो सकती। यदि किसी देश की लेनी और देनी के सब मदों की पूरी सूची सावधानी के साथ तैयार की जाय तो सब मद एक दूसरे के बराबर पाये जायंगे। एक दिये हुए समय में

क्या निर्यात आयात का मूल्य चुकाते हैं?

किसी व्यक्ति की आय और खर्च बराबर होनी चाहिये। यदि उसका खर्च आय से अधिक है तो या तो वह पुरानी बचत में से खर्च करता है या अन्य लोगों से ऋण लेता है। यदि आय से उसका खर्च कम है तो वह बचत कर रहा है। कुछ भी हो उसकी आय कर्ज अथवा बचत को जोड़कर अथवा घटाकर खर्च के बराबर होनी चाहिये। यही हाल एक देश का भी है। एक देश अन्य देशों से जो रकम प्राप्त करता है यदि वह उसके द्वारा दी जानेवाली रकम से बढ़ती है (अथवा घटती है) तब वह विदेशों में बाकी जमा करता है (अथवा उसमें से खर्च करता है)। दूसरे शब्दों में वह उन देशों को बाकी ऋण के रूप में देता है (अथवा बाकी ऋण के रूप में लेता है या जमा हुई बाकी में से खर्च करता है)। इसलिये उसके द्वारा प्राप्त रकम उसके ऋण अथवा बचत को जोड़कर अथवा घटाकर उसके द्वारा दी जानेवाली रकम के बराबर होनी चाहिये।

इस अर्थ को ध्यान में रखकर कहा जाता है कि देश का निर्यात उसके आयात के बराबर होना चाहिये। वस्तुओं का निर्यात आयात से अधिक अथवा कम हो सकता है। व्यवसाय की इस स्वपक्षीय अथवा विपक्षीय बाकी से ऊपर दिया गया कथन असत्य नहीं हो सकता। लेनी देनी की बाकी में निर्यात और आयात के सब मद सम्मिलित रहते हैं। निर्यात में वस्तुओं के सिवा विभिन्न प्रकार की सेवाएं, ऋण घूमनेवालों के खर्च, दान और हरजाने की रकमें इत्यादि शामिल रहती हैं। इन सब मदों को एक दूसरे के बराबर होना चाहिये।

बाकी की यह बराबरी हमेशा किस प्रकार होती है? मान लो, एक देश को अन्य देशों से जो रकम प्राप्त होती है वह उसके द्वारा दी जानेवाली रकम से अधिक है। उस देश के जिन व्यक्तियों को विदेशी रकमें मिलेंगी, वे विदेशी मुद्रा अपने बैंकों को बेचेंगे और बदले में देश की मुद्रा लेंगे। यह विनिमय पूरा हो जाने के बाद उस देश के बैंक विदेशों में अधिक रकम या बाकी जमा कर लेते हैं, क्योंकि विदेशी मुद्रा को वे विदेश में ही रखेंगे। जब वे इस बाकी को विदेश में रखेंगे तो उन देशों को ऋण भी देंगे। किसी भी स्थिति में देश की प्राप्त रकम (ऋणों को मिलाकर) दी जानेवाली रकम के बराबर होती है। लेनी और देनी फिर भी बराबर होती है। यदि बैंक विदेशों से अपनी रकम खींचते हैं तो वे देश उन बैंकों को सोना देंगे। तब उस देश में सोना आवेगा। बैंकों के सुरक्षित कोष बढ़ जायगे। तब ये बैंक बाजार में अधिक ऋण देंगे और ब्याज की दर कम करेंगे। इससे उत्पादन और व्यवसाय के लिये अधिक पूंजी प्राप्त होगी और लोगों

की मुद्रा आय बढेगी । तब उस देश में कीमतें बढेंगी । ऊची कीमतो के कारण निर्यात कम होगे और आयात बढ जायगे । इस प्रकार अन्त में लेनी और देनी बराबर हो जायगी ।

विनिमय की दर किस प्रकार निश्चित होती है ? (How the Rate of Exchange is Determined ?)–किसी देश की मुद्रा का जिस अनुपात में विदेशी मुद्रा से विनिमय हो सकता है उसे विनिमय की दर कहते हैं । मुद्रा सम्बन्धी परिस्थितियो की दृढता के अनुसार तथा विदेशी मुद्रा की माग और पूर्ति के आधार पर विनिमय की वास्तविक दर निश्चित होती है । विदेशी मुद्रा की पूर्ति ऋणो की बाकी पर निर्भर रहती है । इसलिये यह कहा जाता है कि विनिमय की वास्तविक दर किसी देश के ऋण की बाकी द्वारा निश्चित होती है । यदि बाकी विपक्ष में है अर्थात् यदि देश निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक करता है,तब विदेशी मुद्रा की माग बढेगी और विनिमय की दर गिरेगी तथा जब बाकी स्वपक्ष में होती है, तब इसका उलटा होता है । **इसे व्यवसाय की बाकी का सिद्धान्त** (balance of trade theory) कहते हैं । इसे कोई अस्वीकार नही करेगा कि विनिमय दर के निश्चित होने पर तत्काल और पहला प्रभाव लेनी-देनी की बाकी का होता है । लेकिन यह केवल उथला और हलका समाधान है । निर्यात और आयात की मात्रा केवल इतनी क्यो होती है ? इससे अधिक क्यो नही होती ? बाकी किसी समय स्वपक्ष में और किसी समय विपक्ष में क्यो हो जाती है ? दूसरे शब्दो में वे कौन से प्रभाव हैं, जिनके द्वारा व्यवसाय की बाकी और उसके परिणामस्वरूप विनिमय की दर निश्चित होती है ? इसलिये विदेशी विनिमय के सिद्धान्त को उन कारणो को समझना चाहिये, जिनके द्वारा लेनी-देनी की बाकी निश्चित होती है । फिर लेनी-देनी की बहुधा विनिमय की दरो का कारण न होकर परिणाम होता है । जब मुद्रा का प्रमाण कागजी मुद्रा होती है, तब पहले विनिमय की दरें क्रियाशील होती हैं और उन दरो के प्रभाव से व्यवसाय की बाकी में परिवर्तन होते हैं । इसलिये इस सिद्धान्त से हम विनिमय की दर निश्चित करनेवाले वास्तविक कारण नही समझ सकते ।

खरीदने की सम-शक्ति का सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory)–यह कोई नया सिद्धान्त नही है । परन्तु दो महायुद्धो के बीच के वर्षों में स्वीडन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री गस्टाव केसल ने इसका पुनरुद्धार और प्रचलन किया । इस सिद्धान्त के अनुसार दो देशो के बीच में विनिमय की दर मूल्य सतहो के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा निश्चित होती है । विनिमय की वास्तविक दर ऐसी होनी चाहिये कि खरीदने की शक्ति की वही मात्रा उस दर पर विनिमय होने के बाद दोनो देशो में एक बराबर वस्तुए और सेवाए खरीद सके । यदि हम १५ रु० खर्च करके भारत में उतनी ही वस्तुए खरीद सकते हैं,जितनी कि इग्लैण्ड में १ पौंड खर्च करके,तो भारत

विनिमय की दर मूल्य सतहो पर निर्भर होती है

और इग्लैण्ड में विनिमय की दर १५ रु० के बदले १ पौंड अर्थात् १ रु० के बदले १ शि० ४ पें० होगी। "यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि विदेशी मुद्रा में जो मूल्य दिया जाता है, वह अन्तिम रूप में विदेशी वस्तुओ के लिये ही दिया जाता है और उसका देश की वस्तुओ के मूल्य के साथ एक निश्चित सम्बन्ध होना चाहिये, तो यह सिद्धान्त जल्दी समझ में आ जाता है। इससे हम इस तात्पर्य पर पहुचते हैं कि दो मुद्रा प्रणालियो के बीच विनिमय की दर अपने-अपने देश में इन मुद्राओ की खरीदने की शक्ति के भागफल (quotient) पर निर्भर रहती है।"[1]

मूल्य सतहो के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर निश्चित होनेवाली विनिमय की दर को खरीदने की सम-शक्ति या खरीदने की शक्ति की समता (purchasing power parity) कहते है। यह ऐसा चक्र या वृत्त है, जिसमें विनिमय की वास्तविक दरो के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। जब तक दो मूल्य-सतहों के आपस के सम्बन्ध में कोई परिवर्तन नही होता, तब तक उनकी विनिमय की दरें समता की ओर जाने की प्रवृत्ति दिखावेगी, परन्तु ध्यान रहे यह समता मोने के अको या अनुपातो की तरह कोई निश्चित अनुपात नही है। यह समता एक बदलता हुआ परिवर्तनशील मान होता है और मूल्य सतहो में होनेवाले परिवर्तनो के साथ-साथ इसमें भी परिवर्तन होते हैं।

परन्तु देखा जाता है कि देशो के मूल्य-सतह प्राय. अलग-अलग सतहो पर रहते हैं। इसलिये एक प्रमाण अथवा आधार-वर्ष (base-year) माने बिना विभिन्न देशो के मूल्य सतहो की तुलना करना कठिन होगा। प्राय. सन् १९१३ को आधार वर्ष माना जाता है। उस वर्ष के मूल्य-सतहो के सम्बन्ध और विनिमय की दरो को सामान्य अथवा आदर्श (normal) माना जाता है। यदि दो मूल्य-सतहो के आपस के सम्बन्ध में परिवर्तन होता है, तो विनिमय की दरो में भी उसी अनुपात में परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिये, मान लो, सन् १९१३ में अमेरिका में मूल्यो का सूचक-अक इग्लैण्ड की अपेक्षा डेढ गुना अधिक था और विनिमय की दर ४.८ डालर = १ पौंड थी। मान लो, सन् १९१४ में इग्लैण्ड में मूल्य सतह दुगुना हो गया और अमेरिका में वही रहा। तो अब विनिमय की दर २.४ डालर = १ पौंड होगी। पौंड का मूल्य डालर की दर में आधा हो जायगा, क्योंकि इग्लैण्ड का मूल्य सतह दुगुना हो गया है और अमेरिका का वही है।

ध्यान रहे कि खरीदने की सम-शक्ति का निर्धारण सम्पूर्ण मूल्य-सतहो की तुलना करके होता है, केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की वस्तुओ के मूल्य सतहो की तुलना द्वारा नही। प्रत्येक देश में निर्यात और आयात के मूल्य (यातायात का खर्च, कर इत्यादि

---

१ Cassel. 'Foreign Exchange'. Article in the Encyclopædia Britannica, 13th Edition, 1st Supplementry, Vol. p. 1086.

छोड़कर) एक ही सतह पर रहने चाहियें। फिर उनका निर्धारण बहुधा विनिमय की दरों में परिवर्तनों के आधार पर होता है। इसलिये थोक सूचक अंकों की तुलना करके हम इस सिद्धान्त की जांच आसानी से कर सकते हैं। थोक-सूचक अंकों की तुलना द्वारा इस सिद्धान्त की प्रामाणिकता स्थापित करना इसलिये सम्भव होता है कि सूचक-अंकों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की वस्तुओं की अधिकता रहती है।[1] परन्तु समताओं का माप 'केवल व्यापक अथवा सम्पूर्ण सूचक अंकों द्वारा होना चाहिये, जिनमें जहां तक सम्भव हो। देश में बिकनेवाली सब वस्तुएं शामिल हों।"[2] यदि ऐसा किया जाय तो विनिमय की वास्तविक दरों और समताओं में समानता न मिलेगी। अर्थात् दोनों एक सी न होंगी। अल्पकाल में देश में बिकनेवाली और विदेश में बिकनेवाली वस्तुओं की मूल्य की दिशाएं अलग-अलग हो सकती हैं। तब विनिमय की वास्तविक दरें समताओं के बराबर न होंगी। इसके सिवा, लेनी-देनी की बाकी की कई बातों पर, जैसे कि बीमा और बैंकों के काम, पूंजी के आवागमन इत्यादि सम्पूर्ण मूल्य सतहों में होनेवाले परिवर्तनों का बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है, प्रायः नहीं के बराबर। परन्तु उनका प्रभाव विनिमय की दरों पर पड़ता है। इससे दरें सूचक अंकों की तुलना से प्राप्त दरों से भिन्न हो सकती हैं। विनिमय की दरें निश्चित करने में इन बातों का महत्व बहुत होता है। परन्तु कैसल के सिद्धान्त में इन बातों के प्रभावों पर विचार नहीं किया गया है।

वास्तव में यह सिद्धान्त मुद्रा की पारस्परिक सम्बन्ध स्थापना समझाता है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की मूल्य परिस्थितियों में कोई परिवर्तन न हो तो विदेशी विनिमय की दरों पर मूल्यों के परिवर्तनों का प्रभाव पड़ेगा। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की परिस्थितियां कभी एक-सी नहीं रहतीं। विशेषकर व्यवसाय की विनिमय सम्बन्धी शर्तें और परिस्थितियां हमेशा बदलती रहती हैं, क्योंकि विदेशी वस्तुओं की मांग में, निर्यात की वस्तुओं की पूर्ति की परिस्थितियों में, विदेशी ऋणों की मात्रा में, यातायात सम्बन्धी खर्च में तथा व्यवसाय की अदृश्य बातों की प्रत्येक बात में हमेशा परिवर्तन होते रहते हैं। एक ऐसे देश का उदाहरण ले लें, जो एक दूसरे से ऋण लेता है। पहले देश के विदेशी विनिमय के बाजार में विदेशी मुद्रा की पूर्ति अधिक हो जाने से स्वयं उसकी मुद्रा का मूल्य ऋण देनेवाले देश की मुद्रा की दर में बढ़ जायगा। विनिमय की दरों में यह परिवर्तन दोनों देशों की मूल्य-सतहों में होनेवाले परिवर्तनों में हमेशा जाहिर नहीं होगा। यदि व्यवसाय की विनिमय सम्बन्धी शर्तें बदलती हैं, तो विभिन्न देशों की मूल्य-सतहों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन होंगे। परन्तु पहले की मूल्य-सतहों की पारस्परिक तुलना द्वारा जो समताएं प्राप्त की थीं, उनमें विनिमय

---

१ Keynes. Treatise on Money. Vol 1, p 73

२ Ohlin Inter regional and International Trade, p. 545

की दरों में होनेवाले परिवर्तन आदि न होंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह सिद्धान्त केवल तब सत्य होता है, जब व्यवसाय की शर्तों में परिवर्तन नहीं होता।

विनिमय की दरों में घटी-बढ़ी (Fluctuations in the Rates of Exchange)–विनिमय की वास्तविक दरें टकसाली-दर (mint par) के आस-पास अर्थात् ऊपर-नीचे बदलती रहती हैं। विनिमय की दरों में किन कारणों से परिवर्तन होते हैं ? इन कारणों को हम दो प्रधान वर्गों में रख सकते हैं—विदेशी मुद्रा की माग और पूर्ति तथा मुद्रा सम्बन्धी परिस्थितियां। विदेशी मुद्रा की माग और पूर्ति के तीन ज़रिये हैं—(१) व्यवसाय की परिस्थितियां, (२) स्टॉक एक्सचेंज के प्रभाव, और (३) बैंकों के प्रभाव।

व्यवसाय की परिस्थितियां

(१) विदेशी मुद्रा की माग और पूर्ति प्रधानतः निर्यात और आयात की मात्रा पर निर्भर करती है। जब निर्यात आयात से अधिक होते हैं, तब विदेशों से हमें अधिक मिलता है और हम उन्हें कम देते हैं। तब विनिमय की दर हमारे पक्ष में हो जाती है। परन्तु जब आयात निर्यात से अधिक होते हैं, तब विदेशी मुद्रा की माग पूर्ति की अपेक्षा अधिक होती है और दर गिर जाती है। निर्यात और आयात में हमें दृश्य वस्तुओं के सिवा अदृश्य वस्तुएं भी सम्मिलित करनी चाहिये, क्योंकि इनके कारण भी विदेशी मुद्रा की माग और पूर्ति होती है।

स्टॉक एक्सचेंज के प्रभाव

(२) स्टॉक एक्सचेंज के प्रभावों में इतनी वस्तुएं शामिल होती हैं—ऋण देना, ब्याज, ऋण चुकाना, हमारे देश के लोगों द्वारा विदेशी ऋण-पत्रों की खरीद और बिक्री तथा विदेशी लोगों द्वारा हमारे देश के ऋण-पत्रों की खरीद और बिक्री। जब एक देश दूसरे देश को ऋण देता है, तो वे ऋण विदेशी मुद्रा में विदेश भेजे जाते हैं। उसकी विदेशी मुद्रा की माग बढ़ जाती है और विनिमय की दर उसके विपक्ष में हो जाती है। इसी प्रकार जब देश के लोग विदेशी ऋण-पत्र खरीदते हैं अथवा जब विदेशी लोग हमारे देश के ऋण-पत्र बेचते हैं, तब विनिमय की दर गिरती है। परन्तु जब हमारे ऋण हमें वापिस मिलते हैं अथवा जब विदेशी लोग हमारे ऋण-पत्र खरीदते हैं, तब विदेशियों द्वारा हमारी मुद्रा की माग बढ़ जाती है और विनिमय की दर बढ़ जाती है।

बैंक के प्रभाव

(३) बैंकों के प्रभाव में बैंकों के ड्राफ्ट और यात्रियों के साख-पत्रों (traveller's letters of credit) की खरीद और बिक्री तथा सट्टा बाजार के क्रय-विक्रय सम्बन्धी काम शामिल रहते हैं। जब कोई बैंक अपनी विदेशी शाखा के नाम ड्राफ्ट अथवा साख-पत्र देता है, तब विदेशी मुद्रा की माग बढ़ जाती है। और विनिमय की दर गिर

जाती है। विनिमय की दर पर बैंक दर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालती है। जब बैंक-दर ऊची रहती है (अर्थात् दूसरे केन्द्रो की अपेक्षा) तब विदेशी लोग उस देश में ऊची ब्याज दर प्राप्त करने के लिये अपनी पूजी भेजेंगे। तब उस देश की मुद्रा की माग बढ जाती है और विनिमय की दर भी बढ जाती है। जब बैंक-दर कम हो जाती है, तब इसका उलटा होना है।

मुद्रा सम्बन्धी परिस्थितिया (Currency Conditions)–किसी देश की मुद्रा सम्बन्धी परिस्थितियो का भी विनिमय की दरो पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है। यदि मान लो, कागजी मुद्रा के अत्यधिक प्रचलन के कारण मुद्रा का मूल्य गिरने की सम्भावना है, तो उस मुद्रा की माग कम हो जायगी। क्योकि जिस मुद्रा की खरीदने की शक्ति गिर रही है, उसमें कोई भी अपनी पूजी परिवर्तित नही करना चाहेगा। तब विनिमय की दर बढ जायगी। यदि विदेशी लोग अपने घर की मुद्रा में अपनी पूजी न लगाकर उसे विदेशो की मुद्रा में लगावें, जहा खरीदने की शक्ति अधिक स्थिर है, तब विनिमय की दर बहुत अधिक बढ जायगी। इसी प्रकार जब एक देश की मुद्रा का आधार चादी होती है और दूसरी का सोना, तो विनिमय की दर चादी के स्वर्ण-मूल्य पर निर्भर होगी। इनके सिवा, राजनैतिक परिस्थितिया, सट्टे की प्रवत्तिया इत्यादि अन्य कई बातें विनिमय की दर पर प्रभाव डालती है।

मुद्रा सम्बन्धी परिस्थितिया

विनिमय की दरों की घटी-बढ़ी की सीमाए (Limits to the Fluctuations of Exchanges)–जब दोनो देश स्वर्णमान पर होते है, तब विनिमय की वास्तविक दर, विनिमय की टकसाली दर (mint par of exchange) के आस-पास स्वर्ण आयात निर्यात दर (gold points) द्वारा निश्चित सीमाओ के बीच में घटती बढती है। किसी देश के सिक्को में जितना शुद्ध सोना रहता है, उसी के आधार पर टकसाली-दर निश्चित होती है। उदाहरण के लिये युद्ध के पहले सोने के एक सावरेन में ४ ८६ डालर के बराबर सोना रहता है। इसलिये इगलैण्ड और अमेरिका के बीच में टकसाली-दर १ पौंड = ४ ८६ डालर था। जब विनिमय की दर टकसाली-दर के बराबर होती है, तब उसे सम मूल्य दर (at par) कहते है। परन्तु विनिमय की दर प्राय टकसाली-दर के ऊपर-नीचे घूमती रहती है। स्वर्णमान में विनिमय की दर की घटी-बढी की सीमाए स्वर्ण की आयात-निर्यात दर (gold or Specie points) के आधार पर निश्चित की जाती है। यद्यपि सोने का एक सावरेन भेजकर हम बदले में ४ ८६ डालर प्राप्त कर सकते थे, परन्तु जहाज द्वारा स्वर्ण भेजने में भी तो खर्च पडता। स्वर्ण भेजने के सम्बन्ध में जो परेशानी होती, उसके सिवा निर्यातकर्त्ता को किराया बीमा इत्यादि के रूप में कुछ देना पडता और यातायात में जितना समय लगता उसका ब्याज मारा जाता। इन सब मदो पर खर्च होनेवाली रकम की मात्रा वास्तव में काफी हो

सकती है। इसलिये टकसाल की दर (mint par) में ये सब खर्च जोड़कर वास्तविक स्वर्ण निर्यात दर (actual gold export point) निश्चित होता है। इसी प्रकार टकसाली-दर में से ये सब खर्च घटाकर वास्तविक स्वर्ण आयात-दर (actual gold import point) मालूम हो जाता है। जब तक हुंडियों की कीमतें स्वर्ण निर्यात-आयात दर से कम रहेंगी तब तक व्यवसायी लोग विदेशों के भुगतान चुकाने के लिये उन्हें खरीदेंगे। परन्तु जब हुंडियों की कीमत स्वर्ण निर्यात दर से अधिक हो जायगी, तब वे हुंडियां भेजने के बदले सोना ही भेजेंगे। इसी प्रकार जब विनिमय की दर स्वर्ण आयात-दर के बराबर होगी, तब देश में स्वर्ण का आयात होगा। टकसाल-दर तब तक स्थिर रहती है, जब तक सिक्कों में सोने की मात्रा और शुद्धता में परिवर्तन नहीं होता। परन्तु स्वर्ण निर्यात-आयात दर में ऐसा नहीं होता। यह दर यातायात का किराया, बीमा-खर्च इत्यादि के अनुसार बदलती रहती है। जब ये खर्च कम होते हैं, तब यह दर घटती है और जब ये खर्च बढ़ते हैं तब यह बढ़ती है। आजकल हवाई यातायात की सहायता से सोना भेजने में कम समय लगता है। इसलिये ब्याज में कुछ बचत हो जाती है। फिर यातायात और बीमा-सम्बन्धी खर्च अधिक नहीं होता। इसलिये स्वर्ण की आयात निर्यात दर अधिक नहीं होती।

जब विनिमय की दर स्वर्ण आयात दर के पास होती है, तब देश का विनिमय अनुकूल या स्वपक्षीय (favourable exchange) कहा जाता है। जब विनिमय की दर स्वर्ण निर्यात दर के पास होती है, तब विनिमय प्रतिकूल या विपक्षीय कहा जाता है। जब हमारे आयात निर्यात से अधिक होते है, तब हमें बाकी मूल्य चुकाने के लिये सोना अथवा अन्य पूंजी भेजनी पड़ेगी। परन्तु जब हमारे आयात निर्यात से अधिक होते हैं, तब विदेशी लोग हमारी बाकी चुकाने के लिये हमारे देश में सोना भेजेंगे। तब विनिमय अनुकूल होगा।

जब दोनों देशों में अविनिमय साध्य कागजी मुद्रा (inconvertible paper currency) का मान होता है, तब सोने की (आयात-निर्यात) दर नहीं होती।

कागजी मुद्रा के अन्तर्गत सीमाएं

तब टकसाली दर के स्थान में खरीदने की सम शक्ति होती है और यह शक्ति दोनों देशों की मूल्य-सतहों के आधार पर निश्चित की जाती है। टकसाली-दर परिवर्तनशील नहीं होती, परन्तु खरीदने की समशक्ति परिवर्तनशील होती है। यह परिवर्तनशीलता मूल्यों के परिवर्तनों के अनुसार होती है। यद्यपि इसमें विनिमय की सम मूल्य दर (par of exchange) होती है, परन्तु विनिमय-दर के परिवर्तनों की सीमाएं नहीं होती। विनिमय की दर में विदेशी मुद्रा की मांग और पूर्ति के परिवर्तनों के अनुसार परिवर्तन होंगे।

विदेशी व्यवसाय में ऋण चुकाने के तरीके (Loan Payments in Inter-

national trade)—केर्नीज (Cairnes) के अनुसार हम ऋण को तीन कालों में बाट सकते हैं—पहला काल जब ऋण का स्थानान्तर होता है, दूसरा काल जब ब्याज दिया जाता है और तीसरा काल जब ऋण वापिस किया जाता है। मान लो, इंग्लैण्ड अमेरिका को ऋण देता है। ऋण की बातचीत के समय प्रत्येक देश के आयात निर्यात बराबर थे और विदेशी विनिमय की मूल्य दर सम थी। इस परिस्थिति में ऋण सम्बन्धी समझौता हुआ है। यदि पूरा ऋण इंग्लैण्ड में माल खरीदने में खर्च हो जाता है, तो इंग्लैण्ड के निर्यात का मूल्य ऋण की मात्रा के बराबर बढ़ जायगा। निर्यात प्रत्यक्षरूप से बढ़ जायगा और ऋण का स्थानान्तर माल भेजने के रूप में होगा। परन्तु यदि ऋण की पूरी मात्रा इस प्रकार खर्च नहीं होती, तब इंग्लैण्ड ऋण की रकम अमेरिका भेजेगा। तब स्टर्लिंग के मूल्य में डालर की माग बढ़ेगी। डालर के मूल्य में स्टर्लिंग का मूल्य घटेगा और विनिमय स्वर्ण निर्यात दर के बराबर हो जायगा। सोना इंग्लैण्ड के बाहर जायगा। सुरक्षित कोष में सोना कम होने से बैंक ऑफ इंग्लैण्ड बैंक दर बढ़ा देगा। देश में साख अथवा ऋण का सकुचन होने लगेगा। मुद्रा आय और मूल्यों में कमी होगी। मूल्यों में कमी होने से इंग्लैण्ड का निर्यात व्यवसाय बढ़ेगा। इन बातों के कारण व्यवसाय की बाकी इंग्लैण्ड के पक्ष में हो जायगी और ऋणों का भुगतान अधिक निर्यातों के जरिये होगा, इसलिये दीर्घकाल में इंग्लैण्ड के निर्यात आयात से अधिक होंगे और मुद्रा आय तथा मूल्य घटेंगे। परन्तु अमेरिका में इसका उल्टा होगा। उसके आयात निर्यात से अधिक होंगे। मूल्य और मुद्रा आय भी ऊँचे होंगे। जब ब्याज देने का समय आयेगा, तब ऋण लेनेवाला देश आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक करने का प्रयत्न करेगा। तीसरे काल में जब उसे ऋण लौटाना पड़ेगा, तब यह क्रिया उल्टी हो जायगी। अब अमेरिका आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक करने की कोशिश करेगा। उस देश में मूल्य और मुद्रा आय घटेंगे। अब इंग्लैण्ड में इसके विपरीत होगा। उसकी व्यवसाय की दृश्य बाकी विपक्षीय अर्थात् प्रतिकूल हो जायगी और कीमतें तथा मुद्रा आय की सतह ऊँची होगी। जब एक देश दूसरे देश को एक पक्षीय भुगतान (onesided payment) करता है, तब उसकी क्रिया इस प्रकार होती है और इस क्रिया का विश्लेषण आधुनिक अर्थशास्त्रियों द्वारा इस प्रकार किया गया है। इस विश्लेषण के अनुसार (अंग्रेजी में इसे price-specie-flow-mechanism कहते हैं), जब एक देश दूसरे देश को ऋण अथवा अन्य कोई भुगतान करता है, तो वह भुगतान अधिक निर्यात के रूप में होता है। यह अधिक निर्यात उस देश में कीमतें गिरने के कारण होगा। परन्तु हाल में ओहलिन (Ohlin) तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने इस विश्लेषण के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किये हैं। उनके मत में यह विश्लेषण सर्वथा सही नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि ऋणों का स्थानान्तर आयात से अधिक निर्यात द्वारा किया जाता है। परन्तु निर्यात की यह अधिकता मूल्यों

में परिवर्तनों के कारण नहीं, बल्कि दो देशों में खरीदने की शक्ति में परिवर्तन होने के कारण होती है। जब इंग्लैण्ड भारत को ऋण देता है, तो उसमें इंग्लैण्ड के लोगों की खरीदने की शक्ति कम होती है और भारत के लोगों की खरीदने की शक्ति बढ़ती है। यह बात तो साफ़ जाहिर है। जब जब मुद्रा उधार लेना है तब उसकी खरीदने की शक्ति बढ़ जाती है और उधार देनेवाले की खरीदने की शक्ति घट जाती है। चूंकि इंग्लैण्ड के लोगों की खरीदने की शक्ति घट जाती है इसलिये वे लोग पहले की अपेक्षा कम माल खरीदेंगे। इससे आयात के माल की भी खरीद कम होगी। इससे इंग्लैण्ड में आयात घटने की प्रवृत्ति होगी और स्वयं इंग्लैण्ड का माल निर्यात के लिये अधिक मात्रा में प्राप्त होगा। भारत के लोग अब वस्तुएं अधिक मात्रा में खरीदेंगे क्योंकि अब उनके पास खरीदने की शक्ति अधिक है। इसलिये वे वर्तमान मूल्यों पर आयात का माल अधिक खरीदेंगे और आयात का काफ़ी बड़ा अंश प्राय इंग्लैण्ड से आवेगा। इस प्रकार इंग्लैण्ड का निर्यात इतना अधिक हो जायगा कि यह निर्यात के रूप में ऋण का स्थानान्तर कर सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि इंग्लैण्ड में कीमतें गिरें अथवा भारत में बढ़ें। ऋण स्वीकृत होने पर खरीदने की शक्तियों में परिवर्तन होने से ही ऋण-दाता देश में निर्यात की अधिकता हो सकती है।[1]

सत्य शायद इन दोनों मतों के बीच में पाया जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि ऋण देने से खरीदने की शक्ति में परिवर्तन होता है (जैसे कि माग में परिवर्तन) और इससे निर्यात की मात्रा में कुछ अधिकता होगी। परन्तु कई बार दोनों देशों में मूल्यों में परिवर्तन होने के कारण भी एक देश से दूसरे देश में ऋण स्थानान्तर करना सम्भव हुआ है।

विनिमय में मन्दी और निर्यात (Exchage Depreciation and Export)—यह कहा जाता है कि किसी देश की विनिमय की दरों में मंदी होने से निर्यात व्यवसाय को प्रोत्साहन और सहायता मिलेगी। विनिमय की दर गिरने से निर्यात होनेवाली वस्तुओं के उत्पादकों को विदेशी बाजारों में अपना माल बेचने से अधिक धन मिलता है। मजदूरी के रूप में दी जानेवाली उनकी लागत एकदम नहीं बढ़ती अथवा उतनी नहीं बढ़ती जितनी कि उनकी आय बढ़ जाती है। इस प्रकार उन्हें कुछ अतिरिक्त लाभ अथवा सहायता मिल जाती है। इस प्रकार देश की आन्तरिक कीमतें और लागतें जब तक उसी प्रतिशत दर से नहीं बढ़ती जितनी कि विनिमय की दर घटती है, तब तक निर्यात व्यवसाय को प्रोत्साहन मिलता रहेगा।

परन्तु विनिमय में मंदी होने से देश में कीमतें गिर सकती हैं। यह भी सम्भव है कि विनिमय की दरों में जितना ह्रास हो, उससे अधिक आन्तरिक कीमतें बढ़ जाय।

---

१ For further discussion See. Chapter 52.

तब आयात को प्रोत्साहन मिलेगा और निर्यात में कमी होगी। जैसा टॉसिग ने कहा है 'परिस्थिति बिल्कुल विपरीत हो सकती है। विनिमय की वृद्धि कीमतों की वृद्धि से कम हो सकती है। . केवल अनुमान तर्क (a-priori reasoning) अथवा कागजी मुद्रा के इतिहास के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि कीमतों की अपेक्षा विनिमय जल्दी अथवा धीरे, कम अथवा अधिक बढेगा।" स्वयं विनिमय की मंदी से विदेशी विनिमय की ऐसी दरें प्राप्त नहीं हो जाती, जिनसे कि निर्यात या आयात को प्रोत्साहन मिल सके।

विनिमय की मंदी से निर्यात को हमेशा प्रोत्साहन नहीं मिलता। यदि निर्यात होने वाले माल की माग विदेशों में अपेक्षाकृत बेलोचदार है, तो विदेशों में निर्यात के माल की *कीमत गिरने से निर्यात से होनेवाली कुल आय घट सकती है।*[1]

परन्तु ऐसे अवसर अवश्य आते हैं, जब विनिमय में मंदी होने से निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है। जैसा कि सन् १९१९ से १९२४ के बीच में जर्मनी में हुआ था। यदि सरकार बडी मात्रा में कागजी मुद्रा चलाती है और उसका उपयोग विदेशों में भुगतान करने के लिये करती है तो कीमतों की अपेक्षा विनिमय की दरों में अधिक और शीघ्र परिवर्तन होते हैं। सन् १९३१ के बाद विनिमय में जो मंदी आई, उसके अध्ययन के आधार पर हैरिस इस तात्पर्य पर पहुचा कि "प्राप्त आकडों की सहायता से यह कहा जा सकता है कि कागजी मुद्रावाले देशों को निर्यात से लाभ हुआ।"

परन्तु ध्यान रहे कि इस प्रकार का प्रोत्साहन केवल अस्थायी होता है। जल्दी अथवा थोडी देर में कीमतों और लागतों में उसी अनुपात में परिवर्तन होगा, जिसमें कि विनिमय की दरों में होगा और तब प्रोत्साहन खतम हो जायगा। देश के अन्य उत्पादकों की तुलना में निर्यात माल के उत्पादकों को यह प्रोत्साहन अनिश्चित काल के लिये नहीं मिलेगा। यह मौका देखकर कुछ अन्य उत्पादक भी निर्यात उद्योगों और व्यवसाय में आ जायगे। तब निर्यात बढ जायगे और विनिमय की दरें कम हो जायगी। जितनी शीघ्रतापूर्वक निर्यातों की मात्रा बढेगी, उतनी जल्दी प्रोत्साहन खतम हो जायगा।

इस सम्बन्ध में कुछ अन्य बातों पर भी विचार करना पडेगा। जैसा कि हैरिस ने कहा है 'विदेशों की आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव भी महत्त्वपूर्ण होता है। वास्तव में प्रत्येक वस्तु की माग और पूर्ति सम्बन्धी परिस्थितियों का अध्ययन करना आवश्यक होता है। *कुछ वस्तुओं की माग लोचदार हो सकती है और कुछ की बेलोचदार। फिर* माग में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होते रहते हैं। किसी देश विशेष के निर्यातों का बढना *और घटना इन सब तथा अन्य बातों पर निर्भर होता है।*[2] इसके सिवा यह भी सम्भव

१ Lerner. Economics of Control p. 378.
२ Harris Exchange Depreciation.

है कि जब विनिमय में मंदी आवे, तब इस प्रकार का प्रोत्साहन प्राप्त न हो। इस आशा में कि विनिमय अभी और गिरेगा विदेशी लोग गिरते हुए विनिमयवाले देश में खरीद करना बन्द कर सकते हैं। निर्यात होनेवाली वस्तुओं के उत्पादन में लगनेवाले कच्चे माल का यदि विदेशों से आयात होता है तो आयात पर जो लागत खर्च बढ़ेगा उससे निर्यात का लाभ खतम हो जायगा। अन्त में मुद्रा का मूल्य घटाना (devaluation) ऐसा अस्त्र है जिसे प्रत्येक देश अस्त्र सकता है। यदि अन्य देश भी इसी प्रकार की मुद्रा नीति अपनाने लगें अथवा वे बड़े-बड़े विनिमय निरोधक कर (heavy anti-exchange dumping duties) लगाने लगें तो सम्भव है कि कोई भी लाभ प्राप्त न हो।

अग्रिम विनिमय (Forward Exchange)–जब दोनों देशों में अविनिमय साध्य कागजी मुद्रा मान होता है तब विनिमय की दरों के घटी बढ़ी सम्बन्धी परिवर्तनों की कोई सीमाएं नहीं होती। तब सब प्रकार का विदेशी व्यवसाय अनिश्चित और खतरा-पूर्ण हो जाता है। विनिमय सम्बन्धी इन खतरों से बचने के उपाय क्या हो सकते हैं?

एक तरीका यह है कि जितने सौदे किये जाय उनमें स्वीकृति के अनुसार विनिमय' (Exchange as per endorsement) शर्त रख दी जावे। अर्थात सौदे में विनिमय की दर बांध दी जाती है और ऋणी उसी दर से भुगतान करता है। दूसरी रीति यह होती है कि विदेशी विनिमय का अग्रिम सौदा (forward contract) कर लिया जाता है।

विदेशी विनिमय के अग्रिम सौदे का सार यह है कि जब किसी व्यक्ति को एक निश्चित समय के बाद किसी देश से रुपया प्राप्त करना होता है अथवा उस देश को रुपया देना होता है, तब वह व्यक्ति विनिमय की दर अपने बैंक से निश्चित कर लेता है। मान लो, भारतीय आयातकर्ता को तीन महीने बाद ब्रिटिश निर्यातकर्ता को १ ००० पौंड देना है। जब तक उसे यह न मालूम हो जायगा कि १,००० पौंड के बदले कितने रुपये देने होंगे तब तक वह आयात किये हुए माल की बिक्री की कीमतें नहीं बांध सकता। वह अपने बैंक में जाता है और एक दर निश्चित करके अग्रिम स्टरलिंग खरीद लेता है। अर्थात् वह बैंक के साथ एक दर निश्चित कर लेता है, जिस पर बैंक उसे १,००० पौंड देगा। इससे वह जान जाता है कि समय आने पर उसे कितना रुपया देना होगा। अब विनिमय की दर में जो घटी बढ़ी होगी उसके खतरों से वह बच जाता है। अग्रिम विनिमय की दर को तात्कालिक दर (Spot rate) कहा जाता है। अर्थात् यह दर सौदे के दिन प्रचलित थी। जब अग्रिम विनिमय बट्टे पर मिलता है, तब उसका अर्थ यह होता है कि देशी मुद्रा के बदले विदेशी मुद्रा अधिक मात्रा में मिल सकती है। जब अग्रिम विनिमय अधिक दर अथवा मूल्य पर मिलता है, तब उसका अर्थ यह होता है कि विदेशी मुद्रा कम मात्रा में प्राप्त है।

तात्कालिक दर का बट्टा अथवा अधिक मूल्य कौन-कौन सी बातों पर निर्भर होता है ? पहली चीज तो देश और विदेश में प्रचलित ब्याज की दर होती है। अग्रिम सौदे में यद्यपि व्यापारी तो विनिमय की दर की घटी बढ़ी के खतरों से बच जाता है पर बैंक भी अपने ऊपर कम से कम खतरा रखना चाहता है और इसके लिये वह तुरन्त सौदे की रकम विदेशी केन्द्र में भेज देता है। और यदि विदेशी केन्द्र में देश की अपेक्षा ब्याज की दर ऊंची है, तब तो वह तुरन्त ही यह काम करने को उत्सुक रहेगा। क्योंकि तब उसे अपनी रकम पर अधिक ब्याज मिलेगा। इसलिये जब देश की अपेक्षा विदेश में ब्याज की दर अधिक मिलती है, तब बैंक अग्रिम विनिमय बट्टे पर देने को भी तैयार हो सकता है। दूसरी बात जो अग्रिम दर निश्चित करती है, सौदे में सौदे की "शादी" करने का मौका रहता है। विदेश में रकम भेजने के बदले बैंक एक सौदे का भुगतान दूसरे सौदे के द्वारा कर सकता है। जब कुछ व्यापारियों को विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होगी, तब कुछ व्यापारी ऐसे भी होंगे जिनके पास विदेशी मुद्रा होगी और उन्हें देशी की आवश्यकता है। वे विदेशी के बदले देशी मुद्रा चाहते हैं। बैंक इन दो सौदों की "शादी" कर देगा। वह बेचनेवालों से विदेशी मुद्रा लेकर खरीदनेवालों को दे देगा और सब खतरों से बच जायगा। यदि बैंक अग्रिम विनिमय खरीद चुका है, तो वह उसे अनुकूल दर पर अग्रिम बेचने को तैयार भी रहेगा। किसी सौदे की 'शादी' करने का जितना अधिक मौका रहेगा उतनी ही अनुकूल शर्तें भी रहेंगी। तीसरी बात मुद्रा सम्बन्धी परिस्थितियां होती हैं। अर्थात विदेशी मुद्रा का मूल्य गिरने की सम्भावना इत्यादि बातें भी दर के निश्चित करने में प्रभाव डालती हैं। यदि विदेशी मुद्रा का भविष्य बुरा दिखता है तो उसे खरीदने का उत्साह न दिखावेगा और ऊंची दर पर खरीदेगा।

अग्रिम दर किन बातों द्वारा निश्चित होती है

विनिमय क्षतिपूरक कोष (Exchange Equalisation Account)–जब सन् १९३१ में इंग्लैण्ड ने स्वर्णमान छोड़ दिया तो उसने इस बात की आवश्यकता समझी कि कोई ऐसा तरीका ग्रहण करना चाहिये, जिससे विदेशी विनिमय की दरों में बहुत अधिक घटी-बढ़ी न हो। इसलिये उसने सन् १९३२ में एक विनिमय क्षति पूरक कोष या खाते (Exchange Equalisation Account) की स्थापना की। जिसका उद्देश्य विनिमय की दरों में अत्यधिक परिवर्तनों पर नियंत्रण करना तथा देश के मुद्रा बाजार को इन परिवर्तनों के प्रभाव से बचाना था। बाद में कुछ समय के बाद जब फ्रान्स और अमेरिका ने भी स्वर्णमान छोड़ा, तब उन देशों में भी इस प्रकार के कोष स्थापित किये गये, जिनका उद्देश्य विनिमय की दरों को मजबूत रखना था। प्रारम्भ से ही इन कोषों की कार्यवाही अत्यन्त गुप्त रखी जाती है और उनके सम्बन्ध में एक रहस्य का वातावरण बना रहता है। अब हम ब्रिटेन के विनिमय क्षति-पूरक कोष के कामों का वर्णन करेंगे, क्योंकि अन्य कोषों के कार्य भी लगभग उसी तरह के होते हैं।

जनक प्रणाली अथवा मशीन बन गई है। इसमें सन्देह नही कि विदेशी विनिमय की दरो को अस्थायी अथवा सट्टा के कारण अत्यधिक परिवर्तनो के कुपरिणामो से इस प्रणाली की सहायता से बचाया जा सकता है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात विभिन्न देशो के मूल्य और आय के सगठनो के बीच में सामजस्य स्थापित करना होता है और यह काम इस प्रणाली द्वारा सिद्ध नही हो सकता।

विनिमय-नियन्त्रण (Exchange Control)—प्रथम युद्ध-काल में सब देशो में सरकार ने किसी एक उद्देश्य से अथवा उद्देश्यो से प्रेरित होकर विनिमय की दरो पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया था। परन्तु सन १९३० के बाद जो विश्वव्यापी व्यावसायिक मदी आरम्भ हुई उसने सरकारो ने निश्चयात्मकरूप में इस नीति को ग्रहण किया। विनिमय नियन्त्रण की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं कि इस प्रणाली में अपने हस्तक्षेप द्वारा सरकार विनिमय को एक निश्चित दर रखती है, जो कि बिना सरकारी हस्तक्षेप और नियन्त्रण के न रह सकती, और अपने देश के

विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य

विदेशी मुद्रा के खरीदारो और बेचनेवालो पर जोर डालती है कि वे अपनी विदेशी पूजी का उपयोग उसकी इच्छानुसार करें। विश्वव्यापी महान व्यावसायिक मदी के समय योरोप के देशो ने इस तरीके को अपनाया था। उस समय अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान लगभग खतम हो चुका था और अन्तर्राष्ट्रीय ऋण तथा साख सम्बन्धी सुविधाएं भी टूट चुकी थी। इस प्रणाली को अपनाने में अधिकाश देशो का प्रधान अभिप्राय यह था कि लेनी-देनी की बाकी के सम्बन्ध मे जो अत्यधिक उथल-पुथल हो, उसका हानिकर प्रभाव उनकी मुद्रा के स्वर्ण या विनिमय मूल्य पर न पडने पावे। बहुत से देश "जी तोडकर यह कोशिश कर रहे थे कि चाहे जो हो, उनकी राष्ट्रीय मुद्राओ का सरकारी स्वर्ण-मूल्य बना रहे। क्योंकि प्रथम महायुद्ध के बाद जो अत्यधिक मुद्रा स्फीति हुई थी, उसके भयानक दुष्परिणाम उन्हें याद थे।" इसलिये बहुत से देश विनिमय दर की समता को प्रधान उद्देश्य मानते थे। दूसरा उद्देश्य यह था कि आवश्यक भुगतान करने के लिये अथवा आयात माल के मूल्यो में वृद्धि रोकने के लिये विदेशी हुडिया काफी मात्रा में प्राप्त होती रहें। बहुत से ऐसे उदाहरण भी है, जिनसे यह मालूम होता है कि किसी देश विशेष से व्यवसाय बढाने के लिये अथवा उसको भुगतान करने के लिये विनिमय-नियन्त्रण किया गया। यह इस प्रकार किया जाता था कि उस देश विशेष के माल के लिये विनिमय की विशेष दरें निश्चित कर दी जाती थी। अथवा यदि विनिमय की दर एक-सी भी रहे तो उस देश को प्रथम स्थान दिया जाता था। तीसरा उद्देश्य पूजी को बाहर जाने से रोकना था। अन्तिम, इस प्रणाली का उपयोग सरक्षण के रूप में भी किया जाता था। अथवा जैसा किसी देश ने किया, कभी-कभी इससे आय प्राप्त करने का प्रयत्न भी किया जाता था।

जब कोई देश विनिमय नियन्त्रण की नीति ग्रहण करता है, तो उसकी सरकार यह

विनिमय नियन्त्रण के प्रकार

आवश्यक कर देती है कि माल तथा सेवाओं के निर्यातकर्ता तथा ब्याज और ऋणों की किस्तों (amortisation) से प्राप्त करनेवाले अपनी-अपनी विदेशी रकमों के बदले सरकार द्वारा निश्चित दर पर देशी मुद्रा स्वीकार करेंगे। आयात के सब सौदों पर भी नियन्त्रण रखा जाता है। विदेशी भुगतान कम करने के लिये कुछ वस्तुओं का भुगतान बन्द कर दिया जाता है। आवश्यक और अनावश्यक आयातों की सूची बनाई जाती है और शुद्ध पूँजी सम्बन्धी सौदों की अपेक्षा वस्तुओं का मूल्य पहले चुकाया जाता है। जब विभिन्न देशों के बीच विदेशी विनिमय का बाटन का प्रयत्न नहीं किया जाता तो उस प्रणाली को पक्षपातरहित प्रणाली कहते हैं। इसमें सरकार केवल वस्तुओं और सेवाओं के बीच में विदेशी विनिमय बाटने का प्रयत्न करती है। इस बात पर विचार नहीं करती कि वे किस देश को हैं। परन्तु यह प्रणाली बहुत कम पाई जाती है। इसके सिवा अन्य कई प्रणालियाँ प्रचलित हैं जैसे कि क्षतिपूरक व्यवस्था (Compensation arrangements) निकासी व्यवस्था (Clearing arrangements) भुगतान व्यवस्था (Payments arrangements) इत्यादि। क्षतिपूरक व्यवस्था बहुत कुछ पुराने समय के वस्तु विनिमय के समान होती है। उदाहरण के लिये मान लो भारत एक निश्चित मूल्य का सूती कपड़ा पाकिस्तान को बेचता है। पाकिस्तान भी उतने ही मूल्य का कपास भारत को बेचेगा। विनिमय की दर दोनों देश आपस में तय कर लेते हैं और उसी के आधार पर यह सौदा होगा। इस प्रकार आयात और निर्यात बराबर हो जाते हैं और विदेशी विनिमय के द्वारा देने के लिये कोई बाकी नहीं रहती।

निकासी व्यवस्था में दो अथवा दो से अधिक देश आपस में विनिमय की दर निश्चित कर लेते हैं और उसी दर पर एक दूसरे को माल और सेवाएं बेचते हैं। इन सौदों में खरीदार केवल अपनी मुद्रा में मूल्य चुकाते हैं। लेनी-देनी सम्बन्धी जो बाकी होती है, उसका भुगतान कुछ निश्चित काल के बाद केन्द्रीय बैंकों द्वारा या तो सोने का स्थानान्तर करके या किसी सर्वमान्य तीसरी मुद्रा के द्वारा होता है। अथवा लेनी-देनी की बाकी को अगले समय तक के लिये पड़ा रहने दिया जाता है और इसी बीच में साहूकार देश देनदार देश से कुछ अधिक खरीद करता है और इस प्रकार बाकी मिट जाती है। भुगतान व्यवस्था में विदेशी भुगतान विनिमय बाजार द्वारा करने की प्रणाली ज्यों की त्यों रहती है। परन्तु प्रत्येक देश एक प्रकार का नियन्त्रण स्थापित करता है और इसके अनुसार दोनों देश एक दूसरे से बराबर मूल्य के माल और सेवाएं खरीदते हैं। पिछले ऋणों को वसूल करने के लिये भी भुगतान व्यवस्था का उपयोग किया जाता है। उदाहरण के लिये सन् १९२४ में इंग्लैण्ड और जर्मनी में एक समझौता हुआ। इसके अनुसार जर्मनी के जो निर्यात इंग्लैण्ड को होते थे, उनका ५५ प्रतिशत भाग उस पुराने ऋण के चुकाने में चला जाता था, जिसका

देनदार जर्मनी इंग्लैण्ड के नागरिकों के प्रति था। शेष ८५ प्रतिशत का उपयोग जर्मनी स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता था। यहां 'रुके हुए खातों' (blocked accounts) की प्रणाली की चर्चा करना भी अनुपयुक्त न होगा। इसके अन्तर्गत ऋणी लोग विदेशी साहूकारों को कुछ विशेष बैंकों के द्वारा भुगतान करते हैं। विदेशी साहूकार चाहें तो इन बन्दी खातों अथवा बन्दी कोष का उपयोग ऋणी देश में चाहे जिस प्रकार कर सकते हैं। जर्मनी में बन्दी कोषों का उपयोग केवल कुछ विशेष कामों के लिये अथवा अतिरिक्त निर्यातों के लिए किया जा सकता था। कई बार इन बन्दी कोषों में विदेशी मालिकों को अपनी पूंजी हानि सहकर बेचनी पड़ती थी और बट्टे की दर ४ प्रतिशत से लगाकर ७० प्रतिशत तक होती थी।

डा० ऐनजिग के मतानुसार विनिमय नियन्त्रण की व्यवस्था से कई प्रकार के लाभ होते हैं। उदाहरण के लिये ऋणी और कमजोर देश आपस में एक दूसरे से तथा आर्थिक दृष्टि से सबल देशों से खरीद करने में समर्थ हो जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि विश्व-व्यापी महान व्यावसायिक मंदी के समय में जो परिस्थितियां थीं, उनमें विनिमय नियन्त्रण की सहायता से इन देशों के आयात और निर्यात के सामंजस्य करने तथा उसके द्वारा विदेशी व्यवसाय बढ़ाने में काफी सहायता मिली। फिर जैसा प्रोफेसर हैनसन ने कहा है जो देश कच्चे माल के उत्पादक हैं तथा जो औद्योगीकरण करना चाहते हैं, उनमें विनिमय नियन्त्रण आवश्यक हो सकता है।[1] परन्तु विनिमय नियन्त्रण में सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें व्यवसाय दो पारस्परिक लहरों में बंट जाता है। साधारण परिस्थितियों में ऐसा होना संभव नहीं है। विनिमय नियन्त्रण का एक दोष यह भी है कि विदेशी व्यवसाय में पक्षपातपूर्ण व्यवहार होने लगता है। "व्यवसाय के सौदे व्यापारियों में न होकर प्रधानतः सरकारों के बीच होने लगते हैं। इससे पारस्परिक धमकी देने का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। एक देश दूसरे देश के व्यवसाय के मार्ग में अड़गा लगाना चाहता है। ये अड़गे इस नीयत से लगाये जाते हैं, जिससे दूसरे देशों से सौदा करने में लाभपूर्ण उच्च स्थिति प्राप्त हो सके तथा अन्य देशों के अड़गों का सफलतापूर्वक सामना किया जा सके।"[2] एक बात यह भी है कि विनिमय नियन्त्रण की व्यवस्था करने में काफी खर्च होता है तथा उसमें बहुत से आदमी लगते हैं। साथ ही उसके द्वारा भ्रष्टाचार फैलता है और लोगों में साहसपूर्ण आर्थिक कार्य करने का उत्साह नहीं रहता।

---

१ America's Role in the World Economy, p 185

२ Trade Relations between Free-Market and Controlled Economics, p 35

बयालीसवां अध्याय

व्यवसाय-चक्र

(Trade Cycle)

जलवायु की गति के समान उत्पादन कार्यों की गति भी एक समान कभी नहीं चलती। उसकी गति में भी उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। व्यावसायिक तेजी के बाद प्राय मंदी का समय आता है। व्यावसायिक गति के इन उतार चढ़ावों को जिनमें तेजी के बाद मंदी और मंदी के बाद तेजी आती रहती है, व्यवसाय-चक्र कहते हैं। "व्यवसाय-चक्र में एक काल अच्छे व्यवसाय का होता है। इस काल में कीमतें बढ़ती है और बेकारी की औसत कम होती है। उसके बाद बुरे व्यवसाय का समय आता है, जिसमें कीमतें गिरती हैं और बेकारी की औसत बढ़ती है।"[१] व्यवसाय-चक्र में दो प्रवृत्तिया प्रधान रूप से देखने में आती हैं। एक तो उत्पादक कार्यों में परिवर्तन होता है और उसका ज्ञान बेकारों की संख्या द्वारा होता है। दूसरे मूल्य सतह में परिवर्तन होते हैं। जब व्यवसाय-चक्र में तेजी की प्रवृत्ति होती है, तब उत्पादन कार्यों का विस्तार बढ़ता है, बेकारी घटती है और कीमतें बढ़ती हैं। परन्तु जब मन्दी की प्रवृत्ति होती है, तब उत्पादन कार्यों में घटती होती है, बेकारी बढ़ती है और कीमतें गिरती हैं। इन चक्रों के परिणामस्वरूप दो पहलू होते हैं, एक उन्नति का और दूसरा अवनति का। उन्नति और अवनति के पहलुओं के बीच में कभी-कभी एक तीसरा पहलू भी होता है और इसे संकट का पहलू कहते हैं।

इन परिवर्त्तनों को 'चक्र' इसलिये कहते हैं, "क्योंकि एक दिशा में अत्यधिक गति होने से न केवल उसकी प्रतिक्रिया होती है, बल्कि विरुद्ध दिशा में भी उतनी ही अधिक उत्तेजनापूर्ण गति होती है।"[२] घड़ी के पेन्डुलम की तरह जब एक दिशा में गति होती है, तो अपने आप विरुद्ध दिशा में गति होती है। तेजी के काल में आनेवाली मंदी के काल के बीज छिपे रहते हैं। फिर इन चक्रों की गति में एक निश्चित काल का ज्ञान होता है। चक्र के विभिन्न पहलू एक प्रकार के कुछ निश्चित कालों में बटे रहते हैं। पहले कहा जाता था कि एक चक्र का कार्य-काल प्राय दस या ग्यारह वर्षों का होता था। परन्तु वास्तव में कार्य-काल नियमित नहीं होता।

व्यवसाय-चक्र की कुछ प्रधान विशेषताएं ध्यान में रखने योग्य होती हैं। पहली

---

१ Hawtrey. Trade and Credit, 83.

२ Keynes, Treatise on Money. Vol. 1, p. 278.

चक्र की विशेषताएं

विशेषता यह है कि व्यवसाय-चक्र व्यापक अथवा समन्वयात्मक (synchronic) होता है। अर्थात् तेजी और मंदी की गतियां एक ही समय सब उद्योगों में प्रकट होने की प्रवृत्तियां दिखलाती हैं। जब किसी एक उद्योग का व्यवसाय अच्छा चलता है, तब उस उद्योग में अन्य उद्योगों के कच्चे माल की मशीनें इत्यादि की मांग मिलती है। उस उद्योग में अधिक मजदूरों को काम मिलता है और मजदूरों की कुल आय में वृद्धि होती है। इन अधिक मांगों और अधिक आयों से अन्य व्यवसायों में तेजी आती है। इसी प्रकार जब एक उद्योग में मंदी आती है तो वह अन्य उद्योगों में भी फैलती है। किसी देश के उद्योगों और व्यवसायों में इस प्रकार का घना सम्बन्ध रहता है कि एक उद्योग में तेजी अथवा मंदी की लहर उठने से अन्य उद्योगों में भी उसी प्रकार की लहरें उठती हैं। दूसरी विशेषता यह है कि इन चक्रों की गतियां व्यापकता में अन्तर्राष्ट्रीय होती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय और विदेशी विनिमय की प्रणालियों के द्वारा विभिन्न देशों के व्यवसाय एक दूसरे से इस तरह गठे हुए हैं कि एक देश में उन्नति होने से उसका अच्छा प्रभाव दूसरे देशों पर भी पड़ेगा। अर्थात् वे भी उस उन्नति के किसी न किसी रूप में भागी होंगे। तीसरी विशेषता यह है कि यद्यपि तेजी और मंदी के समयों का प्रभाव प्रत्येक उद्योग पर पड़ता है तथापि सब उद्योगों पर एक बराबर मात्रा में नहीं पड़ता। यह बात प्राय सभी जानते हैं कि निर्माण कार्य सम्बन्धी उद्योगों में, जैसे कि जहाजरानी, इंजीनियरिंग, तथा उत्पादक वस्तुएं बनानेवाले अन्य उद्योगों में, सबसे अधिक परिवर्तन होते हैं। तेजी के समय में देश के साधनों का अधिकांश भाग उत्पादक वस्तुओं के बनाने में लगा रहता है। परन्तु मंदी के समय में कम भाग लगा रहता है। उत्पादक वस्तुएं बनानेवाले उद्योगों में उपभोग की वस्तुएं बनानेवाले धंधों की अपेक्षा कहीं अधिक परिवर्तन होते हैं। अन्तिम विशेषता यह है कि इन चक्रों की गति लहरों के समान होती है। और विभिन्न चक्र प्राय एक दूसरे के समान होते हैं। "अभी तक जितने व्यवसाय-चक्रों का विवरण प्राप्त है, उनको मिलाकर नमूना के तौर पर यदि एक चक्र तैयार किया जावे, तो उसमें और किसी एक चक्र में बहुत अधिक अन्तर न पाया जावेगा। परन्तु साथ ही नमूना का यह चक्र किसी एक चक्र की ठीक नकल भी नहीं होगा। उनकी समानता दूर की और मोटी समानता होती है। जितने चक्रों का विवरण प्राप्त है, वे सब एक ही कुटुम्ब के सदस्य हैं। परन्तु उनमें जुड़वे बच्चे एक भी नहीं हैं।"[1]

व्यवसाय-चक्रों के कारण (Causes of Trade Cycle)—व्यवसाय-चक्रों की उत्पत्ति के कई कारण बतलाये जाते हैं। इस पुस्तक में उन सबका विवरण देना कठिन है। यहां हम केवल प्रधान सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे। परन्तु इस विवेचन के पहले

---

१ Pigou, Industrial Fluctuations, pp. 15-16.

मदी के कारणो के सम्बन्ध में कुछ गलत विचारो या भ्रमो का दूर करना आवश्यक है।

कहा जाता है कि वस्तुओं के अत्यधिक उत्पादन से व्यावसायिक मदी होती है। परन्तु यदि इस कथन का अर्थ यह है कि मनुष्य जितनी वस्तुओ के उपभोग की इच्छा रखता है उससे अधिक उत्पन्न करता है, तो यह बात असम्भव है। इसका अर्थ यह होगा कि मनुष्य की सब इच्छाए पूर्ण हो चुकी है। प्रत्येक व्यक्ति के पास उतनी वस्तुए है, जितना वह उपभोग करना चाहता है। परन्तु आधुनिक समाज म इन बातो का अस्तित्व नहीं पाया जाता। मनुष्य मात्र की कुल आवश्यकताओ का अन्त नही है। अत्यधिक उत्पादन केवल इस अर्थ म सम्भव है कि वस्तुओ की बिक्री लाभ पर सम्भव नहीं है।

यह परिस्थिति सम्भव है। माग का गलत अन्दाज लगाने के कारण कुछ उद्योगों में जितनी वस्तुए लाभ पर बिक सकती है उनसे अधिक वस्तुओं का उत्पादन हो सकता है।

क्या अत्यधिक उत्पादन व्यापक रूप से हो सकता है

कुछ विशेष उद्योगो म अत रूप मे अत्यधिक उत्पादन हो सकता है। तब ये उद्योग मशीनो, कच्चे सामानों इत्यादि की माग कम कर देते है और मजदूर बेकार हो जाते है। उनकी आय कम हो जाती है और वे अन्य वस्तुए कम मात्रा में खरीदते है। फल यह होता है कि अन्य उद्योगो म भी मदी आ जाती है। परन्तु यह अधिक समय तक नही चल सकता। उन उद्योगो से पूजी और श्रम अन्य उद्योगो मे जाने लगते है और धीरे-धीरे परन्तु निश्चित रूप से अत्यधिक उत्पादन की स्थिति समाप्त हो जायगी। इसलिये व्यापक रूप में अत्यधिक उत्पादन की स्थिति असम्भव है। फिर अत्यधिक उत्पादन व्यावसायिक मदी का चिह्न या सूचक है, वह उसका कारण नहीं हो सकता। मदी को हम यह कह कर नहीं समझा सकते कि जब वस्तुए बहुत बडी मात्रा में जमा हो जाती है और उनकी बिक्री नही होती, तब व्यावसायिक मदी होती है।

जलवायु सम्बन्धी सिद्धान्त (Climatic Theories)—हरशेल के सुझाव के आधार पर जेवन्स इस नतीजे पर पहुचा कि व्यवसाय-चक्र का कारण सूर्य के धब्बे (Sun spots) थे। प्रति १० ४५ वर्ष के बाद अर्थात् एक नियमित चक्र में सूर्य में धब्बे प्रकट होते है और जेवन्स ने हिसाब लगाया कि एक व्यवसाय का औसत कार्य-काल भी १० ४६ वर्ष होता है। जब सूर्य में धब्बे प्रकट होते है, तब उससे पृथ्वी को कम गरमी प्राप्त होती है, जिससे फसले अच्छी नहीं होती। बुरी फसलो के कारण किसानो की खरीदने की शक्ति कम हो जाती है और वे कम माल खरीदते है। इस कारण व्यवसाय में मदी आती है। एच० एल० मूर और सर विलियम बीवरिज भी इस सिद्धान्त को कुछ न्यून रूप में स्वीकार करते है।

इस बात को कोई इनकार नही करेगा कि कृषि का प्रभाव व्यवसाय पर पडता है। परन्तु व्यवसाय-चक्रो का जलवायु-चक्रो से सम्बन्ध स्वीकार करना कठिन है। हा, जलवायु सम्बन्धी प्रभाव उन कई बातो में से एक हो सकते है, जिनका प्रभाव कभी-कभी व्यव-

साथ चल पर पड़ता है। परन्तु व्यवसाय-चक्र के सब पहलुओं के लिये वे जिम्मेदार नहीं हो सकते। उदाहरण के लिये उनसे यह पता नहीं चल सकता कि व्यावसायिक तेजी के समय में उत्पादक वस्तुओं का उत्पादन क्यों बढ़ जाता है और मंदी के समय में उन वस्तुओं का उत्पादन क्यों घट जाता है।

अत्यधिक बचत अथवा कम उपभोग सम्बन्धी सिद्धान्त (Theories of Over-saving or Under Consumption)–मार्क्स की विचारधारा के आधार पर हाब्सन इस सिद्धान्त पर पहुंचा कि अत्यधिक बचत करने के कारण व्यावसायिक मंदी होती है। वर्तमान समाज में आय में अत्यधिक अन्तर होता है और कुल सम्पत्ति का काफी बड़ा भाग एक छोटे से वर्ग के हाथ में है। जब व्यवसाय की तेजी रहती है, तब इस वर्ग की आय में वृद्धि होती है और उसका अधिकांश बचत कर लिया जाता है। धनी व्यवसायी अपनी बचत को पूंजी उत्पादक व्यवसायों में लगाते जाते हैं और अधिक मशीन औजार इत्यादि का उत्पादन करते हैं। तब उपभोग की वस्तुएं खरीदने की शक्ति में कमी पड़ जाती है। हम जानते हैं कि मजदूरी हमेशा कीमतों से पीछे रहती है और इसी से ऊपर का कथन सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार खरीदने की शक्ति तो कम हो जाती है, परन्तु नई मशीनों और औजारों इत्यादि के उत्पादन काम में लग जाने से वस्तुओं की पूर्ति बढ़ जाती है। फल यह होता है कि बाजार वस्तुओं से भर जाता है और उन्हें लाभ पर बेचना सम्भव नहीं होता। तब व्यावसायिक मंदी का समय शुरू होता है। वस्तुएं खरीदने के लिये काफी पैसा नहीं रहता, क्योंकि आय का अधिकतर भाग उपभोग से खींचकर बचत कर लिया जाता है। खर्च की कमी और अत्यधिक बचत के कारण इस प्रकार व्यावसायिक मंदी होती है। इस सिद्धान्त को थोड़े से भिन्न रूप में फास्टर, कैचिंग्स और मेजर डगलस भी स्वीकार करते हैं।

इस सिद्धान्त के द्वारा हम व्यवसाय-चक्रों को नहीं, बल्कि व्यावसायिक मंदी को समझते हैं और व्यावसायिक मंदी की विवेचना के रूप में भी इसमें कई दोष हैं। कोई कारण नहीं है कि धनी व्यवसायी वर्ग लगातार बचत करता रहेगा। यह वर्ग अपने शौक और आराम पर खर्च बढ़ा सकता है। फिर यह सिद्धान्त मान लेता है कि जो धन बचत किया जायगा उसका उपयोग पूंजी के रूप में उत्पादन कार्यों में होगा। परन्तु हमेशा ऐसा नहीं होता। इस सिद्धान्त के अनुसार मंदी इसलिये आती है कि जितनी वस्तुएं बिक सकती हैं, उससे अधिक का उत्पादन हो जाता है। इसलिये हम यह सोच सकते हैं कि मंदी का पहला चिह्न उपभोग की वस्तुओं के मूल्य-सतह में गिरावट होगी। परन्तु वास्तव में मंदी के प्रथम चरण में उत्पादक वस्तुओं के मूल्यों में गिरावट होती है और उपभोग की वस्तुओं के मूल्य सतह में प्रायः सबसे अन्त में गिरावट होती है।

व्यवसाय-चक्र का मुद्रा सिद्धान्त (Monetary Theory of Trade Cycle)–इस मत का सबसे बड़ा समर्थक हाटरे है और उसके मतानुसार व्यवसाय-चक्र

"केवल मुद्रा सम्बन्धी परिवर्तनों के कारण होता है।" आधुनिक मुद्रा प्रणालियों में रकम भुगतान करने का सबसे बड़ा तरीका बैंकों की साख होती है। परन्तु साख स्वयं बहुत अस्थिर होती है। अधिक साख उत्पन्न करना पूरी बैंक व्यवस्था के ऊपर निर्भर होता है। यह काम बैंक बट्टे की दर कम करके अथवा अधिक ऋण-पत्र खरीद करके कर सकते हैं। जब बैंक साख का विस्तार करते हैं तब व्यवसाय चक्र में तेजी आती है। व्यवसायी इस अतिरिक्त साख को बैंकों से ऋण के रूप में लेते हैं और उसे मजदूरी, ब्याज, लगान इत्यादि देने में खर्च करते हैं। हाट्रे के मतानुसार ब्याज की दर में परिवर्तनों का प्रभाव व्यवसायियों के कार्यों पर बहुत जल्दी पड़ता है। ये व्यवसायी ऋण लेकर बहुत बड़ी मात्रा में सामान खरीदते और बेचते हैं तथा ब्याज की दर में थोड़ी-सी भी घटी बढ़ी होने से व्यवसायी बैंकों के ऋण की मात्रा घटा अथवा बढ़ा देंगे और उसी के अनुसार अधिक अथवा कम माल रखेंगे। इस प्रकार जब ब्याज की दर कम होती है तब व्यवसायी ऋण अधिक लेते हैं और माल अधिक रखते हैं। वे उत्पादकों से माल अधिक खरीदते हैं। उत्पादक अधिक माल उत्पादन करने की कोशिश करते हैं और इसके लिये अधिक मजदूर काम पर लगाते हैं तथा अधिक कच्चा माल इत्यादि खरीदते हैं। देश की कुल आय में वृद्धि होती है और उपभोक्ता की आय भी बढ़ती है। इसका मतलब यह होता है कि वस्तुओं की माग बढ़ती है। व्यवसायियों के माल की बिक्री बढ़ती है। वे उत्पादकों से अधिक माल की माग करते हैं। अब उत्पादक अपना उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। मुद्रा आय और खर्च बढ़ता है। कीमतें बढ़ने लगती हैं। अधिक बिक्री की आशा से व्यवसायी अपने माल की मात्रा बढ़ाते हैं। तब फिर इसी क्रिया की पुनरावृत्ति होती है और कीमतें जोर के साथ बढ़ती हैं।

मुद्रा सम्बन्धी कार्यों से व्यवसाय-चक्र होता है

अब ऋणों की माग बढ़ती है। परन्तु साथ ही बैंकों के सुरक्षित कोष कम होते जा रहे हैं। क्योंकि देश में नकद मुद्रा का प्रचलन बढ़ रहा है और स्वर्ण निर्यात की भी सम्भावना है। इसलिये लाचार होकर बैंकों को ब्याज की दर बढ़ानी पड़ेगी और अधिक ऋण देने से इनकार करना पड़ेगा। इससे प्रतिक्रिया होती है और व्यवसायी उत्पादकों से माल कम कर देते हैं। उत्पादक अपना काम कम कर देते हैं और बेकारी शुरू हो जाती है। इस मंदी के समय में व्यवसायियों को ऋण की आवश्यकता कम रहती है और बैंकों में जमा और सुरक्षित कोष फिर बढ़ने लगते हैं, जिससे लाचार होकर अन्त में बैंक फिर से ब्याज की दर घटा देते हैं। चक्र फिर से शुरू हो जाता है। इस चक्र से बचने का उपाय यह है कि बैंकों को अपने ऋणों की मात्रा का नियंत्रण इस प्रकार करना चाहिये कि कीमतें स्थिर रहेंगी।

इसमें सन्देह नहीं कि साख अथवा ऋण के विस्तार के कारण कभी-कभी व्यवसाय का विस्तार होता है। व्यवसाय में तेजी होने की एक शर्त यह भी है कि ऋण का विस्तार

होना चाहिये। परन्तु ऋण का विस्तार व्यावसायिक तेजी का कारण नहीं होता। व्यवसाय-चक्रों के प्रधान कारण मुद्रा से सम्बन्ध नहीं रखते। मुद्रा सम्बन्धी प्रभाव तेजी का सम्भव बनाते हैं और व्यवसाय-चक्रों के परिवर्तनों की परिधि को घटाते बढ़ाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि कीमतें मजबूत रहें तो व्यवसाय-चक्र बन्द हो जावेंगे। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक इस बात से इनकार नहीं करते कि व्यवसाय का विस्तार अथवा सकुचन ऐसे कारणों से भी हो सकता है जिनका सम्बन्ध मुद्रा से नहीं है। परन्तु यदि बैंक ऋणों की मात्रा का उपयुक्त नियन्त्रण और परिचालन करते हैं, अर्थात् व्यवसाय में मंदी के लक्षण दिखते ही तब ऋणों का विस्तार करें और जब व्यवसाय का विस्तार हो, तब ऋणों का सकुचन करें तो घटी-बढ़ी अथवा तेजी-मंदी सम्बन्धी परिवर्तन असम्भव हो जावेगा। यह बात अवश्य सत्य है कि व्यवसाय-चक्र रुपये का नाच है और उस चक्र में कीमतों तथा ऋणों में घटी बढ़ी अवश्य होती है। यह उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार "बर्फीले पहाड़ों की चढ़ाई में बर्फ काटने की कुल्हाड़ी और पहाड़ की चढ़ाई में पूर्ण सम्बन्ध होता है। बिना कुल्हाड़ी खरीदे प्राय कोई भी व्यक्ति पहाड़ पर नहीं चढ़ता। .. परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यदि कानून द्वारा बर्फ काटने की कुल्हाड़ी खरीदना मना कर दिया जावे तो लोग बर्फ के पहाड़ों पर चढ़ना बन्द कर देंगे।"[1] इसलिये कीमतों को मजबूत रखकर हम इन घटी-बढ़ी के परिवर्तनों को नहीं हटा सकते। इसलिये यद्यपि व्यवसाय-चक्र मुद्रा का आवरण लिये रहता है, परन्तु वास्तव में केवल मुद्रा सम्बन्धी कारणों से नहीं होता।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (Psychological Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार व्यवसाय में विश्वास घटने बढ़ने से व्यवसाय-चक्र उत्पन्न होते हैं। इस सिद्धान्त के समर्थक पिगू माने जाते हैं। जब व्यवसाय तेजी पर होता है, तो लोग अच्छे लाभ की आशा करते हैं और भविष्य के बारे में ऊँची-ऊँची आशाएं लगा लेते हैं। जब व्यवसायियों के एक वर्ग में विश्वास उत्पन्न होता है, तो वह अन्य वर्गों में फैलता है, क्योंकि *उत्साह और निराशा सक्रामक रूप में फैलते हैं।* इसलिये *आशा और निराशा के भावों* का प्रभाव दूसरे लोगों पर भी पड़ता है। इस आशापूर्ण विश्वास से गलतियां होती हैं और लाभ पर जितनी बिक्री हो सकती है, उससे कहीं अधिक उत्पादन हो जाता है। जब यह क्रिया काफी हद तक हो जाती है, तब व्यवसायियों को हानि होने लगती है। वे व्यवसाय के भविष्य के बारे में निराश होने लगते हैं और उत्पादन-कार्य कम कर देते हैं। इस प्रकार व्यवसायी लोग आशा और निराशा की गलतियों के बीच में भटकते रहते हैं और उनके कार्यों में लहरों की तरह क्रियाएं होती रहती हैं। इस सिद्धान्त के समर्थक इस बात से इनकार नहीं करते कि फसल की दशा इत्यादि बातों का भी प्रभाव काम

१ Pigou Industrial Fluctuations, p. 197.

पूजी लगान की प्रवृत्ति जागत कर सकती है। उत्पादक वस्तुओ के उत्पादन में जैसे जैसे साधनो का अधिकाधिक उपयोग किया जाता ह (यह मानकर कि सदा क तह म कुछ साधन बकार रहते ह) वस-वसे बाकारी भी वढती है। अर्थात अधिक लोगो को काम मिलता ह। जब साधनो का अधिक मात्रा में उपयाग किया जायगा तो मुद्रा आय भी बढगी। इस प्रकार उत्पादक वस्तुओ क उत्पादन म वृद्धि होन म व्यवसाय में तेजी आती ह और यह तेजी तब तक बनी रहती ह जब तक उत्पादक वस्तुओ का उत्पादन होता रहता है। परन्तु कभी न कभी नयी उत्पादक वस्तुओ के उत्पादन का क्षेत्र कम होन लगता है क्योकि लाभ पर पूजी लगान व नय-नये जरियो की खोज और उपयोग होता रहता है जिनमें लाभ की गुजाइश अधिक होती है। इसलिये नई उत्पादक वस्तुओ पर भविष्य में होनवाले लाभ की दर म कमी होन की प्रवृत्ति अवश्य छिपी रहती है। फिर उत्पादक वस्तुओ के उत्पादन की मात्रा का विस्तार होन से उनके लागत खच में भी वद्धि होती है क्योकि मजदूरी की दर साधनो की कीमतें इत्यादि बढती है। इन दोनो बातो के मिश्रित प्रभाव के कारण पूजी की सीमान्त योग्यता समाप्त हो जाती है। यदि ब्याज की दर नहा घटती अथवा अपर्याप्त रूप से घटती है तो उसके फलस्वरूप व्यवसाय अथवा उत्पादन में लगनवाली पूजी अवश्य घटगी। ब्याज की दर में आनुपातिक कमी की सम्भावना नहा रहती। दूसरी तरफ चूकि आय वृद्धि और व्यवसाय वद्धि के कारण लोगो की मुद्रा की माग बढती जाती है इसलिये बको के लिये मुद्रा सम्बधी माग पूरी करना अधिकाधिक कठिन हो जाता है। तब ब्याज की दर में वृद्धि होन लगती है। इस प्रकार व्यवसाय और उत्पादन में लगनवाली पूजी में कमी होन लगती है। इस दशा में ह्रास होन म लोगो की आय कम होन लगती है और काम पर लगे हुए लोगो की सख्या अर्थात् बाकारी भी कम होन लगती है तथा आर्थिक व्यवस्था फिर से मदी के फदा म फस जाती ह।

इसके सिवा कीन्स के मतानुसार उन्नतिशील आर्थिक व्यवस्था में माग की कमी अथवा मदी की ओर जान की एक सक्रामक प्रवृत्ति होती है। कोई समाज जैसे जैसे अधिक धनी होता जाता ह वैसे-वैसे उसकी उपभोग करन की प्रवृत्ति कम होती जाता है। दूसरी तरफ उत्पादक वस्तुओ की प्रचुरता के कारण नई पूजी लगान के मौके कम आकर्षक होने जाते ह। इस प्रकार पूजी की सीमान्त योग्यता में दोनो तरफ म ह्रास होता देखकर उत्पादन कार्यो में नई पूजी का लगना बद हो सकता है और इसी में मदी के सब लक्षण प्रकट होन लगते ह।

प्रोफेसर ए० एच० हेनसन का मत ह कि पश्चिमी दुनिया के सामने उत्पादन कार्यों में पूजी लगान के मौके कम हो रहे ह। उनके मत में इसके दो सयुक्त कारण ह। एक तो जनसख्या वद्धि की दर में ह्रास हो रहा ह और दूसरे ऐसे कोई आविष्कारो की सम्भावना नही है जिनके फलीभूत होन में पूजी की बडी मात्रा की आवश्यकता पडे। फल

यह हुआ है कि हमारे सामने केवल व्यवसाय चक्र की ही समस्या नहीं है बल्कि एक दीर्घकालीन स्थिर परिस्थिति (secular stagnation) का सामना करना पड़ रहा है जिसमें व्यावसायिक तेजी आरम्भ होते ही शैशव मृत्यु को प्राप्त हो जाती है और मंदी पर मंदी बढ़ती जाती है जिसका परिणाम बेकारी की एक ठोस और अवरुद्ध बढ़ती हुई बेकार रेखा बनाए रखने में आती है।[1]

तात्पर्य (Conclusion)—अर्थशास्त्र के ज्ञान की हमारी जो वर्तमान अवस्था है उसमें व्यवसाय चक्र के सब कारणों का पूर्णरूप से समझाना सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में जो साहित्य प्राप्त है वह बहुत विवादपूर्ण है और साथ ही निरन्तर बढ़ रहा है। परन्तु अर्थशास्त्रियों में जितना मतभेद पहले पहल दिखता है वास्तव में उतना है नहीं। व्यवसाय-चक्र किसी एक कारण से नहीं होता बल्कि कई कारणों के परिणामस्वरूप होता है। इन कारणों में कभी एक प्रधान हो जाता है और कभी दूसरा या तीसरा।

उपाय (Remedies)—व्यवसाय चक्र के कुपरिणाम इतने भयंकर होते हैं विशेषकर बेकारी की मात्रा के सम्बन्ध में। आज हमारे सामने सबसे बड़ी समस्या व्यवसाय चक्र के परिवर्तनों के कुपरिणामों को दूर करना है। परन्तु

मुद्रा सम्बन्धी उपाय

दुर्भाग्य से अभी तक अर्थशास्त्र के विद्वानों में इस सम्बन्ध में सही नीति पर मतैक्य नहीं है। इस सम्बन्ध में जो उपाय बतलाये गये हैं वे तत्सम्बन्धी छानबीन पर ही निर्भर हैं। जो अर्थशास्त्री चक्र के कारण मुद्रा-सम्बन्धी बतलाते हैं उनका विश्वास है कि मुद्रा की पूर्ति पर नियन्त्रण रखने से ये कुपरिणाम दूर हो सकते हैं। उनका मत है कि बैंक अपनी दर को नियन्त्रित करके और उसका उपयुक्त परिचालन करके अथवा खुले बाजार की नीति ग्रहण करके व्यवसाय चक्र के परिवर्तनों के धक्के को बहुत कम कर सकते हैं। जब व्यवसायों के बहुत अधिक विस्तृत होने के लक्षण दिखते हैं तब केन्द्रीय बैंक को तुरन्त कुंजी घुमानी चाहिये और बैंक दर बढ़ा देना चाहिये तथा बाजार में ऋण-पत्र बेचना चाहिये। इसी प्रकार जब मंदी के लक्षण प्रकट होने लगें तब बैंक दर कम करके ऋण-पत्रों की खरीद करके तथा इसी प्रकार के अन्य उपायों द्वारा परिस्थिति को काबू में रखा जा सकता है। इस प्रकार यदि केन्द्रीय बैंक काफी साहसी और दूरदर्शी है तो वह व्यवसाय-चक्र के लहरों के समान गति को काबू में रख सकता है और उसके कुपरिणामों को टाल सकता है।

जो लोग उपभोग की कमी के सिद्धान्त के समर्थक हैं वे बैंक-दर के नियन्त्रण और परिचालन तथा खुले बाजार की नीति से सन्तुष्ट नहीं हैं। उनका मत है कि उपभोग कम करने की प्रवृत्ति रोक कर अधिक उपभोग करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना चाहिये। क्योंकि व्यावसायिक मंदी की तह में उपभोग कम करने की प्रवृत्ति रहती है।

---

१ Hansen, Fiscal Policy and Business Cycle p. 353

कर प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिये, जिससे आय-वितरण में अधिक असमानता न हो, आय में अधिक समानता होना चाहिये, जिससे

आय में अधिक समानता

अत्यधिक बचत करने की प्रवृत्ति का मूल कारण हट जावे। हावसन का मत है कि तेज़ी के समय में मजदूरी भी बढाई जानी चाहिये। मजदूरी बढाने और लाभ घटाने से उपभोग बढेगा और बचत की दर कम होगी। लाभ घटाने से व्यवसायी उधार लेने के लिये उत्सुक नही होंगे और साहूकार ऋण देने के लिये उत्सुक न होंगे। इसलिये ऋण की उत्पत्ति कम होगी। उसी दर से कीमतें भी बढेगी।

जिन अर्थशास्त्रियो का मत है कि व्यवसाय-चक्र उत्पादक वस्तुओ की मात्राओ में परिवर्तनो के कारण होते हैं, उनका कहना है कि तेज़ी के समय में उत्पादन में पूजी कम और मंदी के समय में अधिक लगानी चाहिये। उनके

चक्र विरोधी आयात निर्यात कर नीति

विचार में इन कुपरिणामो से बचने के लिये केवल मुद्रा-सम्बन्धी उपाय ही अनुकूल परिस्थितिया उत्पन्न कर सकते हैं। परन्तु उनसे व्यवसाय-चक्र समाप्त नही हो सकते। सबसे अच्छा उपाय यह है कि सरकार व्यवसाय-चक्र विरोधी आयात-निर्यात कर नीति ग्रहण करे और उसका उपयोग कई दिशाओ में करे। सरकार को अपने सार्वजनिक निर्माण कार्यों की योजना इस प्रकार बनानी चाहिये कि मदी के समय में अधिक रुपया खर्च हो और तेजी के समय मे कम। उदाहरण के लिये मदी के समय में अधिक पोस्ट आफिस खोलना चाहिये, अधिक सडकें, रेलें तथा नहरें बनानी चाहिये। इससे बेकारी में कमी होगी, आयो में वृद्धि होगी और उपभोग बढेगा। मदी के समय में करो में कमी करना चाहिये, विशेषकर व्यवसायजनित लाभ पर लगनेवाले करो में। इससे लोग पूजी लगाने के लिये उत्साहित होंगे। मंदी के समय में सरकारी बजट ऋणात्मक अर्थात् कमी वाली होनी चाहिये और उसकी पूर्ति ऋणो से करना चाहिये।[1]

तेजी के समय में सार्वजनिक निर्माण कार्य कम कर देना चाहिये, व्यवसायजनित लाभ पर ऊचे कर लगाना चाहिये, जिससे लोग व्यवसाय में पूजी कम लगावें और सरकारी बजट धनात्मक होना चाहिये अर्थात् खर्च से आय अधिक हो। इस अधिक आय को पुरानी कमी मिटाने में खर्च करना चाहिये। ये तथा कुछ अन्य बातें मदी के समय में ग्रहण करने की सलाह दी गई हैं, जिससे उपभोग को प्रोत्साहन मिले और लोग व्यवसाय में पूजी लगावें। इससे व्यवसाय-चक्र नही होवेंगे।

---

१ अगला अध्याय और अध्याय ५३ देखो

तैंतालीसवां अध्याय

बेकारी और पूर्ण बाकारी

(Unemployment and Full Employment)

जिनन उद्योग प्रधान देश हैं उनकी बड़ी-बड़ी समस्याओं में से एक महत्वपूर्ण समस्या जनता में होनेवाली बेकारी की समस्या है। इन सब देशों में श्रम की पूर्ति का निश्चय थोड़े से समय में होता है। परन्तु उपभोग की पसन्दगियों में परिवर्तन होते रहने के कारण श्रम की माग में भी परिवर्तन होते रहते हैं। इसलिये श्रम की माग और पूर्ति में असामजस्य अवश्य होगा। इसके परिणामस्वरूप लोगों में बेकारी होती है।

सबसे पहले 'बेकारी' शब्द की परिभाषा करनी आवश्यक है। जैसा कि प्राय समझा जाता है, बेकारी का तात्पर्य मध्यमवर्ग के उन लोगों से नहीं है जिनके पास आराम से जिन्दगी बिताने के साधन होते हैं। बेकारी का तात्पर्य केवल मजदूर पेशा लोगों से है। यह सम्भव है कि मजदूरी करनेवाले लोग आलस और कामचोरी के कारण बेकार रह सकते हैं। परन्तु ऐसे मजदूरों को हम बेकार नहीं समझते। बेकार लोग वे होते हैं, जिन्हें मजदूरी की प्रचलित दरों पर इच्छानुसार काम नहीं मिलता।

बेकारी की किस्में

लेखकों ने बेकारी का वर्गीकरण अलग-अलग तरह से किया है। एक तो अस्थायी बेकारी (casual unemployment) होती है। लगभग सभी उद्योगों में काम सम्बन्धी अकस्मात् या एकाएक परिवर्तन होते रहते है। किसी समय काम बहुत तेजी पर रहता है और बढ़े हुए काम को समय पर पूरा करने के लिये उद्योगपति बड़ी सख्या में मजदूर चाहते हैं। किसी समय काम में मंदी रहती है और श्रमिकों की एक सख्या बेकार हो जाती है। बन्दरगाहों पर काम करनेवाले मजदूरों के सम्बन्ध में ऐसा ही होता है। इस प्रकार बेकारों की एक चलती-फिरती सख्या (floating surplus) रहती है और इसे सुरक्षित श्रम (reserve of labour) कहते है। दूसरे जो मौसिमी धंधे रहते हैं, उनमें भी बेकारी होती है। कुछ उद्योग ऐसे होते हैं, जिनमें मजदूरों को वर्ष में केवल कुछ समय के लिये काम मिलता है। भारत में चीनी के उद्योग में ऐसा ही होता है। चीनी के कारखानों में नवम्बर से लेकर अप्रैल या मई तक काम चलता है। बाकी महीनों में मजदूर बेकार रहते है। हमारे देश में कृषि में लगे हुए मजदूरों का भी यही हाल है। तीसरे व्यवसाय-चक्र सम्बन्धी परिवर्तनों के कारण बेकारी हो सकती है। पानी में उठनेवाली ऊंची और नीची तरगों की तरह व्यवसाय

में भी एक के बाद एक तेज़ी और मन्दी के समय आते हैं। इस व्यवसाय-चक्रों का बेकारी की मात्रा पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। जब व्यवसाय अच्छा रहता है, तब बेकारी कम हो जाती है और जब व्यवसाय में मंदी रहती है, तब बेकारी बढ़ जाती है। चौथे, उद्योग के संगठन में हमेशा परिवर्तन होते रहते हैं और इन परिवर्तनों के कारण भी कुछ बेकारी होती रहती है। आधुनिक व्यवसाय प्रधानतः प्रगतिशील होते हैं। नये-नये आविष्कार होते रहते हैं और नई-नई मशीनों का प्रयोग होता रहता है। इससे कुछ मजदूर कुछ समय के लिये बेकार हो जाते हैं। कभी किसी वस्तु की माग अधिक हो जाती है तो कभी किसी वस्तु की। जिस वस्तु की माग गिर जाती है, उसी के उद्योग में बेकारी आ जाती है। इसे 'औद्योगिक बेकारी (technological unemployment) कहते हैं। अन्तिम, आर्थिक व्यवस्था में कुछ संघर्ष होते रहते हैं और उनके कारण भी बेकारी हो सकती है। विभिन्न मौसिमों के अनुसार माग में जो परिवर्तन होते हैं अथवा एक काम से दूसरे काम पर जाने में जो समय व्यर्थ जाता है, इत्यादि कारणों से भी बेकारी हो सकती है।

बेकारी के कारण बहुत पेचीले हैं। यहा हम केवल कुछ प्रधान कारणों की विवेचना कर सकते हैं। मौसिमी बेकारी प्रधानतः जलवायु तथा सामाजिक कारणों से होती है। जलवायु अथवा अन्य प्राकृतिक कारणों से विभिन्न महीनों में श्रम की माग मे परिवर्तन होते रहते है। औद्योगिक बेकारी पुराने व्यवसायों के भिन्न और उनकी जगह नये व्यवसायों के उत्पन्न होने से होती है। जैसे कि आजकल घोड़ागाड़ी का स्थान मोटरकार ने ले लिया है। औद्योगिक अर्थात् पेशा सम्बन्धी बेकारी मशीन के उपयोग के कारण भी हो सकती है, क्योंकि आदमियों का काम मशीन द्वारा होने लगता है। कताई और बुनाई का काम अब मशीनों द्वारा होता है। इस प्रकार की बेकारी तब भी हो सकती है, जब उद्योग में युक्तिसंगत पुनर्संगठन (rationalisation) इत्यादि की योजनाएं ग्रहण की जायें। परन्तु यदि श्रम में अधिक गतिशीलता या भ्रमणशीलता हो तो इस प्रकार की बेकारी के कालों की अवधि कम की जा सकती है। परन्तु दुर्भाग्य से बहुधा बहुत से धन्धों में श्रम की भ्रमणशीलता नहीं पाई जाती। भ्रमणशीलता की कमी बहुधा बेकारी का कारण बन जाती है। जिन कारणों से बार-बार व्यवसाय-चक्र होते हैं, उन्ही कारणों से चक्रों के अनुसार बेकारी भी होती है। पुराने अग्रेज अर्थशास्त्रियों का मत था कि बेकारी का एक कारण यह भी था कि मजदूरी की मुद्रा सतह या दर ट्रेड यूनियनों के दबाव या प्रभाव से अस्वाभाविक ऊंची सतह पर रखी जा रही थी। यदि गिरती हुई कीमतों के बावजूद मजदूरी की दर ऊंची और अपरिवर्तनशील रखी जावे तो कुछ बेकारी अवश्य होगी, क्योंकि इस ऊंची दर पर उद्योगपति श्रम की

कारण

अनिश्चित बेकारी

तथा अन्य कार्यों पर (capital expenditure) सरकार को अधिक व्यय करना चाहिये, जिससे श्रम की सामूहिक माग बढे। जब बेकारी बहुत अधिक फैली हुई हो, तब सरकार को बडे पैमाने पर निर्माण कार्य करना चाहिये, अर्थात् सडकें, नहरें, रेलें, पार्क इत्यादि बनवाने चाहिये, पोस्ट आफिस खोलना चाहिये तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य करने चाहिये। इससे बेकारी की मात्रा मे काफी कमी होगी।

परन्तु य सब काम करने पर भी कुछ आदमी बेकार अवश्य रहेंगे। प्रत्येक प्रगतिशील देश की सरकार इन बेकारो की सहायता बेकारी बीमा (unemployment insurance) की योजनाओ के द्वारा करती है। एक केन्द्रीय बेकारी कोष (central unemployment fund) स्थापित किया जाता है। इस कोष में मजदूर, उद्योगपति तथा सरकार तीनो एक निश्चित अनुपात में आर्थिक सहायता नियमित रूप से देते हैं। जब मजदूर काम पर लगे रहते हैं, तब इस कोष में चन्दा देते हैं और जब बेकार हो जाते हैं, तब इससे आर्थिक सहायता (doles) प्राप्त करते हैं।

बेकारी बीमा

पूर्ण बाकारी (Full Employment)—बेकारी के अभिशाप के दो पहलू होते हैं—सामाजिक और आर्थिक। इसलिये जितने प्रगतिशील देश हैं, वे सब सामूहिक बेकारी दूर करना अपना कर्तव्य समझते हैं। इसलिये इधर कुछ दिनो से आर्थिक नीति का उद्देश्य पूर्ण बाकारी बनाये रखना माना जाता है। ध्यान रहे कि 'पूर्ण बाकारी' का अर्थ वैसा नही है जैसा कि उसके शब्दो से प्रकट होता है। इसका अर्थ ऐसी परिस्थिति है, जिसमें अनिच्छित बेकारी इतनी कम रहती है कि वह कोई बडी सामाजिक समस्या का रूप धारण नही करती। यह स्वाभाविक है कि एक निश्चित अथवा दिये हुए समय में कुछ लोग बेकार अवश्य रहेंगे—ऐसे लोग जो एक काम छोडकर दूसरे काम पर जा रहे हैं। अथवा जो किसी अन्य उद्योग या शिल्प में शिक्षा पाने की प्रतीक्षा में हैं। अधिकतर, लेखक पूर्ण बाकारी का जो अर्थ लगाते हैं, उसमें यह न्यूनतम 'आणिक या सघर्षक बेकारी' स्वीकृत की जाती है। पूर्ण बाकारी की शर्त केवल यह है कि जो लोग किसी एक समय बेकार हो जावें, उन्हें बिना विलम्ब, उचित दर पर अपनी शक्ति के अनुसार नया काम मिल जाना चाहिये।

पूर्ण बाकारी का अर्थ

पुराने अग्रेज अर्थशास्त्रियों के मतानुसार स्वतन्त्र प्रतियोगिता पूर्ण सामाजिक व्यवस्था मे बडे पैमाने पर बेकारी केवल अस्थायी रूप में होती है। जिस आदमी के श्रम का कुछ भी मूल्य है, उसे जल्दी अथवा देर में अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार काम अवश्य मिल जायगा। यदि किसी मनुष्य को काफी देर तक कोई काम न मिले तो उसका अर्थ यह होगा कि उसकी जितनी योग्यता है, वह उससे अधिक मजदूरी मागता है। कुछ व्यवसायो अथवा क्षेत्रो में अवनति होने के कारण थोडी-सी सघर्षक बेकारी

और कुछ बेकारी तो अवश्य रहेगी। परन्तु प्रतियोगितापूर्ण आर्थिक व्यवस्था में काफी लोच होती है, जिसके कारण ये बेकार आदमी एक उचित समय के भीतर विभिन्न उद्योगों में काम पा सकते हैं। बहुत अधिक समय तक बेकारी केवल इस कारण रह सकती है कि मजदूर बहुत अधिक ऊंची मजदूरी मांगते हैं। मजदूरी की अत्यधिक ऊंची दर का कारण एकाधिकारी ट्रेड यूनियनों का प्रभाव भी हो सकता है। यदि इस प्रकार के एकाधिकारपूर्ण दबाव छोड़ दिये जाय तो प्रतियोगिता के कारण मजदूरी की दर नीची या कम हो जायगी और इस कम दर पर बेकार मजदूरों को उपयुक्त काम मिल जायगे।

आधुनिक अर्थशास्त्री इस मत को स्वीकार नहीं करते। अब यह बात स्वीकार की जाती है कि मजदूरी की मुद्रा दर में कमी करने से काकारी की मात्रा इतनी नहीं बढ़ाई जा सकती कि बेकारी बिल्कुल खतम ही हो जाय। स्वर्गीय लार्ड कीन्स ने पुराने अर्थशास्त्रियों का खंडन बहुत तर्कपूर्ण युक्तियों से किया और एस सुझाव रखे जिनके द्वारा पूर्ण काकारी की स्थिति प्राप्त की जा सकती है। उनके मत में

पूर्ण काकारी क्यों नहीं हो पाती

बेकारी का कारण यह होता है कि श्रम की जितनी पूर्ति होती है उतनी मांग नहीं होती। मांग की मात्रा पूर्ति की मात्रा से कम रहती है। काकारी देश के खर्च के ऊपर निर्भर होती है। पूर्ण काकारी कुल आय को एक निश्चित समय में उत्पादन पर खर्च करने पर निर्भर होती है। कुल आय एक निश्चित अनुपात में उपभोग की वस्तुओं और उत्पादक वस्तुओं पर खर्च की जा सकती है। यदि कुछ लोग उपभोग पर कम खर्च करने का निश्चय करते हैं, तो उपभोग पर इस कम खर्च के बदले उत्पादक वस्तुओं पर उतना ही अधिक खर्च होना चाहिये। यदि ऐसा न किया जायगा तो मांग में कमी पड़ जायगी और परिणामस्वरूप श्रम की पूर्ति की जितनी मात्रा प्राप्त है, वह सब उत्पादन में नहीं लग सकती। कीन्स का मत है कि सम्भव है कि एक निश्चित स्थिति के बाद उत्पादक पूंजी में आवश्यक वृद्धि न हो और यदि पूंजी और मांग को प्रोत्साहन देने के लिये विशेष उपायों से काम न लिया जायगा तो देश में बेकारी स्थायीरूप से होने का डर हो सकता है।

पूर्ण काकारी दो प्रकार से प्राप्त हो सकती है। चूंकि बेकारी मांग में कमी होने के कारण होती है, इसलिये हम विभिन्न उपायों द्वारा उपभोग को प्रोत्साहन देकर बेकारी रोकने का प्रयत्न कर सकते हैं। धनी वर्गों में गरीब वर्गों की अपेक्षा कम खर्च करने की प्रवृत्ति रहती है। इसलिये एक उपाय यह है कि आय का वितरण दुबारा होना चाहिये।

पूर्ण काकारी के तीन उपाय

इसका एक तरीका यह है कि धनी वर्गों पर प्रत्यक्ष करों की दर बढ़ा देनी चाहिये और निर्धन वर्गों पर अप्रत्यक्ष कर कम कर देना चाहिये। अथवा गरीबों को कौटुम्बिक भत्ता (family allowances) मिलना चाहिये। परन्तु इस उपाय में सबसे बड़ा

करना पड़ता है तो वह एक अच्छी बात है। सरकार को सब की कुल जिम्मेदारी अपने ऊपर इस प्रकार लेनी चाहिये कि पूर्ण साकारी की स्थिति प्राप्त हो जावे और बनी रहे। मंदी के समय में सन्तुलित बजट बनाने का प्रयत्न जान-बूझकर नहीं करना चाहिये। चूंकि गैर-सरकारी पूंजी के व्यवसाय में कमी आ जाती है और उपभोग पर भी इतना कम खर्च हो जाता है कि मंदी आ जाती है इसलिये इस कमी को सरकार को पूरा करना चाहिये। या तो सरकार को सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर अधिक खर्च करना चाहिये (और इसके लिये पहले से योजनाएं बनाकर रखना चाहिये) या फिर सामूहिक उपभोग को प्रोत्साहन देना चाहिये। बजट के व्यय के मद में इतना अधिक खर्च रहे कि पूर्ण साकारी की स्थिति बनी रहे। तेजी के समय में सार्वजनिक कामों पर खर्च कम कर देना चाहिये और करों की दर बढ़ाकर आय की मात्रा बढ़ानी चाहिये। बजट धनात्मक होना चाहिये अर्थात् व्यय की अपेक्षा आय कहीं अधिक होनी चाहिये और इस अधिक आय से मंदी के समय के ऋणों को चुकाना चाहिये।

इसमें संदेह नहीं कि यदि इस साहसपूर्ण नीति से काम लिया जाय और सार्वजनिक कामों पर सरकारी खर्च तथा सामूहिक उपभोग पर सरकारी आर्थिक सहायता काफी ऊंची सतह पर रखी जाय तो पूर्ण साकारी आसानी से स्थापित की जा सकती है। परन्तु यदि थोड़े समय में सब बेकार मजदूरों को काम देना है तो इसके लिये श्रम की पूर्ण भ्रमणशीलता आवश्यक है। परन्तु पूर्ण साकारी के लिये जितनी भ्रमणशीलता आवश्यक होती है, वास्तव में श्रम में उतनी पाई नहीं जाती। इसलिये दो सहायक उपाय भी आवश्यक हो जाते हैं। पहला यह है कि सरकार को कुछ ऐसे काम करने चाहिये जिससे श्रम की भ्रमणशीलता या गतिशीलता बढ़े। यह काम श्रम एक्सचेंज (labour exchanges) स्थापित करके मजदूरों को अन्य कामों में शिक्षा देने की सुविधाएं देकर तथा ऐसे ही अन्य उपायों द्वारा किया जा सकता है। दूसरे उद्योगों के केन्द्रीयकरण अर्थात् स्थापन पर सरकार का नियन्त्रण होना चाहिये, जिससे किसी एक क्षेत्र में जनसंख्या अत्यधिक न होने पावे और जो कम उन्नत क्षेत्र हैं उनमें उद्योग और कारखाने स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये। जैसा कि लार्ड बीवरिज ने कहा है यातायात के इतने अधिक उन्नत साधनों का बोझ माल पर न डाल कर मनुष्यों पर डालना बुद्धिमानी नहीं है।

इस नीति के विरोध में कई प्रकार की आपत्तियां की गई हैं। सबसे बड़ी आलोचना यह है कि इस नीति से मुद्रा स्फीति बढ़ेगी। पूर्ण साकारी की इस स्थिति में ट्रेड

ऋणात्मक खर्च में कठिनाइयां

यूनियनों की शक्ति बहुत अधिक बढ़ जायगी और वे मजदूरी की मुद्रा दर इतनी अधिक बढ़ा सकते हैं कि उसका उत्पादन-शक्ति से कोई उचित अनुपात न रहेगा। अथवा पिछड़ी हुई आर्थिक व्यवस्था में जहां श्रम की राशि प्राप्त मात्रा उत्पादन के साधनों से अधिक है ऋणात्मक व्यय से उत्पादन उतना नहीं बढ़ेगा,

जितना कि बढना चाहिये। इसका एक परिणाम यह हो सकता है कि कीमतें बराबर बढ़ती जायगी और आर्थिक व्यवस्था पर इसका परिणाम भयानक होगा। बढती हुई मजदूरी की समस्या को वस्तुओ के मूल्य नियंत्रण द्वारा, अथवा रहन-सहन के खर्च को आर्थिक सहायता द्वारा दृढ रखकर, अथवा आय कर में वृद्धि करके हल किया जा सकता है। पिछड़ी हुई आर्थिक व्यवस्था में सरकार के हाथ में नियन्त्रण के वे सब अधिकार रहना आवश्यक हो सकते हैं, जो युद्धकाल में उसके हाथ में थे। एक आलोचना यह भी है कि लगातार ऋणात्मक व्यय सतरनाक होगा। जब व्यवसायी लोग देखेंगे कि काफी बड़ी मात्रा में सरकार ऋणात्मक व्यय करती जा रही है, तब उन्हें भविष्य में साख कमजोर होने का अथवा मुद्रा-स्फीति का अथवा करों के भार का डर हो सकता है। ये सब चीजें उन्नति की बाधक और पीछे खीचनेवाली हैं। सार्वजनिक अर्थात् सरकारी ऋणो की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण जो सकट और खतरे उत्पन्न हो जाते हैं उनकी ओर भी इशारा किया गया है। फिर इस नीति के अनुसार यह आवश्यक है कि जब सरकार देखे कि जनता की पूजी काफी मात्रा में व्यवसाय में आ रही है और अब सरकारी दखल की आवश्यकता नही है तब उस अपनी पूजी लगाना बन्द कर देना चाहिए। परन्तु प्रोत्साहन की आवश्यकता न रहने पर भी किसी भी प्रजातन्त्र सरकार के लिए सार्वजनिक कार्यों पर एकाएक पूजी लगाना बन्द कर देना सम्भव न होगा। सरकारी खर्च का उपयोग राजनैतिक रिश्वतों के रूप में भी किया जा सकता है और इस लालच को रोकना बड़ा कठिन होता है। उपयुक्त समय पर सरकारी निर्माण कार्य को रोकना बडी भारी कुशलता, ईमानदारी और साहस का काम है और ये सब बातें आसानी से नहीं मिलती।

चौवालीसवां अध्याय

मुद्रा-प्रबन्ध

(Monetary Management)

बाह्य और आन्तरिक दृढ़ता (External Vs. Internal Stability)— युद्ध के पहले स्वर्णमान का ध्येय विनिमय सम्बन्धी दृढता प्राप्त करना था। इसी दृष्टि से उसका नियन्त्रण और प्रबन्ध किया जाता था। विनिमय की दरें स्वर्ण (आयात-निर्यात) दरो के सकीर्ण दायरे के बीच में दृढ रखी जाती थीं और आन्तरिक कीमतों तथा लागतों के परिवर्तनों में मनचाहे रूप में परिवर्तन होने दिये जाते थे। इस बात में अब सन्देह नहीं किया जाता कि विनिमय की दरो की दृढ़ता के कारण ससार को बहुत

लाभ हुआ। उससे एक देश से दूसरे देश में बड़ी मात्रा में माल भेजने में बहुत सुविधा होती थी। उससे एक देश को पूंजी को दूसरे देश में लगाने का प्रोत्साहन मिला और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी की मात्रा में वृद्धि हुई। परन्तु ऐसे आलोचकों की भी कमी नहीं थी, जिन्होंने विनिमय की दृढ़ दरों की उपयोगिता में सन्देह किया और उनकी आलोचना की।

इन आलोचकों का कहना है कि विनिमय की दृढ़ता का बहुत मामूली-सा अर्थ होता है। उसका अर्थ केवल विनिमय की दरों की दृढ़ता होती है लेकिन उसका अर्थ देशी मुद्रा के विदेशी मूल्य की दृढ़ता नहीं होती। विदेशी व्यवसायी को वह विनिमय-दरों के मनमाने परिवर्तनों से अवश्य बचा देती है। लेकिन जो उत्पादक निर्यात के लिये उत्पादन करता है उसकी रक्षा वह नहीं करती क्योंकि न तो वह निर्यात कीमतों की दृढ़ता का आश्वासन देती है और न वह कीमतों और लागतों के बीच दृढ़ सम्बन्ध का आश्वासन देती है। जो व्यवसायी निर्यात के लिये उत्पादन करता है उसकी लागत देश की आन्तरिक परिस्थितियों पर निर्भर करती और अपने माल के लिये उसे जो मूल्य मिलेगा, वह संसार के मूल्य-समूह पर निर्भर करेगा। "विदेशी व्यवसाय का जो सिद्धान्त केवल दलाल या आढ़तिये के स्वार्थों पर ध्यान देता है, किन्तु देश के उत्पादक के स्वार्थों की रक्षा की तरफ ध्यान नहीं देता वह सिद्धान्त बहुत ही संकीर्ण है।" फिर एक बात यह भी है कि यदि विनिमय की दर में दृढ़ता रही तो अन्य देशों में जो गड़बड़ी होगी, उसका हानिकारक प्रभाव हमारे देश की व्यवस्था पर भी पड़ेगा। यदि अमेरिका में कोई राजनैतिक गड़बड़ी होती है, तो उसका आर्थिक प्रभाव तुरन्त भारत पर पड़ता है। इसलिये अच्छा यह होगा कि हम ऐसी नीति ग्रहण करें, जिससे देश की आन्तरिक कीमतों में दृढ़ता रहे। विनिमय की दरों की परवाह हमें नहीं करनी चाहिये।

बाह्य दृढ़ता की नीति के दोष

परन्तु इस प्रकार कहने से यह समस्या और भी जटिल हो जाती है। "इन दो उपायों में से किसी एक को नितान्त आवश्यक बतलाना न केवल बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहना है, बल्कि गलत कहना है।"[1] यदि देश की आन्तरिक आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन होते हैं, तो विनिमय की दरों की दृढ़ता अधिक समय तक नहीं बनी रह सकती। सन् १९३० के बाद स्वर्णमान का जो पूर्ण पतन हुआ, उसने इस बात को अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया। इसी प्रकार यदि विनिमय की दरों में बड़े-बड़े परिवर्तन होते हैं, तो केवल आन्तरिक कीमतों की दृढ़ता प्राप्त करने में सफलता नहीं मिल सकती। जो देश विदेशी व्यवसाय और विदेशों में पूंजी लगाने में कोई भाग नहीं लेता, केवल वह एक के बिना दूसरे को प्राप्त कर सकता है। जब कोई देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय में एक अच्छी

१ The Future of Monetary Policy. p. 116.

मात्रा में भाग लेना है, तो विनिमय की दर में अस्थिरता होने से उस देश में आन्तरिक मूल्य सतह में भी अस्थिरता आवेगी। इसमें केवल यह शर्त है कि देश का मूल्य-सतह निश्चित करने में आयात मूल्यों का काफी भाग रखना चाहिये। इसलिये व्यापक रूप में दोनों प्रकार की स्थिरता एक दूसरे पर निर्भर है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ अवसरों पर दोनों प्रकार की स्थिरताओं में आपस में संघर्ष हो सकता है (जैसे कि युद्ध और क्रान्ति के समय में अल्पकालीन पूंजी के अबाधारण आवागमन में इत्यादि) मुद्रा-नीति का उद्देश्य इन दोनों प्रकार की नीतियों में अधिक से अधिक साम्जस्य स्थापित करना होना चाहिये। लेकिन केवल बाह्य दृढ़ता पर बहुत अधिक जोर नहीं देना चाहिये। अधिकाधिक जोर ऐसी नीति स्थिर करने पर देना चाहिये जिससे आन्तरिक कीमतों और लागतों में दृढ़ता उत्पन्न हो सके।

मुद्रा के उद्देश्य और कीमतें (Monetary Aims and Prices)–यदि यह मान लिया जाय कि हमारा उद्देश्य आन्तरिक कीमतों का उचित प्रबन्ध करना होना चाहिये तो अगला प्रश्न यह उठता है कि कीमतों की गति कैसी होनी चाहिये? फिलहाल हम इस प्रश्न को छोड़ देते हैं कि क्या हम वास्तव में कीमतों का नियन्त्रण कर सकते हैं? मान लो हम नियन्त्रण कर सकते हैं। तो फिर हमें कीमतें कैसी रखनी चाहिये। दृढ़, उठती हुई या गिरती हुई?

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में मार्शल ने लिखा था कि गिरता हुआ मूल्य-सतह अच्छा होगा। बढ़ती हुई कीमतों के काल में भविष्य के संकट के बीज छिपे रहते हैं। इसी काल में ऐसे कार्य होते हैं जिनके फलस्वरूप आगे मंदी आती है और आर्थिक व्यवस्था को उसके कुपरिणाम भुगतने पड़ते हैं। इसलिये मार्शल ने गिरती हुई कीमतों का समर्थन किया। परन्तु सन् १९१४ के पहले जो प्रचलित मत था वह निम्न दो में से किसी एक बात का समर्थन करता था—या तो मूल्य-सतह धीरे-धीरे उठती हुई होनी चाहिये या दृढ़ होनी चाहिये। अधिकांश लेखक दृढ़-मूल्य-सतह के पक्ष में थे।

धीरे-धीरे उठती हुई मूल्य-सतह (A Gently Rising Price-level)–क्रमशः उठती हुई मूल्य सतह का समर्थन इसलिये किया जाता है कि उससे व्यवसाय को बहुत समर्थन मिलता है। जब कीमतें बढ़ती हैं, तब उत्पादकों के खर्च उतने नहीं बढ़ते, जितनी कि कीमतें। सभी जानते हैं कि मजदूरी की दर धीरे-धीरे कीमतों के पीछे-पीछे चलती

लाभ

है। इसलिये इस समय व्यवसायी लोग बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं। अधिक लाभ की आशा में व्यवसायी लोग अधिक माल उत्पादन करने का प्रयत्न करेंगे। इसलिये बढ़ती हुई कीमतों के समय अधिक मजदूरों को काम मिलेगा, जो अन्यथा नहीं मिलता। "बढ़ती हुई कीमतों के समय में सरकारी बेकार गृह (work houses) और बेकारों के नाम दर्ज करनेवाले रजिस्टर खाली हो जाते हैं तथा कारखानें मनुष्यों से भर जाते

है। अच्छा यही होगा कि सब लोग काम में लगे रहें चाहे कुछ लोग महँगाई के कारण भले ही भुनभुनाते रहें। यह ठीक नहीं कि कुछ लोग आराम से मस्ती में रहें और कुछ सड़कों पर भूखों मरें।

इस कथन में काफी सत्य है, परन्तु इस नीति के ग्रहण करने में जो कठिनाइयाँ होंगी उन पर भी हमें विचार करना चाहिए। इस नीति के समर्थन में जो दलील दी जाती है वह इस अनुमान पर आधारित है कि तेजी में उत्पादन कार्य करने के लिए व्यवसायियों को कुछ अतिरिक्त लाभ या प्रोत्साहन मिलना आवश्यक है। यदि मूल्यों में स्थिरता हो तो इसका मतलब यह नहीं कि व्यवसायियों को उपयुक्त प्रोत्साहन नहीं मिलेगा। विभिन्न उद्योगों में जो तेजी-मंदी होती रहती है उसमें प्रायः पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता रहना चाहिए। इसके सिवा इस नीति का अर्थ यह होगा कि बढ़ती हुई कीमतों के कारण जो लाभ होंगे उनमें व्यवसाय की प्रतिद्वंद्विता में अयोग्य व्यवसायी भी अपना काम सफलतापूर्वक चलाने लगेंगे। व्यवसायियों पर अपनी पूर्ण योग्यता के अनुसार काम करने का कोई दबाव नहीं रहेगा। एक खतरा यह भी है कि बड़े-बड़े लाभों की आशा से उत्पादक वस्तुओं का अत्यधिक उत्पादन होगा और सट्टा काफी होगा जिससे तेजी आयेगी। यदि ऐसा होता है और ऐसा होने की पूर्ण सम्भावना है तो फिर मंदी अवश्य आयेगी और हमें उसका सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए। जब हम मंदी के परिणामस्वरूप धन की हानि और बेकारी पर विचार करते हैं तो हमें सन्देह होने लगता है कि बढ़ती हुई कीमतों से वास्तव में फायदा होता है या नहीं। अन्त में सामाजिक न्याय (social justice) की विषम समस्या का भी प्रश्न उठता है। बढ़ती हुई कीमतों के काल में मजदूर-पेशा लोगों की वास्तविक आय का मूल्य कम हो जाता है। ब्याज, लगान आदि वर्ग की गत आय का भी मूल्य कम हो जाता है। तब क्या यह उचित है कि व्यवसायियों के लाभ या हित की रक्षा के लिए इन वर्गों को लगातार हानि ही सहनी पड़े?

त्रुटियाँ

स्थिर मूल्य सतह (A Stable Price level)—स्थिर मूल्य-सतह का अर्थशास्त्री बहुत अधिक समर्थन करते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि यह नीति बहुत सरल है और जल्दी समझ में आ जाती है। गत कुछ वर्षों में हम अस्थिर मूल्यों के कुपरिणामों का इतना अधिक अनुभव हुआ है कि उसको देखते हुए स्थिर मूल्यों का लाभ बतलाना बिलकुल फिजूल-सा लगता है। दूसरे यह कहा जाता है कि अधिक व्यापक दृष्टि से भी इस नीति का समर्थन किया जा सकता है। मुद्रा मूल्य का मापक है और सब मापों की तरह उसका मूल्य भी दृढ़ या स्थिर होना चाहिए। पाउंड वजन का एक माप होता है और हम इसे स्वयंसिद्ध समझते हैं कि उसका वजन हमेशा एक सा रहना चाहिए। इसी प्रकार मुद्रा

---

१ Robertson Money p 139

के माप का मूल्य भी हमेशा एक-सा रहना चाहिये । तीसरे, यह कहा जाता है कि व्यवसाय-चक्र के मूल्यों में बडे-बडे परिवर्तन होते है । व्यवसाय-चक्र के कारण चाहे मुद्रा से सम्बन्ध रखते हो या न रखते हों, परन्तु यह बात बहुत अधिक सम्भव दिखती है कि मूल्यों के दृढ रहने से व्यावसायिक कार्यों में अत्यधिक परिवर्तन न होंगे । अन्त में इस नीति से साहूकारो तथा ऋण दाताओं और मजदूर-पेशा तथा मालिकों के बीच न्यायपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा ।

इस नीति की आलोचना के रूप में कभी-कभी यह कहा जाता है कि दृढ मूल्य सतह से व्यवसायियो को उपयुक्त प्रोत्साहन न मिलेगा । परन्तु कीमतो की दृढता का अर्थ बिलकुल स्थिरता या यथास्थिति नहीं है । विभिन्न उद्योगो में तजी-मदी होनी ही रहेगी । फिर इसका मतलब कीमतो की पूर्ण स्थिरता नही है । कीमतो में थोडी बहुत घटी बढी तो हमें स्वीकार करनी ही पडेगी । सूचक अको के आसपास थोडे बहुत परिवर्तन तो होगे ही और इनमे व्यवसायियो को उपयुक्त प्रोत्साहन मिलना चाहिये ।

इस नीति की कठिनाइया

यद्यपि यह नीति बहुत सरल है, फिर भी मूल्यों की दृढता स्थापित करने में कई प्रकार की कठिनाइया आती है । मूल्य-सतह कई प्रकार की होती है, जैसे फुटकर मूल्य सतह, थोक मूल्य-सतह इत्यादि । यदि हम मुद्रा का मूल्य दृढ रखना चाहते है, तो फुटकर मूल्यो को दृढ रखना आवश्यक है । परन्तु यह सम्भव नही है । हमें पूरे-पूरे आकडे प्राप्त नही रहते, जिससे कि हम फुटकर मूल्यों का सतोषप्रद सूचक अक बना सकें । एक कठिनाई यह भी है कि एक ही नाम की वस्तुओ के गुण भिन्न भिन्न समयो पर बदलते रहते है । फिर बाजार में नई-नई वस्तुए आती रहती है और पुरानी गायब होती रहती है । इन कठिनाइयो के कारण थोक मूल्य के सूचक अक को दृढ रखने की सलाह दी जाती है । परन्तु इस प्रकार का सूचक अक भी कुछ चुनी हुई वस्तुओ के सम्बन्ध में सम्भव हो सकता है । परन्तु इसमें एक खतरा है । मान लो, ६० वस्तुए चुन ली जाती है और उनके मूल्य दृढ रखे जाते हैं । अन्य वस्तुओ के मूल्यों में परिवर्तन होने दिया जायगा, तब इन चुनी हुई वस्तुओं में पूजी लगाना अधिक सुरक्षित होगा, क्योंकि इन वस्तुओ की कीमतो में अस्थिरता होने का खतरा नही रहेगा और अन्य वस्तुओ में पूजी लगाना उतना सुरक्षित नही रहेगा । इसलिये चुनी हुई वस्तुओ में पूजी लगाने की प्रवृत्ति अधिक देखी जावेगी और अन्य वस्तुओ के उत्पादन में लगी हुई पूजी कम होने की प्रवृत्ति दिखावेगी । इस तरह पूजी लगाने की दिशा बदल सकती है । इसलिये इस प्रकार के सूचक अक की दृढता वास्तविक आर्थिक दृढता का आश्वासन नही दे सकती । एक अधिक विचार पूर्ण और मौलिक आलोचना यह है कि दृढ-मूल्यों की नीति का अर्थ यह नही हो सकता कि मुद्रा स्फीति और मुद्रा-सकुचन न होंगे । जिस देश में उद्योग सम्बन्धी तरह-तरह के आविष्कार होते रहते है, उसमे उत्पादन वृद्धि के साथ-साथ मूल्यों में अपने आप कमी होती

चाहिए। परन्तु यदि कीमतें दृढ और स्थिर रखी जायगी तो व्यवसायी अत्यधिक लाभ प्राप्त करने लगेंगे उत्पादक पूंजी में अत्यधिक वृद्धि होगी और अन्त में मंदी के कारण सब आर्थिक ढांचा अस्त व्यस्त हो जायगा। सन १९२९ के पहले संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में यही हुआ। इस काल में फेडरल रिजर्व बोर्ड ने कीमतें लगभग स्थिर और दृढ रखी। परन्तु अमेरिका में उत्पादन तेजी से बढ़ रहा था। फल यह हुआ कि व्यवसायियों ने बहुत लाभ प्राप्त किये। स्टाक एक्सचेंज में बड़ी तेजी आई और फिर एकदम से मंदी आई और कीमतें धराशायी हो गईं। इसके विपरीत यह भी सम्भव है कि कीमतें मजबूत रहें और गिरने के बजाय गोदामों में माल जमा होता जाय या उत्पादन कम होता जाय। सिद्धान्त के रूप में हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि एक बहुत बड़ी मंदी की परिस्थिति आ सकती है जिसमें कि कीमतें तो मजबूत रहेंगी परन्तु कीमतें गिरने के सब परिणाम अपने बड़े से बड़े रूप में प्रकट होंगे।[1] इसलिये मजबूत या दृढ कीमतों से न तो दृढ बाजारी की स्थिति का आश्वासन मिलता है और न उपभोग का।

तटस्थ मुद्रा (Neutral Money)—मजबूत कीमतों के दोषों को देखते हुए कुछ वर्ष पहले मि० हेक (Hayek) ने एक सुझाव रखा था कि आदर्श मुद्रा नीति वह है जो मुद्रा से सम्बन्ध न रखने के प्रभावों की क्रिया में कम से कम दखल देती है। मान लो मुद्रा का चलन नहीं है केवल वस्तु विनिमय की प्रणाली का चलन है। तब वस्तु विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओं के बीच में विनिमय के अनुपात निश्चित किये जायेंगे। मुद्रा-नीति ऐसी होनी चाहिये कि मुद्रा का माध्यम होने पर भी विनिमय के अनुपात वही रहने चाहिये। मुद्रा प्रचलन में वह स्थिति भ्रष्ट नहीं होनी चाहिये जो कि वस्तु विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत होती। अर्थात् दूसरे शब्दों में मुद्रा को कीमतों पर प्रभाव डालने में तटस्थ रहना चाहिये।

मुद्रा को तटस्थ रहना चाहिये

मि० हेक के मतानुसार यह उद्देश्य कीमतों की मजबूती द्वारा नहीं बल्कि मुद्रा की जो मात्रा चलन में है उसकी मजबूती द्वारा पूरा हो सकता है। यदि प्रभावपूर्ण मुद्रा (effective money) की पूर्ति स्थिर रखी जावे तो मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने पर भी विनिमय के 'वास्तविक' अनुपातों में कोई भ्रष्टता नहीं होने पावेगी। तब मूल्य-स्तर उत्पादन शक्ति के विपरीत अनुपात में बदलेगी। उत्पादन कला सम्बन्धी आविष्कारों अथवा उत्पादन के नये प्राकृतिक साधनों की प्राप्ति के कारण यदि उत्पादन प्रणाली की योग्यता बढ़ जाती है तो उसमें उत्पादन की लागत प्रति इकाई पीछे कम हो जायगी। यदि मुद्रा की मात्रा स्थिर रखी जाती है तो कीमतें भी गिरेंगी

---

१ The Future of Monetary Policy, p 58

और लाभ की मात्रा में कोई विस्तार नहीं होगा। परन्तु, यदि युद्ध इत्यादि के कारण सम्पत्ति की क्षति होती और उत्पादन-शक्ति कम होती है, तो कीमतें बढ़ेंगी। जनसंख्या में होनेवाले परिवर्तनों से भी कीमतों में परिवर्तन होते हैं। जनसंख्या में वृद्धि होने से कीमतें घटेंगी और जनसंख्या में कमी होने से कीमतें बढ़ेंगी। ध्यान रहे कि इस नीति के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा सब परिस्थितियों में स्थिर नहीं रखी जायगी। इसका अर्थ केवल इतना है कि सिर्फ 'प्रभावपूर्ण' मुद्रा की मात्रा स्थिर या निश्चित रखनी चाहिये। इस प्रकार जब मुद्रा की चलन का वेग कम हो जायगा तो मुद्रा की मात्रा बढ़ जायगी। जब उत्पादन काल में उत्पादन की विभिन्न क्रियाओं की संख्या बढ़ जाती है, तब भी मुद्रा की मात्रा बढ़ जायगी।[1]

मूल्य-स्तर का उत्पादन शक्ति के विपरीत अनुपात में बदलना

मूल्य-स्तर उत्पादन शक्ति के विपरीत अनुपात में परिवर्तित होने के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। इसका अर्थ यह होगा कि गिरती हुई कीमतों के रूप में ऋणदाता तथा पूँजी लगानेवाले वर्गों को उन्नति का अंश अपने आप प्राप्त हो जायगा। इसके सिवा मजदूरी पेशा लोगों को वास्तविक मजदूरी ऊँची दर पर मिलेगी "और इसके लिये उन्हें बार-बार मुद्रा के रूप में मजदूरी बढ़ाने की माँग न करनी पड़ेगी और इस प्रकार की माँगें ऐसी होती हैं कि चाहे उनमें काम बन्द हो या न हो परन्तु व्यक्तियों के आपस के सम्बन्ध कटु हो जाते हैं और रचनात्मक नेतृत्व की शक्तियाँ व्यर्थ खर्च हो जाती हैं।"[2]

इस नीति की कठिनाइयाँ

परन्तु इस नीति को व्यावहारिक रूप में बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। मुद्रा की प्रभावपूर्ण पूर्ति को स्थिर रखने के लिये मुद्रा की मात्रा को चलन के वेग में परिवर्तन होने पर अथवा व्यवसायों की व्यवस्था में परिवर्तन होने पर परिवर्तित करना पड़ेगा। परन्तु केन्द्रीय बैंक यह कब जानेगा और कैसे जानेगा कि मुद्रा के चलन के वेग में कितना परिवर्तन हुआ? अथवा विभिन्न फर्मों का एकीकरण या पृथक्करण कब, कैसे और कितना हुआ? इस नीति की सफलता के मार्ग में ये बाधाएँ वास्तविक और बहुत बड़ी हैं। जब हम बढ़ती हुई उत्पादन शक्ति पर विचार करते हैं, तब एक नई मौलिक कठिनाई उत्पन्न होती है। इस नीति के अन्तर्गत लागत-खर्च जैसे-जैसे कम किये जायगे वैसे-वैसे कीमतें गिरेंगी। इसके लिये एक आवश्यक शर्त यह है कि कीमतें एकाधिकार के अस्वाभाविक वातावरण में न पनपती हों। यदि कुछ कीमतों पर एकाधिकारी नियंत्रण है और वे गिरने से रोक दी जाती हैं, तो अन्य कीमतों में और अधिक गिरावट आव-

---

१ Hayek. Prices and Production, p 124.

२ Robertson. Money, p. 136.

श्यक है, जिससे कि औसत कीमतें औसत लागतों के बराबर रहें। तब इन अन्य उद्योगों में बड़े लम्बे समय तक मंदी रहेगी। आवश्यकता इस बात की है कि वस्तुओं की कीमतों में गिरावट के अनुसार अन्य सब लागतों की कीमतें भी उसी अनुपात में गिरनी चाहिये। परन्तु यह मान लेना कि मजदूरी की दर, लगान या ब्याज की दरों में कीमतों में होनेवाले परिवर्तनों के अनुसार परिवर्तन स्वतन्त्रतापूर्वक किये जा सकते हैं सब कठिनाइयों को एक मात्र इस कल्पना के समान होगा। इसका अर्थ यह होगा कि इस सम्बन्ध में कोई कठिनाइयाँ हैं ही नहीं। अर्थात् ब्याज की निश्चित दर सम्बन्धी कोई कठिनाई नहीं मजदूरी की दर के नियंत्रण सम्बन्धी कोई समस्या ही नहीं है और यदि आर्थिक व्यवस्था इतनी लचीली और परिवर्तनशील है तब एक मुद्रा नीति उतनी ही अच्छी होगी जितनी कि कोई दूसरी।

इन परस्पर विरोधी मतों को देखते हुए यह कहना कठिन है कि उपयुक्त मुद्रा नीति क्या होगी। परन्तु कम से कम एक बात पर अर्थशास्त्रियों का मत है—वह यह कि जहाँ तक सम्भव हो व्यवसाय को असाधारण परिवर्तनों से बचाना चाहिये और जहाँ तक आर्थिक व्यवस्था पर केवल मुद्रा के प्रभाव का सम्बन्ध है वहाँ तक कीमतों में कुछ मजबूती या दृढ़ता लाना ही उद्देश्य होना चाहिये। यह बात अवश्य है कि यदि उत्पादन क्रिया में बड़े परिवर्तन होते हैं तो आवश्यकता होने पर कीमतों में भी उचित परिवर्तन होने चाहिये।

पैंतालीसवां अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

(International Currency Fund)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्बन्धी प्रस्ताव (International Currency Proposals)—हम देख चुके हैं कि विश्वव्यापी महान व्यावसायिक मंदी के समय में सब देशों को या तो विवश होकर या अपनी रक्षा के लिये स्वर्णमान छोड़ना पड़ा। उसके बाद के वर्षों में आर्थिक जगत में एक अस्तव्यस्तता का समय आया, जिसमें अस्थिर विनिमय की दर, ऊँचे संरक्षक कर, मुद्रा के मूल्य में गिरावट तथा समझौतों के आधार पर व्यवसाय विनिमय (quotas) की भरमार रही। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की मात्रा में लगातार कमी होने लगी। लोग इस बात को महसूस करने लगे कि युद्धोत्तर काल में विभिन्न देशों के बीच में होनेवाले व्यवसाय को यदि विभिन्न प्रकार के बन्धनों से

मुक्त नहीं किया गया तो युद्ध में क्षत-विक्षत देशों का पुनर्निर्माण अच्छी तरह नहीं हो सकता और यह तब तक सम्भव नहीं था, जब तक कि विभिन्न देशों के बीच विनिमय की दरें दृढ़ नहीं रखी जातीं। लेकिन युद्ध के पहले जैसा स्वर्णमान था और उसके विनिमय की दर जिस प्रकार बेलोचदार और कड़ी थी, उसका फिर से स्थापित करना उपयुक्त नहीं समझा जाता था। एक अपेक्षाकृत लोचदार आर्थिक व्यवस्था के लिये वह मान बहुत ही संकुचित समझा जाता था। एक ऐसी नई व्यवस्था की आवश्यकता थी, जिसमें प्रत्येक देश अपनी आर्थिक व्यवस्था के प्रबन्ध और नियन्त्रण में काफी स्वतन्त्रता रख सके। जैसे-जैसे युद्ध समाप्त होने की सम्भावना दिखने लगी, वैसे-वैसे लोग इस बात को महसूस करने लगे कि सबसे पहले अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्बन्धी पुनर्निर्माण की समस्या हल होनी चाहिये। अमेरिका और इंग्लैण्ड के विशेषज्ञों ने इस समस्या पर एक वर्ष से अधिक तक वाद-विवाद किया। दोनों देशों के विशेषज्ञों ने अपनी-अपनी मुद्रा-सम्बन्धी योजनाएं एक दूसरे के विचाराधीन रखीं। ब्रिटेन की योजना कीन्स योजना (Keynes Plan) कहलाती थी और अमेरिका की योजना (White Plan)। विशेषज्ञों के विचार विमर्श के परिणामस्वरूप एक तीसरी योजना बनी और जुलाई सन् १९४४ में अमेरिका के ब्रेटन वुड्स नामक स्थान में राष्ट्रसंघ के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन ने थोड़े-से रद्दोबदल के पश्चात् इस तीसरी योजना के प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया और उन्हें विभिन्न देशों की सरकारों के पास स्वीकृति के लिये भेजा।

ब्रेटन वुड्स का मुद्रा समझौता दो भागों में बटा है। पहले भाग का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से है। दूसरे का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण से है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य वे देश होंगे, जो राष्ट्रसंघ के सदस्य हैं और जो उस समझौते को स्वीकार करते हैं। इस कोष के स्थापित होने की एक शर्त यह थी कि इसे स्वीकार करनेवाली सरकारें जब कुल स्वीकृत पूंजी का ६५ प्रतिशत भाग इकट्ठा कर लेंगी, तब यह कोष स्थापित होगा। इसे स्वीकार करने की अवधि दिसम्बर सन् १९४५ के अन्त तक रखी गई थी। कोष की कुल पूंजी ८,८०,००,००'००० डालर होगी और इसे सदस्य देश देंगे। प्रत्येक देश का भाग समझौते में निश्चित कर दिया गया। अमेरिका का भाग २,७५,००,००,००० डालर है, ब्रिटेन का १,३०,००,००,००० डालर, रूस का १,२०,००,००,००० डालर, चीन का ५५,००,००,००० डालर, फ्रान्स का ४५,००,००,००० डालर और भारत का भाग ४०,००,००,००० डालर रखा गया है। प्रत्येक देश अपने भाग का कम से कम २५ प्रतिशत भाग सोने में अथवा अपने भाग का १० प्रतिशत सोने और डालर में, जो भी कम हो, देगा। अपने भाग का बाकी अंश वह अपने देश की मुद्रा में दे सकता है।

बहुत बड़ी मात्रा में उधार बाकी जमा कर सकता है। तब कोष के अधिकारी उस देश की अनुमति लेकर उसकी मुद्रा उधार ले सकते हैं। अथवा किसी अन्य जरिये से (उस देश की अनुमति से) उधार ले सकते हैं। अथवा सोने के बदले उस देश की मुद्रा खरीद सकते हैं। यदि इन उपायों से काम नहीं चलता तो कोष एक रिपोर्ट प्रकाशित करेगा और उसमें उस मुद्रा के प्राप्य न होने के कारण बतलावेगा और साथ ही यह सिफारिश करेगा कि उस मुद्रा में काम और भुगतान न होना चाहिये। जिस मुद्रा की कमी होती है और प्राप्ति में कठिनाई होती है कोष उसके राशन करने का प्रबन्ध कर सकता है और दूसरे सदस्यों को अनुमति दे सकता है कि उस मुद्रा में केवल सीमित मात्रा में भुगतान करें। सम्भव है कि उन उपायों द्वारा ऋणदाता देश अधिक उदार हो जावे और अपनी मुद्रा अधिक मात्रा में देने लगे।

कोष की ये स्थायी धाराएं हैं। अन्तरिम काल के लिये भी कुछ धाराएं निर्धारित की गई हैं। अन्तरिम काल की अवधि तीन से लेकर पांच वर्ष तक रखी गई है। इस अन्तरिम काल में सदस्य देश विनिमय सम्बन्धी अपनी विशेष शर्तें, मुद्रा सम्बन्धी अपनी विशेष व्यवस्था समझौता इत्यादि रख सकते हैं। लेकिन अन्तरिम काल के बाद ये सब बन्धन और शर्तें छोड़ देनी पड़ेंगी।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की व्यवस्था इस अभिप्राय से की गई है कि विनिमय की दरों को दृढ़ता प्राप्त हो सके और उन्हें एकदम सख्त या बेलोचदार भी न बनाना पड़े। इस हद तक यह व्यवस्था युद्ध के पहले की स्वर्णमान की व्यवस्था से अच्छी है। अब प्रश्न उठता है कि इस योजना में स्वर्ण का स्थान

इस योजना में स्वर्ण का स्थान

क्या है? यद्यपि यह कोष स्वर्णमान के समान नहीं है, तथापि इस योजना में स्वर्ण का स्थान काफी महत्वपूर्ण है। इस कोष का उद्देश्य स्वर्ण को एकदम स्थानच्युत करना नहीं है। प्रत्येक देश को कोष में अपने भाग की पूंजी का २५ प्रतिशत या तो सोने के रूप में देना पड़ता है या अपने सरकारी सोने के भाग का १० प्रतिशत डालर में। प्रारम्भिक समता या तो अमेरिकन डालर या स्वर्ण की दर में ही की जायगी। अर्थात् स्वर्ण सर्वमान्य सूचक रहेगा। तीसरे जब कोष को कोई दुष्प्राप्य मुद्रा की काफी मात्रा नहीं मिलेगी तो वह उसे सोना देकर खरीद सकता है। इस प्रकार इन धाराओं द्वारा तथा इसी प्रकार की अन्य धाराओं द्वारा यह बात साफ जाहिर हो जाती है कि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का अन्तिम साधन सोना ही है। इस प्रकार स्वर्ण का स्थान अब भी प्रमुख है। यद्यपि अब वह राजा नहीं है, और साथ ही अब उसके हानिकारक प्रभाव भी छीन लिये गये हैं। यद्यपि विनिमय की दरें अब भी सोने में ही जाहिर की जावेंगी, परन्तु ये दरें अब लोचदार हैं और आवश्यकतानुसार समय-समय पर बदली जा सकती हैं। इस कोष में विभिन्न देशों की मुद्राओं का संग्रह होता है और सोने

के बदले अब इस संग्रह द्वारा देशो का आपस के लेन देन का भुगतान हो सकता है।

दूसरे भाग मे अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक स्थापित करने की योजना है। इस प्रकार के बैंक की आवश्यकता इसलिये हुई कि युद्ध के कारण सब देशो को बडी क्षति उठानी पडी है तथा उन्हें पुनर्निर्माण और विकास के लिये बडी मात्रा मे पूजी की आवश्यकता पडेगी। इसलिये यह आवश्यक है कि धनी देशो से गरीब देशो में पूजी पहुचे। यह भी जाहिर है कि केवल सयुक्तराष्ट्र अमेरिका ही ऐसा देश है जो आवश्यक पूजी दे सकता है। दो महायुद्धो के बीच के वर्षों में विदेशों में पूजी लगानेवाले अमेरिका के लोगो को इतना नुकसान हुआ कि इस बात का डर था कि शायद अब वे विदेशो मे पूजी लगाने को तैयार न हों। इस बैंक के द्वारा इस प्रकार की कठिनाई को हल करने का प्रयत्न किया गया है। इस बैंक का प्रधान काम यह रहेगा कि जो लोग ऋणो मे अपनी पूजी लगावेंगे उनकी सुरक्षा का आश्वासन वह देगा। बैंक स्वय ऋण नही देगा। वह ऋण देनेवाले लोगो को केवल यह आश्वासन देगा कि उनकी पूजी खतरे में नही पडेगी, बल्कि सुरक्षित रहेगी। इस प्रकार एक विदेश को इस बैंक के जरिये उचित ब्याज पर पूजी मिलनी सभव हो जायगी। बैंक की अधिकृत पूजी (authorised capital) दस अरब (१० ०००,०००,०००) डालर रहेगी। इसको एक लाख हिस्सो में बाटा जायगा और बैंक के सदस्य इन हिस्सो को लेंगे। काम आरम्भ करने के लिये बैंक प्रारम्भ में २० प्रतिशत पूजी एक बार में अथवा थोडी-थोडी करके जमा करेगा। बाकी ८० प्रतिशत बाद में आवश्यकतानुसार जमा की जायगी। हिस्सेदारो को पूजी का २ प्रतिशत भाग सोने मे अथवा अमेरिकन डालर मे देना पडेगा। बैंक के उद्देश्य देशो को आर्थिक पुनर्निर्माण के लिये पूजी देना ससार के साधनो का पुन वितरण करके उनकी मुद्रा प्रणाली तथा साख को मजबूत बनाना इत्यादि है। बैंक का काम केवल सरकारो तथा उनके एजेन्टो के साथ होगा। बैंक जितने ऋणो की जिम्मेवारी लेगा, उनके साथ निम्नलिखित शर्तें लगी रहेगी। जो सदस्य देश ऋण लेगा उसकी सरकार ब्याज तथा मूलधन देने की जिम्मेदारी लेगी। चूकि बैंक कुछ खतरा लेगा, इसलिये उसे कुछ मिलना चाहिये। इसी प्रकार की अन्य कुछ शर्तें हैं।

बैंक अन्तर्राष्ट्रीय ऋणो का इतनी काफी मात्रा में प्रबन्ध करेगा कि उससे पुनर्निर्माण की आवश्यकताए पूरी हो सकें। इस सम्बन्ध में बैंक बहुत महत्त्वपूर्ण काम कर सकता है। उसकी सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि साहूकार देश, विशेषकर सयुक्तराष्ट्र अमेरिका, माल अथवा सेवाओं का ऋण देते समय बैंक के जरिये काम करेंगे और उसकी सेवाओं का उपयोग करेंगे।

छियालीसवां अध्याय

राजकीय अर्थ व्यवस्था क्या है—

(The Nature of Public Finance)

राजकीय अर्थ-व्यवस्था अर्थशास्त्र का वह भाग है जो शासन सम्बन्धी संस्थाओं के आय व्यय की विवेचना करता है। वह उन सार्वजनिक संस्थाओं के आय-व्यय का अध्ययन करता है जो देश की सरकार अर्थात शासन का अंग हैं।

राज्य अर्थ-व्यवस्था अर्थशास्त्र का एक अंग है। अर्थशास्त्र की तरह मनुष्य का अध्ययन वह भी समाज के एक सदस्य की दृष्टि से करता है। अर्थशास्त्र की अन्य शाखाओं की तरह इस शाखा का उद्देश्य कम से कम खर्च से अधिक से अधिक आर्थिक कल्याण प्राप्त करना है। यह बात बहुत पहले स्वीकार की जा चुकी है कि राज्य अर्थ व्यवस्था अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण अंग है और उसका अध्ययन आवश्यक है। प्रारम्भ में अर्थशास्त्र को राजनैतिक अर्थशास्त्र (political economy) कहा जाता था। इसका संकेत प्राचीन नगर राज्यों के आय-व्यय के प्रबन्ध से था।

राजकीय और निजी अर्थ-व्यवस्था (Public and Private Finance)—मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि निजी और राज्य की अर्थ-व्यवस्था का प्रबन्ध लगभग एक ही प्रकार के सिद्धान्तों के आधार पर होता है। लेकिन फिर भी दोनों में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर हैं। बहुधा सबसे बड़ा अन्तर यह बतलाया जाता है कि लोग तो अपनी आय के अनुसार खर्च करते हैं परन्तु सरकार अपने खर्च के अनुसार आय करती है। एक कहावत है कि 'तेते पांव पसारिये जेती चादर होय।' जितनी चादर हो, उतना ही पांव पसारना चाहिये। लोग प्रायः ऐसा ही करते हैं परन्तु सरकार पहले यह निश्चय कर लेती है कि कितना पांव पसारना है और तब उसके अनुसार चादर प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। लेकिन इस कथन में कुछ अतिशयोक्ति भी है। कभी-कभी ऐसे मौके भी आते हैं जब आदमी अपने खर्च के अनुसार अपनी आय करने की कोशिश करता है। मान लो, एक आदमी विवाह करने का निश्चय करता है, तब उसके गृहस्थ जीवन का खर्च बढ़ जायगा और वह अपनी आय बढ़ाने की कोशिश करेगा। इसी प्रकार एक व्यक्ति की तरह सरकार भी अपनी आय के अनुसार खर्च करने का निश्चय करती है। मंदी के समय में जब आय कम हो जाती है, तब सरकार भी अपना खर्च कम करने का प्रयत्न करती है, जिससे उसका व्यय आय के अन्दर ही रहे। इसलिये निजी और सरकारी आय व्यय में जो अन्तर है उसे बढ़ा-चढ़ाकर नहीं देखना चाहिये। फिर भी

यह बात सत्य है कि दोनों की प्रकृति में कुछ अन्तर अवश्य है। यह बात तब अच्छी प्रकार समझ में आ जायगी, जब हम देखेंगे कि एक व्यक्ति अपनी आय और व्यय में किस प्रकार सन्तुलन या सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। यदि किसी व्यक्ति के लिये किसी वर्ष अधिक खर्च करना आवश्यक हो जाय तो वह दो में से एक किसी प्रकार पूरा करने का प्रयत्न करेगा। या तो वह अधिक धन उपार्जित करने का प्रयत्न करेगा या वह ऋण लेगा। ऐसी परिस्थिति में सरकार भी दो में से कोई एक या दोनों तरीकों से काम लेगी। लेकिन यहा एक अन्तर देखने में आता है। सरकार या तो बाहरी लोगों से (अर्थात् विदेशों से) कर्ज ले सकती है या स्वय अपने लोगों से (अर्थात् देश में ऋण लेगी।) अथवा वह देश में ही अधिक कागजी मुद्रा छापेगी। लेकिन एक व्यक्ति अन्य लोगों से ही ऋण ले सकता है। न तो वह स्वय अपने से ऋण ले सकता है और न अपनी मुद्रा (I. O U.'s legal tender) बना सकता है।

निजी और सरकारी खर्च में एक अन्तर और है। साधारणत एक व्यक्ति अपना व्यय उपभोग की विविध वस्तुओं पर इस प्रकार करेगा कि उसे व्यय के प्रत्येक मद से एक बराबर सीमान्त उपयोगिताए प्राप्त होगी। यद्यपि आदर्श रूप में यह शायद ही कभी किया जाता हो। सरकारी खर्च का भी आदर्श यही होना चाहिये। परन्तु सरकार यह आदर्श शायद ही कभी प्राप्त कर सकती है। भावुकता अथवा विशेष स्वार्थों के प्रभाव के कारण सरकार का रुपया बहुधा व्यर्थ की बातों पर खर्च होता है। नये प्रजातन्त्रों में अथवा जहा जातीय भावनाए बहुत प्रबल होती है, वहा यह प्रवृत्ति बहुत प्रबल होती है। परन्तु सरकारी खर्च के पक्ष में एक बात होती है, जिस ध्यान में रखनी चाहिये। केवल सिद्धान्त की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति के सम्बन्ध में यह मान लिया जाता है कि वह अपनी आय वर्तमान और भविष्य की आवश्यकताओं पर इस प्रकार खर्च करता है कि दोनों परिस्थितियों में अर्थात् अभी और भविष्य में उसे सम सीमान्त उपयोगिता प्राप्त होगी। परन्तु वास्तव में लोग भविष्य की अधिक चिन्ता नहीं करते और भविष्य के लिये उपयुक्त प्रबन्ध भी नहीं करते, किन्तु राज्य अर्थात् सरकार भविष्य की तरफ इतनी लापरवाह नहीं होती और व्यक्तियों की अपेक्षा भविष्य के लिये अधिक प्रबन्ध करती है (अथवा करना चाहिये)।

एक अन्य महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि व्यक्ति के लिये यह कहा जा सकता है कि उसकी भलाई इसी में है कि अपना खर्च अपनी सीमा के भीतर रखे। परन्तु राज्य के सम्बन्ध में अधिक खर्च से बहुधा कुल राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है और राज्य की आर्थिक स्थिति अधिक मजबूत हो जाती है। राज्य उत्पादन, बाकारी तथा आय वृद्धि के लिये जो खर्च करता है वह निजी खर्च की तरह नहीं होता। राज्य की आर्थिक नीति की सफलता या असफलता इस बात से देखी जाती है कि सार्वजनिक खर्च का कुल राष्ट्रीय आय और बाकारी पर कैसा प्रभाव पड़ता है।

राज्य की अर्थ-व्यवस्था का वर्गीकरण (Classification of Public Finance)–राजकीय आय-व्यय शास्त्र को चार भागों में बांटा जा सकता है। (१) राजकीय खर्च (२) राजकीय आय (३) ऋण और (४) आय-व्यय का शासन या प्रबन्ध।

राजकीय अर्थ-व्यवस्था में सबसे महत्वपूर्ण विषय राज्य की आय अर्थात् कर-नीति है। पहले सरकारी खर्च की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जाता था परन्तु आजकल इस विषय के अध्ययन पर उचित ध्यान दिया जाता है। सार्वजनिक ऋण का अध्ययन एक अलग मद के रूप में किया जाता है क्योंकि उसमें कुछ विशेष किस्म की समस्याएं उत्पन्न होती हैं। परन्तु ऋण को सरकारी आय और व्यय दोनों में शामिल किया जाता है। सरकारी ऋण से जो आय होती है वह सरकारी आय में शामिल की जाती है परन्तु सरकारी ऋण के लिये जो भुगतान किया जाता है वह सरकारी खर्च में शामिल किया जाता है। यद्यपि आय-व्यय का प्रबन्ध इसी विषय का एक भाग है परन्तु उसका विचार इस पुस्तक में नहीं किया गया है क्योंकि बहुत थोड़ी बातें इस विषय में लागू होती हैं।

राजकीय अर्थ-व्यवस्था का उद्देश्य अर्थात् अधिकतम लाभ का सिद्धान्त (The Aim of Public Finance or the Doctrine of Maximum Advantage)–कुछ समय पहले यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त था कि राजकीय अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में जितनी समस्याएं उठती हैं उनके लिये सबसे अच्छा सिद्धान्त यह होगा कि सरकार को कम से कम खर्च करना चाहिये और कम से कम कर लगाना चाहिये। यह सिद्धान्त दो बातों के आधार पर उचित ठहराया जाता था। एक यह थी कि उस समय व्यक्तिवाद (Individualism) के सिद्धान्त का बहुत अधिक प्रचार था। जिस प्रकार आदर्श सरकार शून्य या अस्तित्वहीन सरकार (Zero Government) मानी जाती थी, उसी प्रकार आदर्श राजकीय अर्थ-व्यवस्था वह होगी, जिसमें आय और व्यय शून्य हों। अर्थात् सरकार को किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता और सम्पत्ति में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिये। दूसरा विचार यह था कि सरकार का खर्च अधिकतर अनुत्पादक कार्यों पर होता है, लेकिन लोग उत्पादक कार्यों पर खर्च करते हैं। इसलिये ग्लैडस्टन कहा करता था कि धन लोगों की जेबों में फूलने-फलने के लिये छोड़ देना चाहिये।

लेकिन जो सिद्धान्त सरकारी खर्च को घटाकर न्यूनतम मात्रा में ले आना चाहता है वह सिद्धान्त गलत है। सब कर हमेशा बुरे नहीं होते। कुछ करों द्वारा ऐसे काम होते हैं जिन्हें सामाजिक दृष्टि से उचित कहा जा सकता है। जब शराब पर कर लगाया जाता है, तो शराब की बिक्री कम होती है और इस प्रकार एक सामाजिक उपकार होता है। यदि किसी आयात कर द्वारा किसी राष्ट्रीय उद्योग की उन्नति होती है तो उससे राष्ट्रीय

आय बढ़ती है। फिर यह बात भी सम्भव है कि किसी व्यक्ति की अपेक्षा सरकार ज्यादा अच्छे कामों पर खर्च कर सकती है। एक व्यक्ति घुड़दौड़ या जुआ में खर्च कर सकता है, परन्तु सरकार गरीबों की शिक्षा पर खर्च कर सकती है। सरकारी खर्च से बहुधा देश की उत्पादन योग्यता में वृद्धि होती है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि जितना सरकारी खर्च होता है, वह सब अच्छे कामों पर होता है। कुछ लोग हैं, जो ऐसा कहते हैं और सरकारी खर्च में मनचाही वृद्धि का समर्थन करते हैं। परन्तु यह भी ठीक नहीं है। कुछ कर ऐसे होते हैं जिनसे देश की राष्ट्रीय आय को निश्चित रूप से हानि पहुँचती है। उदाहरण के लिये आय-कर और मृत्यु-कर बहुत अधिक होने से लोगों में बचत कम होगी और उत्पादन गिरेगा। इसी तरह सरकारी खर्च के कुछ ऐसे मद भी होते हैं जो अच्छे नहीं होते। अनावश्यक युद्धों पर जो खर्च किया जाता है, वह बिल्कुल व्यर्थ खर्च होता है।

सही सिद्धान्त यह है कि सरकार को अपनी अर्थ-व्यवस्था इस प्रकार चलानी चाहिये कि उससे अधिक से अधिक सामाजिक लाभ प्राप्त हो सके। सरकार की आय करों द्वारा अथवा ऋणों द्वारा होती है और यह आय क्रमशः कई मदों पर खर्च होती है। इस प्रकार सम्पत्ति का हस्तान्तर लोगों के एक समूह से दूसरे समूह को लगातार होता रहता है और सम्पत्ति का जो उत्पादन होता है, उसकी मात्रा और प्रकृति में परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों द्वारा अन्त में यदि अधिकतम सामाजिक सर्वोदय प्राप्त होता है और सब साधनों का समुचित उपयोग होता है, तो वे परिवर्तन न्यायसंगत हैं।

यह जानने के लिये कि अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त हुआ कि नहीं—हमें निम्नलिखित बातों पर विचार करना चाहिये। सबसे पहले राजकीय खर्च की प्रकृति और संगठन पर विचार करना चाहिये। सम्भव है कि कुछ बातों पर खर्च बहुत अधिक हो। परन्तु यदि उनकी प्रकृति उत्पादक पूँजी की है, तो अन्त में उनके द्वारा होनेवाला लाभ वर्तमान भार से कहीं अधिक होगा। सम्भव है कि कुछ भारी न हों, पर वे बिल्कुल अनुत्पादक हो सकते हैं। परन्तु इस प्रकार के खर्च यदि विदेशी आक्रमण से बचने तथा आन्तरिक सुरक्षा के लिये किये जाते हैं तो समाज के सर्वोदय की दृष्टि से वे न्यायसंगत हैं यद्यपि आर्थिक सर्वोदय की दृष्टि से उन्हें न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। दूसरे, कर प्रणाली की प्रकृति और तरीके भी महत्वपूर्ण होते हैं। यद्यपि कर के विभिन्न तरीकों से धन की बड़ी मात्रा प्राप्त होगी, फिर भी एक तरीका दूसरे की अपेक्षा अधिक हलका हो सकता है। तीसरे, उत्पादन शक्ति पर कर नीति का प्रभाव अन्तिम महत्वपूर्ण होता है। यदि कर नीति की बचत करने की इच्छा और शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तो ऐसी कर नीति को उचित नहीं कहा जा सकता।

अब इस बात को लोग दिनोंदिन महसूस कर रहे हैं कि राजकीय अर्थ-व्यवस्था का प्रबन्ध इस प्रकार होना चाहिये कि देश में पूर्ण बाकारी बनी रहे। करों की दर और

खर्च की दर विभिन्न आर्थिक स्तरों पर इस प्रकार बांटनी चाहिये कि सरकारी तथा गैर-सरकारी पूंजी का उत्पादन व्यवसाय में लगने का प्रोत्साहन मिले, जिससे सामूहिक उपभोग बढ़ेगा और श्रम की पूर्ण बकारी भी बनी रहेगी। सरकारी नीति ऐसी होनी चाहिये कि आय धनी वर्ग से गरीब वर्ग की ओर जावे।

सैंतालीसवां अध्याय

राजकीय खर्च

(Public Expenditure)

राजकीय खर्च का वर्गीकरण (Classification of Public Expenditure)–राजकीय खर्च के वर्गीकरण के सम्बन्ध में अर्थशास्त्री एकमत नहीं है। प्रत्येक लेखक ने अपना अलग वर्गीकरण किया है।

जिस शासन में सब शक्ति केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहती है उसमें पहला वर्गीकरण राष्ट्रीय और स्थानीय वर्गीकरण के बीच में किया जाता है। संघ शासन में खर्च के तीन वर्ग होते हैं—संघीय खर्च, राज्यों का खर्च और स्थानीय खर्च। जो खर्च केन्द्रीय शासन द्वारा किये जाते हैं, जैसे कि सुरक्षा न्याय इत्यादि, उन्हें राष्ट्रीय खर्च कहा जाता है। परन्तु जो खर्च किसी एक स्थान में उसी से सम्बन्धित किसी बात पर किया जाता है, उसे स्थानीय खर्च कहते हैं। जैसे कि किसी स्थान में पानी और प्रकाश इत्यादि के प्रबन्ध पर जो खर्च किया जायगा, वह स्थानीय खर्च कहा जायगा। संघ शासन में खर्च के दो प्रधान मद होते हैं एक संघ शासन का और दूसरा राज्य की उन इकाइयों का जो मिलकर संघ बनाते हैं। इन दोनों में से कौन अधिक महत्वपूर्ण है, यह बात इस पर निर्भर करती है कि शासन में संघ को अधिक महत्व प्राप्त है अथवा राज्यों को। जिन खर्चों से संघ के सब राज्यों को लाभ पहुंचता है, उन्हें संघीय खर्च कहा जाता है, जैसे कि सुरक्षा, डाक और तार, केन्द्रीय शासन और दूतावास इत्यादि परराष्ट्र विभाग सम्बन्धी खर्च। परन्तु जो खर्च संघ के किसी राज्य द्वारा केवल अपने शासन के सम्बन्ध में किये जाते हैं, उन्हें राज्य सम्बन्धी खर्च कहा जाता है, जैसे कि पुलिस, शिक्षा, जेल इत्यादि। खर्च के कुछ मद ऐसे होते हैं, जो स्थानीय और राष्ट्रीय दोनों सूचियों में आते हैं और उनके विषय में यह कहना कठिन हो जाता है कि कहां तक वे स्थानीय हैं और कहां तक राष्ट्रीय। फिर भी शासन और कर नीति की दृष्टि से इस प्रकार का भेद और वर्गीकरण आवश्यक है।

खर्च की लागत पूरी हो जायगी। अर्थात् वह खर्च अदा हो जायगा। इसमें एक शर्त यह है कि अधिक खर्च से जो लाभ होगा वह अधिक कर द्वारा होनेवाली हानि से कम न हो।' इस प्रकार आवागमन और यातायात के साधनों पर शिक्षा पर, सार्वजनिक स्वास्थ्य पर और कारखानों में श्रमिकों की समुन्नति पर जो खर्च किया जाता है वह दीर्घ-काल में उत्पादक होता है। इस मापदण्ड के अनुसार शान्तिकाल में शस्त्रीकरण और युद्ध पर जो खर्च किया जाता है उसका अधिकांश अनुत्पादक होता है क्योंकि वह अधिक सम्पत्ति के लिये नहीं बल्कि उसको नष्ट करने के लिये किया जाता है।

डाल्टन ने वर्गीकरण का दूसरा आधार दिया है—एक अनुदान (grants) और दूसरा क्रय मूल्य (purchase prices) अथवा खरीद की कीमतें। यदि कोई खर्च किया जाय और उसके बदले में उतनी ही कोई

अनुदान और क्रय मूल्य

वस्तु या सेवा मिल जाय तो उसे क्रय मूल्य कहते हैं और यदि खर्च के बदले में कोई वस्तु न मिले तो उसे अनुदान कहा जायगा। सरकारी नौकरों, सैनिकों और ठेकेदारों को जो वेतन और रुपया दिया जाता है, उसे क्रय मूल्य कहते हैं। परन्तु गरीबों की सहायता और बूढ़ों की पेंशन इत्यादि के रूप में जो रुपया खर्च किया जाता है, उसे अनुदान कहते हैं। अनुदान रुपया और सहाय दोनों रूप में हो सकता है, जैसे कि मुफ्त में शिक्षा और दवा इत्यादि देना भी अनुदान है।

उत्पादन पर खर्च का परिणाम (Effect of Expenditure on Production)—बहुत से लोगों का मत है कि सरकार जो भी खर्च करती है वह अनुत्पादक होता है। परन्तु यह मत कुछ महत्वपूर्ण बातों पर विचार नहीं करता। पहली बात तो यह है कि सरकार का बहुत-सा खर्च सम्पत्ति का एक व्यक्ति समूह से दूसरे व्यक्ति समूह को केवल परिवर्तन मात्र है। जैसे कि सरकारी ऋणों पर ब्याज, बूढ़ों को पेंशन इत्यादि। दूसरे, सार्वजनिक शिक्षा और स्वास्थ्य पर जो खर्च किया जाता है, उससे लोगों की कार्यक्षमता प्रत्यक्ष रूप से बढ़ती है। फिर कुछ सरकारी खर्च ऐसे होते हैं, जिनसे देश की अधिक सम्पत्ति उत्पन्न करने की शक्ति बढ़ती है। रेल, तार और डाक इस श्रेणी में आते हैं। इनका सबसे अच्छा प्रबन्ध केवल सरकार ही कर सकती है। अन्त में कुछ ऐसे खर्च होते हैं, जिन्हें केवल सरकार ही अपने सिर पर ले सकती है, गैर-सरकारी कम्पनियां नहीं ले सकतीं। जिस देश की आबादी घनी नहीं है, उस देश में कोई गैर-सरकारी कम्पनी रेलें बनाकर लाभ नहीं उठा सकती, यद्यपि अन्त में देश को उनसे अमित लाभ और उन्नति होगी। ऐसे मदों पर केवल सरकार ही खर्च कर सकती है।

जहां तक खर्च का काम करने और बचत करने (ability to work and save) की शक्ति पर प्रभाव का प्रश्न है, तो यह कहा जा सकता है कि उससे इस प्रकार की योग्यता बढ़ती है। सरकारी खर्च का काफी अंश शिक्षा पर, सस्ते मकान बनवाने पर, रहन-सहन का खर्च कम करने पर, बच्चों को स्कूल में पौष्टिक आहार देने पर, और

शारीरिक और मानसिक विकास के साधनों इत्यादि पर होता है और उससे सारे देश की उत्पादन शक्ति बढ़ती है। परन्तु यह बात हम एकदम निश्चित रूप से उस खर्च के सम्बन्ध में नहीं कह सकते जिसका प्रभाव काम करने की और बचत करने की इच्छा पर पड़ता है। जब मजदूरों को यह मालूम होता है कि बुढ़ापे में उन्हें सरकार की ओर से पेन्शन मिलेगी तो उनकी बचत करने की इच्छा कम हो सकती है। लेकिन जब आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में कोई शर्त लगा दी जाती है, जैसे कि आर्थिक सहायता केवल बीमारी के समय मिल सकती है तो इससे काम करने और बचत करने की इच्छा कम न होगी। यदि ऐसा प्रबन्ध किया जा सके कि जो व्यक्ति अधिक काम करेगा, उसे अधिक सरकारी सहायता मिलेगी तो उससे काम करने की इच्छा बढ़ेगी। परन्तु सब बातों पर विचार करके डॉल्टन इस नतीजे पर पहुंचता है कि अनुदान मिलने की आशा के फलस्वरूप उत्पादन में थोड़ी-सी कमी की सम्भावना हो सकती है।

आर्थिक साधनों के पुनः वितरण के प्रभाव

अन्त में राजकीय या सरकारी खर्च के परिणामस्वरूप आर्थिक साधनों का एक उद्योग से दूसरे उद्योग में और एक पेशे से दूसरे पेशे में जाने का प्रश्न उठता है और इस सम्बन्ध में अन्तिम रूप से निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। उन सब बातों पर अधिक सरकारी खर्च करना आवश्यक है जिनसे कि देश के साधनों का वितरण विभिन्न पेशों और उद्योगों में इस प्रकार होता है कि देश में पूर्ण रोजगारी बनी रहती है। इस नियम का ज्ञान न होने के कारण के बहुत से साधन ऐसे कामों और स्थानों में चले जाते हैं, जिनसे कोई लाभ नहीं होता। युद्ध सम्बन्धी उद्योगों पर जो खर्च किया जाता है वह इसी प्रकार के लाभरहित खर्च की श्रेणी में आता है। यही बात उन उद्योगों को संरक्षण आर्थिक सहायता देने में लागू होती है, जिनके लिये देश में प्राकृतिक सुविधाएं नहीं हैं। परन्तु एक बात ध्यान में रखनी आवश्यक है। सब राजकीय खर्चों पर केवल आर्थिक दृष्टि से विचार करना उचित नहीं है। कुछ अन्य कारण भी हो सकते हैं, जो आर्थिक कारणों के बराबर अथवा उनसे भी अधिक महत्वपूर्ण हों।

वितरण पर राजकीय खर्च का प्रभाव (Effect of Public Expenditure on Distribution)—इस पुस्तक में कई स्थानों पर यह कहा गया है कि अधिकतम सन्तोष या तुष्टि के दृष्टिकोण से यह वाञ्छनीय होगा कि असमानता की मात्रा में और कमी होनी चाहिये। जितनी असमानता इस समय देखने में आती है, उससे कम होनी चाहिये। अब प्रश्न यह उठता है कि राजकीय खर्च से असमानता कितनी घटती है। मोटे तौर से खर्च को दो भागों में बांटा जा सकता है—एक खर्च वह, जिससे व्यक्तियों को लाभ पहुंचता है और दूसरा वह जिससे सारे समाज को लाभ पहुंचता है।

पहले प्रकार के खर्च में ऐसी कई बातें होती हैं, जिनसे प्रत्यक्ष रूप से या सीधे तरीके से गरीबों के पास सम्पत्ति का परिवर्तन या हस्तान्तर होता है। आय पर बढ़ते

अड़तालीसवां अध्याय

राजकीय आय के साधन

(Sources of Public Income)

राजकीय आय के साधन—सरकार को आय एक तो करों द्वारा होती है और दूसरे करों के सिवा अन्य जरियों से भी हो सकती है। अन्य जरिया या साधनों को हम इन भागों में बांट सकते हैं—(क) शुल्क (fees) (ख) मूल्य (prices) (ग) विशेष निर्धारण (special assessment) (घ) जुरमाना अथवा आर्थिक

१ Colwyn Committee Report p 105

दड (fines and penalties)। कुछ आय उपहारो के रूप में हो सकती हैं, परन्तु इसकी मात्रा नगण्य होती है।

कर किसी व्यक्ति की सम्पत्ति पर वह अनिवार्य वसूली होती है, जो सरकार बदले में बिना किसी लाभ का आश्वासन दिये उससे लेती है। इसलिये जैसा कि हम यहा देखेंगे, कर एक अनिवार्य अदाई होती है और वह मूल्य से भिन्न होती है। दूसरी विशेषता यह है कि व्यक्ति को कर से चाहे कोई लाभ मिले या न मिले, पर उसे कर देना ही पड़ेगा।" "कर मे और सरकार द्वारा की जानेवाली अन्य वसूलियो में अन्तर रहना है। कर का सार यह रहना है कि करदाता और सरकार में इस प्रकार का कोई समझौता नही रहता कि कर के बदले में करदाता को सरकार प्रत्यक्ष रूप में कुछ देगी।" एक धनी व्यक्ति यह कहकर, कर नही टाल सकता, चूकि उसके बच्चे नही हैं, इसलिये वह सार्वजनिक शिक्षा सम्बन्धी कर नही देगा। कर सार्वजनिक हित के लिये दिया जाता है। सरकार सब करदाताओ की एक समान भलाई करती है। यह तर्क स्वीकार नही किया जा सकता कि कर दाता को जितना लाभ प्राप्त हो, उसी के अनुपात में उससे कर लेना चाहिये।

सरकार कुछ व्यक्तियों के लिये कुछ विशेष प्रकार की सेवाए करती है और बदले में उनसे शुल्क (fees) लेती है। सेवाए प्राय नियत्रण और नियमन (control and regulation) के सम्बन्ध में की जाती हैं। शुल्क और कर में यह अन्तर होता है कि शुल्क देनेवाला किसी लाभ विशेष के बदले में यह शुल्क देता है, परन्तु कर सार्वजनिक हित के लिये दिया जाता है। शुल्क की मात्रा सेवा की लागत के बराबर होनी चाहिये। अर्थात् शुल्क प्राय लाभ विशेष के अनुपात में होती है। परन्तु वास्तविक व्यवहार में शुल्क सेवा की लागत से अधिक होता है।

सेवाओ और वस्तुओ की बिक्री से सरकार को जो आय होती है, उसे मूल्य (price) कहते हैं। कभी-कभी सरकार साधारण व्यवसायी की तरह कई प्रकार के व्यवसाय करती है और इन व्यवसायो की बिक्री से जो आय होती है, उसे कीमत कहते हैं। सरकार अपने जगलो से सागौन की लकडी और अपने कारखानो से नमक बेचती है। कर के समान मूल्य देना अनिवार्य नही होता। यदि हम पोस्टकार्ड न खरीदें अथवा रेल यात्रा न करें तो हम सरकार को मूल्य देने के लिये बाध्य नही होते। जो लोग इन वस्तुओ और सेवाओ से लाभ नही उठाते, उन्हें मूल्य देने के लिये बाध्य नही होना पडता। यदि किसी विशेष प्रकार के लाभ का उपभोग किया जाय तो उसके लिये भी मूल्य देना पडता है। जिस सेवा के लिये शुल्क दिया जाता है, वह सेवा जनता के लिये अधिक महत्त्वपूर्ण समझी जाती है, बनिस्बत उस सेवा के, जिसके लिये 'मूल्य' दिया जाता है। शुल्क में मूल्य की अपेक्षा सार्वजनिक हित अधिक निहित होता है।

जब स्थावर सम्पत्ति अर्थात् भूमि (real property) में सरकार के प्रयत्नो

द्वारा कोई सुधार या तरक्की होती है और उस सुधार के लिये यदि भूमि का स्वामी सरकार को कुछ द्रव्य देता है, तो उसे विशेष निर्धारण (special assessment) कहते हैं। यदि इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट किसी मुहल्ले में एक पार्क बनाता है, तो आसपास की भूमि या मकानों का मूल्य बढ़ जाता है और इस प्रकार उन मकान-मालिकों को लाभ होता है। इस लाभ के परिणामस्वरूप यदि ट्रस्ट इन मकान-मालिकों से कोई कर वसूल करता है तो उसे "विशेष निर्धारण" कहेंगे। यह कर या द्रव्य उसी विशेष लाभ के लिये दिया जाता है और उसी के अनुपात में दिया भी जाता है। यह ध्यान रहे कि जो सुधार किया जाय वह सार्वजनिक हित के उद्देश्य से किया जाय।

राजकीय आय के इन विभिन्न साधनों के बीच में साफ-साफ अन्तर जानना हमेशा आसान नहीं होता। शुल्क और कीमतों को करों से अलग पहचानने में प्रायः कठिनाई होती है। जब कभी सरकार शुल्कों की दर सेवाओं की लागत से अधिक रख देती है, तो वे लगभग करों के समान हो जाते हैं। भारत में अदालतों के शुल्क का उपयोग कुछ हद तक उत्तराधिकार की सम्पत्ति पर कर लगाने के लिये किया जाता है। यदि किसी व्यवसाय में सरकार का एकाधिकार है, तो सरकार कीमत इतनी अधिक बढ़ा सकती है जितनी कि प्रतियोगिता की परिस्थितियों में कभी न बढ़ती। फ्रान्स की सरकार को तम्बाकू के उत्पादन के सम्बन्ध में एकाधिकार प्राप्त थे। उसने इन एकाधिकारों का उपयोग इस प्रकार किया कि उसे बहुत लाभ हुआ। इन परिस्थितियों में सरकार जो कीमत लेती है वह कर के समान हो जाती है। इसलिये यह कहना ठीक ही है कि कर, शुल्क और मूल्य एक दूसरे में घुलते मिलते रहते हैं।

उनचासवां अध्याय

कर-नीति के सिद्धान्त

(Principles of Taxation)

आडम स्मिथ के कर-नीति के सिद्धांत (Adam Smith's Canon's of Taxation)—आधुनिक राजनैतिक अर्थशास्त्र के जनक आडम स्मिथ ने कर-नीति के सम्बन्ध में कुछ नियम निर्धारित किये हैं। अर्थशास्त्र पर प्रत्येक पुस्तक में उनकी विवेचना आवश्यक है, नहीं तो वह पुस्तक अपूर्ण समझी जावेगी।

(१) योग्यता अथवा समानता का सिद्धांत (Principal of Ability or Equality)—"प्रत्येक राज्य की प्रजा को अपनी योग्यता के अनुपात में राज्य-

शासन के लिये कर देना चाहिये। योग्यता के अनुपात का अर्थ यह है कि राज्य की सुरक्षा के अन्तर्गत कितनी आय होती है।"

इस सिद्धान्त के अनुसार आडम स्मिथ ने कर देने का आधार देने की शक्ति या योग्यता रखी। अर्थात् कर देने में सबको एक समान त्याग करना पड़ेगा। जाहिर है कि एक धनी व्यक्ति किसी गरीब की अपेक्षा अधिक ऊंचे अनुपात में कर दे सकता है। इसलिये कर प्रणाली क्रमशः प्रगतिशील होनी चाहिये। परन्तु इस सिद्धान्त के अर्थ या अभिप्राय के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में एकमत नहीं है। कुछ लोगों का मत है कि आडम स्मिथ का अभिप्राय यह था कि कर प्रणाली प्रगतिशील होनी चाहिये। इसके समर्थन में वे कहते हैं कि अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ राष्ट्रों की सम्पत्ति (Wealth of Nations) में, जिसमें आडम स्मिथ ने इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, आगे के भाग में लिखा है कि 'यह अनुचित नहीं है कि धनी लोग करों के रूप में न केवल अपनी आय के अनुपात में दें, बल्कि अनुपात से कुछ अधिक देना चाहिये।" परन्तु अन्य लोग अनुपात शब्द पर जोर देते हैं जिसे उसने अपने सिद्धान्त में उपयोग किया है।

(२) निश्चितता का सिद्धांत (Principle of Certainty)–"जो कर प्रत्येक व्यक्ति के लिये देना आवश्यक है, वह निश्चित होना चाहिये, मनमाना नहीं। कर दाता को तथा अन्य सब लोगों को कर की मात्रा तथा देने का समय इत्यादि सब बातें साफ साफ मालूम रहनी चाहिये।"

जिस व्यक्ति को एक वर्ष में जितना कर देना है, वह उसे साफ साफ मालूम होना चाहिये, जिससे कि कर देने के पश्चात् वह अपनी आय और खर्च में ठीक-ठीक हिसाब बैठा सके।

राज्य को भी निश्चित रूप से मालूम होना चाहिये कि कर के रूप में उसे कितना धन प्राप्त होगा, जिससे कि वह अपना बजट सतुलित कर सके।

(३) सुविधा का सिद्धात (Principle of Convenience)–"प्रत्येक कर इस प्रकार लगाना चाहिये और ऐसे समय लगाना चाहिये कि देनेवाले को अधिक से अधिक सुविधा मिल सके।"

इस नियम का महत्त्व स्वयसिद्ध है। यदि इसका पालन न किया जाय तो कर दाता को अनावश्यक कष्ट होगा। जैसे कि जमीन पर लगान या कर फसल आने के बाद लेना चाहिये।

(४) बचत का सिद्धात (Principle of Economy)–"प्रत्येक कर इस प्रकार लगाया जाय कि जो कुछ सरकारी खजाने में आय, उसके सिवा लोगों की जेब से कम से कम खर्च हो।"

इस सिद्धान्त का अर्थ यह है कि कर वसूल करने का खर्च कम से कम हो। कर एकत्रित करने में कम से कम खर्च हो और साथ ही शासन शक्ति ढीली न पड़ने पावे।

कर-प्रणाली को केवल वर्त्तमान का विचार नहीं करना चाहिये। उसे भविष्य का भी ध्यान रखना चाहिये। दूसरे शब्दों में कर ऐसा न्यायसंगत रहे कि उसका भार धनिक वर्ग पर बहुत अधिक न पड़े, नहीं तो पूँजी की वृद्धि रुक जायगी। इस प्रकार मितव्ययता का सिद्धान्त अन्त में कर के न्याय-सिद्धान्त (equity) के साथ बंधा हुआ है। इस सम्बन्ध में इसी अध्याय में आगे विचार किया जायगा।

आडम स्मिथ के बाद के लेखकों ने उत्पादन शक्ति और लोच के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। यहां उन पर विचार करना आवश्यक है। करों को उत्पादक होना चाहिये। एक व्यावहारिक अर्थशास्त्री की पहली चिन्ता राज्य के लिये काफी धन प्राप्त करना होनी है। वह यह देखता है कि किस कर से कितनी मात्रा मिलेगी। उसकी दृष्टि में सबसे अच्छा कर वह होगा, जिससे होनेवाली आय जनसंख्या और उसकी आय की वृद्धि के साथ-साथ अपने आप बढ़ती जावे। वस्तुओं पर कर लगाने से यह उद्देश्य पूरा हो जाता है। जनसंख्या में वृद्धि होने से अधिक वस्तुओं का उपभोग होता है और उन वस्तुओं के कर से अधिक आय प्राप्त होती है। कर-नीति का दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि कर लोचदार होना चाहिये।

उत्पादन शक्ति

राज्य की आवश्यकताओं के अनुसार और कर दाताओं की शक्ति के अनुसार कर में घटने और बढ़ने की शक्ति होनी चाहिये। नहीं तो उस कर से लोगों को कष्ट होगा। लोच कोई नया सिद्धान्त नहीं है। वह केवल उत्पादन शक्ति और मितव्ययता के सिद्धान्तों का सम्मिश्रण है। परिवर्तन-शीलता या लोच किसी भी कर प्रणाली का बहुत महत्त्वपूर्ण और वाञ्छनीय गुण है और करों के चुनन में कोई भी व्यवहार-कुशल अर्थशास्त्री इस गुण के प्रति उदासीन नहीं हो सकता।

लोच

कर-नीति के सिद्धान्त

राज्य उचित रूप में नागरिकों से किस प्रकार अपनी आय प्राप्त कर सकता है, इस सम्बन्ध में और भी कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इन सिद्धान्तों में जो महत्त्वपूर्ण हैं, उनकी हम एक-एक करके विवेचना करेंगे।

(क) लाभ सिद्धान्त (Benefit Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार, राज्य के अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक को जितना लाभ मिलता है, उसके अनुसार उससे कर लिया जाना चाहिये। सरकार के कार्यों से किसी व्यक्ति को जितना अधिक लाभ मिलता है, उस व्यक्ति को उन कार्यों के खर्च पूरे करने के लिये उतने ही अधिक कर देने चाहिये। राज्य की कुछ सेवाएं ऐसी होती हैं, जिनसे कुछ व्यक्तियों को विशेष लाभ होते हैं और कुछ सेवाएं ऐसी होती हैं, जिनसे सब लोगों को एक समान लाभ होता है। कॉन ने इस मोटे

अनुसार राज्य को कर देना चाहिये, जिससे शासन का खर्च पूरा हो सके। शासन-प्रबन्ध एक सार्वजनिक कार्य है और वह सबकी भलाई के लिये चलाया जाता है। इसलिये सब लोगों को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उसकी सहायता करनी चाहिये।

यह बात तो है कि न्याय के सम्बन्ध में हमारे जो विचार हैं, यह सिद्धान्त उनसे मिलता-जुलता है। परन्तु "देने की योग्यता" की परिभाषा करना कठिन हो जाती है। किसी व्यक्ति की योग्यता किस प्रकार मापी जाय? पहले यह

योग्यता का प्रमाण

समझा जाता था कि सम्पत्ति के आधार पर किसी व्यक्ति की योग्यता मापी जा सकती थी। जिनके पास अधिक सम्पत्ति है उन्हें अधिक कर देना चाहिये। लेकिन इस बात का अनुभव जल्दी होने लगा कि सम्पत्ति योग्यता का अच्छा प्रमाण नहीं है। क्योंकि ऐसे लोग बहुत से थे, जिनकी आय बहुत थी परन्तु उनके पास सम्पत्ति कुछ नहीं थी। एक व्यक्ति अपने परिश्रम से बहुत आय कर सकता है और साथ ही उसे खुले हाथ खर्च भी कर सकता है। वह सम्पत्ति के रूप में उसे संग्रह नहीं करेगा। एक डॉक्टर अपनी योग्यता से बहुत कमा सकता है, परन्तु साथ ही वह इतना खर्च भी कर सकता है कि सम्पत्ति के नाम कुछ नहीं रखेगा। यद्यपि उसकी कर देने की योग्यता बहुत अधिक है, परन्तु सम्पत्ति न होने के कारण वह करों से बच जायगा। बाद में यह कहा जाने लगा कि खर्च योग्यता का अधिक अच्छा प्रमाण है? जो लोग अधिक खर्च करते हैं, वे अधिक कर भी दे सकते हैं। इसलिये यदि व्यक्तिगत खर्च पर कर लगाया जाय तो उससे योग्यता के सिद्धान्त का पालन हो जायगा। लेकिन यह भी कहा जा सकता है कि यदि एक व्यक्ति अधिक खर्च करता है, तो उसका मतलब यह नहीं है कि वह अधिक कर भी दे सकता है। जिस आदमी के ऊपर बहुत से लोग आश्रित हैं, उसे अधिक खर्च करना ही पड़ेगा, बनिस्बत उस आदमी के जिस पर कोई आश्रित नहीं है। जाहिर है कि दूसरे आदमी की अपेक्षा पहले आदमी की कर देने की योग्यता बहुत कम रहेगी। लेकिन यदि खर्च को योग्यता का प्रमाण माना जाय तो पहले आदमी को अधिक कर देना पड़ेगा। इसे न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। सब बातों को ध्यान में रखकर किसी व्यक्ति की आय को योग्यता का सबसे अच्छा प्रमाण समझा जाता है। इसलिये आधुनिक कर-प्रणाली में जिन व्यक्तियों की आय अधिक होती है, उन पर अधिक कर लगाये जाते हैं और जिनकी आय कम होती है, उन पर करों का भार कम डाला जाता है।

फिर भी मुद्रा आय योग्यता का पूर्ण सन्तोषप्रद प्रमाण नहीं है। दो व्यक्तियों की एक बराबर मुद्रा आय हो सकती है, परन्तु उनकी कर देने की योग्यता में अन्तर हो सकता है। उनकी व्यक्तिगत जिम्मेदारियों में अन्तर हो सकता है। एक व्यक्ति अविवाहित हो सकता है और दूसरे के ऊपर एक बड़े कुटुम्ब के पालन करने का भार हो सकता है। तब दोनों व्यक्तियों पर एक ही दर से कर लगाना ठीक नहीं होगा। पहले व्यक्ति की

आय उसकी सम्पत्ति से हो सकती है और दूसरे आदमी की आय केवल उसके श्रम से। चूंकि दूसरे व्यक्ति के पास कोई सम्पत्ति नहीं है, इसलिये उसे अपनी आय का एक अंश भविष्य के लिये बचाना पड़ेगा। पहले व्यक्ति को ऐसा करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिये उन दोनों की कर देने की योग्यता में अन्तर है।

मुद्रा के सिवा अन्य प्रमाण

लॉर्ड स्टाम्प का कहना है कि योग्यता का वास्तविक प्रमाण जानने के लिये व्यक्तियों की मुद्रा-आयों के सिवा हम निम्नलिखित बातों पर भी विचार करना चाहिये। पहले जिस समय में आय की गई उस समय पर विचार करना आवश्यक है। सब देशों में प्राय यह प्रथा है कि आय-कर प्राय गत वर्ष की आय पर लगाया जाता है। जैसे कि सन् १९५० में जो आय की गई उस पर सन् १९५१ में आय कर लगाया जायगा। परन्तु सम्भव है कि सन १९५१ में व्यवसायी को अपने व्यवसाय में हानि हो और वह गत वर्ष के लाभ पर इस वर्ष कर देने में समर्थ न हो। इसलिये योग्यता के सिद्धान्त का पालन करने के लिये यह आवश्यक है कि जिस काल में आय प्राप्त की जाती है, उसी काल में उसके साथ कर लिया जाय। आय-कर के सम्बन्ध में "कमाई के साथ-साथ कर देने" की प्रणाली ('Pay as-you earn' system) के समर्थन में यह दलील दी जाती है। दूसरे आय में से उत्पादक वस्तुओं के मूल्य ह्रास को पूरा करने के लिये एक अंश अलग रखना आवश्यक है, जिससे उत्पादक पूंजी की बदलना सम्भव होता जाय। तीसरे, यह विचार करना चाहिये कि आय सम्पत्ति से प्राप्त हुई अथवा व्यक्तिगत श्रम द्वारा। जो आय व्यक्तिगत श्रम से प्राप्त हुई है, उसकी अपेक्षा सम्पत्ति से प्राप्त आय पर अर्थात् बिना श्रम के प्राप्त आय पर अधिक ऊंची दर से कर लगाना चाहिये। चौथे, कुटुम्ब के आकार अथवा कुटुम्ब के सदस्यों की संख्या का भी ध्यान रखना चाहिये। जिस व्यक्ति पर बड़े कुटुम्ब का भार है, उससे कर कम लेना चाहिये, परन्तु जिस पर छोटे कुटुम्ब का भार है, उससे अधिक कर लेना चाहिये। अन्त में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि आय में कुछ अतिरिक्त बचत (Surplus) भी शामिल है या नहीं। आधुनिक आय-कर सम्बन्धी कानून बनाने में इन सब बातों पर विचार किया जाता है और इन्हें स्वीकार किया जाता है।

'योग्यता' का एक दूसरा अर्थ त्याग के आधार पर किया जाता है। इसमें यह मान लिया जाता है कि कर दाता कर देने में त्याग करता है। कर देने में कर दाता को सतोष का त्याग करना पड़ता है। इस त्याग को बांटने के दो तरीके बतलाये गये हैं। एक त्याग की समानता का सिद्धान्त और दूसरा न्यूनतम समन्वयात्मक या सामूहिक त्याग (Least Aggregate Sacrifice) का सिद्धान्त। त्याग की समानता (Equality of Sacrifice) के सिद्धान्त के अनुसार कर इस प्रकार लगाना चाहिये कि प्रत्येक कर दाता का त्याग एक बराबर हो। इसलिये यह सिद्धान्त

क्रमशः प्रगतिशील कर प्रणाली का समर्थक है। परन्तु इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्रधान कठिनाई यह है कि किसी कर दाता ने कर के रूप में जो भावात्मक (subjective) त्याग किया, उसका हिसाब लगाना मुश्किल है।

न्यूनतम सामूहिक त्याग के सिद्धान्त के अनुसार कर-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि सब कर दाताओं द्वारा जो कुछ त्याग किया जाय वह कम से कम रहे। आजकल सब कर व्यवस्थाओं का प्रधान उद्देश्य अधिकतम सामाजिक

न्यूनतम सामूहिक त्याग

कल्याण प्राप्त करना होता है और इस उद्देश्य को पूरा करने का उत्तम तरीका यह है कि समाज को कम से कम त्याग करना पड़े। इस सिद्धान्त के पक्ष में यही तर्क दिया जाता है। यह सिद्धान्त सीमान्त उपयोगिता के नियम के आधार पर बना है। इस नियम के अनुसार आय जितनी अधिक होती जाती है, उसकी उपयोगिता उतनी ही कम होती जाती है। इसलिये जिन लोगों की आय सबसे अधिक है, उनकी आय की अन्तिम इकाई की उपयोगिता भी सबसे कम होगी। इसलिये यदि केवल इन लोगों पर कर लगाया जाय तो त्याग की मात्रा सबसे कम रहेगी। इसलिये राज्य को अपनी आवश्यकताएं पूरी करने के लिये केवल चोटी के अधिक आय वाले व्यक्तियों पर कर लगाना चाहिये। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को कर नहीं देना पड़ेगा। परन्तु इस सिद्धान्त पर अमल करने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि अन्त में इससे बचत की मात्रा घटने लगेगी और लोगों में काम करने का उत्साह न रह जायगा। यदि आय की एक निश्चित सतह के ऊपर की सब आयों को कर के रूप में लिया जाय तो लोग उन आयों को कमाने का प्रयत्न ही न करेंगे। इसलिये करों का भार क्रमशः नीचे की सतहों पर आता जायगा। इससे देश की पूंजी-जो भविष्य में जमा होती है—घटेगी और इसी के साथ-साथ राष्ट्रीय आय भी घटेगी। इसलिये न्यूनतम सामूहिक त्याग को प्राप्त करने के लिये राज्य को करों के भार का वितरण इस प्रकार करना चाहिये कि धनी व्यक्तियों पर बहुत अधिक बोझ न पड़े और वे काम करने तथा बचत करने में उदासीन न हों। राज्य को सारे देश के वर्तमान तथा भविष्य दोनों प्रकार के स्वार्थों का ध्यान रखना चाहिये।

कर-नीति में अनुपात तथा क्रमशः प्रगति के सिद्धान्त (Principles of Proportion and Progression in Taxation)—दूसरा प्रश्न यह होता है कि यदि आपको कर-नीति का सही सिद्धान्त मिल जाय तो आप रीति से करों का वितरण करेंगे। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि कर आनुपातिक (proportional)। प्रगतिशील (Progressive) क्रमशः घटता हुआ (regressive) और ह्रासमान प्रगतिशील (degressive)—चार प्रकार का हो सकता है। इन चारों प्रकारों की परिभाषा करनी आवश्यक है। आनुपातिक कर वह होता है, जिसमें आय अथवा सम्पत्ति के मूल्य का एक बराबर प्रतिशत भाग

ले लिया जाता है, चाहे आय की मात्रा कुछ भी हो। आय की मात्रा चाहे जितनी हो, परन्तु यदि आय पर १० प्रतिशत कर लगा दिया जाय तो वह आनुपातिक कर होगा। प्रगतिशील कर में आय अथवा सम्पत्ति में जैसे-जैसे वृद्धि होती है वैसे-वैसे उस पर कर की प्रतिशत दर भी बढती जाती है। जैसे, जिन लोगों की आय ५,००० रुपये से अधिक नहीं है उन पर १० प्रतिशत आय कर हो। जिन लोगों की आय १०,००० रुपये से कम नहीं है उन पर १५ प्रतिशत आय कर हो और १५,००० रुपये की आयवालों पर २२ प्रतिशत आय कर हो। यह प्रगतिशील कर होगा। क्रमश घटता हुआ कर प्रगतिशील कर का ठीक उल्टा होता है। इसमें जैसे-जैसे आय बढती है, वैसे-वैसे कर की दर घटती जाती है। ह्रासमान प्रगतिशील कर में आय के साथ-साथ कर की दर भी बढती है परन्तु कर की दर घटते हुए क्रम से बढती है। व्यवहार में हमें केवल आनुपातिक और प्रगतिशील कर व्यवस्थाओं से काम पडता है।

इसलिये अनुपात के सिद्धान्त के अनुसार कर दाताओं की आय चाहे जो हो, उन्हें कर के रूप में उसका एक निश्चित अंश देना पडेगा। अपनी कर-नीति के पहले सिद्धान्त में आडम स्मिथ ने कहा था कि कर व्यक्ति की आय के किसी अनुपात में होना चाहिये, यद्यपि बाद में उसने यह भी लिखा कि वे अनुपात से कुछ अधिक भी हो सकते हैं। इस सिद्धान्त का आधार यह है कि कर व्यवस्था सम्पत्ति के वर्तमान वितरण में दखल या बाधा नहीं देना चाहती। यदि प्रत्येक व्यक्ति एक निश्चित अनुपात में कर देता है तो विभिन्न आयों के पारस्परिक सम्बन्ध वही बने रहते हैं। उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। इस सिद्धान्त और प्रणाली की खूबी यह है कि यह बहुत सरल है। जैसा कि से (Say) ने कहा है, आनुपातिक-कर प्रणाली की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। वह एक पहाडे के समान है।

आनुपातिक कर का सिद्धान्त

परन्तु अर्थ-व्यवस्था का उद्देश्य केवल सरलता प्राप्त करना नहीं होता। सभी जानते हैं कि एक हजार रुपया आयवाले व्यक्ति से १०० लेना और १०,००० रु० आयवाले व्यक्ति से १,००० लेना सरल अवश्य है, परन्तु साथ ही अनुचित और न्याय के विरुद्ध है। जैसे-जैसे मुद्रा आय बढती हैं, वैसे-वैसे कर देने की योग्यता अनुपात से अधिक बढ जाती है।

प्रगतिशील कर-नीति (Progressive Taxation)—आनुपातिक कर-प्रणाली के दोषपूर्ण होने के कारण धीरे-धीरे करो की आधुनिक प्रणालियों में प्रगतिशीलता सिद्धान्त (principles of progression) ग्रहण किया गया। प्रगतिशील कर-प्रणाली के पक्ष में प्रधान तर्क यह है कि जैसे-जैसे किसी व्यक्ति की आय बढती है, वैसे-वैसे उसकी कर देने की शक्ति आय की अपेक्षा अधिक बढती है। अर्थात् आय के अनुपात से कर देने की शक्ति का अनुपात अधिक हो जाता है। इसलिये करो की दर आनुपातिक न होकर क्रमश बढती हुई या प्रगतिशील होनी चाहिये। दूसरे

त्याग की समानता का सिद्धान्त भी प्रगतिशीलता की ओर ले जाता है। आय की वृद्धि के साथ-साथ मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता कम होती है। इसलिये १०० रुपये की आय-वाले मनुष्य से ५ रुपया लेने से और १,००० रुपये की आयवाले व्यक्ति से ५० रुपया लेने से दोनों व्यक्तियों पर त्याग का भार एक समान नहीं पड़ता। पहला व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा अधिक त्याग करता है। त्याग की मात्रा बराबर करने के लिये अधिक आय-वाले व्यक्ति को अधिक ऊंची दर से कर देना चाहिये। न्यूनतम सामूहिक सिद्धान्त अधिक प्रगतिशीलता की ओर ले जाता है। तीसरा तर्क यह है कि वर्तमान समाज में सम्पत्ति का वितरण असमान है और राज्य को चाहिये कि धनियों पर अधिक ऊंची दर से कर लगाकर आय की असमानता को कम करे। ऐसे बहुत कम अर्थशास्त्री मिलेंगे जो आय की वर्तमान असमानताओं को कम करने के पक्ष में हों। और कर-प्रणाली इसका बड़ा अच्छा साधन है। यह बात अवश्य है कि उपाय बहुत साधारण है और इसमें मूल समस्या हल नहीं होती। फिर भी इस उपाय को काम में लाने में कोई हर्ज नहीं है। फिर धनी वर्गों पर ऊंची दर से कर लगाने के पक्ष में एक बात और है। धनी व्यक्तियों में उपभोग की प्रवृत्ति प्रायः बहुत कम होती है। इसलिये एक वर्ग जैसे-जैसे धनी होता है, वैसे-वैसे उपभोग की प्रवृत्ति कम होती जाती है और उसके परिणामस्वरूप वस्तुओं और सेवाओं की प्रभावशील माग में भी घटी होती है। दूसरे शब्दों में माग इतनी कम हो जाती है कि उपस्थित पूरी श्रमिक शक्ति को काम नहीं मिल पाता। इस बेकारी को दूर करने का उपाय धनियों पर अधिक कर लगाना है, जिससे उपभोग की प्रवृत्ति बढ़े। अन्त में यह कहा जाता है कि आधुनिक राज्य एक शरीर के समान है। "साधारण सामाजिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति के लिये आचार का पहला नियम यह है कि शक्तिशाली को कमजोर व्यक्ति की सहायता करनी चाहिये। न्यायोचित यही होगा कि सबसे अधिक बली कंधों पर सबसे अधिक भार पड़े।"

इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि आय वृद्धि के साथ-साथ मुद्रा की उपयोगिता में ह्रास होता है, तो भी यह निश्चय करने का कोई तरीका नहीं है कि यह ह्रास किस दर से होता है। कर की ऐसी प्रगतिशील दर जानने का कोई साधन नहीं है, जिसके द्वारा त्याग के भार का बराबर बटवारा हो सके। ऐसी परिस्थिति में प्रगतिशील की दर मनचाही होगी।

एक तथा अनेक कर-प्रणाली (Single vs Multiple Tax System)–आरम्भ से ही कर प्रणाली को सरल बनाने की प्रवृत्ति रही है। बहुत से लोगों का मत है कि न्याय के किसी सिद्धान्त के आधार पर केवल किसी एक वस्तु पर कर लगाना चाहिये। भूमि को सम्पत्ति का आधार माननेवाले अर्थशास्त्रियों (Physiocrats) का मत था कि भूमि के आर्थिक लगान (economic rent) पर केवल एक कर लगाया जाय। उनका मत था कि अन्त में सब प्रकार के करों का भार लगान

पर ही पड़ना था। एक कर-प्रणाली के समर्थकों का विचार है कि इस प्रणाली में समाज की सम्पत्ति का नवीन वितरण हो सकता है।

इसी उद्देश्य से हेनरी जॉर्ज ने केवल भूमि पर एक कर लगाने की प्रणाली का समर्थन किया था। उसका विचार था कि लगान पर कर लगाने से उद्योग की उन्नति में बाधा नहीं पड़ती। उसका यह तात्पर्य तो सही था। लेकिन उसके

हेनरी जॉर्ज की कर योजना

सिद्धान्त में यह दोष था कि लोग अपनी आय भूमि में नहीं लगाने के सब रूपों में बच जायेंगे। एक व्यापारी कर से बच जायगा परन्तु जिस गरीब आदमी के पास अपना मकान है उसे कर देना पड़ेगा।

केवल एक कर प्रणाली के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव यह भी है कि केवल आय पर कर लगाना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि भूमि की अपेक्षा आय पर कर लगाना अधिक अच्छा होगा। लेकिन इस रीति में भी कुछ दोष है। एक

केवल आय पर कर

तो छोटी आय पर कर वसूल करना कठिन है और अन्त में उससे कोई लाभ नहीं होता। दूसरे, उससे बचने में बाधा पड़ सकती है। तीसरे, कुछ ऐसे जरिये बच जाते हैं जिन पर कर लगाना बहुत अच्छा होता है, जैसा कि एकाएक होने वाला लाभ।

एक कर प्रणाली के समर्थकों का उद्देश्य एक ऐसी कर व्यवस्था स्थापित करनी है, जो खर्चीली न हो। कर वसूल करने में खर्च बहुत कम होगा और कर का भार ठीक-ठीक मालूम हो जायगा। परन्तु एक कर प्रणाली के किसी

एक कर व्यवस्था के दोष

भी सिद्धान्त के विरुद्ध कुछ बातें समान रूप से कही जा सकती हैं। (क) कोई भी एक कर जो सिद्धान्त की दृष्टि से न्याययुक्त मालूम हो, विभिन्न व्यक्तियों के ऊपर भार की दृष्टि से अनुचित और न्याय विरुद्ध हो सकता है। परन्तु एक कर-प्रणाली के अन्तर्गत जो अपवाद हों उन्हें अनेक कर प्रणाली द्वारा ठीक किया जा सकता है। (ख) किसी भी आधुनिक राज्य को इतनी अधिक आय की आवश्यकता रहती है कि ऐसी एक कर-प्रणाली बनानी कठिन है। जिससे उसकी आवश्यकताएं पूरी हो सकें। (ग) केवल एक कर से वे सब लाभ प्राप्त न हो सकेंगे जो करों के विभिन्न मदों द्वारा प्राप्त हो सकते हैं—जैसे, आय, उपभोग, उत्तराधिकार इत्यादि। (घ) एक कर-प्रणाली में कर से बचना अर्थात् उसे न देना सरलता से सम्भव हो सकता है। परन्तु अनेक-कर-प्रणाली में करों से बचना उतना सरल न होगा, क्योंकि उसमें पकड़ने के कई तरीके रहते हैं।

एक कर प्रणाली में जो दोष हैं तथा प्रत्यक्ष व्यवहार में जिन त्रुटियों का अनुभव हुआ है, उनके परिणामस्वरूप आर्थर यंग ने उसका ठीक उल्टा एक सिद्धान्त बनाया। उसने लिखा है कि "यदि मुझे एक अच्छी कर प्रणाली की परिभाषा करनी पड़े तो वह यह होगी कि करों का थोड़ा-थोड़ा भार बहुत से मदों पर बाँट दिया जाय और बहुत बड़ा

भार किसी एक मद पर न लादा जाय।" यह विचार दूसरी दिशा में अति कर देता है और न यह सिद्धान्त की दृष्टि से उचित, न व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव है। "सब वस्तुओं पर वस्तुओं के यातायात पर तथा उत्पादन के विभिन्न तरीकों और रूपों पर कर लगाने से एक तो उद्योग की उन्नति में बाधा पड़ेगी, दूसरे कर-दाताओं को बड़ी असुविधा होगी और तीसरे उन्हें वसूल करने में बड़ा खर्च होगा।" सन् १८४५ के पहले इंग्लैण्ड की आयात-निर्यात कर व्यवस्था बहुत टेढ़ी मेढ़ी थी और हस्किसन के सुधारों ने उसे बहुत कुछ सरल बना दिया।

इसलिये सबसे अच्छी कर-प्रणाली न तो एक कर-प्रणाली है और न अनेक-कर-प्रणाली बल्कि इन दोनों के बीच में कोई प्रणाली होनी चाहिये। वेस्टाबल के अनुसार इस प्रकार की प्रणाली को हम 'बहु-कर-प्रणाली' (system of plural taxation) कह सकते हैं। कुछ बड़े-बड़े कर होने चाहिये, जिनका बोझ प्राय धनी लोगों पर पड़े और थोड़े से कर ऐसे होने चाहिये, जिनका भार थोड़ा बहुत समाज के प्रत्येक व्यक्ति पर पड़े। आय-कर, उत्तराधिकार, ऐश-आराम की वस्तुओं पर कर, पहले प्रकार का कर होगा। परन्तु जिन वस्तुओं का उपभोग सभी लोग करते हैं उन पर कर का भार सभी वर्गों के लोगों पर पड़ेगा।

अच्छी कर-प्रणाली की विशेषताएं (Characteristics of a Good Tax System)–ऊपर हमने जो विवेचना की है, उसके आधार पर अब हम यह कह सकते हैं कि अच्छी कर-प्रणाली में क्या विशेषताएं होती हैं। पहली विशेषता यह होती है कि ऊपर हमने कर-नीति के जिन सिद्धान्तों की विवेचना है, उन सिद्धान्तों का वह पालन करती है। दूसरे, करों के भार के वितरण के सम्बन्ध में न केवल पूरी कर व्यवस्था का भार बल्कि प्रत्येक कर के भार के वितरण पर सावधानी से विचार करना चाहिये। जिन करों के कारण समाज को निम्नतम सामूहिक त्याग करना पड़े तथा वर्तमान और भविष्य में उत्पादन तथा वितरण की व्यवस्था पर जिनका प्रतिकूल प्रभाव न पड़े वे कर ज्यादा अच्छे होते हैं। किसी एक वस्तु पर करों का भार बहुत अधिक न हो। करों का भार कर दाता की योग्यता के अनुसार निश्चित होना चाहिये। अन्त में, एक कर प्रणाली और अनेक कर-प्रणाली की अपेक्षा बहु-कर प्रणाली अधिक अच्छी होती है। इन कर प्रणालियों पर हम विचार कर चुके हैं, इसलिये उन्हें दुहराना उचित नहीं है।

कर देने की शक्ति (Taxable Capacity)–किसी समाज की कर देने की शक्ति की परिभाषा कई प्रकार से की गई है। अधिक प्रचलित परिभाषा यह है कि राष्ट्रीय आय में से वह सब खर्च काट कर जो देश की पूंजी तथा लोगों की योग्यता अक्षत बनाये रखने के लिये आवश्यक है, जो कुछ शेष बचता है, वही लोगों की कर देने की शक्ति का सूचक है। यह परिभाषा स्पष्ट नहीं है और इसमें कई कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं।

पूजी तथा लोगों की योग्यता अक्षत बनाये रखने के लिये जो खर्च आवश्यक होता है, उसे हम कैसे निश्चित करेंगे ? साधारण समय में हमें न केवल पूजी के ह्रास के लिये कुछ रुपया अलग रखना पड़ता है परन्तु उसकी वृद्धि में भी कुछ योग देना पड़ता है, जिससे पूजी बढ़ती रहे। धन की इन मात्राओं को हम किस प्रकार निश्चित करेंगे ? इसलिये इस परिभाषा में कई त्रुटियां हैं। यह परिभाषा कई परस्पर सम्बन्धित बातों पर निर्भर करती है। कुछ बातों को हम देख सकते हैं कुछ को नहीं और कुछ बातों को सतोषपूर्वक माप नहीं सकते।

तब फिर कर देने की शक्ति किन बातों पर निर्भर करती है ? पहले तो वह लोगों की मानसिक या मनोवैज्ञानिक स्थिति (psychology) पर निर्भर करती है। कभी-कभी ऐसा समय आता है, जैसे युद्धकाल में जब लोग अधिक त्याग करने को तैयार रहते हैं। विगत आर्थिक सकट के समय में इग्लैण्ड के लोग अधिक त्याग करके सरकार के साथ सहयोग करने को तैयार हो गये थे। कर देने के लिये लोग कतारों में घटों खडे रहते थे। इससे मालूम होता था कि लोगों की कर देने की शक्ति कुछ समय के लिये बढ़ गई थी। दूसरे, कर देने की शक्ति देश में राष्ट्रीय आय के वितरण पर निर्भर करती है। जब किसी व्यक्ति के पास २०,००० रुपये होते हैं तो उसकी कर देने की शक्ति उन बीस आदमियों से अधिक होती है, जिनमें से प्रत्येक के पास १,००० रुपये हैं। आय जितनी अधिक असमान होती है कर देने की शक्ति उतनी ही अधिक होती है। तीसरे, कर देने की शक्ति की तुलना में जनसख्या के आकार राष्ट्रीय आय के अनुपात पर निर्भर करती है। यदि राष्ट्रीय आय का अनुपात जनसख्या के अनुपात से अधिक बढ़ जाता है, तो प्रति मनुष्य पीछे आय भी बढ़ जाती है और उसके साथ-साथ कर देने की शक्ति भी बढ़ जाती है। चौथे वह देश की औद्योगिक परिस्थितियों और व्यवस्था पर निर्भर करती है। यदि उद्योग के लिये अधिक उत्पादक पूजी की आवश्यकता है, तो उस मद के लिये राष्ट्रीय आय का अधिक अश अलग रखना पड़ेगा और किसी समय विशेष पर कर देने की शक्ति कम रहेगी। परन्तु ऐसे देश की राष्ट्रीय आय भी ऊची होगी और कर देने की शक्ति बढ़ेगी। पांचवे, वह लोगों के रहन-सहन के दर्जे पर निर्भर करती है। रहन-सहन का दर्जा उनकी योग्यता, कार्यक्षमता और काम करने की इच्छा निश्चित करती है। छठवें वह कर प्रणाली पर निर्भर करती है। यदि प्रत्यक्ष करों का अधिक उपयोग किया जाय तो कर देने की शक्ति बढ़ेगी। अप्रत्यक्ष करों की अपेक्षा प्रत्यक्ष करों से अधिक आय प्राप्त की जा सकती है और साथ ही उससे देश के उत्पादक कार्यों को भी हानि पहुंचेगी। अन्तिम लोगों की कर देने की शक्ति सरकारी खर्च की प्रकृति पर भी निर्भर करती है। यदि सरकारी आय शिक्षा, सफाई, स्वास्थ्य इत्यादि पर खर्च की जाती है तो अन्त में लोगों की कर देने की शक्ति बढ़ेगी। परन्तु यदि राज्य की आय अस्त्र-शस्त्र इत्यादि युद्ध सामग्री बनाने पर खर्च होती है, तो कर देने की शक्ति घटेगी।

पचासवां अध्याय

करों का भार और उनका चालन

(Shifting and Incidence of Taxes)

भार और चालन का अर्थ (Meaning of Shifting and Incidence)–जब किसी व्यक्ति पर एक कर लगाया जाता है तो वह उसका भार अन्य लोगों के कन्धों पर लादने का प्रयत्न करता है। कर के भार को अन्य लोगों पर टालने के इस प्रयत्न को चालन कहते हैं। चालन में अपना भार खतम हो जाता है। कर के कारण किसी व्यक्ति पर मुद्रा का जो भार पड़ता है उसे कर का भार (incidence of tax) कहते हैं। भार की समस्या उस व्यक्ति को जानना है, जिसके ऊपर कर का भार पड़ता है। सरकार को जो रुपया मिलता है, वह किसकी जेब से आता है? अथवा यदि सरकार कर न लगाती तो वह रुपया किसकी जेब में रहता? भार के सम्बन्ध में यह प्रधान समस्या रहती है। कर का पहला दबाव (impact) उस व्यक्ति पर पड़ता है, जो सरकार को रुपया देता है। अब वह व्यक्ति उसका भार अन्य लोगों पर चलाने या खिसकाने का प्रयत्न करेगा। परन्तु कर का भार (incidence) उस व्यक्ति पर पड़ता है जो अन्त में कर के रुपये का भार सहन करता है।

कर व्यक्तियों पर अन्य प्रकार के बोझ भी डालता है। इसलिये मुद्रा का भार (money burden) और वास्तविक भार (real burden) तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष भार में भेद समझना आवश्यक है। करों के रूप में खजाने में जो रुपया जमा किया जाता है उसकी मात्रा से प्रत्यक्ष मुद्रा भार (direct money burden) मापा जाता है। करदाता को जिस आर्थिक हित का त्याग करना पड़ता है, उससे प्रत्यक्ष वास्तविक भार (direct real burden) निश्चित होता है। इसे कर का परिणाम (effect) कहते हैं। किसी कर के मुद्रा का अप्रत्यक्ष और भार भी हो सकता है। जिस वस्तु पर कर लगा है, उसके विक्रेता को कर पहले देना पड़ता है। बाद में ग्राहकों से अधिक कीमत लेकर वह कर की पूरी मात्रा वसूल कर सकता है। परन्तु इस वसूली में कुछ समय लगता है और उसी बीच में उसे कर के रूप में दी गई रकम पर ब्याज की हानि सहनी पड़ती है। यह कर का अप्रत्यक्ष मुद्रा भार होता है। इसी प्रकार अप्रत्यक्ष वास्तविक भार होता है। जब कर के कारण किसी वस्तु की वास्तविक कीमत बढ़ जाती है तो उपभोक्ता उसे कम मात्रा में खरीदेंगे। इसका मतलब यह है कि उपभोक्ता अपने स्वार्थ या हितों का त्याग कर रहे हैं। सुख का यह त्याग कर का अप्रत्यक्ष वास्तविक

भार (indirect real burden) होता है। कर चालन के सम्बन्ध में तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं—चालन की दिशा, चालन का रूप और चालन की मात्रा। चालन की दिशा आगे या पीछे दोनों ओर हो सकती है। यदि आयातकर्त्ता को कर देना पड़ता है, तो वह उसे आगे की ओर उपभोक्ताओं पर चला सकता है। यदि उसे इसमें सफलता नहीं मिलती तो वह उस पीछे की ओर उत्पादकों पर चलाने का प्रयत्न करेगा। चालन का रूप भी दो प्रकार से हो सकता है। या तो वस्तुओं की कीमत बढ़ाई जा सकती है अथवा कीमत न बढ़ाकर उनकी किस्म घटा दी जाती है। चालन की मात्रा कई बातों पर निर्भर रहती है उनका अध्ययन हम आगे करेंगे। यहां इतना कहना काफी है कि कभी-कभी पूरा कर उपभोक्ताओं के ऊपर चला दिया जाता है और कभी कभी उत्पादक, व्यवसायी और उपभोक्ता तीनों उसको बांटकर उसका भार सहते हैं।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर (Direct and Indirect Taxes)—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों का प्रश्न दबाव और भार से सम्बन्ध रखता है। जब दबाव और भार एक ही व्यक्ति पर पड़ता है तब कर प्रत्यक्ष कहा जाता है। अर्थात् जिस व्यक्ति से कर लिया जाता है उस पर मुद्रा देने का अन्तिम भार भी पड़ता है। वह भार दूसरों के ऊपर चालन नहीं कर सकता। आय-कर प्रत्यक्ष कर होता है। जो आदमी आय प्राप्त करता है, उसी पर यह कर भी लगाया जाता है और अन्त में वही उसका भार भी सहता है। जब किसी कर का दबाव और भार अलग-अलग व्यक्तियों पर पड़ता है, तब उसे अप्रत्यक्ष कर कहा जाता है। इसमें पहले कोई व्यक्ति कर देता है, परन्तु वह उसका भार अन्य लोगों पर चला देता है। किसी वस्तु पर जो कर लगाया जाता है वह अप्रत्यक्ष कर है। यद्यपि वस्तु विक्रेता उसे अदा कर देता है, पर वह वस्तु की कीमत बढ़ाकर उसका भार उपभोक्ताओं के ऊपर चला देता है। दोनों प्रकार के करों के बीच में जो अन्तर है, वह हमेशा साफ-साफ प्रकट नहीं होता। कभी-कभी विक्रेता अर्थात् आयातकर्त्ता कर का भार खरीदारों पर चलाने में सफल नहीं होता। तब मुद्रा का अन्तिम भार भी उसी को सहना पड़ता है।

प्रत्यक्ष करों के गुण (Merits of Direct Taxes)—प्रत्यक्ष कर में एक बड़ा गुण यह होता है कि वह प्रगतिशील होता है। उसका क्रम इस प्रकार बांधा जा सकता है कि धनियों के ऊपर अधिक भार पड़ेगा और जिन लोगों की आय निश्चित सतह से कम रहेगी, वे उस कर से मुक्त रहेंगे। इस प्रकार वह कर-नीति के प्रधान और सर्वप्रथम सिद्धान्त अर्थात् कर देने की योग्यता को पूरा करता है। प्रत्यक्ष कर का दूसरा गुण यह होता है कि वह मितव्ययी अर्थात् कम खर्चीला होता है। कर वसूल करने का खर्च बहुत कम होता है और अपव्यय बिल्कुल नहीं होता। तीसरा, लाभ यह है कि वह निश्चितता का सिद्धान्त पूरा करता है। करदाता यह जानता है कि उसे कर के

प्रत्यक्ष करों के लाभ

रूप में कितनी रकम देनी है और सरकार भी एक निश्चित आय पाने का भरोसा रखती है। चौथे प्रत्यक्ष कर लोचदार होते हैं। सरकार की आवश्यकताओं के अनुसार उनमें परिवर्तन किये जा सकते हैं। दरों को कम बदलने से कर की रकम घटाई और बढ़ाई जा सकती है। पांचवे, प्रत्यक्ष कर बहुत उत्पादक होता है। देश में जनसंख्या और सम्पत्ति की वृद्धि होने से प्रत्यक्ष कर की आय अपने आप बढ़ जाती है। अन्तिम प्रत्यक्ष कर देने से नागरिक उसके दंश का अनुभव करता है। राज्य के प्रति वह अपने कर्त्तव्य को समझता है। उसकी नागरिकता जागृत होती है और वह राज्य के कार्यों में विशेषकर सरकार के आर्थिक प्रश्नों में दिलचस्पी लेता है।

प्रत्यक्ष कर में कुछ दोष भी होते हैं। पहला दोष यह है कि कर दाता की दृष्टि से वह बहुत असुविधाजनक होता है। कर दाता को पूरा-पूरा हिसाब रखना पड़ता है और उसे सरकारी अफसरों के सामने पेश करना पड़ता है। फिर कुछ निश्चित समय के अन्दर कर उसे पूरी रकम एक साथ जमा करनी पड़ती है। आय तो थोड़ी-थोड़ी करके होती है,

प्रत्यक्ष करों के दोष

पर कर एक मुश्त देना पड़ता है। इससे काफी असुविधा हो सकती है। दूसरे प्रत्यक्ष कर एक प्रकार से ईमानदारी पर कर होता है। यदि सरकार के सामने झूठा हिसाब पेश किया जाय तो कर का भार बहुत हल्का हो सकता है। बहुत से लोग झूठा हिसाब देकर कर का भार हल्का करने के लालच में आ जाते हैं। कम से कम बहुत से लोगों के सामने यह लालच रहती है। तीसरे किसी भी प्रत्यक्ष कर में कर के कम की दर मनचाही रहती है और वह सरकारी अधिकारियों की इच्छा पर निर्भर रहती है।

गुणों और दोषों दोनों पर विचार करने के बाद हम यह कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष कर अन्त में न्यायोचित मितव्ययी लोचदार और उत्पादक होते हैं।

***अप्रत्यक्ष करों के गुण* (Merits of Indirect Taxes)**—*अप्रत्यक्ष* करों के पक्ष में प्रधान बात यह है कि जिन गरीब वर्गों पर प्रत्यक्ष कर लगाना मुश्किल है, उन तक पहुंचने का साधन अप्रत्यक्ष कर होता है। राज्य की सहायता प्रत्येक नागरिक को करनी चाहिये। लेकिन इस बात पर मतभेद हो सकता है। अप्रत्यक्ष कर के पक्ष में दूसरा

अप्रत्यक्ष करों के लाभ

तर्क यह है कि वह आय का आधार काफी विस्तृत कर देता है। किसी एक चीज पर बहुत भारी कर लगा देने से सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था पर हानिकारक प्रभाव पड़ सकते हैं। अप्रत्यक्ष करनीति इसलिये अच्छी होती है कि उसमें कई जरियों से आय प्राप्त हो जाती है और केवल प्रत्यक्ष करों पर निर्भर नहीं होना पड़ता। तीसरे, अप्रत्यक्ष कर बहुत सुविधाजनक होते हैं। प्रत्येक वस्तु की खरीद के साथ-साथ करों का भुगतान धीरे धीरे करके होता है। चूंकि हम कोई भी वस्तु एक समय बहुत अधिक मात्रा में एक साथ नहीं खरीदते, इसलिये करों का भार एक समय बहुत भारी नहीं मालूम पड़ता।

चौथें, इस कर से लोग बच नहीं सकते। कभी-कभी चोरी से माल लाकर अवश्य बेचा जाता है, पर इस प्रकार के सौदे अपवादस्वरूप रहते हैं। पांचवें, यदि यह कर बेलोचदार माग की वस्तुओं पर लगाया जाता है, तो वह काफी लोचदार होता है। कर की दर बदलने से उसकी आय भी बढ़ाई जा सकती है। अन्तिम शराब इत्यादि हानिकारक वस्तुओं पर, धनी व्यक्तियों के ऐश-आराम की वस्तुओं पर अप्रत्यक्ष कर लगाने से उनका उपभोग घटेगा और समाज की खरीद-शक्ति अधिक लाभकारी उपभोग की वस्तुओं की ओर झुकेगी।

अप्रत्यक्ष करो में लाभ की अपेक्षा दोष अधिक होते हैं। इसका विरोध सबसे अधिक न्याय के आधार पर किया जाता है। अप्रत्यक्ष कर न्यायसगत नहीं होता। उसकी प्रगति क्रमश घटती हुई होती है। धनियों की अपेक्षा उनका भार गरीबों पर अधिक पड़ता है। अप्रत्यक्ष कर आवश्यकताओं पर लगाना पड़ता है जिससे वह उत्पादक हो। लेकिन आवश्यकताओं पर कर लगाने से गरीब लोगों को नुकसान होता है। उनमें असमानता बढ़ती है जब कि "करनीति से आय की वितरण की असमानता बढ़ने की अपेक्षा घटना चाहिये।" अप्रत्यक्ष करों में दूसरा दोष यह है कि आवश्यकताओं को छोड़कर अन्य जरियों से इन करो से होनेवाली आय निश्चित होती है। यदि कर की दर ऊंची है तो माग घट जायगी और माग घटने से कर से होनेवाली आय भी घट जायगी।

अप्रत्यक्ष करों के दोष

अन्तिम अप्रत्यक्ष कर मितव्ययी न होकर खर्चीले होते हैं। उनको वसूल करने का खर्च भी काफी अधिक होता है। अप्रत्यक्ष कर प्राय उत्पादक अथवा आयातकर्ता द्वारा दिया जाता है। वस्तुओं की बिक्री द्वारा वह कर वापिस मिलने-मिलने कुछ महीने अवश्य बीत जाते हैं। इसलिये कर के रूप में दी गई रकम पर वह कुछ ब्याज अवश्य लेता है। इसलिये जिस वस्तु पर कर लगाया जाता है, उसकी कीमत कर से अधिक चढ़ती है।

इस बात पर मतभेद है कि राज्य की कुल आय का कितना अंश अप्रत्यक्ष करो द्वारा प्राप्त होना चाहिये। पुराने समय में इन करो से अधिकांश प्राप्त होता था, क्योंकि तब प्रत्यक्ष-कर-प्रणाली पूर्ण तथा सुव्यवस्थित नहीं थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में ग्लैडस्टन ने कहा था कि ये दो प्रकार के कर दो सुन्दर बहिनों के समान थे और वह किसी भी बहिन के प्रति पक्षपात नहीं दिखाना चाहते थे। परन्तु वर्तमान समय में यह मत जोर पकड़ता जा रहा है कि यद्यपि अप्रत्यक्ष करो को नहीं त्यागना चाहिये, तथापि आय का अधिक भाग प्रत्यक्ष करो द्वारा प्राप्त करना चाहिये।

करों के भार के साधारण सिद्धान्त (General Principles Governing the Incidence of Taxation)—करनीति के सिद्धान्तो के सम्बन्ध में दो बातें ध्यान में रखने लायक है। पहली बात यह है कि अन्य बातो के यथास्थिति

रहते हुए किसी वस्तु की माग जितनी अधिक लोचदार होगी, उतनी अधिक सम्भावना इस बात की होगी कि कर का भार विक्रेता के ऊपर पडेगा। दूसरी बात यह है कि अन्य बातो के यथास्थिति रहते हुए किसी वस्तु की पूर्ति जितनी अधिक लोचदार होगी, उतनी अधिक सम्भावना इस बात की होगी कि कर का भार उपभोक्ता के ऊपर पड़ेगा। जब किसी वस्तु की माग बेलोचदार होती है, तब कर की पूरी मात्रा (बराबर कीमत बढ जाने पर भी खरीदार अपनी माग कम नहीं करेगा। इस परिस्थिति में कर का भार खरीदार पर पडता है। परन्तु यदि वस्तु की माग बहुत लोचदार होती है तो जैसे ही वस्तु के दाम बढ़ेंगे, वैसे खरीदार अपना उपभोग कम कर देगा। इसलिये सम्भावना इस बात की है कि कर का भार विक्रेता के ऊपर पड़ेगा। इसी प्रकार जब पूर्ति लोचदार होती है, तब कीमत बढने पर माग गिर सकती है। परन्तु साथ ही पूर्ति में भी कमी की जा सकती है। उत्पादक कर की मात्रा के बराबर कीमत बढा सकता है।" साराश यह है कि पूर्ति कम करके विक्रेता कर का भार खरीदार पर डालना चाहता है। माग कम करके खरीदार भार विक्रेता पर डालना चाहता है। इन दो प्रकार के व्यक्तियो में कम से कम खर्च करके जो व्यक्ति अधिक योग्य होता है उसी के अनुकूल या पक्ष में परिणाम भी होता है।"[1] पूर्ति की लोच पर विचार करते समय हमें समय की अवधि पर भी विचार करना चाहिये। किसी वस्तु की पूर्ति अल्पकाल में कम नहीं की जा सकती। दीर्घकाल में पूर्ति माग के अनुसार घटाई या बढाई जा सकती है। इसलिये किसी वस्तु की पूर्ति अल्पकाल में बेलोचदार ही रहती है यद्यपि दीर्घकाल में वह बहुत लोचदार हो सकती है। इसलिये यद्यपि अल्पकाल में किसी कर का भार विक्रेता पर रह सकता है, परन्तु दीर्घकाल में वह उपभोक्ता के ऊपर पड सकता है। कर का भार अन्तिमरूप में माग और पूर्ति की लोच के ऊपर रहता है। इसे एक उदाहरण के द्वारा दिखाया जा सकता है। जिस वस्तु के बदले में अन्य कई वस्तुओ का उपयोग हो सकता है, उसकी माग बहुत लोचदार होती है। इसलिये यदि चाय पर कर लगाया जाय और काफी, कोको इत्यादि पेय पदार्थो पर न लगाया जाय तो विक्रेता चाय की कीमत अधिक नहीं बढा सकेगा। क्योंकि चाय की कीमत बढाने से उसके ग्राहक कम हो जायगे। इसलिये कर का भार विक्रेता पर पडेगा।

भार माग और पूर्ति की लोच पर निर्भर करता है

वस्तुओ पर किसी कर का भार (Incidence of a Tax on Commodities in General)—करो के भार के सम्बन्ध में ऊपर जिन सिद्धान्तो की विवेचना की गई है वे नाना प्रकार की वस्तुओ पर पडनेवाले करो का साधारण भार समझाने

---

[1] Dalton Public Finance, P. 54

द्विविधा खतम करके आपस में मिलकर यह निर्णय कर सकते हैं कि कीमत कर की मात्रा से अधिक कर दी जाय। फिर यदि सोने को छोडकर बाकी सब वस्तुओ पर आयात कर लगा दिया जाय तो अन्य वस्तुओ का आयात कम हो सकता है और सोने का आयात बढ सकता है। सोने का आयात अधिक होने से सब वस्तुओ की कीमतें बढ जायगी और जिन वस्तुओं पर कर लगा है उनकी कीमतें कर की मात्रा से अधिक बढ सकती है।

भूमि और मकानो पर कर का भार (Incidence of a Tax on Land and Buildings)—कर के भार की समस्या काफी गुथी हुई है। इसलिये इस समस्या के अलग-अलग पहलुओं का अलग-अलग अध्ययन करना अच्छा होगा। आर्थिक लगान (economic rent) पर जो कर लगाया जाता है उसका भार लगान प्राप्त करने वाले अथवा भूमिपति पर पडता है। उत्पादन की लागत जिसमें साधारण लाभ भी शामिल रहता है, छोडकर जो कुछ बच रहता है, उसे लगान कहते है। इस बचत में से कर दिया जाता है। कर भूमिपति पर इस कारण नही चलाया जा सकता कि वह केवल आर्थिक लगान प्राप्त करता है और उसके सिवा कोई बचत नही प्राप्त करता। लेकिन यह मान लिया जाता है कि भूमिपति को पूरा आर्थिक लगान मिल रहा है और कर पूरे लगान पर लगाया जाता है। परन्तु यदि कर केवल उस भूमि पर लगाया जाता है जिस पर (मान लो) जूट उत्पन्न किया जाता है, तब कर को बचाने के लिए लोग उस भूमि पर जूट के बदले अन्य फसलें उत्पन्न करेंगे। परिणाम-यह होगा कि जूट की उत्पत्ति कम हो जायगी और उसकी कीमत इतनी बढेगी कि उसकी कृषि पर भी उतना ही लाभ हो जितना कि अन्य फसलों की कृषि पर होता है।

किसी कर के भार का फसल की मात्रा के अनुपात में होना उस फसल की माग की लोच पर निर्भर करता है। कर से फसलो की उत्पादन की लागत बढ जाती है जिससे उनकी कीमत बढ जाती है। यदि माग बेलोचदार है, तो कीमत कर की पूरी मात्रा के बराबर बढेगी, क्योंकि कीमत बढने पर भी खरीदारो की माग पहले के बराबर ही रहेगी। कर का भार लगान पर नही पडेगा। बल्कि फसलो के उपभोक्ताओं पर पडेगा। यदि माग लोचदार है, तो कीमत बढने से माग घटेगी। उत्पादन घटेगा और सीमान्त भूमि पर कृषि होनी बन्द हो जायगी। इस प्रकार लगान घटेगा और कर का भार भूमिपति पर पडेगा।

मकानों पर कर का भार

मकानो पर कर का भार और अधिक जटिल होता है। कर का विभाजन मकान मालिक, किरायेदार और मकान बनाने वाले श्रमिक के बीच में भी हो सकता है। कर का अश उन लोगो पर भी पड सकता है, जो उस मकान में बिकनेवाली वस्तुओ के उपभोक्ता हैं। जब किसी मुहल्ला या स्थान में होनेवाले व्यवसाय को लोग अपनाते हैं, अर्थात् उसके ग्राहक बन जाते है, तो थोडी-सी कीमतें बढा देने से उस मकान के कर का भार उप-

भोक्ताओं पर चलाया जा सकता है। कीमतों में वृद्धि इतनी थोड़ी-सी की जायगी कि उन वस्तुओं को खरीदने के लिये लोग दूर की दुकानों पर नहीं जायगें।

किरायेदार और मकान मालिक के बीच में कर के बटवारे के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि मकानों की माग बेलोचदार है (और वह प्राय बेलोचदार रहती है) तो कर का भार अधिकतर किरायेदार पर पड़ता है। यदि किसी स्थान में मकानों की माग बहुत अधिक नहीं है परन्तु उस माग की पूर्ति सीमित है तो कर का भार अधिकतर मकान मालिक पर पड़ता है। परन्तु ऐसी परिस्थिति में मकान मालिक नये मकान नहीं बनवायेंगे और बाद में जनसख्या की वृद्धि के साथ-साथ जब मकानों की माग बढ़ेगी, तब मकान मालिक कर का भार किरायेदारों पर लादने में सफल हो सकेंगे। इसलिये दीर्घकाल में मकानों पर लगे हुए करो का भार अन्त में किरायेदारो पर ही पड़ता है।

एकाधिकार पर कर का भार (Incidence of a Tax On Monopoly)—हम देख चुके हैं कि एकाधिकारी का उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना रहता है और वह केवल उतनी ही मात्रा का उत्पादन और विक्रय करेगा जिससे उसकी सीमान्त आय और सीमान्त लागत बराबर रहे। यदि एकाधिकारी के लाभ पर कर एक मुश्त रकम के रूप में लगाया जाय तो वह कीमतो में परिवर्तन नहीं करेगा। कर देने के पहले उसे जिस कीमत पर जितनी अधिक आय होती है कर देने के बाद भी उसकी आय अधिकतम रहेगी। यदि कर आनुपातिक है अर्थात् मान लो एकाधिकार के लाभ पर १० प्रतिशत के हिसाब से लगाया गया है, तो भी कीमतों में परिवर्तन नहीं होगा, क्योंकि १० प्रतिशत कर देने के बाद भी उसकी आय अधिकतम आय की ९० प्रतिशत रहेगी और यह अन्य किसी भी आय के ९० प्रतिशत से अधिक है। इसलिये आनुपातिक आय कर का कुल भार एकाधिकारी सह लेगा। अब मान लो, आय कर एकाधिकारी के लाभ पर क्रमश बढ़ती हुई दर से लगाया जाता है। इसम भी कर-भार एकाधिकारी सह लेगा। जब विक्रय की अन्तिम इकाई से प्राप्त होनेवाली सीमान्त आय उस इकाई की सीमान्त लागत के बराबर होगी, तब उस बिन्दु या स्थिति में एकाधिकार साम्य (monopoly equilibrium) स्थापित होगा। चूंकि एकाधिकारी को इस इकाई पर कोई लाभ नहीं होता, इसलिये वह इस पर कर भी नहीं देता। इसलिये वह उत्पादन की मात्रा पहले के बराबर रखेगा और कीमत भी वही रहेगी। जब उत्पत्ति कर लगाया जाता है, तब कीमत में थोड़ी-सी वृद्धि कर देने से एकाधिकार के अन्तर्गत सबसे अधिक आय प्राप्त होती है। कर जोड़ देने से सीमान्त लागत सर्व बढ़ेंगे और यदि साम्य बनाये रखना है तो सीमान्त आय और कीमत भी बढ़ानी पड़ेगी। सीमान्त आय को सीमान्त लागत के बराबर करने के लिये कीमत कितनी बढ़ानी पड़ेगी, यह बात माग की लोच पर निर्भर करेगी। चूंकि कीमत बढ़ा दी जाती है, इसलिये कर का कुछ भाग उपभोक्ता

भी देता है। ऐसी परिस्थिति में यदि पूर्ति बिलकुल बेलोचदार न हो और माग बहुत अधिक लोचदार न हो तो कर का भार कुछ अंश में एकाधिकारी पर पडता है और कुछ अंश में उपभोक्ता पर।

आयात और निर्यात करो का भार (Incidence of Import and Export Duties)—आयात-निर्यात कर दो देशो के बीच मे होनेवाले व्यवसाय और वस्तु विनिमय मे बाधा डालते है। कर का भार दोनो देशो के बीच में बट जाता है। एक देश की माग की लोच दूसरे देश की वस्तुओ के लिये जैसी होती है, उसी के अनुसार कर का भार भी पड़ता है। कर का भार माग की तीव्रता के सीधे अनुपात में होता है। यदि भारतीय वस्तुओ के लिये इग्लैण्ड की माग अधिक तीव्र (अर्थात् अधिक बेलोचदार) है ओर भारत की माग इग्लैण्ड की वस्तुओ के लिये उतनी तीव्र नही है, तो सम्भावना यह है कि करों के भार का अधिक अंश इग्लैण्ड के उपभोक्ताओ पर पड़ेगा।

आयात पर लगनेवाले करो का भार देश और विदेशों में माग और पूर्ति की लोच पर निर्भर रहेगा। देश में पूर्ति अधिक और लोचदार होने से कर लगानेवाले देश में कीमतें कम बढेंगी और विदेशो में अधिक बढेंगी। यदि कर लगे हुए माल की कीमत मे थोडी-सी भी वृद्धि होने से देश में उस माल का उत्पादन बढ़ता है, तो देश में उस वस्तु की कीमत मे बहुत कम वृद्धि होगी और विदेशा में उसकी कीमत काफी गिरेगी। इसी प्रकार यदि देश की अपेक्षा विदेशो से होनेवाली पूर्ति कम लोचदार और मात्रा में कम है, तो कर लगानेवाले देश में कीमतों मे वृद्धि कम होगी। यदि विदेशी उत्पादक अपनी पूर्ति कम नही कर सकता, क्योंकि उसके कारखाने विशेष प्रकार के माल बनाते हैं, जिनकी माग हमारे देश मे है अथवा उसे हमारे देश के बदले अन्य बाजार नही मिलते तो उसे लाचार होकर कम कीमत पर बेचना पडेगा। यदि वह तुरन्त अपनी पूर्ति बदल सकता तो वह ऐसा करने पर लाचार न होता। तीसरे, यदि स्वदेश की माग कर लगाये हुए माल के लिये बहुत लोचदार है, तो उस देश मे उस वस्तु की कीमत में बहुत थोडी-सी वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि विदेशी माग बहुत लोचदार होती है तो आयात करनेवाले देश में उस वस्तु की कीमत में वृद्धि अधिक होगी।

जाहिर है कि आयात कर का भार स्वदेश के उपभोक्ताओ पर पडता है, क्योंकि कर लगाने से आयातकर्त्ताओ के साधारण लाभ घट जाते है। यदि उन्हे साधारण लाभ भी नही मिलता तो वे उन पेशा या धन्धो में जाने का प्रयत्न करेंगे, जहा साधारण लाभ मिलने की अधिक सुविधाए है। इसलिये उन वस्तुओ की पूर्ति कम हो जायगी। उनकी कीमतें बढेंगी और तब तक कि आयातकर्त्ता अपने साधारण लाभ न प्राप्त करने लगेंगे। इसलिये साधारणत आयात कर का भार स्वदेश के उपभोक्ताओ पर पड़ता है। परन्तु कभी-कभी ऐसे मौके भी आ सकते हैं, जब कर का भार विदेशियो पर भी डाला जा सकता है। हम देख चुके है कि जब स्वदेश की पूर्ति बहुत लोचदार होती है और

विदेश की पूर्ति बेलोचदार होती है तो कर लगी हुई वस्तुओं की कीमतें कर लगानेवाले देशों में कम बढ़ेंगी। अथवा जब स्वदेश की माँग बहुत लोचदार होगी और विदेश की माँग बेलोचदार होगी तब भी यही बात होगी। इन सब परिस्थितियों में विदेशी उत्पादक को कर का पूरा अथवा आंशिक भार सहना पड़ेगा। इसी प्रकार विदेश से जो आयात होता है वह यदि विदेश के उत्पादन को देखते हुए बहुत अधिक है और आयात करनेवाले देश के उत्पादन को देखते हुए बहुत अधिक है तो कीमत में बहुत थोड़ी वृद्धि होगी और कर के भार का कुछ अंश विदेशी सहन करेगा।

इसी प्रकार यदि कोई देश कच्चे माल का उत्पादन करता है जिनकी माँग प्रायः बेलोचदार होती है और वह बने हुए माल का आयात करता है, जिनकी माँग लोचदार होती है तो आयात अथवा निर्यात करों के कुछ अंश विदेशियों द्वारा सहन किये जा सकते हैं। परन्तु यदि विदेशी उत्पादक अपना माल अन्य बाजारों में भी बेच सकते हैं, अथवा कुछ ऐसे अन्य जरिये हैं, जहाँ उन्हें कच्चे माल प्रतियोगितापूर्ण परिस्थितियों में मिल सकते हैं, तो वे उन करों का भार नहीं सहेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि विदेशियों पर इन करों का भार बहुत कम अर्थात् केवल कभी-कभी पड़ता है।

आय-कर का भार (Incidence of Income Tax)—आय कर के भार के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत हैं, जो एक दूसरे के विरोधी हैं। एक वर्ग का अर्थात् व्यवसायी वर्ग का मत है कि कीमत की वृद्धि के रूप में आय-कर का चालन किया जा सकता है और किया जाता है। "जब कोई व्यवसायी कीमतें बाँधने या निश्चित करने के लिये अपने लागत खर्चों का अनुमान लगाता है, तब वह बहुधा, कम से कम अप्रत्यक्ष रूप में, उस आय-कर को भी जोड़ लेता है, जो उसे देना पड़ेगा, और यदि बाजार की परिस्थितियाँ अनुकूल हुईं तो वह कीमतें ऐसी सतह पर बाँधेगा, जिससे उसे मनवांछित अथवा वास्तव में आवश्यक न्यूनतम आय प्राप्त हो सके।"[1] परन्तु अर्थशास्त्रियों का मत इस मत के विरुद्ध है। उनका कहना है कि आय-कर का चालन नहीं किया जा सकता और (कुछ अपवादों को छोड़कर) वह कीमतों में प्रवेश नहीं कर सकता।

हमें इस प्रश्न पर विचार करना चाहिये कि व्यवसायी को अपने लाभ पर जो आय-कर देना पड़ता है, क्या वह उसका भार ऊँची कीमतों के रूप में उपभोक्ताओं पर थोप सकता है?

एकाधिकारी के सम्बन्ध में हम जानते हैं कि वह ऐसी कीमत बाँधता है, जिससे उसे अपने एकाधिकार से अधिकतम आय प्राप्त हो सके। चूँकि उसके लिए यह सर्वोत्तम

[1] Evidence of the Association of British Chambers of Commerce before Colwyn Committee Quoted in the Report, p. 109.

कीमत हागी इसलिये वह अन्य किसी कीमत से अधिक अच्छा लाभ नहीं प्राप्त कर सकता।

परन्तु जो व्यवसायी प्रतिद्वन्द्विता की परिस्थितियों में काम करता है, उसके लिये अधिक कीमतें रखकर आय-कर का भार चालन करना कठिन होगा। कीमत बढ़ाने की उसकी वह शक्ति नहीं होती, जो कि एकाधिकारी की होती है। प्रतियोगिता के कारण उसकी शक्ति तीन प्रकार से सीमित हो जाती है। पहले तो उसकी वस्तुओं की तुलना उन वस्तुओं से की जायगी जिनके गुण में थोड़ा-सा ही अन्तर है। दूसरे वह अन्य प्रतियोगियों की पूर्ति पर नियंत्रण नहीं कर सकता। यदि वह पूर्ति सीमित कर देगा तो अन्य प्रतियोगी अपने माल से बाजार भर देंगे। तीसरे, उसे हराने के लिये अन्य प्रतियोगी अपनी लागत कम कर सकते हैं और वह उन्हें ऐसा करने से नहीं रोक सकता। जिस बाजार में प्रतियोगिता रहती है उसमें किसी भी समय कीमत सीमान्त उत्पादक के लागत खर्च के बराबर हो सकती है। चूंकि सीमान्त उत्पादकों को अतिरिक्त बचत नहीं होती, अथवा उनका लाभ इतना थोड़ा होता है कि उस पर आय कर नहीं लगाया जा सकता, इसलिये कीमतों में आय-कर का समावेश नहीं हो सकता।

सम्मिलित पूंजी की कम्पनियों में किसी कम्पनी के लाभ पर एक निश्चित दर से (flat rate) कर लगाया जाता है। निजी व्यवसाय के मालिकों की तरह सम्मिलित पूंजी की कम्पनी के डाइरेक्टरों को अपने स्वार्थ के लिये कर चालन करने का लालच नहीं रहता। फिर लाभ पर उसके उद्गम स्थान पर ही एक निश्चित दर से कर लगा दिया जाता है परन्तु जिन हिस्सेदारों की आय बहुत अधिक रहती है, उन्हें अतिरिक्त कर (sur tax) देना पड़ता है और जिन हिस्सेदारों की आय थोड़ी-सी रहती है, उन्हें कर से वापिसी के रूप में कमी अथवा बट्टा (rebate) मिलता है। इसलिये कम्पनी को जिसमें कि कई तरह के हिस्सेदार रहते हैं, कीमतें बढ़ाने का कोई लालच नहीं रहता। निजी फर्मों या कम्पनियों में कर के दर अलग-अलग होते हैं। इसलिये यदि फर्म आय-कर को कीमतों में जोड़ना है, तो प्रत्येक फर्म की कीमतें अलग-अलग होंगी। परन्तु कुछ फर्म ऐसे होंगे जो अपनी प्रतियोगियों की कीमतों में हटा सकते हैं। परन्तु वड़े फर्म कीमतें बढ़ाकर ऐसी परिस्थिति नहीं ला सकते।

फिर विदेशी प्रतियोगिता का भी ध्यान रखना पड़ता है। यदि देशी उत्पादक ऊंची कीमतें रखते हैं, तो देशी उत्पादक अपनी कीमतें घटाकर सारा बाजार अपने हाथ में ले लेंगे। विदेशी उत्पादकों को अपने देशों में आय-कर अवश्य देने पड़ेंगे। परन्तु विभिन्न देशों में करों के दर इतने विभिन्न होते हैं कि यह आशा करना व्यर्थ है कि विदेशी और देशी उत्पादक एक ही दर से कीमतें बढ़ावेंगे।

अन्त में आय-कर एक सामान्य कर होता है। यदि वह कीमतों में सम्मिलित होता है, तो कीमतों का पूरा सतह उठेगा। परन्तु जब तक साख और मुद्रा में स्फीति न होगी, तब तक मूल्य-सतह में व्यापक वृद्धि अधिक समय तक नहीं

ठिक सकती। इस तरह मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त से यह बात प्रकट होती है। अन्य वस्तुओं के यथास्थिति रहते बिना मुद्रा स्फीति की सम्य-स्तर व्यापक रूप से ऊंचा नहीं उठ सकती। लेकिन यह विश्वास करने का कोई प्रमाण नहीं है कि आय-कर की वृद्धि होने से प्रामाणिक अर्थात् कानून-ग्राह्य मुद्रा अथवा बैंक जमा की मात्रा में वृद्धि हो जायगी।

प्रोफेसर सेलिगमेन का कहना है कि जिस काल में कीमतों की वृद्धि तेजी से होती है, उस काल में सीमान्त उत्पादकों के सामने कीमत कम करने की प्रलोभन या समस्या नहीं रहती और यदि उस काल में किसी प्रकार का कर लगे तो उन्हें कीमत बढ़ाने का एक बहाना मिल जायेगा। लेकिन यह केवल अल्पकाल में सम्भव है। एक और परिस्थिति में भी आय-कर कुछ हद तक कीमतों में जोड़ा जा सकता है। जब कोई फुटकर विक्रेता किसी एक स्थान में अपूर्ण बाजार में बिक्री करता है तब वह ऐसा कर सकता है और खरीदार कीमत के इस थोड़े से अन्तर के लिये किसी दूर की दूकान में अपनी दैनिक खरीद के लिये जाना पसन्द नहीं करेगा। परन्तु इसमें भी कीमत में बहुत थोड़ी वृद्धि होनी चाहिये। नहीं तो यहां भी प्रतियोगी उत्पन्न हो जायगें।

इस कर का प्रभाव सीमान्त आय और सीमान्त-लागत रेखाओं दोनों पर पड़ता है। बचत की मात्रा पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। यदि कर की ऊंची दर के कारण कुल आय की एक निश्चित मात्रा में से वास्तविक आय कम होती है तो साहसी उत्पादक आय प्राप्त करने में कम समय और शक्ति व्यय करेंगे, अर्थात् उनका उत्साह घट जायगा इसका प्रभाव कीमतों पर पड़ेगा।[१]

करों का पूंजीकरण (Capitalisation of Taxes)—जब किसी स्थायी सम्पत्ति से प्राप्त होनेवाली आय पर कर लगाया जाता है, तो उस सम्पत्ति से होनेवाली वास्तविक आय घट जाती है। इसलिये उस सम्पत्ति का मूल्य घट सकता है। इस क्रिया को करों का पूंजीकरण (Capitalisation or amortisation of taxes) कहते हैं। ब्याज की प्रचलित दर पर कर की मात्रा का पूंजीकरण कर दिया जाता है और सम्पत्ति का विक्रय मूल्य कर की मात्रा के बराबर घट जाता है। एक उदाहरण ले लिया जाय। मान लो, भूमि के एक खंड से १०० रु० लगान के रूप में प्राप्त होता है और ब्याज की दर ५ प्रतिशत है। तब इस हिसाब से भूमिखंड का मूल्य २,००० रुपया होगा। मान लो, सरकार भूमि के लगान पर १० प्रतिशत की दर से कर लगाती है। तब कर देने के बाद असली लगान ९० रुपया होता है। अब भूमि का मूल्य १८०० रु० हो जाता

करों का पूंजीकरण

१. Harris. The National Debt and the New Economics, p. 215–16.

है। भविष्य में खरीदार इस बात का ध्यान रखेंगे कि उन्हें लगान पर १० प्रतिशत कर देना पड़ेगा। इसलिये उस भूमि को खरीदते समय वे कम कीमत लगावेंगे, जिससे कि उन्हें अपनी रकम पर कम से कम ५ प्रतिशत ब्याज तो मिले। भविष्य के खरीदार प्रति वर्ष कर तो अवश्य देंगे परन्तु उसका भार उनके ऊपर न पड़ेगा, क्योंकि उस भूमि का मूल्य उन्होंने कम दिया है। पहले जो व्यक्ति भूमि का स्वामी था, उसे उस कर के मूल्य का प्रतिशोध (amortisation or write off) करना पड़ेगा। इस प्रकार कर के जिस मूल्य का पूंजीकरण किया जाता है उसकी कुल मात्रा सम्पत्ति के विक्रेताओं को सहनी पड़ेगी। यह बात अवश्य है कि यदि कर कई वर्षों के बाद दिया जाता है, तो कर लगी हुई सम्पत्ति के वर्तमान मालिकों को अतिरिक्त लाभ या पुरस्कार (bonus) मिल जाता है क्योंकि उसमें उनकी सम्पत्ति का मूल्य बढ़ जाता है।

किसी कर का पूंजीकरण करने के पहले कई शर्तों का पूरा होना आवश्यक होता है। कर ऐसी स्थायी सम्पत्ति पर लगाना चाहिये, जिसकी पूर्ति सम्पत्ति की कीमतों में होनेवाले परिवर्तनों के साथ-साथ मनचाहे रूप में न बदली जा सके। यदि सम्पत्ति टिकाऊ नहीं है तो उसके मूल्य में ह्रास होने से उसकी पूर्ति भी कम हो जायगी। इसलिये कीमत बढ़ जायगी और कर का भार खरीदारों पर पड़ेगा। दूसरी शर्त यह है कि कर भेदात्मक (differential) होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि पूंजी लगाने के और भी कई जरिये हैं, जिन पर कर नहीं लगता है अथवा जिन पर बहुत कम दर से कर लगता है। कर के एकाकी और असाधारण प्रकृति का होने के कारण ही उसका पूंजीकरण सम्भव होता है। मान लो, केवल भूमि पर कर लगता है, सरकारी ऋण-पत्रों पर कर नहीं लगता। पूंजी लगानेवाले अपनी पूंजी या तो भूमि में लगा सकते हैं या सरकारी ऋण-पत्रों में और सरकारी ऋण-पत्रों में पूंजी लगाने से उन्हें ५ प्रतिशत ब्याज मिलेगा। तब भूमि में वे तब तक अपनी पूंजी न लगावेंगे जब तक कि उन्हें कम से कम ५ प्रतिशत ब्याज न मिलेगा। इसलिये जब भूमि पर १० प्रतिशत का कर लगाया जाता है तो जिस भूमि से कुल लगान १०० रुपया मिलता है, तो कर देने के बाद ९० रु० मिलता है उसके लिये खरीदार केवल १८०० रुपया देंगे। परन्तु यदि पूंजी लगाने के अन्य सब जरियों पर भी एक बराबर कर लगा है, तो सम्पत्ति के खरीदारों को अन्य जगह अधिक अच्छा सौदा या शर्तें नहीं मिलेंगी। ऐसी परिस्थितियों में कर का पूंजीकरण नहीं हो सकता। कर की आकस्मिकता (unexpectedness) भी पूंजीकरण के पक्ष में एक विशेष बात हो जाती है। यदि किसी कर के बारे में पहले से मालूम हो जाय कि यह लगनेवाला है, तो उसका बट्टा आरम्भ से ही लगने लगता। परन्तु जब कोई भेदात्मक कर किसी टिकाऊ सम्पत्ति पर एकाएक लगा दिया जाता है, तब बेचनेवालों को बेचते समय अपनी सम्पत्ति के मूल्य में कुछ घटी या ह्रास सहने के सिवा और कोई उपाय नहीं रहता।

इस प्रकार यदि कोई कर व्यापक (universal) नहीं है, तो किसी भी प्रकार की टिकाऊ सम्पत्ति पर उसका पूंजीकरण किया जा सकता है। साधारण आय-कर यह शर्त पूरी नहीं करता क्योंकि वह सामान्य अर्थात व्यापक होता है, एकाकी (exclusive) नहीं होता। परन्तु आय-कर का जो भाग केवल सम्पत्ति से प्राप्त आय पर पड़ता है यदि वह साधारण आय-कर से अलग किया जा सकता है तो उसका पूंजीकरण हो सकता है। जैसा कि हम देख चुके हैं भूमि के लगान पर लगनेवाले भेदात्मक कर का पूंजीकरण किया जा सकता है। इसी प्रकार अनिश्चित लाभों (excess profits) पर लगनेवाले कर का भी पूंजीकरण या प्रतिभार हो सकता है और उस व्यवसाय के विक्रय मूल्य घट जायेंगे। मान लो एक कम्पनी को ५० प्रतिशत की दर से लाभ हो रहा है जब कि साधारण लाभ की दर १० प्रतिशत है, तो जो कम्पनी केवल साधारण लाभ प्राप्त कर रही है उसकी अपेक्षा पहली कम्पनी के हिस्सों की कीमत पांचगुनी अधिक होगी। अब मान लो एक कर लगाया जाता है और अतिरिक्त लाभ कम होकर केवल ३० प्रतिशत रह जाता है। तब पहली कम्पनी के हिस्से दूसरी की अपेक्षा केवल तीनगुने अधिक रहेंगे। इसी प्रकार एकाधिकार से प्राप्त होनेवाले लाभों पर कर लगाने से लाभ की मात्रा घट जायगी और एकाधिकार की सम्पत्ति का विक्रय मूल्य कर के पूंजीकरण के मूल्य की मात्रा के बराबर कम हो जायगा।

करों में सम्मिश्रण का सिद्धान्त

पुराना कर ('An Old Tas')—बहुत से पूंजीपति प्रायः कहा करते हैं कि पुराना कर कोई कर नहीं होता और उसका भार विशेषरूप से शायद ही कोई अनुभव करता है। उदाहरण के लिये यह बात प्रायः कही जाती थी कि भारत में नमक कर एक पुराना कर था और उसे उठाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसलिये हमें इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये। इस प्रश्न के पक्ष में कई बातें कही जा सकती हैं। एक तर्क हम ऊपर देख चुके हैं। एक पुराने कर का पूंजीकरण किया जा सकता है और यद्यपि लोग उसे प्रति वर्ष देते रहते हैं, परन्तु उस पर उनका भार नहीं पड़ता। किन्तु सब पुराने करों का पूंजीकरण नहीं किया जाता। जब कोई कर किसी टिकाऊ सम्पत्ति पर होता है और जब वह भेदात्मक होता है, केवल तब उसका पूंजीकरण हो सकता है। दूसरा तर्क सम्मिश्रण सिद्धान्त (diffusion theory) के समर्थकों द्वारा दिया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कर का भार समाज पर इस प्रकार वितरण कर दिया जाता है कि उसका ठीक-ठीक भाग निश्चित करना सम्भव नहीं होता। सम्मिश्रण द्वारा अन्तिम भार सारे समाज पर फैला दिया जाता है। इस सिद्धान्त के एक महत्त्वपूर्ण समर्थक ने कर लगाने की तुलना शरीर में खून देने की क्रिया से की है। जब शरीर के किसी नस से खून लिया जाता है, तब केवल उस नस में खून की कमी नहीं होती। शरीर की सब नसों में खून की मात्रा कम हो जाती है। यही हाल करों का भी

है। जब किसी एक स्थान या विन्दु पर कर लगाया जाता है तब उसका भार केवल उस विन्दु पर नहीं पड़ता बल्कि सब बिन्दुओं पर पड़ता है। इसलिये समय पाकर एक पुराने कर का सम्मिश्रण हो जायगा और किसी एक व्यक्ति पर उसका भार न पड़ेगा और न अन्य लोग उससे बच सकेंगे।

कर के सम्मिश्रण का सिद्धान्त एक व्यर्थ सिद्धान्त है। इसमें सन्देह नहीं कि जैसे-जैसे समय बीतता जाता है वैसे-वैसे किसी कर विशेष का प्रभाव भी सारे समाज में फैलता जाता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हम किसी कर का ठीक-ठीक भार निश्चित नहीं कर सकते। पुराना कर भाररहित कर भी नहीं हो सकता। जब भारत में नमक पर से कर हटाया गया तब नमक की कीमत तुरन्त कम हो गई। इसलिये उस हद तक उपभोक्ताओं को लाभ हुआ। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि पुराना कर कोई कर ही नहीं होता। यह बात जरूर है कि कालान्तर में लोग पुराने कर के आदी हो जाते हैं और जब वे उसके देने के आदी हो जाते हैं तथा उसे देना आवश्यक समझने लगते हैं, तब उसके भार का अनुभव वे उस प्रकार नहीं करते जिस प्रकार कि एक नये कर के भार का अनुभव करते हैं। इस तरह हम यह भी कह सकते हैं कि पुराना घाव कोई घाव नहीं होता। परन्तु यदि करदाता किसी कर के भार का अनुभव नहीं करते, तो यह कर का कोई बड़ा गुण नहीं है। पुराने कर के पक्ष में एक अन्य तर्क भी है। सब करों के चालन में समय लगता है और जब कर लगाया जाता है तब स्थिर होने के पहले प्रारम्भ में काफी कठिनाई और अस्तव्यस्तता का अनुभव होता है। अर्थात् पुराना कर चालित होकर स्थिर हो जाता है। परन्तु इन तर्कों से यह प्रमाणित नहीं होता कि पुराना कर कोई कर ही नहीं है।

इक्यावनवां अध्याय

कुछ कर विशेष

(Particular Taxes)

किसी कर के परिणाम (Effects of a Tax)—किसी कर के परिणाम निश्चित करने का अर्थ यह जानना है कि उस कर द्वारा अन्त में कौन-सी आर्थिक समस्याएं उत्पन्न होती हैं। कर के भार (incidence) और परिणाम (effect) में अन्तर होता है। भार का सम्बन्ध प्रत्यक्ष मुद्रा भार सहने से है। परन्तु परिणाम का सम्बन्ध उत्पादन की शक्ति आय के वितरण तथा बचत करने की इच्छा और योग्यता पर पड़ने

वाले प्रभावो से है। किसी कर के परिणामो का अध्ययन हम तीन दृष्टियो से कर सकते है। अर्थात् कर का लोगो की काम करने की इच्छा और बचत करने की इच्छा पर क्या प्रभाव पडता है। लोगो की काम करने की शक्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है और आर्थिक साधनो के वितरण पर क्या प्रभाव पडता है।

आय-कर और उसके परिणाम (Income Tax and Its Effects)–आय-कर का लोगो की काम करने की योग्यता पर जो प्रभाव पडता है वह आय-कर की सतह और जिन पर कर लगाया जाता है आय के उन वर्गों पर निर्भर करता है। साधारणत ऐसी प्रथा है कि एक निश्चित सतह के नीचे की आयो पर कर नही लगाया जाता और उस सतह के ऊपर जैसे-जैसे आय बढती जाती है, वैसे-वैसे कर की दर भी बढती जाती है। अधिक आय की एक दूसरी सतह पर सुपर टैक्स या अतिरिक्त कर (Super-tax) लगाया जाता है। परन्तु कर की दर इतनी अधिक कभी नही रखी जाती कि सारी आय कर के रूप में चली जाय। जहा तक कर-मुक्ति की सतह श्रम वर्ग तथा निम्न मध्यम वर्ग के रहन-सहन के दर्जे को ध्यान में रखकर निश्चित की जाती है वहा तक यह कहा जा सकता है कि आय-कर का कुप्रभाव कार्य-क्षमता की आवश्यक शर्तों पर नही पडता। फिर साधारण आयों पर बहुत हलका कर लगाया जाता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि आय-कर का प्रभाव रहन-सहन के दर्जे पर नही पडता और इस कारण उससे काम करने की क्षमता कम नही होती। अब रहा आय-कर की बचत करने की शक्ति पर प्रभाव। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक कर लोगों की बचत करने की शक्ति घटा देता है। यही हाल आय-कर का भी है। परन्तु एक व्यक्ति की बचत करने की शक्ति और कुल देश की बचत करने की शक्ति में अन्तर हो सकता है। यदि आय-कर से प्राप्त रकम को सरकार ऋणो का ब्याज देने में खर्च करती है तो मुद्रा का एक बचत करनेवाले वर्ग से दूसरे बचत करनेवाले वर्ग को प्रत्यक्ष परिवर्तन होता है। जिन लोगों के पास काफी बॉन्ड या ऋण-पत्र होते है, वे इस ब्याज की बचत करेंगे, क्योंकि उनकी उपयोग की प्रवृत्ति धनी कर-दाताओ के समान मानी जाती है। इसलिये जब यह प्रश्न किया जाता है कि क्या आय-कर देश की बचत करने की शक्ति कम कर देता है, तब उसका उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि आय-कर से प्राप्त रकम किस प्रकार खर्च की जाती है। फिर सम्मिलित पूजी की कम्पनियों द्वारा देश की अधिकाश पूजी की अपने आप बचत हो जाती है। पूजी के इस भाग का लोगों की काम करने और बचत करने की शक्ति से बहुत कम सम्बन्ध है।

इसके बाद आय-कर का मनोवैज्ञानिक पहलू आता है और यह प्रश्न काफी पेचीदा है। आय-कर का लोगों की काम करने और बचत करने की शक्ति पर किस प्रकार प्रभाव पडता है? इस सम्बन्ध में दो मत है और दोनो काफी उग्र है। एक मत के लेखको

आय-कर और काम तथा बचत करने की शक्ति

का कहना है कि आय-कर की ऊंची दर किसी व्यक्ति की काम करने और बचत करने की शक्ति घटा देती है, क्योंकि उसकी आय का काफी बड़ा भाग कर के रूप में चला जाता है। दूसरे मत के लेखकों का कहना है कि इस कर से बचत करने की प्रवृत्ति और दृढ़ हो जाती है क्योंकि भविष्य में कर देने के लिये कर दाता अपने लिये तथा अपने कुटुम्ब के लिये काफी रकम संग्रह कर लेना चाहता है। इस मत के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि बहुत से धनी लोग मान प्रतिष्ठा तथा सांसारिक सफलता के लिये सम्पत्ति की कामना करते हैं। इसलिये आय-कर लगने से ये लोग पहले की अपेक्षा अधिक मुस्तैदी से काम करेंगे। लोगों के अधिक या कम काम करने का प्रश्न उनकी आय की मांग की लोच पर निर्भर करता है। यदि मांग लोचदार है, तो काम करने और बचत करने की इच्छा घटेगी। परन्तु यदि मांग बेलोचदार है, तो काम और बचत करने की इच्छा बढ़ेगी। प्रायः लोग रहन-सहन के एक दर्जे के आदी हो जाते हैं। इसलिये आय की एक विशेष रकम के लिये उनकी मांग बेलोचदार हो जाती है। इसी प्रकार यदि बुढ़ापे में अथवा बच्चों के लिये एक विशेष रकम आवश्यक हो जाती है तो बचत की मात्रा कम न होगी। यह बात अवश्य है कि बचत करनेवाले कुछ लोग ऐसे भी रहते हैं, जिन्हें हमेशा यह शंका बनी रहती है कि बचत करें या न करें। इस प्रकार के लोगों पर कर का प्रभाव हानिकारक होगा। परन्तु आय-कर से सम्मिलित पूंजी की कम्पनियों की बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। उन्हें प्रति वर्ष काफी बड़ी मात्रा में धन की बचत करनी पड़ती है। उनकी समस्याएं व्यक्तियों की समस्याओं के समान नहीं रहतीं। कम्पनी के लाभ पर एक मोटी दर (flat rate) से आय-कर लगा दिया जाता है। फिर धनी हिस्सेदारों की कुल आय पर अधिक दर से आय-कर लगता है। गरीब हिस्सेदारों को, जिनकी आय कर से मुक्त रहती है, कुछ कमी या बट्टा (rebate) मिल जाता है। यदि हम सम्पूर्ण व्यवसाय पर दृष्टि दें तो देखेंगे कि उसे लाभ या हानि कुछ भी नहीं होती। इसलिये कर लगाने से व्यवसायों की बचत पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा।

बचत करनेवाले पर कर के मनोवैज्ञानिक परिणाम का विचार करना भी यहां अनुचित न होगा। जब लोग कोई कर देने के आदी हो जाते हैं, तो वे धीरे-धीरे उसकी कटुता या तीक्ष्णता को भूल जाते हैं। लोगों की पहली पीढ़ी के लिये कोई कर जितना कष्ट-दायक होता है, आगे की पीढ़ियां उतने कष्ट का अनुभव नहीं करतीं। जब इंग्लैण्ड में पहले पहल आय-कर लगाया गया तो सारे देश में बड़ा असंतोष फैला, यद्यपि उसकी दर बहुत ऊंची नहीं थी। परन्तु अब उसकी दर कहीं अधिक है, फिर भी उसका भार उतना अधिक नहीं माना जाता।

अब हम देखेंगे कि आय-कर का आर्थिक साधनों के विभिन्न पेशों और स्थानों में

विकास पर कैसा प्रभाव पड़ता है। इसे हम तीन विभागों में बाँट सकते हैं। (१) आय-कर, खर्च और बचत (२) आय-कर और उत्पादन सम्बन्धी साहस, (३) आय-कर और पूँजी का नष्ट होना।

बचत और खर्च की प्रवृत्ति पर प्रभाव

आय-कर और बचत (Income Tax and Savings)—कुछ लोगों का मत है कि आय-कर एक महाभार कर है। बचत पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और खर्च करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। चूँकि यह कर प्रत्यक्ष प्रकार से बचत पर लगता है इसलिए लोग बचत करने की अपेक्षा खर्च करना अधिक पसन्द करते हैं। चूँकि पूँजी संग्रह करने के लिए यह बात ठीक नहीं है इसलिए मिल और फिशर का मत था कि जिस आय की बचत की जाय उस पर कर बिल्कुल नहीं लगाना चाहिए। आय के केवल उस भाग पर कर लगाना चाहिए जो खर्च किया जाता है। मार्शल और पीगू आदि ने इस बात का खंडन किया है कि आय कर से बचत पर दुहरा कर लगता है। जब कोई वस्तु उपार्जित की जाती है तो उस पर एक विशेष दर से कर लगाया जाता है। यदि पूरी आय खर्च कर दी जाय तो कर लगाने के लिए कुछ नहीं बचेगा। परन्तु यदि उस आय का एक अंश बचा कर पूँजी के रूप में लगा दिया जाय तो उस पूँजी से होनेवाले लाभ पर भी कर लगेगा। इसे बचत पर दुहरा कर नहीं कहा जा सकता। बचत के ब्याज पर कर लगाने से बचत पर दुहरा कर नहीं होता। यह ब्याज तो नई सम्पत्ति है जो बाद के समय में बचत द्वारा उपार्जित की गई है। इसलिए एक आय पर दो बार कर नहीं लगाया जाता चाहे उसे बचाया जाय चाहे खर्च किया जाय।

आय-कर और साहसपूर्ण उत्पादन (Income Tax and Enterprise)—कुछ लोगों का मत है कि आय-कर से खतरे से भरे हुए उत्पादन-कार्यों को आरम्भ करने का साहस कम हो जाता है। खतरे से भरे हुए व्यवसाय आरम्भ करने का उद्देश्य यह होता है कि लाभ अधिक प्राप्त होगा। यदि करों के द्वारा लाभ की मात्रा कम हो जाती है तो इस प्रकार के व्यवसायों को कोई हाथ में न लेगा। इसमें भी मनोवैज्ञानिक पहलू बहुत महत्वपूर्ण है। और कोई बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ लोग खतरे से भरे हुए कामों को हाथ में लेने की अपेक्षा पूँजी को सुरक्षित रूप में लगाना अधिक पसन्द करेंगे। परन्तु कुछ लोग ऐसे भी होंगे जो अधिक लाभ के लालच से खतरे से पूर्ण काम हाथ में लेना पसन्द करेंगे, जिससे करों के देने में जो क्षति हुई है, वह पूरी हो सके।

डा० डैल्टन का मत है कि कर लगाने से धनी व्यक्तियों का ऐश और आराम पर खर्च कम हो जाता और कर से जो आय होगी वह सरकार के लिये लाभकारी कार्यों पर खर्च की जा सकती है। ऐश और आराम की वस्तुओं के उत्पादन में अनिश्चितता रहती

है। गरीबों की आवश्यकताओं की वस्तुओं को बनाने में उतनी अनिश्चितता नही रहती। इसलिये कर लगने से उत्पादकों की कुल अनिश्चितता कम हो जायगी।[1]

आय-कर और पूंजी का पलायन (Income Tax and Flight of Capital)—एक डर यह रहता है कि यदि आय-कर बहुत ऊंची दर से लगाया गया तो पूंजी विदेशों को भाग जायगी। परन्तु विदेशों से जो आय आती है, उस पर भी कर लग सकता है। यदि पूंजी का स्वामी अपनी पूंजी लेकर विदेश चला जावे तो वह कर से बच सकता है। फिर विदेशों में भी तो आय-कर लग सकता है। इससे पूंजी के पलायन का भय कम हो जाता है। उसी पूंजी पर देश और विदेशों में दो जगह कर लग सकता है। यह दुहरा कर हो जायगा। इसलिये लोग विदेशों में पूंजी लगाने के लिये उत्साहित न होंगे, बल्कि डरेंगे।

अब एक डर यह है कि जिस देश में आय-कर लगेगा, उसमें विदेशी लोग पूंजी लगाना पसन्द नहीं करेंगे। परन्तु विदेशी पूंजी का स्वदेश में लगना कई बातों पर निर्भर करता है। जैसे, कि विदेश और स्वदेश के आय-करों की दर में अन्तर, पूंजी लगाने से लाभ की मात्रा, विदेश में पूंजी की सुरक्षा इत्यादि। विदेशी पूंजी का लगना इन सब बातों पर निर्भर करता है। इसलिये निश्चयपूर्वक किसी एक पक्ष में कुछ नही कहा जा सकता।

मृत्यु-कर (Death Duty)—कर की एक महत्वपूर्ण प्रणाली किसी व्यक्ति की सम्पत्ति पर उसकी मृत्यु के समय कर लगाना है। इस कर के उदाहरण इंग्लैण्ड का मृत्यु कर और अमेरिका का उत्तराधिकार कर (Inheritance Taxes) है। इंग्लैण्ड में सम्पत्ति-कर (Estate Duty) मृत्यु के समय छोड़ी हुई सम्पत्ति के मूल्य के अनुसार लगता है और उत्तराधिकार कर (Legacy and Succession Duties) उत्तराधिकार के मृतक व्यक्ति के साथ सम्बन्ध पर निर्भर करता है। *जो उत्तराधिकारी मृतक के निकट सम्बन्धी होते है, उन्हें कम दर से कर देना पड़ता है।* परन्तु जो दूर के सम्बन्धी होते है, उन्हें अधिक दर से कर देना पड़ता है। अमेरिका में उत्तराधिकार कर सम्पत्ति के मूल्य के अनुसार अलग-अलग होता है। भार के प्रश्न को छोड़कर यहां हम इस बात पर विचार करेंगे कि इस कर का कुल उत्पादन पर क्या प्रभाव पड़ता है।

मृत्यु-कर और बचत

चूंकि केवल बड़ी उत्तराधिकार की सम्पत्तियों पर मृत्यु कर ऊंची दर से लगाया जाता है, इसलिये उसका प्रभाव निम्न वर्गों की बचत पर बहुत अधिक नहीं होता। यह बात अवश्य है कि जो उत्तराधिकारी मृत्यु कर देगा, वह उतनी बचत नहीं कर पावेगा, जितनी रकम की उसे कर के रूप में देनी पड़ेगी। परन्तु प्रत्येक उच्च दर का कर इस प्रकार का

---

१ D Black, The Incidence of [Inc]ome Tax, p. 223.

होता है। यह विवेचना केवल मृत्यु-कर के सम्बन्ध में नहीं है। कई लोगों का मत है कि एक दृष्टि से मृत्यु-कर की अपेक्षा आय-कर अधिक अच्छा होता है। वह यह कि आय-कर आय में से दिया जाता है परन्तु मृत्यु-कर पूँजी में से दिया जाता है। परन्तु यह तर्क गलत है। ऊँची दर का कोई भी कर चाहे वह आय-कर हो अथवा मृत्यु-कर पूँजी में हस्तक्षेप करेगा। आय-कर भविष्य की पूँजी में से दिया जाता है अर्थात् वही आय भविष्य में पूँजी हो जाती है और मृत्यु-कर वर्तमान पूँजी में से दिया जाता है। फिर जब मृत्यु-कर देने का प्रबन्ध वार्षिक बीमा के द्वारा कर दिया जाता है, तब मृत्यु-कर और आय-कर में कोई अन्तर नहीं रहता।

मृत्यु कर और बचत करने की इच्छा

जहाँ तक बचत करने की इच्छा पर मृत्यु-कर के प्रभाव पड़ने का प्रश्न है, तो यह कहा जा सकता है कि आय-कर की अपेक्षा मृत्यु-कर कम बाधा देता है। मृत्यु-कर काफी देर बाद भविष्य में दिया जाता है। आय-कर के समान निकट भविष्य में नहीं दिया जाता। वर्तमान अथवा निकट भविष्य की तरह हम दूर भविष्य पर उतना ध्यान नहीं देते। फिर मृत्यु-कर बचत करनेवाले के द्वारा नहीं दिया जाता, बल्कि वह उसके उत्तराधिकारी द्वारा दिया जाता है। सम्पत्ति का मालिक अपने जीवन में अपनी सम्पत्ति का पूरा उपभोग कर सकता है और मृत्यु के समय वही सम्पत्ति छोड़कर मर सकता है। मृत्यु-कर का उसके जीवन-काल में कोई असर नहीं पड़ता। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि बचत करने की इच्छा पर मृत्यु-कर आय-कर की अपेक्षा कम प्रभाव डालता है।

मृत्यु-कर का सम्पत्ति के उत्तराधिकारी पर सम्भवतः इस प्रकार का मनोवैज्ञानिक असर पड़ेगा कि वह अधिक परिश्रम करने को तैयार रहेगा। यदि उसे कर के रूप में अधिक रकम देनी पड़ी, तो वह उसे उपार्जन करने का प्रयत्न करेगा। यदि उत्तराधिकारी मृतक का दूर का सम्बन्धी है, तो भी अधिक सम्पत्ति मिलने की आशा उसकी बचत करने और अधिक परिश्रम करने की इच्छा पर सम्भवतः प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालेगी। यह सम्पत्ति तो उसके हाथ में एकाएक आनेवाली होती है और जब तक वास्तव में वह उसे मिल नहीं जाती, तब तक वह अपना श्रम कम नहीं करेगा।

रिगनानो योजना (Rignano Scheme)—ऊपर जो विवेचना की गई है, उसमें यह अनुमान कर लिया जाता है कि मृत्यु-कर कुछ हद तक बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। बचत करनेवाले की मनोदशा पर इस प्रतिकूल प्रवृत्ति का असर हटाने के लिये प्रोफेसर रिगनानो नामक एक इटालियन लेखक ने मृत्यु-कर सम्बन्धी एक योजना का सुझाव रखा है। संक्षेप में यह योजना इस प्रकार है। एक सम्पत्ति उत्तराधिकार के रूप में जितनी बार जा चुकी है, उसी क्रम मृत्यु-कर उसी हिसाब से कम लगाना चाहिये। यदि अ अपनी उपार्जित सम्पत्ति ब के लिये छोड़ता है

तो सम्पत्ति का अधिकार मिलने पर व को उसका $^1/_2$ भाग मिलेगा और $^1/_2$ भाग राज्य कर के रूप में ले लेगा। अब ■ यह सम्पत्ति तथा अपनी उपार्जित की हुई सम्पत्ति स के लिये छोड जाता है। तब स को अ की सम्पत्ति का $^1/_4$ भाग मिलेगा और बाकी राज्य ले लेगा। परन्तु व की उपार्जित सम्पत्ति का स को $^1/_2$ भाग मिलेगा और राज्य को $^1/_2$ भाग। स की मृत्यु होने पर अ की पूरी सम्पत्ति राज्य ले लेगा। इस प्रकार (मान लो) दो उत्तराधिकारियो को मिलने के बाद पूरी सम्पत्ति राज्य के हाथ में चली जाती है। इस योजना में अनुमान यह है कि कोई भी आदमी अपने पहले उत्तराधिकारी का जितना अधिक खयाल करता है, उतना खयाल आगे की पीढियो का नही करता। कुछ पीढियों के बाद सम्पत्ति खोने का प्रभाव बचत करने की इच्छा पर उतना अधिक प्रतिकूल नही पडेगा जितना कि अगली पीढी में खोने का। फिर चूकि व जानता है कि अ की सम्पत्ति का काफी बडा अश राज्य ले लेगा, इसलिये वह अधिक श्रम और बचत करेगा, जिससे उसके उत्तराधिकारी स के रहन सहन का दर्जा कम न हो। इस प्रकार उसकी मनोदशा पर प्रतिकूल प्रभाव पडने की अपेक्षा उसकी काम करने और बचत करने की इच्छा बढ सकती है।

इस योजना में सरकार के लिये प्रबन्ध सम्बन्धी कुछ कठिनाइया अवश्य होगी, लेकिन इग्लैण्ड के बोर्ड ऑफ इग्लैण्ड रेवेन्यूज का इसके सम्बन्ध में मत है "कि देश में रिगनानो योजना के आधार पर क्रियाशील मृत्यु-कर की प्रणाली स्थापित करनी असम्भव नही है।" न्याय औचित्य के आधार पर इसकी एक आलोचना की जाती है। मान लो व उत्तराधिकार के रूप में अ से ५०,००० पाता है और यह रुपया कम्पनियो के हिस्सो म लगा हुआ है। व के जीवनकाल में ये कम्पनिया फेल हो जाती है और उस उत्तराधिकार की सम्पत्ति का मूल्य शून्य हो जाता है। परन्तु बाद में अपने प्रयत्नो से व काफी सम्पत्ति उपार्जन करता है। तब क्या व की सम्पत्ति उत्तराधिकार में मिली हुई समझी जायगी और उस पर ऊची दर से कर लगेगा ? अथवा वह उसकी स्वय उपार्जित मानी जायगी और उस पर कम दर से कर लगेगा ? यदि पहली रीति ग्रहण की गई तो व के साथ बडा अन्याय होगा और यदि दूसरी रीति से काम लिया गया तो प्रत्येक उत्तराधिकारी बहाना करेगा कि उसकी उत्तराधिकार में मिली हुई सम्पत्ति का मूल्य कम हो गया है। लोग जालसाजी और कर देने में चोरी करेंगे।

रिगनानो योजना की आलोचना

डाल्टन ने कहा है कि जिस व्यक्ति के मृत्यु की बाद सम्पत्ति बिलकुल नष्ट हो जायगी वह अपने जीवन-काल में ही सारी सम्पत्ति खतम कर सकता है। इसलिये डाल्टन इस योजना में कुछ परिवर्तन करना चाहता है। अगले उत्तराधिकार पर जितना कर देना पडेगा, उतना कर सम्पत्ति पर साधारण करो के चुकने के बाद और लगा देना चाहिये। इस अतिरिक्त कर के बदले में सम्पत्ति के स्वामी का राज्य से एक वार्षिक रकम मिला

करेगी और स्वामी के मरन के बाद यह वार्षिक सहायता बन्द हो जावेगी। सिद्धान्त की दृष्टि से उत्तराधिकारी की आय में कमी न होगी परन्तु उसकी मृत्यु होने पर राज्य को अपनी पूंजी मिलने का विश्वास रहेगा।

अनुपार्जित वृद्धि पर कर (Taxation of Unearned Increment)—भूमि के मूल्य में जो अनुपार्जित वृद्धि होती है, उस पर कर लगाने का सुझाव रक्खा गया है। एक तो भूमि का मूल्य तब बढ़ सकता है, जब उसका स्वामी उसकी उन्नति के लिये कुछ उपाय करे। परन्तु भूमि के स्वामी के बिना कुछ प्रयत्न किये समाज की उन्नति के साथ-साथ भी भूमि का मूल्य बढ़ सकता है। सम्पत्ति और जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ अन्न का भाव बढ़ जाता है। इससे लगान में और भूमि के मूल्य में वृद्धि होती है। शहरों में भूमि की अनुपार्जित मूल्य-वृद्धि विशेष रूप से देखने में आती है। शहर के बीच की जमीन का, जहा नई सड़कें बनती हैं, वहा की जमीन का, तथा जहा पार्क इत्यादि बनते हैं वहा की जमीन का मूल्य बढ़ जाता है और कभी-कभी तो बहुत अधिक बढ़ जाता है। जब शहर बसते और बढ़ते हैं तो उनके आसपास की भूमि का मूल्य बढ़ जाता है। भूमि के मूल्य में यह वृद्धि आकस्मिक होती है, भू-स्वामियों के प्रयत्नों के कारण नहीं होती। चूंकि यह मूल्य वृद्धि समाज के कार्यकलापों के फलस्वरूप होती है, इसलिये क्या यह उचित नहीं है कि यह अतिरिक्त मूल्य-वृद्धि सरकार ले ले? क्योंकि उसे उपार्जित करने के लिये भू-स्वामी ने कुछ भी प्रयत्न नहीं किया है।

अनुपार्जित वृद्धि कर कई दृष्टियों से आदर्श कर माना जाता है। एक कारण हम ऊपर बतला चुके हैं। वृद्धि केवल सामाजिक कारणों से हुई है। भू-स्वामी ने उसके लिये कुछ भी प्रयत्न नहीं किया, जिससे वह उसे मिलना चाहिये। सम्पत्ति की जो वृद्धि केवल भाग्य के कारण हुई है, जो वृद्धि स्वामी के प्रबन्ध या दूरदर्शिता के कारण नहीं हुई, उस पर कर लगाना अनुचित नहीं हो सकता। दूसरा कारण भूमि के मूल्य में अचानक वृद्धि है। इसलिये कर के परिणामस्वरूप न तो भूमि के पूर्ति में परिवर्तन होगा और न भू-स्वामियों की काम करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इसलिये कर के कारण लोगों के कार्यों में बिना परिवर्तन न होगा।

परन्तु यह प्रश्न ऊपर से जितना सरल दिखता है वास्तव में उतना है नहीं। उसमें भी काफी उलझनें हैं। यह सम्भव है कि किसी भूमि के सम्बन्ध में यह जान लिया गया हो कि भविष्य में उसकी उन्नति होगी, इसीलिये उसका वर्तमान क्रय मूल्य दिया गया हो। "सम्भव है कि खरीदार ने पहले यह सोच लिया था कि भविष्य में यह भूमि मकान बनाने के लिये काफी अच्छी और लाभकारी होगी। इसी विचार से खरीदार ने उसके तत्काल मूल्य से अधिक मूल्य दिया हो। तब भविष्य में मूल्य बढ़ने पर कम से कम उस वृद्धि का कुछ अंश तो आकस्मिक नहीं कहा जायगा। बल्कि

इस कर का बचत करने की इच्छा पर प्रभाव

उसे उसकी पुरानी पूंजी पर सग्रहीत दर-ब्याज कहेंगे।"[1] यदि ऐसी बात हो—और सम्भव है कि बात ऐसी ही हो—तो आर्थिक लगान के अनुपार्जित अश का पता लगाना लगभग असम्भव बात है। एक अन्य कठिनाई यह होती है कि अनुपार्जित वृद्धि में और भू-स्वामी के प्रयत्नों के कारण मूल्य वृद्धि में अन्तर करना हमेशा सम्भव नहीं होता। भूमि स्वय चालित साधन नहीं है। भू-स्वामी को कुछ काम करना ही पडता है। वह उसके उपयोग करने की योजना बनाता है और उसकी उन्नति करता है। इसलिये भूमि से उसे जो कुछ प्राप्त होता है, वह कुछ अश में तो लगान होता है और कुछ अशो में मजदूरी, लाभ और ब्याज होता है। अब उपार्जित और अनुपार्जित वृद्धि को अलग-अलग जानना बहुत ही कठिन काम है। पूर्ण अनुपार्जित अश को प्राप्त करने के लिये अर्थमत्री उपार्जित अश में से भी कुछ अवश्य ले लेगा। इससे वह न केवल कुछ लोगों के प्रति अन्याय करेगा, बल्कि वह लोगों के उत्पादन सम्बन्धी प्रयत्नो पर भी आघात करेगा। कहा जाता है कि अनुपार्जित वृद्धि का कर के रूप में लेना बहुत आवश्यक हो जाता है, जिससे देश की भूमि की उन्नति और श्रेष्ठ उपयोग हो सके। अनुपार्जित वृद्धि के लालच ने कई लोगों को उत्साहित किया है। उससे लोगों की दूरदर्शिता को प्रोत्साहन मिलता है और प्राय भूमि ऐसे लोगो के हाथ में चली जाती है, जो उसका अच्छा उपयोग कर सकते हैं। यदि यह सब वृद्धि करो के रूप में चली जावेगी तो लोगो में भूमि की अच्छी उन्नति करने के लिये उत्साह न रहेगा।

एक अधिक तर्कपूर्ण एतराज यह है कि भूमि किसी व्यक्ति के लिये पूंजी के समान होती है। प्रत्येक प्रकार की आय में कुछ अनुपार्जित अश होते हैं। सिनेमा के बड़े-बड़े अभिनेताओ की ऊंची-ऊंची तनख्वाहो में तथा ब्याज की रकमों में अनुपार्जित अश होते है। तब फिर भूमि की तरह उन पर भी कर लगना चाहिये। केवल भूमि पर एक विशेष प्रकार का कर लगाना विभिन्न प्रकार की पूंजियो पर भेद-भाव करना है और यह वर्तमान भू-स्वामियो के लिये अन्यायपूर्ण है, क्योकि उन्हें कर के पूंजीकरण के मूल्य का पूरा भार सहना पड़ेगा। एक अन्य कारण से भी यह कर अन्यायपूर्ण है। यदि राज्य सब अनुपार्जित वृद्धि ले लेता है, तब उसे उन भू-स्वामियों को मुआवजा देना चाहिये, जिनकी भूमि का मूल्य कम हो जाता है। क्या यह न्यायसगत है कि राज्य वर्तमान भूस्वामियों के प्रति 'मीठा-मीठा गप्प और कड़ुआ-कड़ुआ थू' की नीति ग्रहण करे।

इन सब कठिनाइयो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भूमि के मूल्य की पूरी अनुपार्जित वृद्धि को कर के रूप में लेना न तो सम्भव है और न न्यायोचित है। परन्तु यदि राज्य भूमि के मूल्य की वर्तमान अनुपार्जित वृद्धि का केवल एक अश और भविष्य

१. Robinson, Public Finance, p 66.

की अनुपार्जित वृद्धि का अधिकांश ले लेता है तो इसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। जैसा कि टॉसिग ने लिखा है, भविष्य में निहित स्वार्थ (vested interest) नहीं होने और जब तक हमें दोषरहित तथा कठिनाइयों से रहित कोई आदर्श कर का ज्ञान नहीं होता, तब तक हम अनुपार्जित कर को एक श्रेष्ठ कर मान सकते हैं।

बावनवां अध्याय

राजकीय साख

(Public Credit)

राजकीय ऋण (Public Debt)—हम कह चुके हैं कि राजकीय आय का एक साधन राजकीय ऋण भी होता है। राजकीय और व्यक्तिगत अर्थात् गैर-सरकारी ऋण में अन्तर जानना आवश्यक होता है। राजकीय ऋणों में सरकार ऋणी होती है और इसके कई महत्वपूर्ण अर्थ होते हैं। सरकार के हाथ में राजसत्ता होती है, इसलिये वह प्रजा पर जोर देकर ऋण ले सकती है। फिर एक साधारण व्यक्ति की तरह राज्य पर ऋण चुकाने के लिये जोर नहीं डाला जा सकता। दूसरे राज्य अमर या स्थायी होता है, इसलिये वह स्थायी ऋण ले सकता है। परन्तु कोई व्यक्ति ऐसा नहीं करता। तीसरे, राज्य विदेशों से ऋण ले सकता है। अथवा वह देश में अपनी प्रजा से ऋण ले सकता है या वह नोट छापकर उन्हें कानून-ग्राह्य मुद्रा बनाकर धन प्राप्त कर सकता है। एक व्यक्ति केवल एक बाहरी जरिये से उधार ले सकता है। न तो वह स्वयं अपने से ऋण ले सकता है और न नोट छापकर और न उन्हें कानूनी मुद्रा बनाकर धन प्राप्त कर सकता है।

राजकीय और व्यक्तिगत साख में अन्तर

फिर राजकीय ऋणों और व्यक्तिगत ऋणों में भी कुछ मौलिक भेद रहते हैं। राजकीय ऋणों का देश की उत्पादन और वितरण व्यवस्था पर बहुत व्यापक प्रभाव पड़ता है। राजकीय ऋणों का भुगतान या चुकता भी व्यक्तिगत ऋणों की तरह नहीं होता। व्यक्तिगत ऋणों के कानून भी राजकीय ऋणों के सम्बन्ध में लागू नहीं होते। यह बिलकुल सम्भव है कि राजकीय ऋणों के चुकाने से देश की राष्ट्रीय आय कम हो जाय और साथ ही देश की आर्थिक स्थिति भी गिर जाय, जो कि शायद और अधिक ऋण लेने से न गिरती।

नागरिको के स्वार्थ की दृष्टि से भी करनीति और ऋण लेने की नीति में महत्वपूर्ण अन्तर होते हैं। जब सरकार ऋण लेती है, तो व्यक्ति को सरकार से मूल और ब्याज पाने का अधिकार हो जाता है। परन्तु करो में ऐसा कोई अधिकार नही मिलता। यह बात जरूर है कि ऋण का मूल और ब्याज चुकाने के लिये अन्त में जनता को ही भविष्य में करो के रूप मे अधिक रुपया देना पड़ेगा, परन्तु यह भी सम्भव है कि ब्याज के रूप में उसे जो रुपया मिलेगा, वह कर की मात्रा से अधिक होगा। फिर लोग सरकारी ऋण-पत्रों का उपयोग ऋण लेने में कर सकते हैं। सरकार की दृष्टि से सरकार को यह लाभ होता है कि यदि ऋणो के रूप में जनता से रुपया लिया जाता है, तो उसे उतना नही खलेगा जितना कि करो के रूप में रुपया देना खलता।

परन्तु ऋणो के पक्ष में सिद्धान्त के आधार पर एक अधिक तर्कपूर्ण बात कही जा सकती है। सरकार ऋण असाधारण मौको पर लेती है, जब किसी विशेष खर्च की आवश्यकता आ पड़ती है और अपनी साधारण आय से वह उन खर्चों को पूरा नही कर सकती। मान लो, सरकार को युद्ध का हरजाना देना है और हरजाने की रकम को वह करदाताओं पर बाट देती है। तब प्रत्येक करदाता का जो हिस्सा बैठेगा, वह उसके लिये असाधारण खर्च होगा और उसके लिये उसे उपयुक्त प्रबन्ध करना पड़ेगा। इस असाधारण खर्च को पूरा करने के लिये शायद किसी करदाता को ऋण लेना पड़ेगा। इसमें सन्देह नहीं कि इस हरजाने को देने के लिये कई लोगो के अलग-अलग ऋण लेने की अपेक्षा सरकार द्वारा एक ऋण लेना बहुत अच्छा होगा। एक तो निजी ऋणो की अपेक्षा सरकार को ऋण कम ब्याज दर पर मिल जाते है। दूसरे निजी ऋणों की तरह सरकारी ऋणो की मियाद नही होती, अथवा बहुत लम्बी मियाद होती है, इसलिये सरकारी ऋण-पत्रो के स्वामियो को दुहरे लाभ होते हैं या तो वे एक ठोस चीज में अपनी पूजी लगी रहने दे सकते हैं या वे उन ऋण-पत्रो को बेचकर बिलकुल आसानी के साथ अपनी पूजी प्राप्त कर सकते है। निजी ऋणो मे ऐसा करना सम्भव नही होता। "सच बात तो यह है कि सरकारी ऋण-पत्रो में बेचने की आसानी तथा उनकी कीमतो में स्थिरता की मात्रा काफी होने के कारण सरकारी ऋण चालू होने से जनता की एक अतिरिक्त सेवा भी हो जाती है। अर्थात् लोगों में आपस में माल और ऋणो का काम आसान हो जाता है।"[1]

राजकीय ऋणों का वर्गीकरण (Classification of Public Debts)—राजकीय ऋणो का एक-सा वर्गीकरण कही नही मिलता। अलग-अलग लेखको ने उनका वर्गीकरण अलग-अलग किया है, जैसे स्वेच्छापूर्ण और अनिच्छापूर्ण, ऋण उत्पादक और

१ De Vitti De Marco First Principles of Public Finance. p 294 Chapter 1 of Book V of this book contains a novel and admirable discussion of the utility of public loans

अनुत्पादक ऋण, दीर्घकालीन (funded) और अल्पकालीन (unfunded) ऋण, वार्षिक वृत्ति, लाटरी इत्यादि। स्वेच्छापूर्ण और अनिच्छापूर्ण ऋणों का अर्थ तो भाफ समझ में आ जाता है। १७वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में जनता पर अनिच्छापूर्ण ऋण बहुधा लादे जाते थे। अर्थात् उनकी इच्छा के विरुद्ध जबर्दस्ती लिये जाते थे। राजकीय ऋणों का एक वर्गीकरण उत्पादक और मृतक-बोझ ऋणों में भी किया जाता है। उत्पादक ऋणों के मूल्य के बराबर सरकार अपने पास सुरक्षित कोष अथवा अन्य निधि रखती है। परन्तु जिन ऋणों के मूल्य के बराबर सरकार ऐसी कोई निधि नहीं रखती उन्हें मृतक-बोझ ऋण कहते हैं। उत्पादक ऋणों का ब्याज सरकार उस निधि के ब्याज से देती है परन्तु मृतक-बोझ ऋण का ब्याज सरकार अपनी साधारण आय में से देती है।

श्रीमती हिक्स ने राजकीय ऋणों का तीन वर्गों में बांटा है—मृतक-बोझ ऋण (dead-weight debt), निष्क्रिय ऋण (passive debt) और सक्रिय ऋण (active debt)। मृतक-बोझ ऋण उन मदों पर खर्च किये जाते हैं, जिनसे देश की उत्पादन शक्ति में कोई वृद्धि नहीं होती। निष्क्रिय ऋण ऐसी बातों पर खर्च किये जाते हैं, जिनसे न तो मुद्रा आय होती है और न देश की उत्पादन शक्ति ही बढ़ती है। लेकिन इन ऋणों का उपयोग सार्वजनिक भवनों, पार्कों इत्यादि ऐसी बातों पर किया जाता है, जिनसे लोगों को उपयोगिता तथा आमोद-प्रमोद प्राप्त होता है। सक्रिय ऋणों का उपयोग इस प्रकार किया जाता है कि उनसे या तो मुद्रा आय होती है अथवा देश की उत्पादन शक्ति बढ़ती है।

आजकल सबसे अधिक प्रचलित वर्गीकरण दीर्घकालीन ऋण और अल्पकालीन ऋण माना जाता है। इन शब्दों का उपयोग तीन भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जाता है। आडम स्मिथ ने लिखा था कि अल्पकालीन ऋण वह होता है, जिसमें सरकार लेते समय उसे चुकाने के लिये कोई निधि निश्चित नहीं करती। लेकिन दीर्घकालीन ऋणों में सरकार एक निधि अथवा आय के कुछ जरिये निश्चित कर देती है, जिनसे कि वह चुकाया जायगा। परन्तु आधुनिक लेखक इन दो प्रकार के ऋणों में ऐसा कोई अन्तर नहीं मानते। प्रायः अल्पकालीन ऋणों का अर्थ उन ऋणों से होता है, जो कि अपेक्षाकृत थोड़े समय में चुका दिये जावेंगे। जैसे कि (मान लो) एक वर्ष में दीर्घकालीन ऋण बहुत लम्बे समय के बाद चुकाये जाते हैं। लेकिन यह भेद साफ नहीं है, क्योंकि अल्पकाल और दीर्घकाल से समय की किसी निश्चित अवधि का बोध नहीं होता। कुछ लोग कहते हैं कि तीन से पांच वर्ष की अवधिवाले ऋण अल्पकालीन ऋण कहे जा सकते हैं। लेकिन वास्तव में केवल एक वर्ष से कम की अवधि के ऋण अल्पकालीन ऋण माने जाने चाहिये। उससे अधिक अवधिवाले ऋण दीर्घकालीन ऋण माने जाने चाहिये। ट्रेजरी बिल्स (जिनकी अवधि अधिक से अधिक तीन महीने की रहती है) अथवा केन्द्रीय बैंक समय-समय पर सरकार को

जो पेशगी देना रहता है और जो एक वर्ष के अन्दर चुक जाना चाहिये, अल्पकालीन ऋणों के उदाहरण हैं। ध्यान रहे कि ये शब्द अंग्रेजी शब्दों के पर्यायवाची हैं और अंग्रेजी शब्दों का उपयोग सरकारी भाषा में विशेष अर्थ में किया जाता है। दीर्घकालीन ऋण वे होते है, जिनमें मूलधन देने की जिम्मेदारी सरकार नहीं लेती। केवल ब्याज देने की जिम्मेदारी लेती है। दूसरे शब्दों में दीर्घकालीन ऋण स्थायी ऋण होते हैं। इंग्लैण्ड के 'कनसोल' ("consols") इसके उदाहरण हैं। अल्पकालीन ऋण वे होते है, जिनका मूलधन एक निश्चित समय पर लौटा दिया जाता है।

वार्षिक वृत्ति (annuities) के रूप में भी सरकार रुपया उधार लेती है। सरकार एक बार में एक लम्बी रकम ले लेती है और वार्षिक किश्तों के रूप में उसे कई वर्षों में चुकाती है। आजकल जीवन भर की वार्षिकी (life annuity) काफी प्रचलित है। कर्ज के बदले में सरकार किसी ऋणदाता को उसके जीवन भर प्रति वर्ष एक निश्चित रकम देती रहती है। जब ऋणदाता मर जाता है, तो उसका ऋण भी खतम हो जाता है। ऋणों की एक किस्म लॉटरी (lottery loans) भी होते हैं। लॉटरी ऋण कई तरह के होते हैं। लॉटरी की इनामें ब्याज अथवा मूलधन में से दी जा सकती है। इस प्रकार सरकार लोगों की जुआखोरी की आदत से लाभ उठा सकती है।

राजकीय ऋणों का एक वर्गीकरण बाह्य और आन्तरिक ऋणों के अन्तर्गत भी होता है। देश के लोगों से सरकार जो ऋण लेती है, वे आन्तरिक ऋण कहलाते हैं और जो ऋण विदेशों से प्राप्त किये जाते हैं उन्हें बाह्य ऋण कहते हैं। आन्तरिक ऋणों में सरकार जब मूल और ब्याज चुकाती है, तो उसका अर्थ राष्ट्रीय आय का केवल पुनर्वितरण होता है। इस सम्बन्ध में जो खर्च होता है, वह एक प्रकार से खर्च का देश के अन्दर स्थानान्तर होता है। परन्तु जब बाह्य ऋणों के मूल, ब्याज इत्यादि दिये जाते हैं, तब देश की सम्पत्ति विदेश में जाती है।

ऋण कब लेना चाहिये? (When to Borrow)—राजकीय ऋणों का उद्देश्य अन्य साधनों से प्राप्त राजकीय आय की पूर्ति करना होता है। अब प्रश्न यह होता है कि सरकार को ऋण कब लेना चाहिये।

ऋण लेना, व्यावहारिक मौकों अथवा विशेष परिस्थितियों पर बहुत कुछ निर्भर करता है। कभी-कभी ऐसे मौके आते हैं, जब करों द्वारा आसानी से रुपया मिलना कठिन हो जाता है। ऐसे मौकों पर सरकार के सामने सिवा ऋण लेने के और कोई रास्ता नहीं रह जाता। ऐसी विशेष परिस्थितियों को छोड़कर कभी-कभी ऐसे अवसर भी आते हैं, जब सरकार एक निश्चित रकम कर द्वारा भी प्राप्त कर सकती है और ऋण लेकर भी। अब समस्या यह है कि ऐसा सिद्धान्त निर्धारित हो जाना चाहिये, जिसके आधार पर सरकार यह निश्चित कर सके कि ऋण द्वारा रुपया प्राप्त करना चाहिये अथवा कर द्वारा।

एक तो किसी आकस्मिक संकट के कारण धन की जो कमी आ जाय उसे पूरी करने के लिये ऋण लिये जा सकते हैं। कर-व्यवस्था द्वारा आय प्राप्त करने में कुछ समय लगता है। यदि एकाएक रुपये की आवश्यकता आ पड़ती है, तो सिवा ऋण लेने के और कोई रास्ता नहीं रहता। देश में पूर्ण बाकारी बनाये रखने के लिये, धन की जो कमी हो, उसे बनाये रखने के लिये ऋण लेना चाहिये। फिर देश में जब व्यावसायिक मंदी हो, तब क्रियाशील माग को बढ़ाने के लिये सरकार को काफी धन की आवश्यकता पड़ सकती है। ऐसे अवसर पर भी सरकार ऋण ले सकती है।

दूसरे, यदि कोई ऐसा संकट या आकस्मिक स्थिति आ पड़े, जिसमें कि बहुत खर्च की आवश्यकता हो और वह खर्च करो द्वारा प्राप्त आय से पूरा न हो सके, तब भी ऋण लेना उचित ठहराया जायगा। जैसे कि जब कोई देश युद्ध में फस जाता है, तब केवल करों की आय से युद्ध का खर्च पूरा नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा प्रयत्न किया जायगा तो देश की आर्थिक व्यवस्था को हानि पहुचेगी।

तीसरे, यदि सरकार कुछ ऐसे व्यावसायिक कार्य करना चाहे, जिससे कि इतनी आय हो सके कि कम से कम ब्याज और ह्रास मूल्य (depreciation charges) निकलते आवें तो ऋण लिया जा सकता है। यह बात जरूर है कि इस प्रकार के ऋण लेने का औचित्य सरकार की प्रबन्ध कुशलता पर निर्भर रहता है। यदि सरकार का प्रबन्ध उतना ही कुशल होता है, जितना कि किसी अन्य व्यक्ति का, तब सरकार का व्यवसाय आरम्भ करना बिलकुल उचित होगा। भारत सरकार ने रेलों और नहरों के लिये जो ऋण लिये हैं, वे इस दृष्टि से उत्पादक ऋण हैं।

चौथे, उन ऋणों का लेना अच्छा समझा जाता है, जिनसे सारे समाज को लाभ होता है। इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखनी आवश्यक है। कभी-कभी अस्पताल, स्कूल, सड़कें इत्यादि बनवाना बहुत आवश्यक होता है। परन्तु यदि इनके लिये इतने भारी कर लगाने पड़ें कि उससे देश के उद्योग और व्यवसाय को हानि हो अथवा उसकी उन्नति में बाधा पड़े, तब ऋण लेना ही अच्छा रहेगा। ऋण का भार काफी लम्बे समय तक ढकेला जा सकता है, और इस प्रकार उसका भार हलका किया जा सकता है।

युद्धकालीन अर्थ व्यवस्था (War Finance)--कई प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का मत है कि युद्ध सम्बन्धी खर्च की पूर्ति प्रधानतः करों द्वारा की जानी चाहिये। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं।

कर और ऋण

पहला कारण यह बतलाया जाता है कि भारी करों से फिजूल और अनावश्यक उपभोग कम हो जायगा। धनी व्यक्तियों को क्रमशः बढ़ती हुई दर से कर देना चाहिये, जिससे गरीब वर्गों को अपने रहन-सहन का दर्जा कम न करना पड़े।

दूसरे करों से कीमतों और साख में बहुत अधिक वृद्धि नहीं हो पाती। परन्तु, यदि

ऋण बहुत बडे पैमाने पर लिये जाय तो यह वृद्धि अवश्य होगी। करो के द्वारा खरीदने की शक्ति एक वर्ग के लोगो से दूसरे वर्ग के लोगो के हाथ में चली जाती है। इसलिये स्फीति की आशका कम हो जाती है। यदि थोडे पैमाने पर ऋण लिये जाय तो उससे भी स्फीति नही होती। परन्तु जब अपरिवर्त्तनशील कागजी मुद्रा का प्रचलन बढाकर अथवा बैंको की साख द्वारा खरीदने की नई शक्ति उत्पन्न की जाती है, तब कीमतो में वृद्धि अवश्य होती है। कीमतो में वृद्धि होने से सब प्रकार की आयो का मूल्य कम हो जाता है। फल यह होता है कि लोगो की आयो पर मुद्रा-स्फीति एक प्रकार के गुप्त कर का काम करती है। वह न केवल लोगो की खरीदने की शक्ति घटा देती है, बल्कि उनकी आय का मूल्य भी घटा देती है। कर का यह रूप न्याय विरुद्ध है, क्योंकि वह प्रतिगामी होता है। धनियो की अपेक्षा उसका भार गरीबो पर अधिक पडता है। इस तर्क के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि सिर्फ करो का सहारा लेकर मुद्रा-स्फीति को पूर्ण रूप से दूर नही रखा जा सकता। बहुत से लोग बैंको से बहुत बडी मात्रा में उधार लेकर कर देते हैं। परन्तु यह बात अवश्य है कि करो के अन्तर्गत मुद्रा-स्फीति की मात्रा सीमित रहेगी।

तीसरे, यह कहा जाता है कि इस रीति का परिणाम यह होगा कि "लोगो की सेना में अनिवार्य भरती से जो विषमता उत्पन्न होती है, वह विषमता आयो और पूजी पर अनिवार्य कर लगाने से दूर हो जायगी।" इस तर्क का उत्तर पूजी पर कर लगाने की विवेचना में दिया गया है।

चौथे, युद्ध के बाद ऋणो को चुकाने के लिये जो भारी कर लगाये जाते है, वे अनावश्यक हो जायगे। जब कीमतें कम होगी, तब ऋणो का वास्तविक भार बढेगा।

ये तर्क काफी तथ्यपूर्ण है। लेकिन इस नीति को कार्यान्वित करने में बडी-बडी कठिनाइयो का सामना करना पडेगा। युद्धकाल में पूरी कर-व्यवस्था को एकदम से युद्ध की आवश्यकताओ के लिये उपयोगी नही बनाया जा सकता। अतिरिक्त आय किस प्रकार प्राप्त की जाय? पुराने करो की दर बढाई जा सकती है। परन्तु करो की दर बढाने से हमेशा आय में वृद्धि नही होती। जैसा कि आडम स्मिथ ने बहुत पहले कहा था, करनीति में दो और दो हमेशा चार नही होते, कभी-कभी वे केवल तीन हो सकते हैं। नये कर लगाये जा सकते हैं। परन्तु इनसे आय प्राप्त करने में समय लगता है और युद्ध की आवश्यकताए तुरन्त पूरी करनी पडती है। इसलिये कुछ मात्रा में ऋण लेना आवश्यक हो जाता है। लेकिन आधुनिक युद्ध के खर्च इतने अधिक होते है कि यदि उन्हें केवल करो द्वारा पूरा करने का प्रयत्न किया जाय, तो लोग उस कर-व्यवस्था के भार से दबकर मर जायगे। जैसा कि सेलिगमन ने कहा है, यदि सब बडी-बडी आयो को राय, व्यवसाय के फल स्वरूप को भी जब्त कर लिया जाय तो भी युद्ध के आधे

कभी कभी ऋण उचित होते हैं

सर्च भी पूरे न होंगे। इसमें सन्देह नहीं कि ऋणों से मुद्रा-स्फीति होती है और मुद्रा-स्फीति एक बहुत बड़ा अनर्थ है। लेकिन मुद्रा-स्फीति में एक गुण यह होता है कि उससे लोगों में अधिक काम करने की प्रेरणा बढ़ती है। भारी करों से उद्योग को हानि पहुँचेगी और पूँजी का व्यय ऐसे समय में रुक जायगा जब कि युद्ध का भार वहन के लिये देश के सब साधनों का अधिक से अधिक उपयोग करने की आवश्यकता होती है।

इन सब बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि युद्धकाल में अथवा ऐसे किसी आकस्मिक संकट के समय दोनों तरीकों के मिश्रित उपयोग द्वारा ही आय प्राप्त करना सबसे अच्छा तरीका होगा। सबसे अच्छी नीति यह होगी कि ऋण नीति की सहायक कर नीति न होकर कर नीति की सहायक ऋण नीति रहे।

राजकीय ऋणों का भार (Burden of Public Debts)—बाह्य ऋण का प्रत्यक्ष मुद्रा भार ब्याज की कुल मात्रा द्वारा मापा जा सकता है जो कि विदेशी पूँजी पर विदेशों को दिया जाता है। इस प्रकार के ऋण का वास्तविक भार यह होता है कि इतना पैसा बाहर चले जाने से आर्थिक हितों में इतनी कमी हो जाती है। समाज के विभिन्न वर्ग करों के रूप में जो रुपया देते हैं, उसी के अनुपात में प्रत्यक्ष और वास्तविक भार होता है। यदि अधिकांश धन धनियों द्वारा दिया जाता है, तो वास्तविक भार उतना अधिक नहीं होता, जितना कि अधिकांश कर गरीबों द्वारा दिये जाने पर होता है। बाह्य ऋण उसी प्रकार का होता है जैसा कि किसी व्यक्ति द्वारा लिया गया ऋण। विदेशी ऋण को चुकाने के लिये कुछ वस्तुएँ देश के बाहर चली जाती हैं और किसी व्यक्ति की तरह देश भी उस हद तक गरीब हो जाता है। परन्तु यदि ये वस्तुएँ धनी वर्ग द्वारा दी जाती हैं, तो समाज का वास्तविक भार उतना अधिक नहीं होता।

बाहरी ऋण और ब्याज देने में समाज पर जो अप्रत्यक्ष भार पड़ता है, उससे समाज की उत्पादन शक्ति दो प्रकार से कम हो जाती है। एक तो वस्तुओं का निर्यात पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा में होता है और दूसरे राजकीय खर्च सीमित करना पड़ता है, जो कि शायद किसी लाभकारी काम में लगाया जाता।

परन्तु आन्तरिक ऋण की परिस्थिति बिल्कुल भिन्न होती है। आन्तरिक ऋण तथा उसका ब्याज देने में खरीदने की शक्ति का केवल एक वर्ग से दूसरे वर्ग में परिवर्तन होता है। इसलिये इसमें प्रत्यक्ष मुद्रा भार नहीं होता। लेकिन प्रत्यक्ष वास्तविक भार काफी होता है। कर सब वर्गों के लोगों द्वारा दिये जाते हैं, परन्तु ऋण उन्हीं लोगों द्वारा दिये जाते हैं जो काफी धनी होते हैं। इसलिये जब आन्तरिक ऋण सरकार द्वारा चुकाये जाते हैं, तब पूरे समाज की सम्पत्ति का उतना अंश धनी वर्गों के हाथ में चला जाता है। इसलिये वास्तविक भार काफी रहता है और साथ ही इससे आयों की असमानता बढ़ती है।

आन्तरिक ऋण का अप्रत्यक्ष भार ऋण चुकाने के लिये लगाये गये करों के परिणामों,

लोगों की काम करने और बचत करने की योग्यता तथा काम करने और बचत करने की इच्छा पर निर्भर करता है। लोगों की बचत करने की योग्यता पर अधिक प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। यह कहा जा सकता है कि बचत करने की योग्यता बढ़ जाती है, क्योंकि ऋणों के रूप में जो रुपया दिया जाता है, उसकी बचत की जाती है। जो लोग सरकार को ऋण देते हैं उनमें करदाताओं की अपेक्षा उपभोग करने की प्रवृत्ति कम रहती है। लेकिन लोगों की काम करने की योग्यता पर काफी प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है क्योंकि बहुत से लोगों के रहन-सहन के दर्जे पर करों का प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। करों के परिणामस्वरूप उनकी काम करने की और बचत करने की इच्छा भी कम हो जाती है। सब बातों पर ध्यान रखते हुए यह कहा जा सकता है कि बाह्य ऋणों का अप्रत्यक्ष भार आन्तरिक ऋणों की अपेक्षा काफी अधिक रहता है।

मुद्रा स्फीति और ऋणों का भार

ऋणों के भार के सम्बन्ध में एक और बात पर विचार करना आवश्यक है। प्रायः युद्धकाल में बहुत बड़े-बड़े ऋण लिये जाते हैं और युद्धकाल में कीमतें बहुत अधिक बढ़ जाती हैं। यदि ये ऋण गिरती हुई कीमतों के समय में भी चलते रहते हैं तो समाज को दो प्रकार से हानि होती है। पहले तो जहाँ तक ऋणों के नामाङ्कित या कानूनी मूल्य (nominal value) का प्रश्न है, तो यह कहा जा सकता है कि ऊँची कीमतों के समय में जो कुछ ऋण के रूप में लिया गया था, उसकी अपेक्षा वास्तविक सम्पत्ति की कहीं अधिक मात्रा ऋण वापिस देते समय दी जाती है। दूसरे, ऊँची कीमतों के समय में ब्याज की दर प्रायः ऊँची रहती है और कम कीमतों के समय में यह दर काफी बड़ा भार हो जाती है।

क्या राजकीय ऋण एक भार होता है? (Is the Public Debt a Burden)—इंग्लैण्ड के प्राचीनपन्थी अर्थशास्त्री अधिकतर बड़े राजकीय ऋणों को भयावह मानते थे। परन्तु अब बहुत से अर्थशास्त्रियों का मत है कि राजकीय ऋण भार नहीं होता। जैसा कि प्रो० लरनर (Lerner) का मत है कि "राष्ट्रीय ऋण (जो देश के लोगों के हाथ में रहता है) की मात्रा का कोई महत्त्व नहीं होता। उसका केवल एक महत्त्व होता है और वह है देश में पूर्ण बाकारी बनाये रखना।" राजकीय ऋण का कोई भार नहीं होता, क्योंकि मूल अथवा ब्याज देने में सम्पत्ति का हस्तान्तर देश के एक समूह से दूसरे समूह को होता है। ऋण का अर्थ यह होता है कि उसका कोई देने वाला भी है। अर्थात् हमेशा एक साहूकार रहता है, जो ऋण पाने का अधिकारी होता है। परन्तु डाक्टर मोल्टन (Moulton) इससे सहमत नहीं है। उन्होंने अपनी पुस्तक ("The New Philosophy of Public Debt") में कहा है कि ब्याज देने के लिये सरकार जो कर लगाती है, यदि वे भार नहीं हैं, तो स्थानीय संस्थाओं और कारपोरेशन को दिये जानेवाले कर भी भार नहीं माने जाने चाहिये। लेकिन स्थानीय

मस्थाओं की कर व्यवस्था और सरकार की कर व्यवस्था में अन्तर होता है। कारपोरेशन जो कुछ देता है, वह उसे वापिस नही मिलता। लेकिन ऋणो के सम्बन्ध में सरकार जो कुछ देती है अथवा खर्च करती है, वह अन्त में लोगो को ही मिलता है। जो लोग ब्याज देने के लिये लगाये गये करो को भार मानते हैं, वे लोग यह भूल जाते हैं कि ऋणों के सम्बन्ध में किये गये खर्च का मुद्रा की पूर्ति पर आय और बचत पर कितना अनुकूल प्रभाव पडता है। यदि इन अनुकूल परिणामों का समुचित विचार किया जावे तो राजकीय ऋणो के भार का जो अनुमान किया जाता है वास्तव में वह कही कम होगा।

साथ ही यह कहना भी ठीक नही कि राजकीय ऋणो का कोई भार नही होता। यदि राजकीय ऋणो का मूल और ब्याज चुकाने के लिये भारी कर लगाये जाते हैं, तो उनसे व्यावसायिक प्रोत्साहन और बचत पर प्रतिकूल प्रभाव अवश्य पडेगा। ब्याज देने के लिये जो कर लगाये जाते हैं, उन पर डाक्टर लरनर समुचित विचार नही करते। वास्तव में राजकीय ऋणों के भार के सम्बन्ध में कोई एक सीधा उत्तर नही दिया जा सकता। क्योंकि यह उत्तर कई बातो पर निर्भर करता है। प्रोफेसर हेनसन का मत है कि राजकीय ऋणो का भार बहुत हद तक ऋणो के वितरण और उनके सम्बन्ध में लगाये गये करों के भार के वालन पर निर्भर करता है।[1]

राजकीय ऋणों के आर्थिक परिणाम (Economic Effects of Public Borrowing)–राजकीय ऋणो के आर्थिक परिणाम कई बातो पर निर्भर करते हैं। उनमें से निम्नलिखित विशेषरूप से महत्वपूर्ण हैं। (क) ऋणो की मात्रा और उनके जरिये, (ख) ऋण लेने का उद्देश्य, (ग) ब्याज की दर, (घ) ऋण चुकाने की शर्तें और रीतियां।

ऋण की मात्रा सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात है। यदि ऋण की मात्रा छोटी है, तो यह देश की अल्पकालीन अथवा बेकार मुद्रा से पूरी की जा सकती है। ऐसी परिस्थिति में लाभ के लिये लगनेवाली पूजी की मात्रा में कमी ऋणों की मात्राए और नही होती। परन्तु यदि ऋण की मात्रा बहुत बडी है, तो उनके आर्थिक परिणाम लोग अपना रुपया व्यवसाय से खीचकर सरकारी ऋणो में लगा सकते हैं। जब लोग ऐसा करेंगे, तो उस हद तक व्यवसाय और उत्पादन के लिये पूजी की कमी हो जायगी। इससे राष्ट्रीय आय में कमी होगी और बेकारी बढेगी। अधिक ऋण लेने से खरीदने की नई शक्ति उत्पन्न नही होती। केवल देश के साधनो का एक दिशा से दूसरी दिशा में स्थानान्तर हो जाता है। परन्तु यदि सरकार खरीदने की नई शक्ति उत्पन्न करने का प्रयत्न करती है तो उसके परिणाम अधिक

---

[1] Fiscal policy and Business Cycles P 155–59, Also his book Economic Policy and Full Employment. Chapter XXII.

भयंकर हो सकता है। अतिरिक्त खरीदने की शक्ति उत्पन्न करने का अर्थ यह होगा कि मुद्रा स्फीति बढ़ेगी और मूल्य सतह ऊंची उठेगी। इसका परिणाम यह होता है कि विभिन्न वर्गों में असमानता बढ़ती है। जब मूल्य-सतह में एकाएक परिवर्तन होते हैं, तब उनका परिणाम यही होता है। फिर मुद्रा का मूल्य ह्रास यहां तक हो सकता है कि बाद में सरकार मुद्रा संकुचन सम्बन्धी चाहे जितने उपाय करे मुद्रा का पूर्ववत् सामान्य मूल्य फिर नहीं जम सकेगा।

दूसरी महत्वपूर्ण तथा विचारणीय बात यह होती है कि ऋण किस उद्देश्य से लिये जाते हैं। यदि ऋणों का व्यय उत्पादक खर्चों या कार्यों पर किया जाता है, तो यह कहा जा सकता है कि ऋण अनुत्पादक नहीं हैं और न्यायसंगत हैं। परन्तु यदि ऋणों का व्यय युद्ध इत्यादि जैसे अनुत्पादक मदों पर किया जाता है, तो वे ऋण समाज और देश के ऊपर मृतक-बोझ के समान हो जाते हैं। उत्पादक खर्च से पूरे देश की उत्पादन शक्ति में जो वृद्धि होगी, उससे अन्त में लोगों के स्थायी नुकसान पूरे हो सकते हैं। बल्कि सम्भव है, उन्हें कुछ लाभ भी हो जावे। करों की आय को अनुत्पादक मदों पर खर्च करने से उतनी बरबादी नहीं होती, जितनी कि ऋणों की आय को अनुत्पादक मदों पर खर्च करने से होती है। क्योंकि करों का ब्याज नहीं देना पड़ता, परन्तु ऋणों पर तो ब्याज देना पड़ता है।

ब्याज की दर का महत्त्व इस बात में है कि यदि ब्याज की दर ऊंची है और ऋण की मात्रा अधिक है, तो देश की आय का बहुत बड़ा अंश प्रति वर्ष केवल ब्याज देने में चला जायगा। आर्थिक दृष्टि से यह बात ठीक नहीं है। बड़े-बड़े ऋण प्राय ऊंची कीमतों के काल में ऊंची ब्याज दर पर लिये जाते हैं। कम कीमतों के काल में ब्याज सहित इन ऋणों को चुकाना बहुत बड़ा बोझा हो जाता है।

यदि हम ऋणों के आर्थिक परिणामों पर विचार करना चाहें, तो इस बात पर भी विचार करना चाहिये कि उन ऋणों को चुकाने के आर्थिक परिणाम क्या होंगे। ऋण चुकाने के सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखनी चाहिये। ऊंची कीमतों के समय में ऋणों का चुकाना आसान होता है। मुद्रा-संकुचन (deflation) के समय में ऋणों का वास्तविक भार बढ़ जाता है और देश की कर देने की शक्ति कम हो जाती है। इसलिये यह समय ऋण चुकाने के लिये उपयुक्त नहीं होता।

ऋण चुकाने की रीतियां (Methods of Debt Repayment)—ऋण चुकाना तब सम्भव होता है, जब सरकार के बजट में कुछ अतिरिक्त आय अथवा बचत शेष रहे। यदि सरकार के पास बचत है, तो उससे बाजार से ऋण-पत्र खरीदकर उन्हें नष्ट किया जा सकता है। लेकिन यह बात कहने में जितनी सरल लगती है, वास्तव में उतनी सरल है नहीं। आजकल शायद ही ऐसी कोई सरकार मिले, जो कि अपनी आय का काफी बड़ा भाग ऋण चुकाने पर खर्च कर सके। इसलिये हम कुछ अन्य रीतियों पर विचार करेंगे, जिनके द्वारा ऋण का बोझ हलका किया जा सकता है।

(क) ऋण परिशोध कोष (Sinking Fund)—ऋण चुकाने की यह रीति इंग्लैण्ड के प्रधान मंत्री पिट (Pitt) के समय से प्रचलित है। ऋण परिशोध कोष का अर्थ यह था—ऋण के अवधि काल में एक कोष में इतनी रकम संग्रह कर ली जाती थी कि ऋण की अवधि पूरी होने पर उस कोष में से ऋण का मूल्धन चुकाया जा सके। यह कोष ब्याज-दर ब्याज या क्रमवृद्धि ब्याज (compound rate of interest) की रीति से संग्रह किया जाता था। ऋण पर वार्षिक ब्याज राज्य की आय में से चुकाया जाता है। कुछ वर्षों के बाद जब कोष में संग्रहीत धन ऋण के बराबर हो जाता था, तब ऋण का परिशोध कर दिया जाता था अर्थात् वह चुका दिया जाता था। लेकिन यह ब्याज-दर-ब्याज की रीति भी सर्वथा दोषरहित नहीं थी। जब सरकार ऋण परिशोध कोष बनाने के लिये एक निश्चित रकम अलग रख रही हो तो संभव है कि उसी समय उसे अधिक ब्याज-दर पर नये ऋण लेने पड़ें। इसलिये यह योजना व्यवहार रूप में सफल नहीं थी।

आजकल ऋण परिशोध कोष द्वारा ऋण चुकाने की रीति बिल्कुल भिन्न होती है। कुछ रकम ऋण चुकाने के लिये निश्चित कर दी जाती है। इस रकम से प्रति वर्ष ऋणों की कुल रकम या पूंजी में कुछ कमी कर दी जाती है, अर्थात् प्रति वर्ष ऋणों का कुछ अंश चुका दिया जाता है। अब ऋण परिशोध कोष का ब्याज-दर-ब्याज रीति से ऋण की अवधि तक संग्रह नहीं किया जाता। चूंकि ऋणों की पूंजी में प्रति वर्ष कुछ कमी हो जाती है, इसलिये आगे के वर्षों का ब्याज का भार भी कुछ हल्का हो जाता है और ऋण चुकाने के लिये कुछ अधिक रकम मिलने की आशा की जा सकती है।

इस रीति का काफी उपयोग किया जाता है। इसमें डर केवल यही है कि जब जनता पर आर्थिक संकट हो तो कोई अर्थमंत्री नये कर न लगाकर कहीं इसी ऋण परिशोध की रकम को ही खर्च न कर डाले। फिर जिस देश पर करों का बहुत अधिक भार लदा है, वह इस रीति से बहुत लम्बे समय में ऋण परिशोध कर पावेगा।

(ख) ऋण-रूपान्तरकरण (Conversion of Debt)—इस रीति के अनुसार एक ऋण को उसकी ब्याज-दर घटाकर दूसरे ऋण में बदल दिया जाता है और इस नये ऋण पर ब्याज की दर कम हो जाती है। ऊपर कह चुके हैं कि ऋण प्रायः बढ़ी हुई कीमतों के समय में लिये जाते हैं, जब कि ब्याज दर ऊंची रहती है। इसलिये साधारण समय में अथवा जब बाजार में ब्याज की दर कम हो, तब यह सम्भव हो सकता है कि कम ब्याज दर पर नया ऋण ले लिया जाय और ऊंची ब्याज दरवाला ऋण चुका दिया जाय। मान लो, इस समय ब्याज की दर में काफी कमी हो जाती है। तब सरकार ऋण-पत्रों के स्वामियों को इतनी बातें दे सकती है। या तो वे कम ब्याज दर पर नये ऋण-पत्र ले लें या अपना पूरा मूल्धन वापिस ले लें। यदि नये ऋण पर दी जानेवाली ब्याज दर बाजार की ब्याज दर से थोड़ी सी ऊंची है, तो सम्भव है कि वर्तमान ऋण-पत्रों के स्वामियों में से अधिकांश अपने ऋणों का रूपान्तर करा लेंगे, अर्थात् नया ऋण

लेंगे और बहुत कम मूलधन मांगेंगे। इस प्रकार इस रीति द्वारा ब्याज दर में कमी की जा सकती है। गत कुछ वर्षों में भारत सरकार ने ऋणों का रूपान्तरकरण किया है। इसका एक मुख्य फल यह हुआ है कि ब्याज के रूप में दी जानेवाली रकम में कमी हो गई और जब हम देखते हैं कि ब्याज के रूप में सरकार को लाखों रुपया देना पड़ता है, तो यह लाभ कोई थोड़ा लाभ नहीं है।

परन्तु इस रीति के उपयोग करने का क्षेत्र बहुत सीमित है। ब्याज की दर में कमी करनी तभी सम्भव है, जब कि ऋण का मूलधन किसी भी समय चुकाया जा सकता है परन्तु बहुत से ऋणों में ऐसी कोई शर्त नहीं रहती। इसके सिवा यदि ऋण का रूपान्तरकरण सम्भव भी हो तो ब्याज की दर में बहुत अधिक कमी की आशा नहीं की जा सकती। फिर यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि ब्याज दर में कमी होने से आय में भी कमी होगी, क्योंकि ऋण-पत्रों के स्वामियों की आय में कमी हो जायगी। अन्त में इस रीति से ऋणों के मूलधन की रकम में कोई कमी नहीं होती, केवल ब्याज में दी जानेवाली रकम कुछ कम हो जाती है।

पूंजी से उगाही (Capital Levy)–प्रथम महायुद्ध के बाद कई वर्षों तक इस बात पर विवाद चलता रहा कि युद्धकाल में सरकार को जो बड़े-बड़े ऋण लेने पड़े, उन्हें चुकाने के लिये पूंजी पर एक कर लगाना चाहिये, जिससे सब ऋण एक साथ चुकाये जा सकें। आय और सम्पत्ति की एक निम्नतम सतह निश्चित कर दी जाय और उस सतह के नीचे यह कर नहीं लगाना चाहिये। इस सतह के ऊपर लोगों के ऊपर क्रमशः बढ़ती हुई दर से यह कर लगाना चाहिये। कर की दर निश्चित करते समय यह देखना चाहिये कि किसी व्यक्ति की आय का नहीं, बल्कि सम्पत्ति का पूंजी के रूप में क्या मूल्य है। ऋण परिशोध की इस योजना को पूर्व निश्चित मृत्युकर (anticipated death duty) कहा गया है। "जिस प्रकार युद्धकाल में एक कानून बनाया गया था, जिसके अनुसार एक निश्चित अवस्था और स्वास्थ्यवाला प्रत्येक मनुष्य सैनिक समझा जाता था, उसी प्रकार युद्धकालीन आर्थिक व्यवस्थाजनित एक दोष को दूर करने के लिये एक कानून बनाया जायगा, जिसके अनुसार एक निश्चित मात्रा की सम्पत्तिवाला प्रत्येक व्यक्ति मरा हुआ मान लिया जायगा और दूसरे दिन वह अपनी सम्पत्ति पर कर देने के बाद उस सम्पत्ति के उत्तराधिकारी के रूप में फिर जीवित हो जायगा।"[१] और जिससे कि ऋण जल्दी चुक जाय, उगाही का समय दो तीन वर्ष से अधिक लम्बा नहीं होना चाहिये।

इस योजना के पक्ष और विपक्ष में बहुत से मत दिये गये हैं। यहां हम केवल कुछ प्रधान मतों पर विचार करेंगे। इस योजना के पक्ष में प्रधान तर्क यह है कि युद्धकाल में लोगों की त्याग की मात्रा में बहुत असमानता थी। महायुद्ध में प्रमुख भाग श्रमिक

---

१ Dalton. Public Finance, p. 203

वर्ग ने लिया और इस वर्ग के हजारों की संख्या में युद्ध में मरे। जो लोग जीवित बचे उनमें से अधिकांश के अंग भंग हो गये और वे लाचार हो गये। परन्तु पूंजीपतियों ने इस काल में अपार धन-राशि कमाई, क्योंकि युद्धकाल में कीमतें बहुत अधिक बढ़ जाती हैं। यदि श्रमिक वर्ग के लोगों ने युद्ध में प्राण दिये तो पूंजीपति वर्ग के लोगों को युद्धकाल में कमाये हुए धन के अंश का त्याग क्या न करना चाहिये ?

उगाही के पक्ष में दूसरी बात यह कही जाती है कि जो रकम ब्याज में दी जाती है, वह लोगों के ऊपर एक स्थायी बोझ हो जाती है। ऊंची कीमतों के समय में जो ऋण लिये जाते हैं, वे बाद में कम कीमतों के समय में बहुत भारी हो जाते हैं। इसलिये उन ऋणों को ऊंची कीमतों के समय में ही पूरा-पूरा चुका देना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि एक साथ ऋण चुकाने में बहुत कष्ट होगा, परन्तु जब कोई मर्ज होता है, तो एक बार चीर-फाड़ का कष्ट सहकर उससे मुक्ति पाना अच्छा होता है, जीवन भर उसका कष्ट सहना अच्छा नहीं। एक बार लगनेवाली उगाही के परिणाम प्रति वर्ष लगनेवाले करों के कुपरिणामों से अधिक बुरे नहीं होते। फिर यदि क्रमशः वृद्धि की इस योजना को ग्रहण किया जाय तो त्याग की असमानता घट जायगी और वह केवल वर्तमान मृत्यु-कर और अतिरिक्त करों का (Sur-taxes) थोड़ा-सा विस्तृत रूप होगा।

परन्तु इस योजना के विरोधियों का कहना है कि युद्धकाल में धनी वर्गों ने अपने कर्तव्यों से मुंह नहीं मोड़ा। उन्होंने भी युद्ध में भाग लिया और उनके नुकसान का अनुपात भी उतना ही अधिक था, जितना कि अन्य वर्गों का। दूसरे यदि एक बार उगाही की जाती है, तो इस बात की क्या गारंटी है कि फिर उसका उपयोग नहीं किया जायगा। तीसरे यह योजना उन लोगों के विपक्ष में जाती है, जो मितव्ययता से रहते हैं और बचत करते हैं और जो लोग खूब खर्च करते हैं, उन लोगों के पक्ष में जाती है। इससे बचत करने का उत्साह घटेगा और पूंजी विदेशों में चली जायगी। फिर मान लो, एक ऐसे वाला आदमी है, जिसकी आय काफी है, पर उसके पास पूंजी कुछ नहीं है और एक दूसरा आदमी है, जिसकी आय कम है, पर उसके पास पूंजी अधिक है, इन दोनों पर किस आधार पर और किस दर पर पूंजी लगाई जावेगी ? इस प्रकार की वास्तविक कठिनाइयां बहुत-सी हैं और वे काफी बड़ी हैं।

सरकारों का पारस्परिक ऋण चुकाना (The Repayment of Inter-Government Debts)—आधुनिक कालमें युद्ध सम्बन्धी ऋणों और युद्ध के हरजानों के समस्याओं ने राजकीय अर्थ-व्यवस्था में नये प्रश्न उत्पन्न कर दिये हैं। इन प्रश्नों का महत्त्व केवल इसलिये नहीं है कि इनमें बड़ी-बड़ी रकमों का सवाल रहता है, बल्कि महत्त्व का एक कारण यह भी है, कि 'हस्तान्तरकरण' के सम्बन्ध में सिद्धान्त पर विवाद उठ

भुगतान का प्रारम्भिक बोझ

खड़ा होता है । इस समय इन ऋणों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है। केवल इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि कई देशों की सरकारें अन्य देशों की सरकारों की बड़ी-बड़ी रकमों की देनदार कई कारणों से हैं। इन ऋणों के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी होती है कि वे प्राय एकतरफा भुगतानवाले (unilateral payments) होते हैं। इन ऋणों के भुगतान के सम्बन्ध में दो प्रकार की समस्याएं उत्पन्न होती हैं। एक (१) यह कि कर अथवा मुद्रा-स्फीति द्वारा देश से एक रकम प्राप्त करनी पड़ती है। विदेशों से ऋण लेकर भी भुगतान किया जा सकता है। परन्तु इससे प्रश्न हल नही होता, क्योंकि आगे चलकर विदेशी ऋण चुकाने के लिये और बड़ी धनराशि प्राप्त करनी पड़ेगी। इनमें से चाहे जिस रीति से काम लिया जाय, उसका केवल एक परिणाम यह होगा कि ऋणी देश के लोगों की वास्तविक आय घट जायगी। फिर यदि भारी करों के कारण उद्योगों में मदी आती है और उत्पादन में कमी होती है तब तो लोगों की वास्तविक आय और अधिक कम हो जायगी। यदि देश की सरकार मुद्रा-स्फीति से काम लेती है तो इसमें सन्देह नही कि शायद सबसे अधिक भार गरीब लोगों पर पड़ेगा। भुगतान के सम्बन्ध में ऋणी देशों पर यह प्राथमिक बोझ पड़ता है।

जब ऋणी देश भुगतान की आवश्यक रकम प्राप्त कर लेते हैं, तो दूसरी समस्या यह होती है कि जिन देशों को रकम दी जायगी, उनकी मुद्रा में यह रकम कैसे बदली जाय।

कीन्स-ओहलिन विवाद

उदाहरण के लिये जर्मन सरकार को हरजाना चुकाने के लिये पहले बहुत बड़ी रकम प्राप्त करनी पड़ेगी, फिर दूसरी समस्या जर्मन मुद्रा (मार्क) को विदेशी मुद्रा में परिणत करने की होगी। इस समस्या को 'परिवर्तन सकट' (*transfer crisis*) कहा गया है। जिस रीति या उपाय द्वारा जर्मन मुद्रा विदेशी मुद्राओं में परिवर्तित की जायगी और इससे ऋणी देशों के ऊपर जो भार पड़ेगा, इन बातों के आधारभूत सिद्धान्त के सम्बन्ध में बहुत वाद विवाद हुआ है।[१] हरजाना देने के लिये जर्मनी को अपना निर्यात व्यवसाय बढ़ाना चाहिये। केवल बढ़ाना ही न चाहिये बल्कि आयात से निर्यात अधिक रखना चाहिये। कीन्स का मत है कि निर्यात माल के विदेशी खरीदार तब तक अधिक माल न खरीदेंगे जब तक की उसकी कीमत कम न की जायगी। आयात से निर्यात अधिक बनाये रखने के लिये निर्यात माल की कीमत कितनी कम करनी चाहिये। यह बात विदेशों में जर्मन माल की माग की लोच पर निर्भर करेगी।

हरजाना का दूसरा भार

जो भी हो व्यवसाय विनिमय का रुख जर्मनी के विपक्ष में हो जायगा। यदि आयात माल की कीमतें बढ़ें, तब व्यवसाय की शर्तें और अधिक प्रतिकूल हो जायगी। इसलिये हरजाना के प्राथमिक भार के सिवा

१ Keynes Ohlin Controversy in the Economic Journal, 1929

जर्मनी दूसरा भार भी सहता है। उसे आयात माल की एक निश्चित मात्रा खरीदने के लिये बदले में अपने माल की बहुत बड़ी मात्रा देनी पड़ेगी। उसे न केवल अपनी राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा भाग विदेशियों को देना पड़ेगा, बल्कि आयात की प्रत्येक मात्रा के बदले अधिक माल देना पड़ेगा। यह दूसरा भार "हस्तान्तरकरण सम्बन्धी हानि" (transfer loss) कहलाती है।

इस मत के विरुद्ध यह कहा गया है, और इसमें प्राफसर ओहलिन का मत प्रधान है कि आयात की अपेक्षा निर्यात की मात्रा अधिक रखने के लिये जर्मनी में कीमतें कम करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिये हस्तान्तरकरण द्वारा दूसरा भार होना आवश्यक नहीं है। उसका मत है कि इस सम्बन्ध में दो देशों की खरीदने की शक्ति में जो परिवर्तन होते हैं, उन पर कोई ध्यान नहीं देता। हरजाना देने का अर्थ यह है कि खरीदने की शक्ति की एक मात्रा जर्मनी से विदेशों को चली जाती है। अब जर्मनी की आय घट जाती है और जिन देशों को हरजाना मिलता है, उनकी मुद्रा-आय बढ़ जाती है और वे अब पहले की अपेक्षा अधिक खर्च कर सकते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि जर्मनी की माग कम हो जाती है, परन्तु विदेशियों की माग बढ़ जाती है। फल यह होगा कि पुरानी कीमत पर भी विदेशी लोग अब अधिक माल खरीदेंगे। इस प्रकार जर्मन निर्यात माल की कीमत कम किये बिना भी निर्यात की मात्रा आयात से अधिक बनाई जा सकती है। व्यवसाय की शर्तें जर्मनी के प्रतिकूल होनी आवश्यक नहीं हैं। इसलिये हस्तान्तरकरण सम्बन्धी हानि नहीं होती।

सत्यता इन दोनों मतों के बीच में पाई जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि हरजाना देने से दो देशों की खरीदने की शक्ति में परिवर्तन होंगे। इससे अतिरिक्त निर्यात की कुछ वृद्धि होगी। दोनों देशों में कीमतों सम्बन्धी कुछ परिवर्तन भी होंगे। जो देश हरजाना देगा, व्यवसाय की शर्तें उसके विरुद्ध जायगी और इस प्रकार उसके ऊपर दूसरा भार पड़ेगा। परन्तु व्यवसाय की शर्तों में कितना परिवर्तन होगा, यह कई बातों पर निर्भर करेगा—जैसे कि, निर्यात माल की माग की लोच, उस देश में माल की पूर्ति की परिस्थितियाँ, कीमतों में कमी करने के लिये मुद्रा या ऋण सम्बन्धी प्रतिबन्ध, विदेशों द्वारा लगाये गये आयात करों की दरें इत्यादि। यदि विदेशों द्वारा लगाये गये आयात करों की मात्रा क्रमशः बढ़ती जाती है, तो हरजाना देनेवाले देशों में कीमतें भी क्रमशः गिरती जायगी और हस्तान्तरकरण सम्बन्धी हानि भी उतनी ही अधिक होगी। जो देश हरजाना पाते हैं यदि वे अपने यहाँ कीमतें और मुद्रा आय नहीं बढ़ने देते तो हरजाना देनेवाले देश में कीमतें और मजदूरी की दरें और अधिक तेजी से गिरेंगी तथा उसका भार और भी अधिक होगा।

कभी-कभी यह भी कहा गया है कि इस प्रकार के हरजानों से प्राप्त करनेवाले देशों को भी हानि होती है। हरजाने के अन्तर्गत ऋणी देशों के निर्यात और साहूकार देश

के आयात अवश्य बढ़ने चाहिये। परन्तु यह परिस्थिति हमेशा वाछनीय नहीं होती। ऋणी देशो के माल साहूकार देशों के माल के साथ न केवल साहूकार देशो में बल्कि अन्य विदेशी बाजारों में भी प्रतियोगिता करेंगे। फल यह होगा कि साहूकार देशो के उद्योगो की बिक्री अपने देश में तथा विदेश में भी कम हो जायगी और उसके फलस्वरूप उन देशों में व्यावसायिक मदी और बेकारी फैलेगी। परन्तु ऐसा होना हमेशा आवश्यक नहीं है। यह भी सम्भव है कि ऋणी देशो और साहूकार देशों के माल के बीच में कोई प्रतियोगिता न हो। उदाहरण के लिये ऋणी देश साहूकार देशों को चाय जूट तथा अन्य कच्चे माल भेज सकते हैं और साहूकार देश केवल पक्के माल बनानेवाले हो सकते हैं अथवा यह भी सम्भव है कि साहूकार देशों में खरीदने की शक्ति की वृद्धि होने के कारण उनकी माग बढ़ जायगी और वे अपने ही उद्योगो के माल अधिक मात्रा में खरीदेंगे। फिर भी यह सम्भावना है कि साहूकार देशो के उद्योगों को मदी, बेकारी, अस्तव्यस्तता इत्यादि सकटो का सामना करना पडे। इसलिये जब मुफ्त में मुद्रा की लम्बी रकम मिलती है और उससे जो लाभ होते हैं, उनके साथ-साथ हमें इन हानियो का भी ध्यान रखना चाहिये। परन्तु यदि हरजाना बहुत लम्बे समय तक मिलता रहता है, तो अस्तव्यस्तता कुछ समय बाद ठीक हो जायगी और साहूकार देशों के उद्योग नई परिस्थितियों के अनुसार काम करने लगेंगे। असुविधाएं या हानियां धीरे धीरे समाप्त हो जायगी और जब प्रारम्भिक अस्तव्यस्तता का काल समाप्त हो जायगा, तब साहूकार देशो को हरजानों की रकमो से वास्तविक लाभ होगा।

हस्तान्तरकरण की समस्या और साहूकार देश

तिरपनवां अध्याय

आयात-निर्यात कर-नीति और पूर्ण बाकारी

(Fiscal Policy and Full Employment)

इस ग्रन्थ में कई स्थानो पर हमने इस बात पर जोर दिया है कि सामाजिक नीति का प्रधान उद्देश्य व्यवसाय-चक्रो के परिवर्तनो से बचना और पूर्ण बाकारी बनाये रखना होना चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये राज्य को आयात निर्यात कर सम्बन्धी नीति का उपयोग कहा तक करना चाहिये? ध्यान रहे कि केवल मुद्रा सम्बन्धी उपायों द्वारा कोई भी देश पूर्ण बाकारी की स्थिति नहीं बनाये रख सकता। मुद्रा नियत्रण का प्रधान साधन ब्याज दर होती है और ब्याज दर का प्रभाव लाभ पर लगनेवाली पूजी

पर अधिक नहीं पड़ता। सन् १९३२ से १९४१ के बीच में दीर्घकालीन ब्याज की दर में काफी कमी हुई। परन्तु इस समय में पूंजी व्यवसाय में अधिक नहीं लगी।[1] इसके सिवा केन्द्रीय बैंक को ब्याज की दरों में घटी-बढ़ी करने की इतनी स्वतन्त्रता नहीं रहती। ब्याज की दरों में परिवर्तनों का प्रभाव सरकारी ऋण-पत्रों पर पड़ता है। इसलिये सरकार, बैंक इत्यादि तथा जनता इन परिवर्तनों का विरोध कर सकती है। इसलिये यह बात साफ जाहिर होती है कि केवल मुद्रा नीति से पूर्ण बाकारी का उद्देश्य प्राप्त नहीं हो सकता।

जब तक किसी देश में वस्तुओं और सेवाओं पर व्यवसायी वर्ग द्वारा अथवा सरकार द्वारा काफी मात्रा में खर्च किया जाता है, तब तक उसमें बड़े पैमाने पर बेकारी होने का डर नहीं रहता। वस्तुओं और सेवाओं पर किये जानेवाले कुल खर्च को चार विभागों में बांटा जा सकता है—व्यक्तिगत उपभोग पर खर्च, व्यक्तिगत रूप से लगाई गई पूंजी सम्बन्धी खर्च, सरकारी शासन सम्बन्धी खर्च और सरकार द्वारा लगाई गई पूंजी सम्बन्धी खर्च। जिस देश में आर्थिक व्यवस्था व्यक्तिगत व्यवसाय के आधार पर होती है, उसमें बड़े पैमाने पर बेकारी होने का अर्थ यह होता है कि पहले दो प्रकार का खर्च (अर्थात् व्यक्तिगत उपभोग और पूंजी लगाना) इतना अधिक नहीं हो सकता कि सब लोगों को काम मिल सके। इसलिये सरकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि व्यक्तिगत उपभोग को अथवा व्यक्तिगत रूप से पूंजी लगाने को इतनी सहायता करे या प्रोत्साहन दे, जिससे कि पूर्ण बाकारी की स्थिति बनी रहे। गत महायुद्ध के अनुभव ने यह प्रकट कर दिया कि यदि सरकारी खर्च काफी बड़ी मात्रा में रहे, तो पूर्ण बाकारी की स्थिति प्राप्त की जा सकती है। शान्तिकाल में भी आवश्यक सतर्कता के साथ उसी नीति का अनुसरण करना अच्छा होगा। इसी कारण से पूर्ण बाकारी के प्रश्न के सम्बन्ध में सरकार की आयात निर्यात कर नीति का महत्व होता है। आवश्यकता इस बात की होती है कि व्यक्तिगत उपभोग तथा पूंजी लगाने में जो कमी रह जाय, उसकी पूर्ति सरकार को सेवाओं पर खर्च तथा पूंजी लगाकर पूरी करनी चाहिये। सरकार की नीति इस प्रकार की हो कि वह अपनी इच्छानुसार व्यक्तिगत उपभोग तथा पूंजी लगाने को उत्साहित या हतोत्साहित कर सके अर्थात् सरकार को क्षतिपूरक आयात-निर्यात कर नीति (compensatory fiscal policy) ग्रहण करनी चाहिये।

इसलिये सुझाव पेश किया जाता है कि सरकार पर इतना अधिक खर्च करने की जिम्मेदारी रहनी चाहिये, जिससे कि पूर्ण बाकारी बनी रहे।

पूर्ण बाकारी के लिये बजट बनाना

सरकार को बजट के सम्बन्ध में अब नई नीति ग्रहण करनी चाहिये। बजट केवल मुद्रा तथा आर्थिक आवश्यकताओं के आधार पर न बनाकर सारे देश की आय और खर्च को ध्यान में रखकर बनाना

---

[1] Klein L. R. The Keynesian Revolution, p. 172.

चाहिये। यह बजट "सारे देश की जनशक्ति को आधार बनाकर तब उसके आधार पर अपनी योजनाएं बनावेगा।"[1] सरकार को प्रतिवर्ष यह हिसाब लगाना चाहिये कि पूर्ण बाकारी रहने पर लोगो की कुल आय कितनी होगी और उपभोग तथा पूजी लगाने में व्यक्तिगत खर्च कुल कितना होगा और खर्च कुल आय से जितना कम पड़े, उस कमी को सरकार को पूरा करना चाहिये। अर्थात् सरकार को उतना खर्च करना चाहिये, जिससे व्यावसायिक [illegible]ी और बेकारी न हो। पहिले सरकार को ऐसे उपायो से काम लेना चाहिये, जिससे व्यक्तिगत उपभोग बढ़े। उदाहरण के लिये सरकार सामाजिक सुरक्षा (social security) सम्बन्धी योजनाए आरम्भ कर सकती है। आधुनिक औद्योगिक समाज में लोगो के बचत करने के कारण साफ जाहिर है। लोग बीमारी, बेकारी और बुढ़ापे के दिनों के लिये बचत करते है अथवा मृत्यु के बाद अपने उत्तराधिकारियों के लिये बचत करते हैं। यदि सरकार सामाजिक सुरक्षा की योजनाओ द्वारा इन आपत्ति के अवसरो के लिये प्रबन्ध कर देती है, तो लोगो को बचत करने की उतनी आवश्यकता नही रहेगी और उपभोग पर खर्च बढ जायगा। इसलिये यह आशा की जाती है कि सामाजिक सुरक्षा की योजनाओ द्वारा उपभोग का स्तर ऊचा उठ जायगा। परन्तु इस रीति के परिणाम दीर्घकाल में प्रकट होगे। अल्पकाल में इस रीति के द्वारा व्यक्तिगत उपभोग पर किये जानेवाले खर्च को काफी प्रोत्साहन नहीं मिलेगा।

चक्र विरोधी कर-नीति

दूसरे व्यावसायिक मदी अथवा तीव्रता के समय में सरकार व्यक्तिगत खर्च को उत्साहित करने अथवा बढ़ाने के उपाय ग्रहण कर सकती है। सभी उन्नतिशील देशों में सरकार करो द्वारा राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा अश ले लेती है। इसलिये कई अर्थशास्त्रियो का मत है कि जब व्यावसायिक मदी का भय हो तब करो में घटी करने से व्यक्तिगत पूजी लगाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये सबसे अधिक उपयुक्त कर-दर प्रामाणिक आय-कर की दर (basic income tax rate) होगी। जब प्रामाणिक आय-कर की दर घटा दी जावेगी, तब कर दाताओं के हाथ में अधिक धन बच रहेगा और वे उपभोगो तथा पूजी लगाने पर अधिक खर्च कर सकेंगे। जब यह दर बढ़ा दी जावेगी, तब पूजी लगाने की प्रवृत्ति में तुरन्त बाधा पहुचेगी और उसका फल यह होगा कि पूर्ण बाकारी की स्थिति में बाधा पड़ेगी। आय-कर में अन्य रीतियो द्वारा भी कमी की जा सकती है। मि० कालेकी[2] का मत है कि आय का जो अश

---

[1] W H Beveridge, Full Employment in a Free Society, p 30

[2] Kalecki Economics of Full Employment pp 45–46.

रहे कि साधारणत व्यवसाय की परिस्थितियां चाहे जैसी रहें, सार्वजनिक निर्माण कार्य चाहे जब आरम्भ किया जा सकता है, और चाहे जब बन्द किया जा सकता है। जिस देश में रेलें तथा इसी तरह के सार्वजनिक उपयोगिता के अन्य विभाग सरकार के अधिकार में रहते हैं, उसमें इस नीति के सफल होने की अधिक आशा रहती है। सार्वजनिक कार्यों पर इस प्रकार के खर्च से उपभोग की वस्तुओं की मांग बढ़ेगी और व्यक्तिगत पूंजी को प्रोत्साहन मिलेगा। परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि सार्वजनिक कार्यों पर इस प्रकार का जो खर्च किया जाय, उसकी प्रतियोगिता के फलस्वरूप व्यक्तिगत पूंजी में कमी न होने पावे अथवा व्यक्तिगत ऋणों पर भी ब्याज की दर न बढ़ने पावे। फिर यदि सार्वजनिक खर्च किसी ऐसे उद्योग पर किया जावे, जिसमें मजदूरी की दर का कुल लागत से अनुपात अधिक होता है तो बेकारी की मात्रा पर प्राथमिक प्रभाव अच्छा पड़ता है।

यद्यपि इस नीति की सफलता के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा सकता है, परन्तु फिर भी इस सम्बन्ध में जो कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं, उन्हें भी ध्यान में रखना चाहिये। व्यवसाय-चक्र विरोधी सार्वजनिक खर्च की नीति ग्रहण करने के पहले वर्तमान और भविष्य की परिस्थितियों का पूर्ण विश्लेषण करना चाहिये और उन्हें अच्छी प्रकार समझना चाहिये। "क्योंकि बिना दूरदर्शिता के इस प्रकार के विश्लेषण केवल भूतकाल की समस्याओं का हल कर सकते हैं, भविष्य के लिये सहायक नहीं हो सकते।"[1] फिर इस प्रकार की नीति को तुरन्त कार्यान्वित करने के लिये कुछ प्रत्यक्ष कठिनाइयां भी होती हैं। यह तो प्रकट ही है कि इस योजना की एक विशेषता ऋणात्मक बजट होगा। अर्थात् आय की अपेक्षा व्यय अधिक होगा। सार्वजनिक निर्माण नीति की सबसे जटिल समस्या यही रहती है। यह कहा जाता है कि इस नीति का उद्देश्य यह रहता है कि व्यावसायिक मंदी के समय में सरकार को ऋण लेना चाहिये और तेजी के समय में बजट की बचत में से उन्हें चुकाना चाहिये, परन्तु व्यवहार में इस नीति में कुछ प्रत्यक्ष कठिनाइयां हो सकती हैं। फल यह होगा कि जब राजकीय ऋणों की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जायगी तो आर्थिक व्यवस्था पर उनका कई प्रकार से प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। जब राजकीय ऋण बढ़ने लगेंगे तो व्यक्तिगत पूंजी लगानेवालों के मन में सरकार की नीति के प्रति अविश्वास हो सकता है। इससे व्यक्तिगत लगनेवाली पूंजी की मात्रा में और भी कमी हो सकती है। फिर ऋणात्मक खर्च से मुद्रास्फीति भी बढ़ेगी। परन्तु यदि उचित सावधानी बरती जावे तो सरकारी ऋणों की मात्रा बढ़ने से मुद्रास्फीति की आशंका नहीं होनी चाहिये। बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि ऋणों से खर्च की प्रकृति किस प्रकार की होगी, उसकी उत्पादन शक्ति कितनी होगी और जब ऋण लिये जाते हैं, तब बेकारी की स्थिति

---

१ F. Machlup Financing American prosperity, p 455.

कमी है और ऋण किस दर से बढ़ते हैं। जब तक ऋणों का उपयोग बेकारों को काम देते रहने के लिये मकान बनवाने, स्कूल तथा सड़कें बनवाने के लिये किये जाते हैं, तब तक वे बुरे नहीं कहे जा सकते। क्योंकि उनसे प्रत्येक व्यक्ति की दशा में सुधार होता है। "गरीबों को यह लाभ होता है कि भूख और बेकारी के बदले में उन्हें काम मिलता है। धनियों को यह लाभ होता है कि इस हस्तान्तरण से उन्हें कोई हानि नहीं होती और पूर्ण बाजारी से उनके लाभ में वृद्धि होती है। बे[illegible] में शायद ऐसा न होता।"[1]

इसलिये पूर्ण बाजारी की योजना को व्यवसाय-चक्र विरोधी आयात-निर्यात कर नीति एक आवश्यक अंग होना चाहिये। लेकिन साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि पूर्ण बाजारी बनाये रखने के लिये केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। पूर्ण बाजारी की स्थिति तब भी बनी रह सकती है, जब सार्वजनिक खर्च, विदेशी व्यवसाय मुद्रा प्रबन्ध, मजदूरी, तथा श्रम की भ्रमणशीलता सम्बन्धी विभिन्न योजनाओं का सामंजस्य करके काम किया जाय।

चौवनवां अध्याय

समाजवाद

(Socialism)

इस पुस्तक में हमने वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक समस्याओं का अध्ययन किया है। परन्तु आजकल सब देशों में बहुत से लोग वर्तमान सामाजिक व्यवस्था से असन्तुष्ट हैं और वे उसका पुनर्संगठन करना चाहते हैं। पुनर्संगठन के पक्ष में सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रस्ताव समाजवाद का है। जब से रूस में पंचायती या समाजवादी सरकार की स्थापना हुई है, तब से समाजवाद के सिद्धान्तों का व्यावहारिक महत्व हो गया है। इस अध्याय में हम समाजवाद के कुछ सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे।

समाजवाद क्या है ? (What is Socialism ?)—समाजवादी लेखक समाजवाद की निश्चित परिभाषा के सम्बन्ध में एकमत नहीं है। परन्तु अधिकांश परिभाषाओं में कुछ मूल बातें एक समान हैं। समाजवाद का अर्थ यह है कि उत्पादन के साधनों पर पूरे समाज का स्वामित्व या अधिकार रहता है। पूंजीवादी प्रणाली में उत्पादन के साधनों पर (जैसे—भूमि, मकानें, कारखानें, रेलें, इत्यादि) थोड़े से लोगों का अधिकार

---

१ Klein. The Keynesian Revolution, p 183.

रहता है और वे उनसे अधिकतम लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु समाजवादी व्यवस्था में इस प्रकार के व्यक्तिगत अधिकार नही होते। उत्पादन के साधनों पर राज्य का सामूहिक रूप से अधिकार होता है और राज्य उनसे पूरे समाज के लिये अधिकतम लाभ पाने का प्रयत्न करता है। फल यह होता है कि सम्पत्तिहीन लोगो की जो बहुत बड़ी सख्या होती है, उसका शोषण थोड़े से लोग नही कर पाते। डा० तुगन-बारानोवस्की (Dr Tugan-Baranowsky) के मतानुसार समाजवाद का सार यह है कि उसके अन्तर्गत समाज के किसी व्यक्ति का शोषण नही हो सकता। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था लाभ की प्रवृत्ति के आधार पर चल रही है। परन्तु समाजवाद के अन्तर्गत उसका उद्देश्य सब लोगो के लिये अधिक से अधिक कल्याण प्राप्त करना होता है। क्या वस्तु उत्पादन करना और उसे कितनी मात्रा में उत्पादन करना, ये सब बातें लाभ के आधार पर निश्चित नही की जायगी। वस्तुओं का उत्पादन समाज के लिये उनकी उपयोगिता के आधार पर होगा। उत्पादन के साधन मनमाने न चलकर देश के आर्थिक जीवन की योजना के अनुसार में लाये जायगे। सरकार की ओर से एक केन्द्रीय योजना समिति होगी और सारे समाज के हित में वह सब उत्पादन कार्य सचालित करेगी।

मार्क्स और समाजवाद (Marx and Socialism)—यद्यपि समाजवादी आन्दोलन कार्ल मार्क्स के नाम के साथ जोड़ा जाता है, परन्तु वास्तव में यह आन्दोलन बहुत पुराना है। उदाहरण के लिये इग्लैण्ड में रावर्ट ओवन ने कार्ल मार्क्स के बहुत पहले ऐसे समाजों की कल्पना की थी, जिनमें सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार होगा। फ्रान्स में चार्ल्स फोरियर के भी विचार इसी प्रकार के थे। इन्हें स्वप्नदर्शी समाजवादी (Utopian Socialists) कहा जाता था। आधुनिक समाजवाद मार्क्स और एगेल्स के समय से आरम्भ होता है। इन दोनो ने अपना कम्यूनिस्ट घोषण-पत्र (Communist Manifesto) सन् १८४८ में प्रकाशित किया। इस घोषणा-पत्र में मार्क्स और एगेल्स ने पूँजीवाद के उद्भव का इतिहास बतलाया। मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी मीमांसा की और उसी के आधार पर अपनी विचारधारा बाँधी। पूरे सामाजिक और राजनैतिक इतिहास का आधार विभिन्न आर्थिक वर्गों का सघर्ष रहा है। जब कोई समाज कई आर्थिक वर्गों में बटा रहता है, तो उन वर्गों में सघर्ष अवश्य होता है। इन सघर्षों के कारण कुछ सामाजिक और राजनैतिक घटनाएं होती हैं और उन्हीं से किसी देश का इतिहास बनता है। लोगों का विभिन्न वर्गों में विभाजन देश की उत्पादन प्रणाली के अनुसार होता है। समाज में वर्ग व्यवस्था हमेशा से प्रचलित रही है। प्राचीन युग में गुलाम, साधारण जनवर्ग (Plebian) और उच्च वर्ग (Partician) थे। मध्य युग में गुलाम, किसान, सैनिक और सामन्त होते थे। इन वर्गों के स्वार्थों में हमेशा सघर्ष होता रहता था और उसी सघर्ष के कारण सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तन होते थे। इस प्रकार का अन्तिम महत्वपूर्ण पूँजीपति वर्ग का उत्थान था, इस वर्ग की

थे। इसलिये समाजवादियो में भी दो दल हो गये। एक दल को विकासवादी समाजवादी (evolutionary socialists) कहते थे और दूसरे को क्रान्तिवादी समाजवादी (revolutionary socialists) दल। विकासवादी दल चाहता था कि शासन में बहुमत प्राप्त करके शान्तिपूर्वक समाज का सगठन समाजवाद के आधार पर किया जाय। इग्लेण्ड के फेबियन समाजवादी (Fabian Socialists) इसी विचारधारा [illegible] लोग थे। दूसरा दल क्रान्ति द्वारा पूजीवाद का अन्त करके बलपूर्वक मजदूर सत्ता की स्थापना करना चाहता था।

मजदूर सघवाद

इसी बीच में समाजवादी विचारधारा के सम्बन्ध में कई मत और उन मतों के अनुसार कई दल हो गये। एक सामूहिक विचारधारा तो पहले से थी ही, जिसके अनुसार कि उत्पादन के साधनो पर राज्य का अधिकार होगा। परन्तु इसके सिवा भी फ्रास में एक नये क्रान्तिकारी आन्दोलन का प्रचार हुआ। इस नये आन्दोलन को मजदूर सघवाद (Syndicalism) कहते थे। यह समाजवाद और मजदूर सघवाद (Trade unionism) का सम्मिश्रण था। इसके अनुसार उद्योगो पर राज्य का अधिकार न होकर प्रत्येक उद्योग का नियन्त्रण और प्रबन्ध मजदूर सघो के (Syndicates or trade unions) के हाथ में होगा। इस तरह स्थानीय उद्योगो पर स्थानीय मजदूर सघो का अधिकार होगा और राष्ट्रीय उद्योगो पर राष्ट्रीय मजदूर सघो का अधिकार होगा। इस प्रकार राज्य स्वतन्त्र विकेन्द्रित इकाइयो का एक ढीला-ढाला सघ होगा। मजदूर सघवाद हडताल, ध्वंस तथा गुप्त तोड-फोड इत्यादि उपायो द्वारा वर्त्तमान व्यवस्था का पतन करने में विश्वास करता था।

कारीगर सघवाद

इग्लेण्ड में एक समाजवादी मत का विकास हुआ। इसके अनुसार उत्पादन के सब साधन राज्य के अधिकार में रहने चाहिये। परन्तु उद्योगो का प्रबन्ध राज्य के हाथ में सामूहिक रूप में न रहकर, प्रत्येक उद्योग में काम करनेवाले सब प्रकार के मजदूरो के हाथ में रहेगा। इस सघ में मजदूर, इञ्जीनियर, मैनेजर इत्यादि सब विभागो के लोग रहेंगे। इस प्रकार रेलो के लिये एक रेलवे सघ होगा। इस विचारधारा को कारीगर सघवाद (guild socialism) कहते थे और यह मजदूर सघवाद और सामूहिकवाद का सम्मिश्रण था।

कम्यूनिज्म

तीसरी विचारधारा के लोगो को कम्यूनिस्ट कहते थे और ये लोग अपने विकासवादी समाजवादियो का विरोधी मानते थे। कम्यूनिस्टो का विश्वास था कि समाजवाद केवल बलपूर्वक और एकदम स्थापित किया जा सकता है। धीरे-धीरे शान्तिपूर्वक नही। समाजवादियो की तरह ये लोग राजनैतिक प्रजातन्त्र, आम मताधिकार और बहुमत

के आधार पर शासन-प्रणाली में विश्वास नहीं करते, यद्यपि रूस ने सन् १९३६ में इन बातों को ग्रहण किया। कम्यूनिस्ट हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा जनसत्ता स्थापित करना चाहते हैं। इनकी आय की वितरण प्रणाली भी समाजवाद की अन्य विचारधाराओं से भिन्न है। इनका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यता अनुसार लेना चाहिये और प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार देना चाहिये।

रूस का कम्यूनिज्म

सोवियट रूस (Soviet Russia)—रूस में जो कम्यूनिस्ट व्यवस्था प्रचलित है, उसका वर्णन करना भी आवश्यक है। रूस में सन् १९१७ में कम्यूनिस्टों के हाथ में राज्यसत्ता आई। उन्होंने पहला काम भूमि का राष्ट्रीयकरण किया। किसानों को भूमि उन्हीं के हाथों में रहने दी गई, परन्तु उसमें शर्त यह थी कि अपना अतिरिक्त उत्पादन उन्हें राज्य को देना पड़ेगा। सन् १९१९ तक खानों, कारखानों, बैंक, यातायात और विदेशी व्यवसाय का पूरी तरह राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। अर्थात् ये काम केवल राज्य कर सकता था। परन्तु शीघ्र ही इनके सम्बन्ध में कुछ कठिनाइयां उत्पन्न हुईं। भूमि के राष्ट्रीयकरण के कारण अन्न की उत्पत्ति घट गई और लोग चोरी-चोरी क्रय विक्रय करने लगे। सरकार को विदेशों से रेलों सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार की मशीनें मिलनी बन्द हो गईं। पुराने मैनेजरों और विशेषज्ञों ने भी सरकार को सहयोग देना बन्द कर दिया। उत्पादन व्यवस्था इतनी खराब हो गई कि कुछ समय के लिये सरकार को अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा। एक नई आर्थिक नीति ग्रहण की गई। किसानों को यह रियायत दी गई कि वे अपना अतिरिक्त उत्पादन स्वयं बेच सकते थे। गृह उद्योग तथा छोटे-छोटे कारखानों में लोगों को उत्पादन सम्बन्धी निजी स्वामित्व दिया गया, विदेशी तथा देशी और विदेशी मिश्रित पूंजी की कम्पनियों (जैसे कि लीना की सोने की खानें) को भी रियायतें दी गईं। यह नीति सन् १९२८ तक रही और उस वर्ष से नीति में फिर बड़े-बड़े परिवर्तन किये गये। आर्थिक योजनाएं बनाई गईं तथा उद्योग और कृषि की वृहद् उन्नति के लिये बड़े-बड़े कार्यक्रम बनाये गये। एक पंचवर्षीय योजना तैयार की गई और इसमें बड़े-बड़े उद्योगों, कोयला, बिजली, मशीनों और ट्रैक्टरों के निर्माण तथा वृहद् उत्पादन पर विशेषरूप से ध्यान दिया गया। सन् १९२९ में कृषि के सबंध में एक नई नीति ग्रहण की गई, जिसका उद्देश्य सामूहिक खेती का प्रचार करना था। भूमि और जानवरों को बड़े-बड़े सामूहिक खेतों में संगठित किया गया और उन्हें ट्रैक्टर तथा कृषि की अन्य मशीनें दी गईं। बहुत से किसानों ने इस नीति का विरोध किया, परन्तु उनका दमन करके इस नीति को कार्यान्वित किया गया। सन् १९३३ में दूसरी पंचवर्षीय योजना ग्रहण की गई। इसका प्रधान उद्देश्य छोटे-छोटे कारखानों को बढ़ाना तथा उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाना था। वस्तुओं की जो कमी प्रारम्भ में हुई थी, उसे इस प्रकार पूरा किया गया। सन १९३५ में राशनिंग की व्यवस्था का अन्त कर दिया गया।

ध्यान रहे कि रूस में मजदूरी की दर निश्चित करने में आय की समानता का सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया गया है। मजदूरी की दर श्रम के किसी वर्ग की सामाजिक उपयोगिता (अर्थात् कमी) के अनुसार अथवा किसी कार्य के लिये मानिक कुशलता के अनुसार निश्चित की जाती है। औसत मजदूरों को साधारण मजदूरी दी जाती है, जिससे कि रहन-सहन की एक राष्ट्रीय सतह स्थिर रखी जा सके। परन्तु असाधारण या विशेष योग्यता के स्त्री पुरुषों को ऊंची-ऊंची तनख्वाहें दी जाती हैं। रूस में आय की असमानता उतनी ही अधिक है, जितनी कि सारे संसार के किसी भी पूंजीवाद देश में हो सकती है। कुछ लोगों का कहना है कि यह बात वास्तविक कम्यूनिस्ट सिद्धान्त के विरुद्ध है। परन्तु यह बात सही नहीं है। मार्क्स ने कहा था कि समाजवाद की प्रारम्भिक अवस्था में काम *के गुण और मात्रा के अन्तर के अनुपात में मजदूरी की दरों में भी अन्तर रहेगा।* जब उत्पादन इतना बढ़ जायगा कि सबके उपभोग के लिये काफी वस्तुएं हो जायगी और जब लोग सामाजिक वर्गों को भूल जायगे, तब कम्यूनिज्म का वह सिद्धान्त प्रचलित किया जायगा जो प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार देता है। परन्तु आयों की असमानता होने पर भी इस प्रणाली की श्रेष्ठता इस बात में मानी जाती है कि पूंजीवादी व्यवस्था के समान इसमें सम्पत्ति अर्थात् अनुपार्जित आय नहीं है तथा बिना काम किये किसी को कुछ आय भी नहीं प्राप्त होती।

आयों की असमानता

समाजवादी राज्य में मूल्य का अर्थ (Value in a Socialist State)– कुछ वर्ष पहले कुछ अर्थशास्त्रियों ने समाजवादी आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत मूल्य के आधार का प्रश्न उठाया। मूल्य और वितरण के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों के जो सिद्धान्त हैं, क्या वे समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी लागू होते हैं? प्रतियोगितापूर्ण आर्थिक व्यवस्था में बाजार में वस्तुओं तथा साधनों की जो कीमतें रहती हैं, उनके अनुसार उत्पादक अपनी नीति निश्चित करते हैं। प्रत्येक उत्पादक केवल उतना उत्पादन करेगा, जिससे उसकी सीमान्त लागत कीमत के बराबर रहे। विभिन्न साधनों का विभिन्न उद्योगों में इस प्रकार वितरण होगा कि उनकी वास्तविक सीमान्त औसत कीमतों के बराबर होगी और यदि व्यक्तिगत सीमान्त वास्तविक उत्पत्ति तथा सामाजिक सीमान्त वास्तविक उत्पत्ति में अन्तर नहीं है, तो प्राप्त साधनों से अधिकतम तुष्टि प्राप्त हो सकेगी। परन्तु जैसा कि प्रोफेसर माइसेस[१] ने बतलाया है, समाजवादी आर्थिक-व्यवस्था में उत्पादन के सब साधनों पर राज्य का अधिकार रहेगा और उन साधनों का स्वतन्त्र बाजार नहीं रहेगा और उत्पादन के साधनों का स्वतन्त्र बाजार न रहने से उनकी कीमतें निश्चित नहीं की जा सकती। स्वतन्त्र कीमतों के न होने से लागत का खर्च तथा कीमतों का हिसाब नहीं लगाया जा सकता।

बाद में इस विवाद में डा० एच० डी० डिकिन्सन, लेंगे, टेलर आदि लेखकों ने भाग लिया। पूंजीवादी प्रथा में हमेशा अधिकतम तुष्टि या उपयोगिता पर जोर नहीं दिया जाता। मार्शल और पिगू के ग्रन्थों से बहुत पहले यह बात प्रकट हो गई है कि सामाजिक सीमान्त वास्तविक उत्पत्ति में और व्यक्तिगत सीमान्त वास्तविक उत्पत्ति में बहुत से

१ Socialism by Ludwig Von Mises.

अन्तर होते हैं। फिर बाजार में प्रचलित कीमतों के आधार पर हम हमेशा उत्पादन के सम्बन्ध में सही निश्चय नहीं कर सकते। प्रतियोगिता पूर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत जो कीमतें प्रचलित होती हैं, वे उपभोक्ताओं की वर्तमान आया के आधार पर निश्चित होती हैं। इसलिये वे उत्पादन की व्यवस्था को पथभ्रष्ट कर देती हैं क्योंकि धनी वर्गों की आराम की वस्तुओं पर अधिक ध्यान दिया जाता है और गरीब वर्गों की आवश्यकता की वस्तुओं के उत्पादन पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता। पूजीवादी व्यवस्था में बरबादी और अयोग्यता को भी काफी स्थान मिलता है। सन् १९०८ में बेरोन नामक इटली के एक अर्थशास्त्री ने कहा था कि सिद्धान्त की दृष्टि से समाजवाद में हिसाब के आधार पर निश्चित की गई कीमतें (accounting prices) उतनी ही महत्त्वपूर्ण होती हैं, जितनी कि पूजीवाद में बाजार में प्रचलित कीमतें। उसने विभिन्न वर्गों के समीकरणों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि समाजवादी व्यवस्था में भी साधनों का वितरण विभिन्न उद्योगों में उसी प्रकार किया जा सकता है, जिस प्रकार की पूजीवादी व्यवस्था में होता है। डिकिन्सन, आस्कर लेंगे डरबिन तथा अन्य कई अर्थशास्त्रियों का मत भी इसी प्रकार का है।

"कीमत किसी संगठन विशेष के ऊपर निर्भर नहीं रहता। माइसेस ने भ्रम से कीमत निश्चित करने की क्रिया के सार को उस रूप विशेष से मिला दिया है, जो पूजीवादी व्यवस्था में प्रकट होता है।" समाजवादी अर्थव्यवस्था में स्वतन्त्र बाजार न होने से कोई मूल कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। साधनों के वितरण के सम्बन्ध में हिसाब लगाने के लिये कीमतों का अनुमान स्वीकार किया जा सकता है। प्रत्येक साधन की मुद्रा के रूप में एक अनुमानित कीमत मानी जा सकती है। उदाहरण के लिये जैसा कि पूजीवादी देशों में होता है, केन्द्रीय योजना के अधिकारी बाजार में प्रचलित कीमतों को आधार मान सकते हैं। तब वे अधिकारी माग और पूर्ति की सूची के आधार पर तथा कुछ प्रयोगों के आधार पर सही कीमतें निश्चित कर सकते हैं। यदि वस्तु की माग पूर्ति से अधिक है, तब उस वस्तु का उत्पादन और उसकी माग बदलनी पडेगी। तब नई कीमतों की सूची और नई उत्पादन की मात्रा बनेगी। इस प्रकार प्रयोगों के आधार पर एक नया साम्य स्थिर हो जायगा, जिस पर माग और पूर्ति बराबर हो जायगी। प्रतियोगितापूर्ण अर्थव्यवस्था में इस रीति के अनुसार कीमतें निश्चित की जाती हैं।

समाजवादी व्यवस्था के गुण

गुण (Merits)—*समाजवादी आर्थिक व्यवस्था में साधनों का उचित बटवारा* सम्भव तो है ही, साथ ही कई बातों में वह बटवारा प्रतियोगितापूर्ण व्यवस्था से उत्तम भी है। एक तो केन्द्रीय योजना समिति को माग और पूर्ति की सूचियों का व्यक्तिगत उत्पादकों की अपेक्षा अच्छा ज्ञान होता है। इन उत्पादकों की अपेक्षा यह समिति कीमतों का साम्य अधिक सही रूप में जान सकती है। दूसरे समाजवादी व्यवस्था आयों का अधिक न्यायपूर्ण वितरण करके पूजीवादी व्यवस्था की अपेक्षा आवश्यकताओं की पूर्ति का अधिक अच्छा प्रबन्ध कर सकती है। उसमें थोड़े से धनी व्यक्तियों की इच्छापूर्ति का प्रयत्न नहीं किया जायगा। बल्कि साधनों का उपयोग अधिकांश लोगों की आवश्यकता पूर्ति के लिये किया जायगा। इस प्रकार एक निश्चित उत्पादन की मात्रा से तुष्टि की अधिक मात्रा प्राप्त होगी। अन्त में पूजीवाद में उत्पादन की

प्रणाली सुव्यवस्थित नहीं होती। उसमें संकट आते रहते हैं। परन्तु समाजवादी व्यवस्था में दीर्घकालीन योजनाओं द्वारा व्यवसाय-चक्रों के परिवर्तन पर पूंजीवाद की अपेक्षा अधिक अच्छा नियन्त्रण किया जा सकता है। वर्तमान समाज में पूर्ण प्रतियोगिता के फलस्वरूप जो खतरे और अनिश्चित परिस्थितियां उत्पन्न होती हैं, वे समाजवाद में बहुत कम हो जायगी। प्रतियोगितापूर्ण व्यवस्था में जो बरबादी होती है, वह भी समाप्त हो जायगी।

दोष (Demerits)—समाजवादी व्यवस्था में इन गुणों के साथ-साथ कुछ दोष भी हैं। प्रो॰ पिगू ने इस बात को स्वीकार कर लिया है कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में लागत हिसाब (accounting costs) के आधार पर साधनों का आदर्श बटवारा हो सकता है। परन्तु उनका मत है कि व्यावहारिक रूप में इसमें बड़ी-बड़ी कठिनाइयां उत्पन्न होंगी। इस समस्या को हल करने के लिये बहुत से विलक्षण बुद्धिमानों की आवश्यकता होगी। दूसरे क्या समाजवाद में *उत्पादन का संगठन अपनी योग्यतम* अवस्था में स्थिर रह सकता है? प्रतियोगितापूर्ण व्यवस्था में हानि के डर से अथवा लाभ के लालच से उत्पादक सतर्क रहते हैं और उनकी योग्यता बनी रहती है। परन्तु समाजवादी व्यवस्था में किसी कारखाने के मैनेजर को एक निश्चित वेतन मिलेगा। यदि उसके कारखाने में नुकसान होगा तो उसका भार सारे देश पर पड़ेगा। इसलिये कारखाने के प्रबन्ध में वह सतर्क रहने की परवाह नहीं करेगा। समाजवादी व्यवस्था में यह बात कमजोरी का कारण बन सकती है। परन्तु सोवियट रूस में इस कठिनाई को हल करने के लिये कई उपाय किये गये हैं, जैसे कि प्रतिद्वन्द्विता की भावना का प्रचार, *सार्वजनिक सम्मान, सार्वजनिक भर्त्सना इत्यादि।*

दूसरी कठिनाई पूंजी एकत्रित करने की सही दर निश्चित करने में होगी। केन्द्रीय योजना समिति का निर्णय तो बिना किसी आधार के और इच्छानुसार होगा। इसलिये सम्भव है कि गलत दर से पूंजी एकत्रित करने के कारण आर्थिक व्यवस्था को हानि पहुंचे। परन्तु साथ ही यह भी सही है कि पूंजीवादी व्यवस्था में उपभोक्ताओं की द्रवता पसन्दगी के आधार पर ब्याज की जो दर निश्चित की जाय, वह उतनी सही न हो, जितनी कि योजना समिति द्वारा निश्चित की हुई दर। चौथी कठिनाई विभिन्न पदों के लिये उपयुक्त पुरुषों के चुनने के सम्बन्ध में होगी। इस सम्बन्ध में पूंजीवादी व्यवस्था में भी कोई आदर्श रीति *प्राप्त नहीं है। परन्तु उसमें एक तरीका है, जिसके द्वारा योग्य और उपयुक्त व्यक्ति* मिल जाते हैं, यद्यपि यह तरीका अपूर्ण है। परन्तु समाजवादियों ने भी कोई इससे अच्छी रीति नहीं निकाली, जिससे पदों के योग्य उपयुक्त व्यक्ति मिल सकें और लोगों की योग्यता तुरन्त पहिचानी जा सके।

परन्तु समाजवाद के दोषों का यह अर्थ नहीं है कि समाजवाद असम्भव है। वास्तविक निर्णय आदर्श पूंजीवाद और कट्टर तथा अन्धे समाजवाद के बीच में नहीं है। पूंजीवादी के समर्थकों के मत में पूंजीवाद से जो सुविधा प्राप्त हो सकती है, वास्तव में वह प्राप्त नहीं हुई है। इसलिये हम केवल अपूर्ण प्रतियोगितापूर्ण आर्थिक व्यवस्था और कठिनाइयों *से लदी हुई समाजवादी व्यवस्था के बीच में तुलना कर सकते हैं और यह तुलना हमेशा* पूंजीवादी व्यवस्था के पक्ष में नहीं जाती।

समाप्त